भारत का आर्थिक विकास

(ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA)

[भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के निमित्त]

डा० ए० पी० गौड़, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, वी० एस० एस० डी० कॉलिज, कानपुर।

प्रो० पी० एल० गोलवलकर, एम० ए०, बी० कॉम०,
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, राजकीय कॉलिज, गुना।

डा० सी० बी० मामोरिया, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०,
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
(सदस्य, फैकल्टी ऑफ कॉमर्स, राजस्थान विश्वविद्यालय)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, महाराणा भूपाल कॉलिज, उदयपुर।

प्रो० एस० एम० शुक्ल, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०,
वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कॉलिज, कानपुर।

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक
मूल्य : ११।) या ११ रु० २५ नये पैसे

प्रथम संस्करण—१९५४
द्वितीय संशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण—१९५६
तृतीय संशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण—१९५९
चतुर्थ सशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—१९६१

प्रकाशक—नवयुग साहित्य सदन, ३२७६, लोहामण्डी, आगरा।
मुद्रक —श्री राजेन्द्रकुमार जैन, हिन्द प्रेस, ३२७९, लोहामण्डी

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तक का तृतीय संस्करण इतनी अल्प अवधि में समाप्त होकर उसका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित होना ही पुस्तक की लोकप्रियता का परिचय देता है। अतः यह संस्करण पाठकों को प्रस्तुत करते समय लेखकों एवं प्रकाशकों को हर्ष हो रहा है।

इस संस्करण में आरम्भ से अन्त तक यथावधि संशोधन किये गये हैं तथा यथावधि आँकड़ों का समावेश भी किया गया है। साथ ही, भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक में प्रस्तुत नवीन सामग्री, यथावधि आँकड़े, सरल भाषा एवं विवेचन शैली से यह पुस्तक केवल "भारत के आर्थिक विकास" के पाठकों को ही नहीं अपितु "भारत की आर्थिक समस्याओं" के अध्ययन अध्यापन-कर्ताओं को भी अपनी लोकप्रियता का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रकाशकों की ओर से पुस्तक के संशोधन की सूचना काफी पूर्व आने के बाद भी कुछ कठिनाइयों के कारण इसका संशोधित संस्करण तत्काल प्रकाशित न हो सका, जिसका हमें खेद है। साथ ही साथ हर्ष भी है कि यह संस्करण ऐसे समय में प्रकाशित हो रहा है कि जब विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति विशेष जागरूकता एवं चेतना रहती है।

पुस्तक में प्रारम्भ से अन्त तक केवल अद्यावधि संशोधन ही नहीं किये गये हैं, अपितु अनेक अध्याय पूर्णतया बदल दिये गये हैं। साथ ही, पुस्तक में आवश्यक अद्यावधि आँकड़े एवं सामग्री का समावेश किया गया है। भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही, अनावश्यक तालिकाएँ हटा दी गई हैं।

इस संस्करण के संशोधन में ही नहीं अपितु कुछ अध्यायों के लिखने में भी प्रो० बी० पी० श्रीवास्तव गोल्डमेडलिस्ट, सागर विश्वविद्यालय तथा महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज के हमारे साथी ने हमें मौलिक सहायता की है। उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करें, यही हमारी समझ से परे है।

नवीन सामग्री, अद्यावधि आँकड़े, सरल भाषा, गहन एवं विस्तृत विवेचन शैली से पुस्तक विद्यार्थियों में अपनी उपयोगिता का परिचय देगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही, सामान्य पाठकों को भी देश की विभिन्न समस्याओं का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रकाशकों की ओर से पुस्तक के संशोधन की सूचना काफी पूर्व आने के बाद भी कुछ कठिनाइयों के कारण इसका संशोधित संस्करण तत्काल प्रकाशित न हो सका, जिसका हमें खेद है। साथ ही साथ हर्ष भी है कि यह संस्करण ऐसे समय में प्रकाशित हो रहा है कि जब विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति विशेष जागरूकता एवं चेतना रहती है।

पुस्तक में प्रारम्भ से अन्त तक केवल अद्यावधि संशोधन ही नहीं किये गये हैं, अपितु अनेक अध्याय पूर्णतया बदल दिये गये हैं। साथ ही, पुस्तक में आवश्यक अद्यावधि आंकड़ों एवं सामग्री का समावेश किया गया है। भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही, अनावश्यक तालिकाएँ हटा ली गई हैं।

इस संस्करण के संशोधन में ही नहीं अपितु कुछ अध्यायों के लिखने में भी प्रो० बी० पी० श्रीवास्तव गोल्डमेडलिस्ट, सागर विश्वविद्यालय तथा महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज के हमारे साथी ने हमें मौलिक सहायता की है। उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करें, यही हमारी समझ से परे है।

नवीन सामग्री, अद्यावधि आंकड़े, सरल भाषा, गहन एवं विस्तृत विवेचन शैली से पुस्तक विद्यार्थियों में अपनी उपयोगिता का परिचय देगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही, सामान्य पाठकों को भी देश की विभिन्न समस्याओं का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

अनुक्रमणिका

[द्वितीय भाग]

भारत का आर्थिक विकास

का लेबनान और जोर्डन में प्रवेश। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से आंका जाता है। इसलिए राजनैतिक कदम उठाते समय उसके आर्थिक परिणामों को देखने के लिए गत इतिहास का अनुभव उपयोगी होता है। आर्थिक एवं औद्योगिक नीति बनाते समय उसके राजनैतिक परिणामों को देखे बिना हम आगे नहीं चल सकते। इसी प्रकार कृषि नीति अपनाते समय कृषकों की वर्तमान स्थिति, उनके आर्थिक स्रोत, उनमें प्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी आर्थिक उन्नति के लिए भारत स्वयं जिम्मेदार है, अतः हमारे आर्थिक विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम भावी नीति का सफल संचालन नहीं कर सकते। राज्य की आर्थिक नीति के संचालन तथा देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ़, उन्नत एवं सन्तुलित बनाने के लिए मुद्रा एवं चलन सम्बन्धी नीति, राजस्व नीति, कर-नीति आदि का एक दूसरे पर होने वाला प्रभाव भी दृष्टि में रखना होगा, इसलिए आर्थिक विकास का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्ययन के आधार पर भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का समुचित हल होकर देश अधिभौतिक कल्याण (Material Welfare) की ओर अधिकाधिक अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के अध्ययन से हम भारत की तुलना उन देशों के साथ कर सकते हैं तथा उनके आर्थिक प्रयत्नों की सहायता से अपनी समस्यायें सुलझाने में भी सफल हो सकते हैं।

प्रथम भाग

प्रास्ताविक

वायु दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए बाधक होती हैं। दूसरी ओर समशीतोष्ण जलवायु मे मनुष्य को काम करने का उत्साह रहता है, जिससे ऐसे प्रदेशो का आर्थिक विकास अबाधित रूप से हो सकता है। इस प्रकार जलवायु से मनुष्य की श्रम करने की शक्ति एवं उत्साह प्रभावित होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सभ्यता का विकास तो उष्ण देशो मे हुआ, लेकिन सबसे अधिक आर्थिक विकास शीत एवं सम शीतोष्ण प्रदेशो मे हो हुआ।

जलवायु का प्रभाव मनुष्य के कार्य जीवन ((Working Life) पर भी पड़ता है। जैसे—शीत देशो के मनुष्य स्वस्थ, दीर्घ जीवी, अधिक कुशल एवं परिश्रमी होते हैं तो उष्ण देशो के मनुष्य अस्वस्थ, अल्पजीवी तथा आलसी होते हैं। इसी कारण वे अपना आर्थिक विकास शीघ्र गति से नही कर पाते। जलवायु का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता हैं, क्योंकि जहां ऋतु परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है वहां प्रत्येक मौसमी परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैसे-भारत में शीत, वर्षा एव ग्रीष्म ऋतु मे मौसमी परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती है, जिनसे हमारी कार्यक्षमता प्रभावित होती है।

प्रत्येक देश की फसलो एव वनस्पति पर वहां की जलवायु का प्रभाव पडता है और प्रत्येक देश के उद्योग धन्धे वहां की वनस्पति तथा फसलों पर निर्भर रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जलवायु पर निर्भर रहता है, जैसे—भारत मे सूती वस्त्र का उद्योग बम्बई और अहमदाबाद मे अधिक विकसित है, जहां भारत के कुल वस्त्र का ७०% वस्त्र निर्माण होता है, क्योंकि बम्बई एव अहमदाबाद में इस उद्योग के लिये आवश्यक उष्ण एव आर्द्र जलवायु है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की जलवायु गन्ने के लिए पोषक होने से इन राज्यो मे शक्कर व्यवसाय केन्द्रित है।

यातायात पर भी जलवायु का गहरा प्रभाव पडता है, किसी भी देश की आर्थिक उन्नति यातायात के विकास पर निर्भर रहती है, जैसे—जहाँ पर हिम वर्षा अधिक होती है वहां के स्थल मार्ग हिम वर्षा में बन्द हो जाते हैं अथवा शीत प्रदेशों में नदियों का पानी जम जाता है, जिससे नदियों अथवा समुद्र का उपयोग निम्न तापक्रम में जल यातायात के लिए नही हो सकता। उदाहरणार्थ—बाल्टिक सागर शीत ऋतु में जल यातायात के लिए निरुपयोगी हो जाता है, इसी प्रकार कनाडा की नदियाँ भी अधिक सर्दी पड़ने पर जम जाती हैं। वायु-यातायात पर भी जलवायु का प्रभाव होता है, क्योंकि वायु-यातायात के लिए निरभ्र आकाश रहना आवश्यक होता है। यदि जलवायु के कारण आकाश स्वच्छ नहीं रहते, आँधी अथवा कुहरा रहता है तो उससे वायु-यातायात को खतरा बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि देश को जलवायु का प्रभाव वहां के निवासियों के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता, उद्योग धन्धे, सभ्यता एव यातायात पर होता है।

(२) भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुयें—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत उन सब वस्तुओ का समावेश होता है जो प्रकृति मानव समाज के उपयोग के लिए उदारता

अध्याय १

विषय-प्रवेश

(Introduction)

"भारतीय अर्थशास्त्र" और "भारत का आर्थिक विकास" ये एक ही जीवन के दो अङ्ग हैं, जिनमें से पहला केवल वर्तमान स्थिति का अध्ययन करता है तो दूसरा भूत एवं वर्तमान के अध्ययन के साथ ही भविष्य का निर्धारण करने में सहायक होता है।"

"भारत का आर्थिक विकास" इस विषय को कुछ अर्थशास्त्रियों ने 'भारतीय अर्थशास्त्र' नाम दिया है। परन्तु वास्तव में *भारतीय अर्थशास्त्र नाम ठीक नहीं है, क्योंकि* भारतीय अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्तों की विवेचना न कर अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों को ही भारत की आर्थिक स्थिति की पृष्ठ भूमि में लागू किया जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र "आर्थिक विचारों के इतिहास" (History of Economic Thought) की भाँति भारतीय अर्थशास्त्रियों की आर्थिक विचारधाराओं का इतिहास नहीं है और न इसमें ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही किया गया है जो अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से भिन्न हों एवं भारतीय परिस्थिति में ही विशेष रूप से लागू होते हों। अपितु भारतीय अर्थशास्त्र अथवा भारत के आर्थिक विकास के अन्तर्गत हम देश के उपलब्ध नैसर्गिक, मानवी एवं आर्थिक साधनों का उपयोग अधिभौतिक उन्नति के लिए किस प्रकार किया गया है, किस प्रकार हो रहा है एवं किस प्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन करते हैं। दूसरे शब्दों में, भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक *पृष्ठ-भूमि में भारत का आर्थिक जीवन किस प्रकार विकसित होता* गया, उसकी आर्थिक समस्याएँ तथा उनको हल करने के उपाय एवं योजनाओं के अध्ययन को हम "भारत का आर्थिक विकास" कह सकते हैं। इस प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भारत के नैसर्गिक स्रोत एवं उनका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी नैसर्गिक रचना एवं उसका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव आदि का अध्ययन किया जायगा। आर्थिक पृष्ठ-भूमि में हमारा औद्योगिक विकास एवं उसकी समस्याएँ, कृषि एवं कृषि *समस्याएँ, मुद्रा एवं बैंकिंग का विकास एवं उनकी समस्याएँ आदि विभिन्न विषयों* का अध्ययन होगा। इसी प्रकार राजनैतिक पृष्ठ-भूमि में राज्य द्वारा उद्योग एवं अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए कौनसी नीति समय-समय पर अपनाई गई तथा उसके क्या परिणाम हुए, आदि का अध्ययन हम करेंगे। इस प्रकार देश की राजनैतिक,

(२) भूमि की उर्वराशक्ति मे वृद्धि,
(३) वर्षा की पर्याप्तता,
(४) वन-सम्पत्ति पर आधारित उद्योगो का विकास,
(५) इमारती लकड़ी, ईंधन तथा औषधोपयोगी वनस्पति की प्राप्ति।

इसी कारण भारत मे प्रति वर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है तथा पंचवर्षीय योजनाओ मे वनो के विकास पर काफी बल दिया गया है।

(५) **खनिज सम्पत्ति**—किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसका जीवन के ढंग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए खनिज सम्पत्ति अनिवार्य है। भारतवर्ष को ही देखें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत मे खनिज सम्पत्ति पर्याप्त होते हुए भी उसका पर्याप्त विदोहन नही किया गया है। भारत मे कोयले की खानें होते हुए भी यहाँ का कोयला निम्न कोटि का है तथा कोयले की खानों का वितरण ठीक से नही हुआ है। फलतः भारत को दक्षिण अफ्रीका से कोयला आयात करना पड़ता है। परन्तु अन्य खनिज सम्पत्ति भारत मे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, केवल उनका आर्थिक विकास के लिए समुचित रीति से विदोहन करने की आवश्यकता है। अन्य देशो की ओर देखने से यह स्पष्ट होता है कि इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया आदि के औद्योगिक एव आर्थिक विकास का आधार वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही है।

(६) **भौगोलिक स्थिति**—देश की भौगोलिक स्थिति पर उस देश के वाणिज्य एव उद्योग का विकास निर्भर रहता है। भौगोलिक दृष्टि से यदि देश विश्व के मध्य मे बसा हुआ है, जहाँ से उसे विश्व के सब देशो मे व्यापार करने मे सुगमता होती है तो उस दशा मे उस देश का आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सकेगा। जल, मार्ग की सुगमता, सुरक्षित व्यापारिक मार्ग तथा विश्व मे केन्द्रीय स्थिति होना किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड की विश्व मे केन्द्रीय स्थिति है, चारो तरफ से जल मार्ग उपलब्ध होने से उसको विश्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करना सुगम हुआ है। भारत की स्थिति आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुकूल है। तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण जल-मार्ग भी उपलब्ध है, परन्तु समुद्र तट कटा-फटा न होने से अच्छे बन्दरगाहो की कमी है। इसी प्रकार मध्य पूर्व एशिया से व्यापार करने के लिए अनुकूल स्थिति भी भारत को प्राप्त है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की जलवायु आदि भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। भारत मे अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति उपलब्ध हैं। परन्तु यहाँ के उपलब्ध साधनो का विदोहन भारतीयों ने अपने आर्थिक विकास के लिए नही किया है। सौभाग्य से भारत मे वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, खनिज

का लेबनान और जोर्डन में प्रवेश। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से आंका जाता है। इसलिए राजनैतिक कदम उठाते समय उसके आर्थिक परिणामों को देखने के लिए गत इतिहास का अनुभव उपयोगी होता है। आर्थिक एवं औद्योगिक नीति बनाते समय उसके राजनैतिक परिणामों को देखे बिना हम आगे नहीं चल सकते। इसी प्रकार कृषि नीति अपनाते समय कृषकों की वर्तमान स्थिति, उनके आर्थिक स्रोत, उनमें प्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी आर्थिक उन्नति के लिए भारत स्वयं जिम्मेदार है, अतः हमारे आर्थिक विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम भावी नीति का सफल संचालन नहीं कर सकते। राज्य की आर्थिक नीति के संचालन तथा देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ़, उन्नत एवं सन्तुलित बनाने के लिए मुद्रा एवं चलन सम्बन्धी नीति, राजस्व नीति, कर-नीति आदि का एक दूसरे पर होने वाला प्रभाव भी दृष्टि में रखना होगा, इसलिए आर्थिक विकास का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इसी अध्ययन के आधार पर भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का समुचित हल होकर देश अधिभौतिक कल्याण (Material Welfare) की ओर अधिकाधिक अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के अध्ययन से हम भारत की तुलना उन देशों के साथ कर सकते हैं तथा उनके आर्थिक प्रयत्नों की सहायता से अपनी समस्यायें सुलझाने में भी सफल हो सकते हैं।

अध्याय २

भौगोलिक वातावरण एवं आर्थिक विकास

(Geographical Environments & Economic Development)

"भारत का आर्थिक विकास नजरबन्द है।"
—वीरा ऐन्सटी।

"भारतीय समाज की परिस्थितियों के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी स्वयं भारत है।"
—सर एडवर्ड ब्लण्ट।

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ के मानवी एवं नैसर्गिक साधनों पर निर्भर रहता है, इसलिए देश के आर्थिक विकास में नैसर्गिक साधनों और भौगोलिक वातावरण का प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश की जलवायु, धरातल की रचना, खनिज सम्पत्ति एवं वन सम्पत्ति पर उस देश का आर्थिक विकास निर्भर होता है, क्योंकि इन्हीं के विदोहन से मानव अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है, इसलिए यदि भौगोलिक वातावरण को हम देश के आर्थिक जीवन का आधार कहें तो अनुचित न होगा।

देश के आर्थिक विकास के लिए तथा मानव समाज की अधिभौतिक प्रगति के लिए इनका समुचित एवं वैज्ञानिक रीति से उपयोग करना आवश्यक होता है तथा इस उपयोग के ढंग पर ही देश की आर्थिक उन्नति तथा अवनति निर्भर रहती है। नैसर्गिक साधनों के विदोहन करने का कार्य प्रत्येक देश के मानव समाज द्वारा होता है, इसलिए *आर्थिक विकास के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली घटक* (Factor) 'मनुष्य' होता है। इस प्रकार किसी भी देश का आर्थिक विकास नैसर्गिक साधनों की बहुलता अथवा कमी, उस देश की जन-संख्या एवं जनता की विशेषतायें तथा काम करने की आदतें, वहाँ की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक संस्थायें तथा वहाँ के वैधानिक एवं राजनैतिक वातावरण पर निर्भर रहता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण अनेक देशों में नैसर्गिक साधनों की सम्पन्नता होते हुए भी उनमें से एक देश आर्थिक दृष्टि से उन्नत शिखर पर रहता है तो दूसरा देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है। आर्थिक विकास के लिए नैसर्गिक साधनों का विदोहन करने का काम मनुष्य का होता है और *वह अपने आर्थिक विकास के लिए उनका विदोहन कहाँ तक कर* सकता है, इस पर आर्थिक विकास निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, अमरीका और भारत के आर्थिक विकास की तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि भारत में नैसर्गिक साधनों

जिम्मेवार है। राजनैतिक गुलामी एवं तत्कालीन शासकीय नीति के कारण ही हमारे यहाँ शिक्षा के विकास और आर्थिक विकास के प्रयत्न सच्चे दिल से नहीं किये गये। यदि भारत में शिक्षा का पर्याप्त विकास होता तथा धर्म को हम सही अर्थ में समझ पाते[1] तो सम्भवतः भारतीयों की रूढ़िवादिता एवं संकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता।

(२) जाति प्रणाली—हमारी सामाजिक संस्थाओं में सबसे प्रमुख स्थान जाति-प्रणाली का है। भारतीय जातियों का निर्माण यहाँ की धार्मिक परम्पराओं के कारण ही हुआ है, जिन्होंने सामाजिक संगठन को अनेक पृथक वर्गों में (जातियों में) बाँट दिया है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन की अपनी विशेषता है, जो अन्य देशों तथा धर्मों में इस रूप में नहीं है। समाज का विभाजन विभिन्न जातियों में होने से उनकी आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाएँ भी अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार होती हैं, जिससे देश के आर्थिक विकास में रुकावटें आती हैं, इसलिए भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर जाति प्रणाली के प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि "जाति प्रणाली तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली ने अनादि काल से कुटुम्ब, समाज तथा किसी व्यवसाय अथवा संघ के सदस्यों का नियमन किया है, जिससे उसका जन्म से सम्बन्ध रहता था।"

परिभाषा—

जिस पद्धति में एक वंश के निवासी अपनी रोटी-बेटी व्यवहार आपस में करते हैं तथा उनका एक ही नाम होता है, उसे एक जाति कहा जाता है। श्री घुर्ये के अनुसार : "जो आपस में रोटी-बेटी व्यवहार करते हैं ऐसे समूह" को जाति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में : "ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनको एक नाम से पहिचाना जाता है तथा जो एक ही परम्परागत व्यवसाय करते हैं" उसे जाति कहते।[2] इस प्रकार की जातियाँ कई उपजातियों में भी विभाजित हैं तथा इनमें ऊँच-नीच भाव होने हैं, जिससे इनके आपसी रोटी-बेटी व्यवहार भी नहीं होते।

उद्गम—

जाति-प्रणाली का जन्म किस प्रकार से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ भारतीय लेखकों के अनुसार भारतीय जाति का उद्गम ऐतिहासिक बताया गया है। भारत के आदि निवासियों को जिन लोगों ने युद्ध में हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे क्रमशः यहाँ के निवासी हो गये। इनमें विजयी लोग अपने को पराजितों से उच्च वर्णीय मानते थे। इस प्रकार जितनी जातियों ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी जातियाँ यहाँ पर बनीं। इसके बाद

---

1. धर्म का सही अर्थ है—सत् धारयते इद् धर्म—समाज के स्थायित्व के लिए जो नियम आवश्यक हैं वह धर्म है।

2. Economic Development of India—Vera Anstey.

वायु दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए बाधक होती हैं। दूसरी ओर समशीतोष्ण जलवायु मे मनुष्य को काम करने का उत्साह रहता है, जिससे ऐसे प्रदेशो का आर्थिक विकास अबाधित रूप से हो सकता है। इस प्रकार जलवायु से मनुष्य की श्रम करने की शक्ति एवं उत्साह प्रभावित होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सभ्यता का विकास तो उष्ण देशो मे हुआ, लेकिन सबसे अधिक आर्थिक विकास शीत एवं सम शीतोष्ण प्रदेशो मे हो हुआ।

जलवायु का प्रभाव मनुष्य के कार्य जीवन ((Working Life) पर भी पडता है। जैसे—शीत देशो के मनुष्य स्वस्थ, दीर्घ जीवी, अधिक कुशल एवं परिश्रमी होते हैं तो उष्ण देशो के मनुष्य अस्वस्थ, अल्पजीवी तथा आलसी होते हैं। इसी कारण वे अपना आर्थिक विकास शीघ्र गति से नही कर पाते। जलवायु का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता हैं, क्योंकि जहाँ ऋतु परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है वहाँ प्रत्येक मौसमी परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैसे-भारत में शीत, वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतु मे मौसमी परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती है, जिनसे हमारी कार्यक्षमता प्रभावित होती है।

प्रत्येक देश की फसलो एवं वनस्पति पर वहाँ की जलवायु का प्रभाव पडता है और प्रत्येक देश के उद्योग धन्धे वहाँ की वनस्पति तथा फसलो पर निर्भर रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जलवायु पर निर्भर रहता है, जैसे–भारत मे सूती वस्त्र का उद्योग बम्बई और अहमदाबाद मे अधिक विकसित है, जहाँ भारत के कुल वस्त्र का ७०% वस्त्र निर्माण होता है, क्योंकि बम्बई एवं अहमदाबाद मे इस उद्योग के लिये आवश्यक उष्ण एवं आर्द्र जलवायु है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की जलवायु गन्ने के लिए पोषक होने से इन राज्यो मे शक्कर व्यवसाय केन्द्रित है।

यातायात पर भी जलवायु का गहरा प्रभाव पडता है, किसी भी देश की आर्थिक उन्नति यातायात के विकास पर निर्भर रहती है, जैसे—जहाँ पर हिम वर्षा अधिक होती है वहाँ के स्थल मार्ग हिम वर्षा में बन्द हो जाते हैं अथवा शीत प्रदेशों में नदियों का पानी जम जाता है, जिससे नदियों अथवा समुद्र का उपयोग निम्न तापक्रम मे जल यातायात के लिए नही हो सकता। उदाहरणार्थ—बाल्टिक सागर शीत ऋतु में जल यातायात के लिए निरुपयोगी हो जाता है, इसी प्रकार कनाडा की नदियाँ भी अधिक सर्दी पड़ने पर जम जाती हैं। वायु-यातायात पर भी जलवायु का प्रभाव होता है, क्योंकि वायु-यातायात के लिए निरभ्र आकाश रहना आवश्यक होता है। यदि जलवायु के कारण आकाश स्वच्छ नहीं रहते, आँधी अथवा कुहरा रहता है तो उससे वायु-यातायात को खतरा बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि देश की जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता, उद्योग धन्धे, सभ्यता एवं यातायात पर होता है।

(२) भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुयें—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं का समावेश होता है जो प्रकृति मानव समाज के उपयोग के लिए उदारता

से देती है। भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुओं पर ही मानव समाज को उत्पादन शक्ति, वहाँ के उद्योग धन्धे एवं आर्थिक प्रगति निर्भर रहती है। किसी भी देश मे उत्पादन के लिये भूमि महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन नही हो सकता। इन प्रकृतिदत्त साधनो पर ही जन-संख्या का घनत्त्व निर्भर रहता है। जिन प्रदेशों मे प्रकृति ने अत्यन्त उदारता से काम किया है वहाँ पर जन-संख्या का घनत्त्व अन्य प्रदेशो की अपेक्षा अधिक रहेगा। इसलिए भूमि को देश के आर्थिक विकास का केन्द्र कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इसी पर मानव की आर्थिक क्रियायें निर्भर रहती हैं। इसी प्रकार भूमि का प्रभाव सभ्यता के विकास पर अधिक होता है, क्योंकि जहाँ निसर्ग की उदारता के कारण उसका आर्थिक विकास सम्भव होता है और जन-संख्या का घनत्व बढ़ता है, उन्ही क्षेत्रो मे मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा निसर्ग पर विजय प्राप्त कर अपनी अधिक उन्नति कर सकता है। परन्तु किसी भी दशा में उसकी आर्थिक क्रियायें निसर्गदत्त प्रसाधनों मे ही सीमित रहेगी।

(३) धरातल की रचना—धरातल की रचना पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है तथा भूमि मे जो रसायनिक मिश्रण पाये जाते हैं उनका प्रभाव उस देश में होने वाली खनिज सम्पत्ति पर पड़ता है। इसी प्रकार वह प्रदेश कितने अक्षांश एवं रेखांश मे बसा हुआ है, इस प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव उस देश मे होने वाली वन-स्पति तथा फसलो पर पडता है, क्योंकि अक्षांश एवं रेखांश पर ही किसी देश की जलवायु निर्भर रहती है। भूमि के नीचे पाये जाने वाले रसायनिक मिश्रणो पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है, जिस पर किसी भी फसल की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है। इस प्रकार धरातल की रचना पर उस देश की उपज तथा उसमे पाई जाने वाली खनिज सम्पत्ति निर्भर रहती है। इसका प्रभाव देश के उद्योग-धन्धो एवं मानवी आर्थिक क्रियाओं पर होने के कारण धरातल की रचना पर भी देश का आर्थिक विकास निर्भर रहता है।

(४) वन-सम्पत्ति—प्रत्येक देश की वन-सम्पत्ति उस देश के धरातल की रचना एवं जलवायु पर निर्भर रहती है। फिर भी वन-सम्पत्ति का प्रभाव प्रत्येक देश के उद्योग धन्धो पर पडता है, जैसे—नार्वे और स्वीडन के विशाल वन प्रदेशो मे लकड़ी की अधिकता के कारण वहाँ नार्वे, कागज, दियासलाई आदि बनाने के उद्योग-धन्धों की अधिकता है। भारत मे सिन्धु और गंगा नदी के मैदानो मे अच्छी एवं उपजाऊ मिट्टी के कारण वहाँ की फसलें अच्छी होती हैं, फलतः वहाँ जन-संख्या का घनत्व अधिक है। इसी प्रकार विभिन्न देशों में जलवायु के अनुसार पशु दृष्टि भी होती है। वन प्रदेशों की अधिकता एवं कमी का प्रभाव जलवायु पर होता है तथा उससे भूमि का कटाव (Soil Erosion) भी नही होता। इस प्रकार वन-सम्पत्ति एवं पशु सम्पत्ति का प्रभाव वहाँ के उद्योग-धन्धो एवं मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पडता है।

इसके अलावा वनों से निम्न लाभ होते हैं:—

(१) नदियो की बाढ मे कमी,

(२) भूमि की उर्वराशक्ति मे वृद्धि,
(३) वर्षा की पर्याप्तता,
(४) वन-सम्पत्ति पर आधारित उद्योगो का विकास,
(५) इमारती लकडी, ईंधन तथा औषधोपयोगी वनस्पति की प्राप्ति।

इसी कारण भारत मे प्रति वर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है तथा पंच वर्षीय योजनाओ मे वनो के विकास पर काफी बल दिया गया है।

(५) **खनिज सम्पत्ति**—किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसका जीवन के ढंग पर गहरा प्रभाव पडता है। वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योकि किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए खनिज सम्पत्ति अनिवार्य है। भारतवर्ष को ही देखें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत मे खनिज सम्पत्ति पर्याप्त होते हुए भी उसका पर्याप्त विदोहन नही किया गया है। भारत मे कोयले की खानें होते हुए भी यहाँ का कोयला निम्न कोटि का है तथा कोयले की खानों का वितरण ठीक से नही हुआ है। फलतः भारत को दक्षिण अफ्रीका से कोयला आयात करना पडता है। परन्तु अन्य खनिज सम्पत्ति भारत मे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, केवल उनका आर्थिक विकास के लिए समुचित रीति से विदोहन करने की आवश्यकता है। अन्य देशो की ओर देखने से यह स्पष्ट होता है कि इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया आदि के औद्योगिक एव आर्थिक विकास का आधार वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही है।

(६) **भौगोलिक स्थिति**—देश की भौगोलिक स्थिति पर उस देश के वाणिज्य एव उद्योग का विकास निर्भर रहता है। भौगोलिक दृष्टि से यदि देश विश्व के मध्य मे बसा हुआ है, जहाँ से उसे विश्व के सब देशो मे व्यापार करने मे सुगमता होती है तो उस दशा मे उस देश का आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सकेगा। जल, मार्ग की सुगमता, सुरक्षित व्यापारिक मार्ग तथा विश्व मे केन्द्रीय स्थिति होना किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड की विश्व मे केन्द्रीय स्थिति है, चारो तरफ से जल मार्ग उपलब्ध होने से उसको विश्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करना सुगम हुआ है। भारत की स्थिति आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुकूल है। तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण जल-मार्ग भी उपलब्ध है, परन्तु समुद्र तट कटा-फटा न होने से अच्छे बन्दरगाहो की कमी है। इसी प्रकार मध्य पूर्व एशिया से व्यापार करने के लिए अनुकूल स्थिति भी भारत को प्राप्त है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की जलवायु आदि भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। भारत मे अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति उपलब्ध हैं। परन्तु यहाँ के उपलब्ध साधनो का विदोहन भारतीयों ने अपने आर्थिक विकास के लिए नही किया है। सौभाग्य से भारत मे वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, खनिज

सम्पत्ति आदि औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक सभी नैसर्गिक साधन उपलब्ध हैं, जिनका विदोहन करने के लिए जन-संख्या की भी अधिकता है। परन्तु हमारे नागरिकों में उत्साह की कमी है। इसके साथ ही एशिया में केन्द्रीय भौगोलिक स्थिति तथा भारतीय व्यापार एवं उद्योग को सहायक राष्ट्रीय सरकार भी उपलब्ध है। इसलिए यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भविष्य में भारत उपलब्ध नैसर्गिक साधनों का अपने आर्थिक विकास के लिए अवश्य ही विदोहन कर अपनी आर्थिक उन्नति से चमक उठेगा।

अध्याय ३

सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ तथा आर्थिक विकास

(Social and Religious Institutions and Economic Development)

"गरीबी और धर्म भारतीय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख तथ्य हैं।"

—ग्रामीण साख समिति की रिपोर्ट, १९५४।

मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति एवं विकास पर जिस प्रकार भौगलिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव भी मनुष्य के आर्थिक विकास पर पड़ता है। मनुष्य जिस सामाजिक वातावरण में रहता है उससे उसके विचार एवं कार्य शक्ति को प्रेरणा मिलती है। धार्मिक संस्थाएं एवं प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों के अनुसार मनुष्य के उद्योग-धन्धे प्रभावित होते हैं, इसलिए आर्थिक विकास में भारत की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने जितना हमारे आर्थिक विकास को प्रभावित किया है उतना सम्भवतः अन्य देशों में शायद ही प्रभावित किया होगा। भारत में प्रत्येक सामाजिक क्रिया के पीछे धार्मिक भावना रहती है। उदाहरणार्थ, मकान की नींव खुदवाने के लिए मुहूर्त देखा जाता है, बीज बोने के लिए अथवा खेती का प्रारम्भ करने के लिए भी मुहूर्त देखा जाता है। स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं के पीछे धर्म का कितना हाथ है। आज भी धर्म निरपेक्ष भारत के मन्त्रीगण बद्रीनाथ एवं केदारनाथ की यात्रा सरकारी व्यय से करते हैं* और राष्ट्र-

---

* नवभारत टाइम्स—१०-७-५८।

पति बिना मुहूर्त के पदग्रहण नही करते। भारत मे समाज द्वारा वर्जित कोई भी व्यवसाय अथवा धन्धा नही किया जा सकता है। यहाँ तक कि जीवन की आवश्यक वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी धर्म का निर्णय माना जाता है। इसी कारण भारत के आर्थिक जीवन एव विकास के अध्ययन के लिए यहाँ की सामाजिक एव धार्मिक संस्थाओ का अध्ययन आवश्यक है।

भारत के आर्थिक विकास मे जिन धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओ तथा रूढियो का विशेष हाथ रहा है वे निम्न हैं :—

(१) धर्म (Religion)।
(२) जाति-प्रणाली (Caste System)।
(३) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System)।
(४) उत्तराधिकार कानून (Laws of Inheritance & Succession)।
(५) पर्दा प्रथा एव बाल विवाह।
(६) भारतीय दर्शन।

(१) धर्म—भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। हमारे यहाँ के खान-पान के धार्मिक बन्धन, जाति प्रथा का अस्तित्व, अहिंसा परमोऽधर्मः का अवलम्बन आदि धार्मिक भावनाओ के कारण भारतीय अनेक उपयोगी वस्तुएँ अपने उपयोग मे नही लाते। भारतीय जीवन का आदर्श ही "सादा जीवन एवं उच्च विचार" माना जाता है, परन्तु 'सादा जीवन' का यह तात्पर्य नही कि मनुष्य अपनी अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न न करें। इस विचारधारा के कारण ही भारत में एक साधारण नागरिक अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति मे सन्तोष रखने का प्रयत्न करता है तथा महत्त्वाकांक्षा अथवा भविष्य के विषय मे कुछ प्रयत्न नही करता। अहिंसा परमोऽधर्मः के तत्व के कारण हमारे किसान घुन आदि से अन्न अथवा फसलो की रक्षा के लिए कीटनाशक रसायनो (Insecticides) का उपयोग नही करते और छुआछूत की भावनाओ के कारण वे हड्डी, मैला इत्यादि खादो का उपयोग नही करते। समाज के बन्धनो के कारण किसान मुर्गी इत्यादि पालने के लाभकर धन्धे भी नही करते। इस प्रकार भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का महत्त्व होने के कारण रूढिवादिता एव संकुचित प्रवृत्ति की प्रधानता हो गई है।* इस प्रवृत्ति के कारण हम प्रत्येक पहलू को धार्मिक एव सामाजिक दृष्टि से देखते हैं एव आर्थिक विकास द्वारा अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न नही करते।

फिर भी हमारी पिछडी हुई आर्थिक स्थिति की सारी जिम्मेदारी केवल धार्मिक भावनाओ पर ही नही लादी जा सकती, क्योंकि आर्थिक अवस्था के लिए केवल धर्म ही जिम्मेवार न होते हुए हमारी गत आर्थिक परिस्थिति एव राजनैतिक गुलामी

* The Economic Development of India—Vera Anstey. pp. 46.

जिम्मेवार है। राजनैतिक गुलामी एवं तत्कालीन शासकीय नीति के कारण ही हमारे यहाँ शिक्षा के विकास और आर्थिक विकास के प्रयत्न सच्चे दिल से नहीं किये गये। यदि भारत में शिक्षा का पर्याप्त विकास होता तथा धर्म को हम सही अर्थ में समझ पाते[1] तो सम्भवतः भारतीयों की रूढ़िवादिता एवं संकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता।

(२) जाति प्रणाली—हमारी सामाजिक संस्थाओं में सबसे प्रमुख स्थान जाति-प्रणाली का है। भारतीय जातियों का निर्माण यहाँ की धार्मिक परम्पराओं के कारण ही हुआ है, जिन्होंने सामाजिक संगठन को अनेक पृथक वर्गों में (जातियों में) बाँट दिया है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन की अपनी विशेषता है, जो अन्य देशों तथा धर्मों में इस रूप में नहीं है। समाज का विभाजन विभिन्न जातियों में होने से उनकी आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाएँ भी अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार होती हैं, जिससे देश के आर्थिक विकास में रुकावटें आती हैं, इसलिए भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर जाति प्रणाली के प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि "जाति प्रणाली तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली ने अनादि काल से कुटुम्ब, समाज तथा किसी व्यवसाय अथवा संघ के सदस्यों का नियमन किया है, जिससे उनका जन्म से सम्बन्ध रहता था।"

परिभाषा—

जिस पद्धति में एक वंश के निवासी अपनी रोटी-बेटी व्यवहार आपस में करते हैं तथा उनका एक ही नाम होता है, उसे एक जाति कहा जाता है। श्री घुर्ये के अनुसार : "जो आपस में रोटी-बेटी व्यवहार करते हैं ऐसे समूह" को जाति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में : "ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनको एक नाम से पहिचाना जाता है तथा जो एक ही परम्परागत व्यवसाय करते हैं" उसे जाति कहेंगे।[2] इस प्रकार की जातियाँ कई उपजातियों में भी विभाजित हैं तथा इनमें ऊँच-नीच भाव होने से, जिससे इनके आपसी रोटी-बेटी व्यवहार भी नहीं होते।

उद्गम—

जाति-प्रणाली का जन्म किस प्रकार से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ भारतीय लेखकों के अनुसार भारतीय जाति का उद्गम ऐतिहासिक बताया गया है। भारत के आदि निवासियों को जिन लोगों ने युद्ध में हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे क्रमशः यहाँ के निवासी हो गये। इनमें विजयी लोग अपने को पराजितों से उच्च वर्णीय मानते थे। इस प्रकार जितनी जातियों ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी जातियाँ यहाँ पर बनीं। इसके बाद

---

1. धर्म का यहाँ अर्थ है—सत् धारयते इत् धर्म—समाज के स्थायित्व के लिए जो नियम आवश्यक हैं वह धर्म है।

2. Economic Development of India—Vera Anstey.

जब कुछ सुधारकों ने जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया तथा दो जातियों में रोटी बेटी का व्यवहार किया तब ऐसी जो सन्तानें हुई उनको उन जातियों ने बहिष्कृत किया तथा एक तीसरी जाति का निर्माण हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता के "चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम् गुणकर्म विभागशः" उक्ति के अनुसार व्यक्ति के गुण एवं कर्मों के अनुसार उनको चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र—मे विभाजित किया गया। इस प्रकार प्रारम्भ में गुण तथा कर्मों के आधार पर समाज का विभाजन चार जातियों में हुआ तथा इसके बाद वर्णसंकर से अनेक उप-जातियाँ सामने आई। इस प्रकार कर्म एवं गुण भेद से वर्ण-व्यवस्था निर्माण करने का हेतु समाज की धार्मिक एकता कायम रखना था। "वर्णाना ब्राह्मणो गुरु" उक्ति से तथा ब्राह्मणों की कर्म निष्ठा के कारण इनका समाज मे सर्वोच्च स्थान था, परन्तु इन्होंने स्वार्थ तथा अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए अन्य वर्णों को विद्याध्ययन से दूर रखा तथा मनमानी कर अनेक जातियों का निर्माण किया। गीता के अनुसार केवल समाज के स्थायित्व के लिए वर्ण-व्यवस्था निर्माण की गई थी, जिनमे केवल वही व्यक्ति किसी वर्ण का हो सकता था जो उस वर्ण के अनुसार कर्म करता हो। आगे चलकर इन्हीं वर्णों को जातिक हा जाने लगा तथा गुण एव कर्मों की प्रधानता केवल नाम मात्र ही रही, जिससे किसी भी व्यक्ति की जाति उसके जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

इसके अलावा जाति प्रथा के उगम सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों के अनेक तर्क हैं। श्री जे० एस० मिल [redacted] अनुसार जातियों का निर्माण श्रम विभाजन के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार श्री सेनार्ट के सिद्धान्त के अनुसार जातियां प्राचीन कार्यों के संस्थाओं को विकसित रूप है। कुछ भी हो, जाति प्रथा अनेक ऐतिहासिक परिवर्तनों के बावजूद भी अबाधित रही तथा समाज मे अपना अस्तित्व बनाये हुए है और उसका प्रभाव हमारी आर्थिक क्रियाओं पर पड़ता है।

भारतीय जाति-प्रणाली की तुलना कहीं कहीं योरोपीय देशों के शिल्प संघों (Craft-guilds) तथा व्यवसाय सङ्घों (Merchants-guilds) से की जाती है। इसमे शङ्का नहीं कि प्राचीन काल मे यहाँ की जातियाँ शिल्प-सङ्घ के रूप मे ही थी और उनका सगठन भी व्यावसायिक आधार पर हो था, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों से स्पष्ट है। कर्म के अनुसार जाति का विभाजन चार वर्णों मे किया गया तथा प्रत्येक का विभाजन उनकी क्रियाओं के अनुसार अनेक उप समूहों में हुआ, जैसे—लोहे का काम करने वाले लुहार, चमड़े का काम करने वाले चर्मकार (चमार) आदि। परन्तु इनमे जातीयता नहीं थी। कोई भी व्यक्ति एक सङ्घ से दूसरे सङ्घ मे जा सकता था तथा रोटी बेटी व्यवहार भी होते थे। इस प्रकार योरोपीय सङ्घ वास्तव मे राज्य एवं सामन्तवादियों के अत्याचारों से बचने के लिए बनाये गये संगठित दल थे, लेकिन हमारे देश मे जातियां फूट और अनेकता के कारण बनी।

जाति प्रथा के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) जाति प्रणाली के अस्तित्व से श्रम-विभाजन की प्रगति हुई

है तथा प्रत्येक जाति अपने पैतृक व्यवसाय को अबाधित रखती है, जिससे कुशलता की वृद्धि हो कर भारतीय कार्य कुशलता आज भी बनी हुई है। जाति प्रथा के कारण ही हमारे यहां कुटीर उद्योगों का अस्तित्व आज भी देखने को मिलता है।

(२) प्राचीन काल में जब राज्य द्वारा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना नहीं होती थी, उस समय जाति-प्रणाली ने शिल्प शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा द्वारा सहायता की। उदाहरणार्थ, पिता अपने पुत्र अथवा कुटुम्बियों को अपने व्यवसाय अथवा शिल्प की शिक्षा निःशुल्क एवं बड़ी लगन के साथ देता था।

(३) पैतृक व्यवसाय परम्परागत चालू रहने के कारण व्यावसायिक एवं शिल्प सम्बन्धी कुशलता की वृद्धि होने में जाति प्रथा सहायक होती थी एवं हुई है। इसके साथ ही कुटुम्ब की किसी व्यवसाय अथवा शिल्प की ख्याति उसके व्यावसायिक उन्नति में सहायक होती थी तथा उसे विज्ञापन आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

(४) जाति प्रथा में प्रत्येक जाति की उन्नति के प्रयत्न उनकी पंचायतों द्वारा किए जाते थे तथा ये पंचायतें उन जातियों के वृद्ध अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पालन-पोषण के लिए जिम्मेवार थीं। इसके अलावा जाति पचायतों द्वारा जातीय व्यवसाय का नियमन भी होता था।

(५) जाति प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति का धन्धा उसके जन्म से ही निश्चित हो जाता था, जिसकी तैयारी वह अपने बचपन से ही करता था। इससे उसे बड़ा होने पर व्यवसाय अथवा नौकरी की खोज में नहीं भटकना पड़ता था।

(६) जाति प्रथा से विभिन्न जातियों में सहकारिता रही, क्योंकि प्रत्येक जाति एक दूसरे पर निर्भर थी।

सामाजिक दृष्टि से जाति प्रथा ने हिन्दू समाज की बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करने में तथा अपनी आन्तरिक एकता बनाये रखने में सहायता पहुँचाई है। कुकर्मों के फलस्वरूप जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से प्रत्येक जाति की अवनति से रक्षा भी हुई है।

जाति प्रथा के दोष—परन्तु जाति प्रथा के उपर्युक्त आर्थिक गुण होते हुए भी जाति प्रथा के कारण व्यक्तिगत उत्साह एवं प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) को गहरी ठेस पहुँची है। जाति प्रथा से उपरोक्त लाभ प्राचीन काल में मिलते रहे, परन्तु आज जातीयता अपने नग्न एवं विकृत स्वरूप में है। इस कारण हमारी आर्थिक उन्नति के लिए यह आज किसी भी प्रकार से सहायक नहीं है। जाति प्रथा के आर्थिक दुष्परिणाम निम्न हैं :—

(१) जाति प्रथा का महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि जाति प्रथा श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक होती है। एक जाति के लोग अन्य जाति का व्यवसाय नहीं कर सकते, जिससे समाज में अप्रतियोगी-समूहों का निर्माण हो गया है, जिससे आर्थिक विकास में रुकावट आती है। मनुष्य केवल अपने जातीय शिल्प अथवा व्यवसाय को ही कर सकता है। इस कारण श्रमिकों में व्यावसायिक गतिशीलता नहीं रहती।

(२) जाति प्रथा मे केवल जातीय-व्यवसाय करना पडता है। इससे व्यक्तिगत रुचि का व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नही रहता। फलतः प्रारम्भण वृत्ति एवं अन्वेषण, सुधार आदि के लिए जाति प्रथा मे कोई स्थान नही है। इससे औद्योगिक एव आर्थिक विकास मे रुकावटें आती है। ब्राह्मण की रुचि किसी शिल्प मे भले ही हो, परन्तु उसे ब्रह्म कर्म ही करना पडेगा। इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति एव उत्पादनशीलता प्रभावित होती है।

(३) जाति प्रथा की धार्मिक भावनाओं के कारण ही विदेश यात्रा (समुद्र यात्रा) भारत मे वर्जित है। इसी कारण विदेशी व्यापार को अधिकांश भारतियों ने नही अपनाया। फलतः देश का विदेशी व्यापार ..शियो के हाथ मे चला गया, जिससे भारत को आर्थिक हानि हुई।

(४) श्रम की गतिशीलता के साथ ही जाति प्रथा पूंजी की गतिशीलता मे भी बाधक होती है, क्योंकि प्रत्येक जाति का व्यवसाय सीमित रहता था। एक जाति के लोग दूसरे व्यवसाय में पूंजी नही लगाते थे। फलतः देश की पूंजी की गतिशीलता मे जाति प्रथा बाधक होने के कारण देश के औद्योगिक विकास के लिए भी जाति प्रथा बाधक रही। इससे देश में बडे पैमाने वाले उद्योगो की स्थापना मे बाधा आई, क्योंकि ऐसे उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे विदेशी पूंजी द्वारा ही स्थापित किए गए।

(५) जाति प्रथा के कारण श्रम के महत्त्व को भी गहरा धक्का लगा है, क्योंकि ऊँचे वर्णो की जातियो मे शारीरिक श्रम करना, यहा तक कि हल का छूना भी पाप समझा जाता है। इस कारण ऐसे लोग कोई भी उत्पादन का काम नही करते है, जिसमे देश की श्रम शक्ति का एक बडा भाग बेकार हो जाता है और राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के लिए निरुपयोगी हो जाता है। ब्राह्मण का लडका "ओऽम् भवति भिक्षादेहि" का आधार लेकर भीख मांगना पसन्द करेगा, परन्तु अपने श्रम से अपनी रोटी नही कमावेगा।

(६) जाति प्रथा ने जहाँ प्रारम्भिक अवस्था मे समाज मे एकता एव सहकारिता की भावना भरी, उस जाति प्रथा मे आज हिन्दू समाज का विघटन हो रहा है तथा परस्पर घृणा, द्वेष एव फूट की भावना बढ रही है। इसमे सामाजिक अव्यवस्था के साथ ही आर्थिक अव्यवस्था भी बढती है। विभिन्न जाति वालो की पूंजी, बुद्धिमत्ता एव व्यापारिक तन्त्र सहकारिता मे काम नही कर सकते। भारत के आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ होने का यह भी एक कारण है। इसके अलावा जीव शास्त्रियो के अनुसार एक ही जाति में परस्पर विवाह होने मे जातीय अवनति होती है, जिससे कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(७) सामाजिक एव राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण समाज मे एकता होना राष्ट्रीयता के लिए पोषक होता है। इसके विपरीत जाति प्रथा से समाज का विभाजन अनेक वर्गों मे हो गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता मे बाधा आती है।

(८) जाति प्रथा से फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि प्रत्येक जाति मे शादी, जन्म, मृत्यु आदि विशेष अवसरो पर विशेष प्रकार की दावतें देनी आवश्यक होती है। इन संस्कारो पर खर्चा होता है, जिससे फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है तथा ऋण भार बढता जाता है।

जाति प्रथा की अवनति—

आज-कल आधुनिक शिक्षा के कारण जाति प्रथा को गहरा धक्का लगा है तथा विचारशील व्यक्ति जाति प्रथा को सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयो के कारण इस प्रथा का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं, अतः जाति प्रथा का अस्तित्व आज अत्यन्त शिथिल रूप में है। छुआ छूत के विचार का लगभग अन्त हो गया है तथा अन्तर्जातीय विवाह आज खुले आम हो रहे हैं। इसी प्रकार एक जाति अपने जातीय व्यवसाय अथवा शिल्प के अलावा अन्य व्यवसाय करती हुई दिखाई देती है, जिससे यह स्पष्ट है कि व्यवसाय एवं जाति का प्राचीन काल मे जो सम्बन्ध था वह सम्बन्ध अब टूट गया है। केवल खान-पान एवं विवाह सम्बन्धी बन्धन रह गये हैं, जिसमे भी शिथिलता आती जा रही है।

जाति प्रथा की शिथिलता के लिये आधुनिक महाविद्यालयीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता से सम्पर्क एवं उसका प्रभाव, शहरों का विकास, विकसित यातायात के साधन तथा सम्पूर्ण समाज की वैधानिक समता, ये प्रमुख कारण हैं। इसके अलावा आर्य समाज आदि सुधारक सम्प्रदायों ने छुआ छूत और जाति-पाँति के बन्धन को गहरी चोट पहुँचाई है। राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण जाति-पाँत के बन्धन टूट गये तथा वर्तमान शासन जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने के लिये प्रयत्नशील है।

इतना होते हुए भी जाति पाँति के बन्धनों की शिथिलता हमको केवल शहरी जीवन में ही दिखाई देती है। गाँव मे जातीय बन्धन शिथिल तो अवश्य हुए हैं, परन्तु वहाँ पर अब भी जातीयता का प्रभाव खान-पान, विवाह एवं छुआ-छूत मे देखने को मिलता है। कारण, हिन्दू-समाज मे जाति-प्रथा की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी हैं कि उनको सरलता से उखाड फेंकना आसान नही है। यह काम धीरे-धीरे ही पूरा हो सकेगा। इसमे न तो देशव्यापी आन्दोलन ही सफल हो सकता है और न किसी कानून से ही जाति प्रथा का अन्त हो सकता है। अपितु मानसिक विकास के साथ ही यह पूर्ण होगा।

(३) संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली (Joint Family System)—

यह हिन्दू समाज की दूसरी विशेषता है। यह प्रथा अन्य किसी समाज मे बहुत ही कम देखने को मिलती है। संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के अन्तर्गत परिवार के सब व्यक्ति पीढ़ियों तक एक ही कुटुम्ब मे रहते है तथा उनका खान-पान, सम्पत्ति आदि सब कार्य संयुक्त रूप में होते हैं। इस पद्धति मे कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति का अपने निजी परि-

वार से अलग रहना बुरा समझा जाता है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के सदस्यों की समुचित व्यवस्था के लिए कुटुम्ब का कर्त्ता, जो साधारणतः सबसे बुजुर्ग होता है—जिम्मेदार होता है। कुटुम्ब के सदस्य अपनी सम्पूर्ण आय इसी व्यक्ति के पास जमा करते हैं, जो उसका उपयोग कुटुम्ब के व्यय के लिए समुचित रीति से करता है। इस पद्धति में पैतृक सम्पत्ति का पीढ़ियों तक विभाजन नहीं होता तथा शादी आदि संस्कारों को करने की जिम्मेदारी कर्त्ता की ही होती है। इस प्रकार हम संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को हिन्दू कानून का आधार कहें तो अनुचित न होगा। इस प्रकार संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में एक ही प्रकार के धार्मिक विचार रह सकते हैं तथा इसमें मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रथा के उद्गम के सम्बन्ध में मतभेद है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि अपने कुटुम्ब के साथ मनुष्य के सबसे घनिष्ट सम्बन्ध होते हैं, अतएव कुटुम्ब के सभी व्यक्ति एक ही स्थान पर रहें तो अच्छा है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की सफलता सदस्यों की सहकारिता पर निर्भर होती है, क्योंकि कुटुम्ब की भलाई एवं उन्नति के लिए प्रत्येक को ही थोड़ा थोड़ा त्याग तथा 'कुटुम्ब के लिए प्रत्येक एवं प्रत्येक के लिए एक" (कर्त्ता) इस भावना से ही काम करना पड़ता है। इस परस्पर सद्भावना एवं सहायता के कारण कुटुम्ब की एकता बनी रहती है। हमारे विचार से कुटुम्ब प्रणाली का निर्माण कृषि युग में हुआ होगा, जब मनुष्य स्थायी रूप से अपनी कृषि भूमि के आस-पास घर बनाकर रहने लगा। इसमें कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है तथा सारी कमाई कर्त्ता के पास एकत्रित होती है और कर्त्ता कुटुम्ब के अधिकतम हित के लिए उसका विनियोग करता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न घटकों के एकीकरण के लिये कुटुम्ब प्रथा का विकास हुआ होगा। इसीलिये यह एक सामाजिक संस्था के रूप में आज भी प्रचलित है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को भारत की तत्कालीन आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति से और भी बल मिला है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) *संयुक्त प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ है एकता, क्योंकि एकता* के कारण महान् कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(२) एक कुटुम्ब के सदस्य यदि अपनी पत्नी तथा बच्चों सहित अलग-अलग रहते हैं तो उनकी जीविका का व्यय बढ़ जाता है, परन्तु संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में रहने से सबका व्यय एकत्रित होने से मितव्ययिता आती है। सारांश में, बड़े परिमाण उत्पादन की भाँति एकत्रित कुटुम्ब पद्धति में भी मितव्ययिता होती है।

(३) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में परिवार के सदस्यों को कर्त्ता के अनुशासन में रहना पड़ता है तथा कुटुम्ब के लिये स्वार्थ त्याग भी करना पड़ता है। इस कारण परिवार के सदस्यों में अनुशासन, स्वार्थ त्याग तथा सहकारिता की उन्नति होती है।

(४) कुटुम्ब के सभी व्यक्तियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है

अध्याय ४

ग्राम संगठन—प्राचीन एवं आधुनिक

(Village Organisation—Ancient and Modern)

"यह प्राचीन ग्राम-समाज मनु के समय से आज तक बराबर चला आया है और अनेक राजवंशों तथा साम्राज्यों के पतन के बाद भी जीवित है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन।
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।
भारतमाता ग्रामवासिनी।"

—सुमित्रानन्दन पंत।

भारतीय प्राचीन गाँव और आधुनिक गाँव में अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन काल में गाँव एक पूर्ण इकाई के रूप में था, किन्तु आज उसका वह रूप नहीं रहा, आज प्रत्येक गाँव एक बड़ी इकाई का केवल एक भाग है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन गाँव अन्य गाँवों, कस्बों व शहरों से पूर्ण रूप से पृथक था। अपितु वर्तमान अवस्था के विपरीत प्राचीन काल में भारतीय जीवन अधिक सहयोगी और प्रजातन्त्रात्मक था। हर गाँव अपनी अलग स्थिति रखता था और दैनिक आवश्यकताओं के लिए वह बाहरी दुनियाँ पर निर्भर नहीं था। अपनी उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुएँ वह स्वयं पैदा करता था और उपभोग के बाद जो कुछ बचता था उसे विशेष अवसरों के लिए भण्डारों में जमा करता था। खाद्य पदार्थ केवल उसी मात्रा में बाहर भेजे जाते थे जितना सरकारी और अन्य सरकारी कार्यों के लिए आवश्यक होते थे। इसमें से भी अधिकतर भाग सरकारी आज्ञानुसार गाँव में ही सरकारी कर्मचारियों में वितरण के लिए जमा रखा जाता था। गाँव में भोज्य पदार्थों के अलावा कपास भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती थी। खेतों से कपास चुनने के पश्चात् औरतें घर पर उसकी रुई निकाल लेती थीं और फिर सूत कातती थीं। इसी सूत से गाँव के जुलाहे कपड़ा बुनते थे। इस प्रकार कपड़ा तैयार होने पर स्थानीय दर्जी या घर की स्त्रियों द्वारा उसकी साधारण पोशाकें तैयार की जाती थीं। यदि रंगीन कपड़े की आवश्यकता होती तो रंगरेज द्वारा सूत या कपड़ा रंगवा लिया जाता था। यह सही है कि किसानों को जो कपड़ा उस समय मिलता था वह आज की भाँति अच्छी किस्म, रंग और डिजाइन का नहीं होता था फिर भी उन्हें आवश्यकता के अनुसार प्रचुर मात्रा में कपड़ा मिल जाता था।

(५) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के पालन-पोषण के बाद जो शेष रहे वही संचित किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में पूँजी संचय नहीं होने पाता, जिससे बहु परिमाण उद्योगों की स्थापना एवं विकास में बाधा आती है। क्योंकि बहु-परिमाण उद्योगों के लिये अधिक परिमाण में पूँजी की आवश्यकता होती है।

(६) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में स्वार्थ त्याग की भावना होना आवश्यक होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी होता है। इस कारण सम्पूर्ण कुटुम्ब के लिये वह अपना स्वार्थ त्याग नहीं करना चाहता। फलतः आपस में वैमनस्य बढ़ जाता है तथा कुटुम्ब के सदस्यों का जीवन शान्तिपूर्ण नहीं रहता है।

उक्त दोषों के कारण यह प्रथा आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक होती है। इसके अलावा कुछ ऐसी आधुनिक प्रवृत्तियाँ आ गई हैं जिनसे संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का विघटन हो रहा है तथा प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का सम्पर्क, विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा यातायात की सुविधाओं के कारण संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का आजकल लोप हो रहा है और ऐसे केवल इने-गिने कुटुम्ब ही देखने को मिलते हैं। इसके अलावा आजकल रोजगारी के विभिन्न स्थानों के अवसरों के कारण भी संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है।

(४) उत्तराधिकार-कानून (Laws of Inheritance & Succession)—

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का उत्तराधिकार कानून से घनिष्ट सम्बन्ध है। हिन्दू समाज में उत्तराधिकार कानून संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि यदि कुटुम्ब की सम्पत्ति संयुक्त हो तो वह कुटुम्ब भी अविभक्त (संयुक्त कुटुम्ब) माना जाता है। इसी प्रकार जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि सम्पत्ति का कानून में बँटवारा हो गया है तब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी संयुक्त समझी जाती है। भारत में दो प्रकार के उत्तराधिकार कानून प्रचलित हैं : मिताक्षरा तथा दयाभाग। दयाभाग उत्तराधिकार कानून केवल बङ्गाल में प्रचलित है तथा शेष भारत में मिताक्षरा कानून हिन्दू समाज की सम्पत्ति के सम्बन्ध में लागू होता है। मिताक्षरा कानून के अनुसार प्रत्येक पुरुष सन्तति (Male child) को जन्म से ही (अर्थात् गर्भ में आने से ही) पैतृक सम्पत्ति में भाग लेने का अधिकार मिलता है। किन्तु जब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा कानूनन न माँगा जाय तब तक उस सम्पत्ति का स्वामित्व संयुक्त समझा जाता है। पिता की सम्पत्ति का बँटवारा केवल उसके लड़कों में ही समानता से किया जाता है। कोई लड़का चाहे तो पिता के जीवन काल में ही अपना हिस्सा ले सकता है। दयाभाग पद्धति में पुत्र केवल पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उसकी जीवित अवस्था में नहीं। इन दोनों कानूनों में एक अन्तर स्पष्ट है कि जब तक कुटुम्ब का विभाजन नहीं होता तब तक सम्पत्ति के बँटवारे का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता,

अपितु सभी सदस्यों का पैतृक सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है परन्तु कुटुम्ब के सदस्य का अपनी कमाई हुई सम्पत्ति पर अधिकार होता है, जिस पर उसे कानूनी रूप में अधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता है। अन्यथा वह संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति ही मानी जाती है।

इसी प्रकार भारत में मुसलमानों की पैतृक सम्पत्ति मॉहोम्मेडन लॉ के अनुसार केवल पुरुष सदस्यों में ही विभाजित न होते हुए पुरुष एवं स्त्री सभी सदस्यों में विभाजित की जाती है। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही समाजों में सम्पत्ति का विभाजन होता है, जिसका प्रभाव देश के आर्थिक विकास पर पड़ता है।

उत्तराधिकार नियमों के आर्थिक प्रभाव—

उत्तराधिकार नियमों के अनुसार कुटुम्ब का विभाजन होने पर सम्पत्ति का विभाजन भी कुटुम्ब के सदस्यों में हो जाता है।[1] यद्यपि यह बँटवारा कभी-कभी केवल आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिये होता है तथा वैधानिक दृष्टि से वह सम्पत्ति संयुक्त ही रहती है। परन्तु इससे उसके आर्थिक परिणामों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सम्पत्ति के टुकड़े-टुकड़े हो ही जाते हैं। इङ्गलैंड आदि योरोपीय देशों में प्रचलित उत्तराधिकार नियम के अनुसार सम्पत्ति पर केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही अधिकार मिलता है तथा अन्य छोटे भाइयों को अपनी आजीविका स्वयं ही खोजनी पड़ती है। योरोपीय उत्तराधिकार नियमों के सम्बन्ध में डॉ० जॉनसन ने कहा था : "इस पद्धति में केवल एक ही मूर्ख को कुटुम्ब में सदैव बनाये रखने का गुण है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि हमारे उत्तराधिकार कानून से कुटुम्ब में अनेक मूर्खों का निर्माण होता है और उन्हें स्थिरता मिलती है। इसके विपरीत हम यह कहेंगे कि हमारे उत्तराधिकार कानूनों में सम्पत्ति का विभाजन कुटुम्ब के सदस्यों में समानता से होता है, इसलिए हमारे यहाँ साम्यवाद को बल मिलता है। योरोपीय उत्तराधिकार नियम से पूँजीवाद की प्रवृत्ति बढ़ती है तथा पूँजी का एकत्रीकरण केवल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारे उत्तराधिकार कानूनों के आर्थिक दुष्परिणाम नहीं होते।

गुण—

(१) *भारतीय उत्तराधिकार नियमों के अनुसार कुटुम्ब के प्रत्येक पुरुष व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार मिलता है, जिससे उसे अपनी जीवन नौका को संसार सागर में छोड़ने के लिए कुछ न कुछ आधार हो जाता है।* इससे उसे अपना जीवन

---

१. देशी राज्यों में और कुछ जमींदारों में सम्पत्ति का बँटवारा न होते हुए वह केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलती है, जैसे—इङ्गलैंड के उत्तराधिकार कानून से होता है।

2. It has the merit of perpetuating only one fool in the family.

प्रारम्भ करने के साधन मिल जाते हैं, जिनको वह अपने परिश्रम एवं कुशलता से बढ़ा सकता है।

(२) सम्पत्ति का वितरण सभी भाइयों में अथवा सदस्यों में समानता से होने से सम्पत्ति के वितरण में समानता आ जाती है तथा पूँजीवाद की प्रवृत्तियों को कोई स्थान नहीं मिलता।

दोष—

(१) भूमि का विभाजन अनेक टुकड़ों में कर दिया है, जिससे कृषि योग्य भूमि बिखरी हुई है तथा टुकड़ों में बँट गई है। इस कारण कृषि का व्यवसाय नहीं हो सकता और न उसमें कोई स्थाई सुधार ही किये जा सकते हैं। भारत में जनता का जीवन-स्तर गिर गया है, कृषि-उद्योग किसी प्रकार लाभकर नहीं रहा है और न कृषि कार्यों के लिये यन्त्रों का उपयोग ही सफलता से किया जा सकता है। फलतः भारत की अधिकतर जन संख्या दरिद्रता एवं ऋणों में फँसी हुई है। डॉ० मुकर्जी ने लिखा है :—"भारत में दरिद्रता भूमि एवं मनुष्य के अनुपात का परिणाम है।"* क्योंकि भारत की कृषि भूमि का विभाजन एक ओर छोटे-छोटे एवं बिखरे हुये टुकड़ों में होता है और दूसरी ओर कृषि पर निर्भर जन-संख्या बढ़ती जाती है। इसी कारण भारत में चकबन्दी का अभाव है।

(२) सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने से पूँजी संग्रह नहीं होने पाती तथा बहु-परिमाण उद्योगों की स्थापना पूँजी के अभाव के कारण रुक जाती है।

(३) पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के लिए आपस में मुकद्दमेबाजी होती है, जिसमें धन की फिजूल खर्ची होती है।

(४) सम्पत्ति का बँटवारा होने के कारण मनुष्य को उपजीविका का साधन मिल जाता है, जिससे वह अपनी उपजीविका कमाने के लिये अथवा उपलब्ध साधनों को बढ़ाने के लिये प्रयत्न नहीं करता। परिणामस्वरूप साहस एवं प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता।

सम्पत्ति पर अधिकार होना न्याय है, परन्तु उसके बँटवारे का अधिकार होना आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है, इसलिये उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन आवश्यक है। विशेषतः इस दृष्टि से कि भूमि का विभाजन कुछ सीमा के बाहर न जाने पावे।

(५) पर्दा एवं बाल-विवाह—

उक्त सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के अतिरिक्त भारत में पर्दा एवं बाल-विवाह भी प्रचलित हैं, जिससे समाज में अनेक बुराइयां आती हैं तथा उसके कारण आर्थिक दुष्परिणाम भी होते हैं। पर्दा प्रथा के कारण भारत में औरतें जीवन-संग्राम में सक्रिय भाग नहीं ले सकती हैं, जिससे पर्दानशीन स्त्रियों की उपलब्ध बुद्धि एवं श्रम

---

* "Poverty is a matter of the man-land ratio in India"—Economic Problems of Modern India by Mukerji.

का सम्पूर्ण उपयोग नहीं होता है। पर्दा पद्धति का अवलम्बन भारत में मुसलमानों के हमलों के कारण ही किया गया था, परन्तु अब परिवर्तनशील परिस्थिति मे इसका अन्त होना ही लाभकर है और वह शिक्षा प्रसार के साथ होता भी जा रहा है। पर्दा प्रथा के कारण पति स्त्रियों को अपने साथ शहरों में नही ले जाते, फलतः वे दुर्गुणों मे फँस जाती हैं। इससे सामाजिक बुराइयाँ तो आती हैं, परन्तु साथ ही उनको आर्थिक शक्ति का भी अपव्यय होता है। पर्दानशीन औरतों को खुली हवा एवं स्वच्छ प्रकाश न मिलने से उनकी सन्तान का मानसिक एवं शारीरिक विकास प्रभावित होता है, जिससे आर्थिक दृष्टि से देश को कार्यक्षम एवं स्वस्थ प्रजा नहीं मिलती।

बाल विवाह दूसरी सामाजिक कुरीति है, जो शारदा-कानून होने पर भी भारत के गाँवों और शहरों में भी प्रचलित है। हिन्दू समाज में सन्तानहीन व्यक्ति का (स्त्री अथवा पुरुष का) मुँह देखना भी पाप समझा जाता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति योग्यता एवं अयोग्यता का विचार न करते हुए विवाह बन्धन मे पड़ जाता है तथा विवाह बचपन मे ही हो जाते हैं। आज भी गावों मे तथा शहरों मे बाल विवाह होते हैं। इससे जन-संख्या बढ़ती है तथा अल्पायु मे होने वाली सन्तान का मानसिक एवं शारीरिक विकास भी ठीक से नहीं होने पाता। इसी कारण भारत मे प्रसूति-काल मे स्त्रियों की अधिक मृत्यु होती है तथा बाल मृत्यु की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। दूसरे, बचपन मे विवाह होने के कारण स्त्रियों का शारीरिक एवं मानसिक ह्रास हो जाता है, जिससे वे कार्यक्षम एवं स्वस्थ प्रजनन के लिए अक्षम हो जाती हैं।

यद्यपि शिक्षा-विकास एवं समाज सुधारकों ने इन प्रथाओं एवं कुरीतियों का अन्त करने के लिए प्रयत्न किए हैं, फिर भी अभी तक वाञ्छनीय सफलता नहीं मिली है। इन कुरीतियों का अन्त होना देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में समाज की स्थिरता के लिए ये प्रथाएँ आवश्यक थीं, इसलिए इनका विकास हुआ। परन्तु अब समाज की स्थिरता एवं आर्थिक विकास के लिए इन प्रथाओं का उन्मूलन ही आवश्यक है और इसी मे हमारा आर्थिक एवं सामाजिक हित है। इन प्रथाओं के कारण जन संख्या की अधिकता, फिजूल खर्ची, भूमि का टुकड़ों में विभाजन, आर्थिक साहस एवं विनियोग पूँजी का अभाव, मानसिक एवं शारीरिक अस्वास्थ्य आदि आर्थिक दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। इसलिए इन बुराइयों से बचने के लिए इनका या तो अन्त ही हो जाना चाहिए अथवा इनमें इस प्रकार आवश्यक सुधार हो, जिससे इन आर्थिक दुष्परिणामों से देश की रक्षा होकर देश का आर्थिक विकास समुचित रीति से हो सके।

भारतीय दर्शन का आर्थिक परिणाम—

कुछ विद्वानों के अनुसार भारत की आर्थिक अवनति का प्रधान कारण यहाँ की दार्शनिकता और सांसारिक जीवन के प्रति हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण है। भारतीय दर्शनों ने पारमार्थिक उन्नति एवं पारलौकिक जीवन को महत्त्व दिया है तथा अधि-

रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण, सेवाश्रम, आदि के प्रभाव से समाज व्यवस्था बहुत परिवर्तित हो गई है। जनता में भौतिक उन्नति के प्रति उत्साह और आर्थिक लाभ की आशा से कार्य करने की प्रवृत्ति बढ रही है। अब किसी व्यवसाय पर किसी जाति विशेष का एकाधिकार नही है।

सारांश यह है कि आज का आर्थिक जीवन, धर्म और समाज से प्रभावित न होकर उनके सुधार करने के लिये प्रयत्नशील है, जिससे हमारी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थायें आर्थिक विकास के लिए बाधक न होकर पोषक बनें।

द्वितीय खण्ड

भारतीय कृषि

सुख समृद्धि मे सहायक था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय उन्हे बाहरी सहायता की आवश्यकता पड़ती थी, जो यातायात के साधनो के अभाव मे कठिनाई से पहुँच पाती थी। फलस्वरूप गाँव के बहुत से निवासी काल के गाल मे चले जाते थे। यही कारण था कि एक गाँव से दूसरे गाँव के मूल्य मे बहुत अन्तर रहता था। गाँव वालो की आवश्यकतायें जीवनोपयोगी साधारण वस्तुओ तक ही सीमित थी। इसी से गाँव के शिल्पी भी साधारण कोटि की चीजें ही बनाया करते थे और उनके धन्धो मे श्रम विभाजन का अभाव था। प्राचीन काल मे भारत की जिस शिल्प कला की इतनी प्रशंसा की जाती है वह नगरो मे पाई जाती है, गाँव मे नही।

मुद्रा का अभाव—

प्राचीन गाँव संगठन की विशेषता मुद्रा का अभाव थी। स्वावलम्बन के कारण विनिमय बहुत कम होता था। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति या तो स्वयं करता था या दूसरो को अन्नादि देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें ले लेता था। अतएव प्रत्यक्ष विनिमय का बाहुल्य था और मुद्रा की आवश्यकता कम पड़ती थी। मुद्रा की आवश्यकता केवल राज-कर देने मे होती थी, जो प्राचीन काल मे उपज के रूप मे ही लिया जाता था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से जब मुद्रा के रूप मे भूमि कर देना अनिवार्य हो गया तब कृषक को अपनी उपज सस्ते दामो मे बेचकर लगान जमा करना पड़ता था। ऐसे अवसरो पर व्यापारियो की बन आती थी, क्योकि वे मनमाने भाव पर किसान की उपज खरीदते थे और किसान की आवश्यकता उसे सस्ता बेचने को बाध्य करती थी। फिर भी वस्तुओं का भाव *प्रायः परम्परा से निश्चित होता था। प्रतियोगिता का अभाव और रूढ़ि की प्रबलता* थी, श्रम की अगतिशीलता और कूप-मंडूकता भी ग्राम-संगठन की विशेषतायें थी।

रूढ़ि और परम्परा का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—

ग्राम्य आर्थिक जीवन मे रूढ़ि और परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतियोगिता के अभाव मे परम्परागत नियमो का पालन होना स्वाभाविक ही था। किसान जो लगान बहुत दिनो से देता आ रहा था उसमे जमीदार वृद्धि नहीं करता था। इसी प्रकार जमीदार जो भेंट बेगारी आदि किसान से लेता था उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। आजकल की भाँति न तो किसान जमीदार के *विरुद्ध आवाज उठाता था और न जमीदार ही लगान बढाने के लालच से एक किसान* से जमीन लेकर दूसरे को देता था। इसका कारण यह भी था कि देश की जन-संख्या कम और भूमि पर्याप्त थी, इसलिए भूमि के लिए किसान उतने उत्सुक नही थे जितने आज है। इस कारण उनमे प्रतियोगिता नही थी। उस अशान्ति और अव्यवस्था के युग मे किसान और जमीदार का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक भी था, क्योकि एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी। किसान की आवश्यकता जमीदार को इसलिए थी कि लड़ने के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती थी और किसानो मे से ही

अध्याय ४

ग्राम संगठन—प्राचीन एवं आधुनिक

(Village Organisation—Ancient and Modern)

"यह प्राचीन ग्राम-समाज मनु के समय से आज तक बराबर चला आया है और अनेक राजवंशों तथा साम्राज्यों के पतन के बाद भी जीवित है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन।
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।
भारतमाता ग्रामवासिनी।"

—सुमित्रानन्दन पंत।

भारतीय प्राचीन गाँव और आधुनिक गाँव में अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन काल में गाँव एक पूर्ण इकाई के रूप में था, किन्तु आज उसका वह रूप नहीं रहा, आज प्रत्येक गाँव एक बड़ी इकाई का केवल एक भाग है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन गाँव अन्य गाँवों, कस्बों व शहरों से पूर्ण रूप से पृथक था। अपितु वर्तमान अवस्था के विपरीत प्राचीन काल में भारतीय जीवन अधिक सहयोगी और प्रजातन्त्रात्मक था। हर गाँव अपनी अलग स्थिति रखता था और दैनिक आवश्यकताओं के लिए वह बाहरी दुनियाँ पर निर्भर नहीं था। अपनी उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुएँ वह स्वयं पैदा करता था और उपभोग के बाद जो कुछ बचता था उसे विशेष अवसरों के लिए भण्डारों में जमा करता था। खाद्य पदार्थ केवल उसी मात्रा में बाहर भेजे जाते थे जितना सरकारी और अन्य सरकारी कार्यों के लिए आवश्यक होते थे। इसमें से भी अधिकतर भाग सरकारी आज्ञानुसार गाँव में ही सरकारी कर्मचारियों में वितरण के लिए जमा रखा जाता था। गाँव में भोज्य पदार्थों के अलावा कपास भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती थी। खेतों से कपास चुनने के पश्चात् औरतें घर पर उसकी रुई निकाल लेती थीं और फिर सूत कातती थीं। इसी सूत से गाँव के जुलाहे कपड़ा बुनते थे। इस प्रकार कपड़ा तैयार होने पर स्थानीय दर्जी या घर की स्त्रियों द्वारा उसकी साधारण पोशाकें तैयार की जाती थीं। यदि रंगीन कपड़े की आवश्यकता होती तो रंगरेज द्वारा सूत या कपड़ा रंगवा लिया जाता था। यह सही है कि किसानों को जो कपड़ा उस समय मिलता था वह आज की भाँति अच्छी किस्म, रंग और डिजाइन का नहीं होता था फिर भी उन्हें आवश्यकता के अनुसार प्रचुर मात्रा में कपड़ा मिल जाता था।

भूमि का विभाजन—

उस समय प्रत्येक गाँव की सीमा होती थी और वहाँ की सम्पूर्ण भूमि पर गाँव वालो का सामूहिक अधिकार था, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा न थी। गाँव के बूढे लोग वहाँ रहने वाले परिवारो की आवश्यकतानुसार भूमि का बँटवारा कर देते थे। जमीदारी प्रथा से लोग पूर्ण अनभिज्ञ थे और खेती मे किसी का भी विशेषाधिकार मान्य नहीं था। भूमि गाँव की सामूहिक सम्पत्ति होती थी और उसका वितरण वहाँ के परिवारो मे एक निश्चित अवधि के लिए होता था। पशुओ के चरने के लिये बड़े बड़े चरागाह रखे जाते थे और उनकी नस्ल पर पूरा ध्यान दिया जाता था। दूध व दूध सम्बन्धी वस्तुएँ बच्चे व बूढे, किशोर व नौजवान, अपग और सहायक आदि प्रत्येक के लिए प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती थी। वनस्पति घी और ऐसे अन्य पदार्थ न तो मिलते ही थे और न बाहर से मगवाये ही जाते थे। दूध देने वाले पशुओ को बाहर बाहर भी नही भेजा जाता था, जिससे वे कसाईखाने के शिकार नही हो सकते थे। यद्यपि यह सही है कि पशुओ का उस समय बाहर भेजना आसान न था, गमनागमन मे कई दिक्कतें थी। कोई ग्रामवासी उस समय जनमत की अवहेलना नही कर सकता था। अगर कोई व्यक्ति पशुओ का ठीक रीति से पालन नही कर सकता था या नस्ल को खराब कर देता था तो ग्राम समाज उसको सहन नही कर सकता था। प्रत्येक गाँव धन-धान्य से पूर्ण था, प्रकृति दयावान थी। उन्हें खेतो को तीन वर्षों मे एक वर्ष से अधिक जोतने की आवश्यकता न थी। यहा यह मान लेना असगत न होगा कि अकाल के समय किसी भी तरह की बाहरी सहायता मिलना सम्भव नहीं था। दूर के स्थानों से नाज लाना अत्यन्त कठिन था, किन्तु अकाल की जो अवस्थाएँ आज हम देखते हैं वे शायद उन्हे कभी अनुभव ही नही करनी पडी थी। यदि कभी अनाज की कमी हो भी जाती तो वे लोग इतना अनाज इकट्ठा रखते थे कि आसानी से उस कठिनाई को पार किया जा सके। पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को दिया जाता था और कुछ भाग मन्दिरों, शिक्षा सस्थाओ व सामाजिक अवसरो के लिये रखा जाता था।

गाँव की आवश्यकताएँ—

गाँव की अन्य आवश्यकताएँ बहुत ही साधारण और कम थी, जिनकी पूर्ति स्थानीय वस्तुओ से आसानी से हो जाती थी। उनकी पूर्ति के लिए कभी बाहर नहीं देखना पडता था। कुम्हार तालाब से मिट्टी खोद कर अपने चक्के पर वर्तन बना लेता था, फिर उन्हें आग मे पका कर गाव वालो की पूर्ति कर देता था, किन्तु उसे कभी नक्द पैसा नही मिलता था, क्योकि वह भी एक गाँव का सदस्य होता था, अतः उसे फसल पर उसके परिवार के पोषण के लिए काफी अनाज दे दिया जाता था। मृत जानवरो की खाल को उतारने का काम चमार करता था और उसका चमडा बना कर जूते व अन्य वस्तुयें तैयार करता था। धोबी अपने साधारण ढङ्ग से गाँव वालों के कपडे साफ कर लाता था। तेली तेल निकाल देता और इस तरह वह भी एक जरूरी आवश्यकता को पूरी कर देता था।

चौकीदार—

चौकीदार गांव का वैतनिक नौकर होता था। वह गांव में शान्ति और व्यवस्था, चोरी व डकैती और हत्या आदि वार्तों के लिए जिम्मेदार था। यदि गाव में किसी के यहां चोरी हो जाती तो उसके लिये उसे जिम्मेदार होना पड़ता था और जितना भी नुकसान होता उसे स्वयं पूरा करना पड़ता था। उसे मुखिया की आज्ञा का पालन करना होता था और जब कभी उसे पचायत बुलाने का आदेश दिया जाता, तो वह पंचों को बुलाकर इकट्ठा करता था। इन सेवाओं के बदले में उसे कुछ जमीन दी जाती थी, जिस पर कर नहीं लिया जाता था, बल्कि वह ग्राम कोष से चुकाया जाता था।

पटवारी—

पटवारी या गांव का खजान्ची व्यवस्थित रूप से गांव का हिसाब रखने के लिए जिम्मेदार होता था। वह कृषि योग्य भूमि के टुकड़ों तथा खेती करने वाले किसानों आदि का लेखा रखता था। सम्मिलित कोष तथा राजा को दिए जाने वाले कर का हिसाब भी वह रखता था। उसे खेती करने के लिये कुछ भूमि मिलती थी और फसल पर कुछ अनाज दिया जाता था।

वास्तव में गांव का काम चलाने में ये ही व्यक्ति मुख्य होते थे। इनकी नियुक्ति गाव के लोगों द्वारा होती थी, अतः स्वाभाविक रूप से इन्हें गांव के लोगों के प्रति वफादारी के साथ काम करना पड़ता था। दूसरे रूप में वे प्रजा के सेवक थे, जो प्रजा द्वारा चुने जाते थे और वफादारी के साथ जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाते थे। गांवों में निम्न प्रकार के व्यवसायी रहते थे, जैसे—कुम्हार, मोची, धोबी, नाई, तेली, लुहार, सुनार, बढ़ई, ग्वाला, वैद्य, संगीतकार इत्यादि।

चौकीदार, मुखिया और पटवारी गांव के मुख्य स्तम्भ होते थे। मुखिया या सर-पंच गांव की सरकार का प्रमुख व्यक्ति होता था। चौकीदार उसके आधीन नौकर होता था और पटवारी उसको गांव का हिसाब तथा अन्य रेकार्ड रखने में सहायता देता था। प्रत्येक गांव में एक पंचायत थी, जिसके आधीन ये तीनों अधिकारी प्रजा के सेवक की भांति काम करते थे।

मुखिया और उसकी नियुक्ति—

मुखिया का एक विशिष्ट स्थान होता था और गांव के लोग यह स्थान उसी को देते थे जो लोकप्रिय होता था। मुखिया का चुनाव सारे गांव की जाति मिल कर करती थी और जब कभी वह लोगों का विश्वास खो देता तो उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति चुन लिया जाता था। लेकिन यह स्थान ऐसा नहीं था जिसके पीछे लोग मत प्राप्त करने के लिए आज की भांति उचित और अनुचित साधन काम में लाते। यह श्रेय तो केवल उसी को प्राप्त होता था जिसे सब लोग चाहते हों। अधिकांश मत प्राप्त करना कोई महत्त्व नहीं रखता था। चुनाव की पद्धति तथा उसकी

अनुकूलता को देखने के लिये किसी बाहर के व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती थी। गाँव वाले स्वयं यह भली प्रकार जानते थे कि हमें इस उच्च स्थान के लिए किसे चुनना है ?

मुखिया की न्याय-प्रियता हमेशा सन्देह से परे होती थी। इस पद के लिये मजिस्ट्रेट की आज्ञा या पुलिस अधिकारी की सिफारिश भी कुछ काम नहीं देती थी। बड़े बड़े आदमियों का पक्ष प्राप्त कर लेना व्यर्थ था। उसका चरित्र ही उसका सबसे बड़ा सहयोगी होता था और इसी से वह हर परिस्थिति में अपने आपको सही मार्ग पर चला पाता था। उसके कर्त्तव्य भी उतने ही विशाल होते थे। छोटे-छोटे मामलों का निपटारा तो वह स्वयं ही बिना किसी कानूनी रूप और कोर्ट फीस के हल कर देता था। उस समय की शासन व्यवस्था की सफलता और सुखी जीवन का कारण यह था कि लोग अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों का अधिक ध्यान रखते थे।

प्राचीन गावों की व्यवस्था के बारे में मुख्य बात यह है कि सभ्यता के उदय के उन दिनों में जब मानव मस्तिष्क का पूर्ण रूप से विकास भी नहीं हो पाया था, भारतीय गाँवों के प्राचीन निवासी अपने गाँव की व्यवस्था इस कलात्मक ढङ्ग से कर लेते थे कि जिसे जान कर आश्चर्य होता था। समस्त झगड़ों का निपटारा, चाहे वे सामाजिक, धार्मिक, दीवानी, फौजदारी और कर सम्बन्धी कैसे भी क्यों न हो, लोग स्वयं बैठ कर कर लेते थे। उन्हें वकीलों व वर्तमान खर्चीली न्याय व्यवस्था की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई।

ग्राम पंचायतें—

ग्राम पचायतें अपना कार्य भिन्न-भिन्न समितियों द्वारा किया करती थी, लेकिन आज हमारे पास उनका कोई विवरण नहीं है। फिर भी चिंगलपुर जिले के एक गाँव के मन्दिर में प्राप्त दो शिला लेखों के विवरण के अनुसार ६ कमेटियाँ होती थी — (१) वार्षिक कमेटी, (२) उपवन कमेटी, (३) तालाब कमेटी, (४) स्वर्ण कमेटी, (५) न्याय कमेटी तथा (६) अन्तिम पचवरा कमेटी। अन्तिम कमेटी का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया, फिर भी उसके दो अर्थ लगाये जाते हैं : (अ) यह ग्राम निरीक्षण के लिए थी और (ब) यह विशेष प्रकार के कर एकत्रित करने के लिए होती था।

इन कमेटियों के सदस्यों का चुनाव साधारण सभा द्वारा किया जाता था, जिसमें बच्चे व बूढ़े सब शामिल होते थे। परन्तु मताधिकार केवल युवक लोगों को ही होता था। इस प्रकार सारी व्यवस्था एक प्रजातन्त्रात्मक ढङ्ग पर आधारित थी। यह हो सकता है कि जो तरीके अपनाये गये थे वे इतने स्पष्ट और निश्चित नहीं थे जैसे आज है। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रजातन्त्र व चुनाव की मुख्य बातें विधान में भली-भाँति विद्यमान थी। चुनाव का ढङ्ग बहुत ही दिलचस्प होता था, उसके विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में गाँव के लोग

प्रजात व तथा सरकार के वर्तमान तरीकों से बिल्कुल अनभिज्ञ न थे। "एक गाँव जिसमें १२ गलियाँ होतीं उसे ३० वार्डों में बाँटा जाता था, फिर जो व्यक्ति इन वार्डों में रहते थे वे एक टिकट पर अपना नाम लिखा देते थे। पहले टिकट वार्डों के अनुसार अलग-अलग बण्डल में जमा किये जाते, फिर हर एक बण्डल पर वार्ड का नाम लिख दिया जाता था। फिर बण्डल इकट्ठे कर उन्हें एक घड़े में रख कर ग्राम सभा के सामने रखा जाता था। एक पुरोहित घड़े को लेकर खड़ा हो जाता था, जिससे कि सब लोग उसे देख सकें। वह एक किशोर बालक को उस घड़े में से एक बण्डल निकाल लेने के लिए अपने पास बुलाता था। इस बण्डल में जो भी टिकट होते वे फिर दूसरे घड़े में रख दिए जाते थे। इसके पश्चात् वह लड़का उस घड़े में से एक टिकट निकाल कर एक अधिकारी के हाथ में दे देता था जो अपने हाथ की पाँचों अँगुलियाँ फैलाकर उसे ग्रहण करता था। वह फिर उस टिकट का नाम पढ़ कर सुना देता था। तब पुरोहित सारी सभा में उसकी सूचना कर देता था। इस प्रकार हर एक वार्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले ठोस नाम छाँटे जाते थे। तीस में से १२ वार्षिक कमेटी, १२ उद्यान कमेटी और ६ तालाब कमेटी के लिए नियुक्त कर दिये जाते थे।"*

पंचों की योग्यताएँ—

उक्त कमेटियों के लिए गाँव के हर एक व्यक्ति को नहीं चुना जाता था। केवल योग्य व्यक्ति ही इसमें लिए जाते थे। पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए सदस्यता खुली थी। पंचों की योग्यताएँ निम्न प्रकार निश्चित होती थीं:—(१) उनके पास गाँव की एक-चौथाई से भी अधिक भूमि हो, जिसका वह कर देता हो। (२) उसके पास अपने ही मुहल्ले में मकान होना आवश्यक है। (३) उसकी उम्र ७० वर्ष से कम और ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिए। (४) उसे मन्त्रों और ब्राह्मणों के बारे में ज्ञान होना चाहिए। विशेष धार्मिक पुस्तकों का ज्ञान होने पर सम्पत्ति सम्बन्धी कई अयोग्यताएँ दूर हो सकती थीं। (५) उसका व्यापार से परिचित होना जरूरी था। (६) उसका भाग्यशाली होना तथा उसकी आय ईमानदारी की आय होना आवश्यक थी। (७) जो व्यक्ति पिछले तीन वर्ष किसी भी कमेटी में न रहा हो। (८) जो पहले सदस्य रह चुका हो, लेकिन उचित हिसाब न रख सका हो, उससे सब सम्बन्ध हटा लिए जायें। (९) जो व्यक्ति किसी विशेष दोष के अपराधी हों, वे चुनाव में नहीं लिए जा सकते थे।

यहाँ इन कमेटियों के कार्य के बारे में विस्तृत प्रकाश डालना असम्भव होगा, लेकिन इतना तो सही है कि इन कमेटियों की नियुक्ति गाँव की तमाम गति विधियों तथा समस्याओं का समाधान करने के हेतु ही होती थी। उन्हें ही इन छोटे गण राज्यों की व्यवस्था का ध्यान रखना पड़ता था। भिन्न-भिन्न बातों का निर्णय या तो अलग-अलग

* The Villa Government in British India.

कमेटियो द्वारा होता था या पंचायतों द्वारा जो इसी काम के लिए बुलाई जाती थी। अगर किसी काम को पूरा करने में कोई कठिनाई होती थी तो मुखिया द्वारा गाँव के योग्य, अनुभवी व्यक्तियो को बुला लिया जाता और उनकी सलाह से निर्णय दिया जाता था। निर्णय करने का ढङ्ग ऐसा नही था जैसा कि आजकल बहुमत द्वारा होता है। बहुमत के विपरीत वे लोग सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे और इसमे प्रायः वे सफल भी होते थे।

पचायत द्वारा दी गई आज्ञाओ और सजाओ को मूर्त रूप देने के लिए इन दिनो जेलो एव अधिक कर्मचारियो की आवश्यकता नही थी। अपराधी स्वय अपना दोष स्वीकार कर पचायत द्वारा दी गई आज्ञाओ का पालन करते थे। यह उस समय के उच्च सामाजिक सगठन का परिणाम है। उस समय एक अपराधी के लिए सबसे बडी सजा यही होती थी कि समस्त गाँव का समाज उसका सामूहिक रूप से बहिष्कार करे। जो अपराधी गाँव के समाज का निर्णय नही मानता था, उसे 'ग्राम द्रोही' कहा जाता था। इस प्रकार यह सजा उस समय की सबसे बडी सजा होती थी। जो व्यक्ति समस्त गाँव के जनमत का निरादर करता या उसे जाति से अलग कर दिया जाता था और कुछ विशेष धार्मिक विधियो पर रोक लगा दी जाती थी। इन सामाजिक बन्धनो और निष्कासन से वह थोडे ही समय मे ऊब जाता था और अत मे उसे गाँव के अधिकारियो के सामने झुकना पडता था। उस समय जातीय कर्त्तव्य और जनमत के प्रति आदर की भावना इतनी उच्च थी कि नियम भङ्ग करना कोई जानता ही न था और पञ्चायत की आज्ञाओ का पालन बिना किसी कठिनाई के हो जाता था।

पंचायत के अन्य कार्य—

पचायतो का कार्य न्याय सम्बन्धी शासन तथा सामाजिक झगडो के निर्णय करने तक ही सीमित नही था अपितु वे गाँव की सफाई की ओर भी ध्यान देती थी और व्यापक रोगो को दूर करने मे भी कम सहायक न थी। गाँव मे स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होती थी और इसीलिए गाँव की गलियो की सफाई तथा कूडा करकट को दूर फेकने के लिये महतरों का उपयोग किया जाता था। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसको जलाया जाता था, क्योकि आरोग्यता की दृष्टि से यह व्यवस्था ही सबसे उत्तम थी। मुर्दों को जलाने का स्थान गाँव से काफी दूर या नदी के किनारे रखा जाता था। जानवरो की मृत देहों को भी चमार लोग गाँव से दूर ले जाते थे और वे उनका चमडा उतार कर जाति के उपयोग के लिए प्रदान करते थे। यद्यपि आज वे सब व्यवस्थायें हैं, किन्तु गाव का वह सहयोगी जीवन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिये तालाबो को खुदवाना, कुँए बनवाना और गाँव की सब सडकों को व्यवस्थित रखने का कार्य भी गाँव की जाति द्वारा ही किया जाता था।

यह विवरण पचायतो के कार्य तथा उनके उद्देश्य प्राप्ति के साधनो की झलक देता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि प्राचीन काल मे ऐसी कौनसी शक्ति थी,

जिसने इस सामाजिक संस्था को अक्षुण्ण बनाये रखा और किस प्रकार गाँव के लोग एक सूत्र में बँध कर सहयोगी जीवन बिता सके। उत्तर हम आरम्भ में ही दे चुके हैं कि इस युग के लोगों में एक मूल भावना यह भरी हुई थी कि वे हमेशा अपने व्यक्तिगत लाभ के विपरीत समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर अधिक ध्यान दें। फिर भी एक जाति जो व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति उदार भावना लेकर अपने आपसी कर्त्तव्यों को ईमानदारी के साथ पूरा करने को तत्पर रहे वह क्या नहीं कर सकती। इसी भावना से वे विश्व के इतिहास में आश्चर्यजनक कार्य कर सके हैं।

दूसरी भावना जो ग्राम निवासियों के जीवन को प्रभावित करती थी, वह थी कि ईश्वर ही उनके भाग्य का निर्णय करता है। चूँकि पंचों में ईश्वर की शक्ति निवास करती है, अतः उनके हाथों में अपना भाग्य सुरक्षित है। यही एक कारण है कि आज भी समस्त देश में लोग पंचायत को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं और जब कभी उसके सामने जाते हैं तो पूर्ण सचाई का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा एक और भी कारण है जो पंचायत की सफलता के लिए विशेष था। उस समय की पंचायतें प्रायः एक ही स्थान की जनता द्वारा बनाई जाती थीं, अतः सब लोग एक दूसरे से भली प्रकार परिचित होते थे। इसलिये जब कोई भी मामला पंचायतों के सामने आता तो उसकी सचाई वे सरलता से मालूम कर लेते थे और जब एक बार सचाई प्रकट हो जाती है तो फिर न्याय करने में तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती थी।

गाँवों का स्वावलम्बन—

रेल व सड़कें बनने से पहले गाँव वालों का बाहर से बहुत कम सम्बन्ध था। उनकी आवश्यकताएँ सीमित थीं, जिनकी पूर्ति गाँवों में ही हो जाती थी। कभी-कभी किसी मेले या बाजार से कुछ विलासिता की चीजें या नमक आदि ऐसी वस्तुएँ, जो गाँव में नहीं मिलती थीं, खरीद ली जाती थीं।

आवागमन के साधनों के अभाव में गाँवों का स्वावलम्बन और उनका एकाकीपन अनिवार्य था। १६ वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में आवागमन के मार्गों में केवल गंगा और सिंधु नदियाँ मुख्य थीं। कुछ सड़कें थीं, परन्तु वे कच्ची थीं, जिन पर बरसात में बैलगाड़ियों का आना-जाना बड़ा कठिन था। नदियों पर पुलों का अभाव था, इसलिए बरसात में उन्हें पार करना एक कठिन समस्या थी। सड़कों पर यातायात की कठिनाई इससे और भी बढ़ जाती थी कि वे सुरक्षित नहीं थीं। उन पर प्रायः चोर और डाकुओं के अड्डे हुआ करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी सड़कों के बनाने या उनकी मरम्मत कराने की ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उसका काम तो व्यापार करना और अपने हिस्सेदारों को अधिक से अधिक लाभांश देना था, अतएव आवागमन की कठिनाइयों के कारण आन्तरिक व्यापार की वृद्धि होना कठिन था। इससे हर एक गाँव को स्वावलम्बी होना पड़ता था। साधारणतः गाँव वालों का एकाकीपन उनके

सुख समृद्धि मे सहायक था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय उन्हे बाहरी सहायता की आवश्यकता पड़ती थी, जो यातायात के साधनो के अभाव मे कठिनाई से पहुँच पाती थी। फलस्वरूप गाँव के बहुत से निवासी काल के गाल मे चले जाते थे। यही कारण था कि एक गाँव से दूसरे गाँव के मूल्य मे बहुत अन्तर रहता था। गाँव वालो की आवश्यकतायें जीवनोपयोगी साधारण वस्तुओ तक ही सीमित थी। इसी से गाँव के शिल्पी भी साधारण कोटि की चीजें ही बनाया करते थे और उनके धन्धो मे श्रम विभाजन का अभाव था। प्राचीन काल मे भारत की जिस शिल्प कला की इतनी प्रशंसा की जाती है वह नगरो मे पाई जाती है, गाँव मे नही।

मुद्रा का अभाव—

प्राचीन गाँव सगठन की विशेषता मुद्रा का अभाव थी। स्वावलम्बन के कारण विनिमय बहुत कम होता था। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति या तो स्वय करता था या दूसरो को अन्नादि देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें ले लेता था। अतएव प्रत्यक्ष विनिमय का बाहुल्य था और मुद्रा की आवश्यकता कम पड़ती थी। मुद्रा की आवश्यकता केवल राज-कर देने मे होती थी, जो प्राचीन काल मे उपज के रूप मे ही लिया जाता था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से जब मुद्रा के रूप मे भूमि कर देना अनिवार्य हो गया तब कृषक को अपनी उपज सस्त दामो मे बेचकर लगान जमा करना पड़ता था। ऐसे अवसरो पर व्यापारियो की बन आती थी, क्योकि वे मनमाने भाव पर किसान की उपज खरीदते थे और किसान की आवश्यकता उसे सस्ता बेचने को बाध्य करती थी। फिर भी वस्तुओं का भाव *प्रायः परम्परा से निश्चित होता था। प्रतियोगिता का अभाव और रूढ़ि की प्रबलता* थी, श्रम की प्रगतिशीलता और कूप-मडूकता भी ग्राम-सगठन की विशेषतायें थी।

रूढ़ि और परम्परा का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—

ग्राम्य आर्थिक जीवन मे रूढ़ि और परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतियोगिता के अभाव मे परम्परागत नियमो का पालन होना स्वाभाविक ही था। किसान जो लगान बहुत दिनो से देता आ रहा था उसमे जमीदार वृद्धि नहीं करता था। इसी प्रकार जमीदार जो भेंट बेगारी आदि किसान से लेता था उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। आजकल की भाँति न तो किसान जमीदार के *विरुद्ध आवाज उठाता था और न जमीदार ही* लगान बढाने के लालच से एक किसान से जमीन लेकर दूसरे को देता था। इसका कारण यह भी था कि देश की जन-सख्या कम और भूमि पर्याप्त थी, इसलिए भूमि के लिए किसान उतने उत्सुक नही थे जितने आज है। इस कारण उनमे प्रतियोगिता नही थी। उस अशान्ति और अव्यवस्था के युग मे किसान और जमीदार का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक भी था, क्योकि एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी। किसान की आवश्यकता जमीदार को इसलिए थी कि लड़ने के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती थी और किसानो मे से ही

सैनिक आते थे। उधर किसान भी जानता था कि जमींदार ही हमारे जान माल का रक्षक है। उसकी शक्ति और समृद्धि में ही हमारी समृद्धि है। इसी से वह जमींदार की आज्ञा मानने को बाध्य था।

इस प्रकार मजदूरी भी परम्परा से चली आती थी। देहातों में जो मजदूर काम करते थे उन्हें मजदूरी अन्न के रूप में मिलती थी। अन्न की मात्रा निश्चित थी और परम्परा से चली आती थी। भिन्न भिन्न कार्यों के लिए विभिन्न दर थीं, जैसे खेत जोतने, काटने, पानी चलाने आदि के लिए अलग-अलग दर निश्चित थीं। ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ वर्ग के लोगों को, जैसे कुम्हार, लोहार, बढ़ई आदि को फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सेवाओं के लिए भी फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, जैसे नाई, धोबी, पानी भरने वाले कहार, चमड़े का सामान देने वाला मोची आदि। बहुत से भागों में अब भी यह प्रथा चली आती है और परम्परागत मजदूरी अन्न के रूप में दी जाती है। इसमें एक सुविधा यह थी कि मुद्रा का मूल्य बढ़ने या गिरने से मजदूर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और मजदूर की ओर से मजदूरी बढ़ाने की माँग भी नहीं होती। वस्तुओं का मूल्य भी परम्परागत था। प्रतियोगिता का अभाव होने के कारण हर एक चीज का निश्चित मूल्य चला आता था। उसमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, क्योंकि मूल्य मुद्रा में नहीं चुकाया जाता था। वस्तु विनिमय की प्रधानता थी, इसलिए किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु की निश्चित संख्या या मात्रा दी जाने की प्रणाली थी और उसमें परिवर्तन नहीं होता था। परन्तु मूल्य की यह परम्परा भिन्न-भिन्न स्थानों या प्रान्तों के लिए भिन्न भिन्न थी। सारे देश में एक मूल्य कभी न था, क्योंकि देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की कठिनाई थी। परम्परागत मूल्य में कभी-कभी परिवर्तन भी होता था, परन्तु ऐसा तभी होता था जब दुर्भिक्ष, महामारी या किसी प्रकार की दैवी आपदा के कारण माँग और पूर्ति के अनुपात में अन्तर हो जाता था।

नगर—

जन गणना के अभाव में यह कहना कठिन है कि जन-संख्या का कितना प्रतिशत नगरों में और कितना गाँवों में बसता था, परन्तु १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में अनुमानतः १० प्रतिशत जन-संख्या नगरों में बसती थी। यह ध्यान में रहे कि उन दिनों यहाँ पर उद्योग-धन्धे केवल नगरों में ही केन्द्रित नहीं थे, वरन् गाँवों की जनता में भी शिल्पी थे, जिनकी जीविका उद्योग-धन्धों से चलती थी। खेती पर निर्भर रहने वालों की संख्या ६० प्रतिशत से अधिक नहीं थी।

इन दिनों के प्रमुख नगर या तो तीर्थ स्थानों में, जैसे—काशी, प्रयाग, गया, पुरी इत्यादि या राजधानी में थे, जैसे-दिल्ली, लखनऊ, आगरा, लाहौर, पूना इत्यादि। कुछ व्यापारिक केन्द्र थे, जैसे—मिर्जापुर, मदुरा, बंगलोर इत्यादि। इनमें से तीर्थ-स्थानों में केवल पंडे या तीर्थ-यात्रियों की ही बस्ती नहीं थी, वरन् व्यापारी और शिल्पी भी

बहुत थे, जैसे—बनारस में पीतल और ताँबे के बर्तन भी बनते थे, जो तीर्थ-यात्रियों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। राजधानियों वाले नगर भी कम महत्वपूर्ण नहीं थे। राजाओं और नवाबों का आश्रय पाकर अनेक शिल्पी वहाँ बसते थे, जो अपनी अपूर्व कला का बराबर प्रदर्शन करते रहते थे। भारतवर्ष की जो प्राचीन कलायें संसार भर में प्रसिद्ध थीं उनके प्रोत्साहन का पूरा श्रेय इन राजाओं और नवाबों को ही था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से ज्यों ज्यों उनका पतन होता गया त्यों-त्यों ये नगर उजड़ते गए। विजयनगर, बीजापुर, मुर्शिदाबाद, देवगिरी, ढाका आदि नगरों का ह्रास इन्हीं कारणों से हुआ।

नगरों का जीवन देहाती जीवन से भिन्न था। नगरों के लोग उद्योग धन्धों और व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे। उनमें शिल्पियों के संघ थे, जिनका संगठन बहुत अच्छा था। प्रत्यक्ष विनिमय कम था और मुद्रा का व्यवहार अधिक होता था। साख-पत्रों में हुन्डी का प्रचार अधिक था। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक रुपये का लेन-देन हुन्डियों से होता था। इससे व्यापार में बड़ी सुविधा थी और महाजनी प्रथा का पर्याप्त विकास हो चुका था,

ग्राम्य जीवन में परिवर्तन के कारण (Village in Transition)—

ग्राम्य जीवन में धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया, जिसके निम्न कारण थेः—

(१) देश के शासन का केन्द्रीयकरण—अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर ग्राम पंचायतों का महत्व जाता रहा। अनेक न्याय सम्बन्धित अधिकार आधुनिक युग की कचहरियों और न्यायालयों ने ले लिये। पुलिस कर्मचारियों ने रक्षा तथा अपराधियों का पता लगाने का काम अपने हाथ में लिया। इस प्रकार मालगुजारी वसूल करने का काम जो गाँव का मुखिया या जमींदार करता था, अब सरकारी कर्मचारी करने लगे। संक्षेप में, पञ्चायतों को किसी प्रकार के अधिकार नहीं रहे अतएव धीरे-धीरे उनका लोप हो गया। यह सच है कि अँगरेजी राज्य की स्थापना के पूर्व देश में शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव था। केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली नहीं थी और आवागमन के साधन भी नहीं थे। इन्हीं कारणों से ग्राम-पञ्चायतों की दृढ़ता और शासन का केन्द्रीयकरण अनिवार्य था।

(२) व्यक्तिवाद की वृद्धि—अँग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व समूह का अधिक प्रचलन था। सम्पत्ति पर अधिकार सामूहिक अधिकार था। गाँवों में भूमि पर ग्राम-वासियों का सम्पूर्ण संयुक्त अधिकार था। अतएव व्यक्तिवाद का प्रचलन नहीं था। अंग्रेजी राज्य में व्यक्तिगत अधिकार की प्रधानता स्वीकार की गई और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति समूह से पृथक करने की स्वतन्त्रता दी गई। अतएव ग्राम संगठन की नींव हिल गई। सामूहिक सम्पत्ति का लोप हो गया और भाईचारे का सम्बन्ध भी समाप्त हो गया।

(३) आवागमन के साधनों में क्रांति—रेल और सड़कों के निर्माण से

आवागमन की सुविधायें बढ़ गईं, जिससे एक गाँव का दूसरे गाँव से सम्बन्ध बढ़ने लगा। इतना ही नहीं, गाँवों का सम्बन्ध नगरों से भी बढ़ गया और गाँव का जीवन नगर से प्रभावित हुए बिना न रह सका। ग्राम का एकाकीपन नष्ट हो गया और वे बाहरी विश्व के सम्पर्क में अधिकाधिक आने लगे। फलतः प्राचीन ग्राम संगठन अस्तव्यस्त हो गया।

ग्राम्य जीवन में इन कारणों से निम्न परिवर्तन हुए:—

(१) ग्रामों का स्वावलम्बन नष्ट होना—

ग्राम संगठन के टूटने का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि गाँव का स्वावलम्बन नष्ट हो गया। अब उसकी आवश्यकता की सभी वस्तुयें बाहर से आती हैं। धीरे-धीरे रहन सहन का ढंग भी परिवर्तित हुआ है और जीवन का स्तर ऊँचा उठता जा रहा है। दूसरी ओर ग्राम केवल अपनी आवश्यकता की ही वस्तुयें नहीं उत्पन्न करता, वरन् बाजार की माँग के अनुसार दूसरों की आवश्यकता के लिए भी चीजें उत्पन्न करता है। ग्राम का एकाकीपन नष्ट होने से दुर्भिक्ष की तीव्रता कम हो गई। अब देश के एक भाग में अन्न की कमी होने पर दूसरे भाग से या विदेश से अन्न मँगा कर उसकी पूर्ति की जाती है, जिससे मनुष्यों की प्राण हानि कम होती है। देश के विभिन्न भागों में जो विभिन्नता रहती थी वह भी अब कम हो गई है। ग्राम संगठन के टूटने से मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग भी होने लगा है। प्रत्यक्ष विनिमय का लोप हो रहा है और परम्परागत मूल्य, मजदूरी आदि के बदले देश के अन्य भागों में समान मूल्य का प्रचलन हो गया है। यातायात के साधनों की वृद्धि से गाँवों की जनता गतिशील हो गई है। अब लोग घर का मोह छोड़ कर जीविका की खोज में दूर-दूर जाने लगे हैं, सम्मिलित कुटुम्ब टूटने लगा है और जाति प्रथा की कट्टरता कम होने लगी है। जो गाँव नगरों के समीप है वहाँ के निवासी नगर में काम करके आय बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार ग्राम-संगठन के टूटने से लोगों की आर्थिक दशा में सुधार भी हुआ है।

(२) ग्रामीण व्यवसायों और धन्धों में परिवर्तन—

(१) कृषि—ग्रामीण व्यवसायों में सबसे मुख्य कृषि है, अतएव पहले उसी पर विचार करना आवश्यक है। खेती के ढङ्ग में तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं। वही पुराना हल और वही पुराना ढङ्ग अब तक चला आ रहा है। कृषि विभाग और सहकारिता विभाग के प्रयत्नों के फलस्वरूप कुछ नए औजार और बीजों का प्रचार हुआ है। खाद बनाने का ढङ्ग भी कुछ सुधरा है और रसायनिक खादों का उपयोग बढ़ रहा है, परन्तु अभी तक देश के अधिकांश भागों में पुराना ढङ्ग ही प्रचलित है।

भारतीय कृषि में जो परिवर्तन देखने में आ रहे हैं। वे निम्न प्रकार के हैं—(क) कृषि का व्यवसायीकरण, (ख) किसानों की बेदखली और उनकी भूमि का महाजनों के हाथ में जाना, (ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती तथा (घ) मजदूरों की कमी और नगरों की वृद्धि।

(क) कृषि के व्यवसायीकरण का मुख्य कारण यातायात के साधनो की वृद्धि है। स्वेज नहर के बन जाने से इगलैंड से व्यापार अधिक होने लगा है, जिससे यहाँ की उपज अधिकाधिक मात्रा में निर्यात होने लगी। सन् १८६१ के लगभग अमेरिका मे गृह युद्ध छिड जाने से वहाँ की रुई का निर्यात बन्द हो गया, अतएव लङ्काशायर की मिलो को मिश्र और भारत से रुई मँगाना आवश्यक हो गया। रुई का भाव चढ गया और कपास उत्पन्न करने वाले देश सम्पन्न हो गये। तिलहन की माँग भी विदेशो मे बढ रही थी, अतएव विदेशी बाजार की माग की पूर्ति करने में भारत के किसान अधिक तत्पर हुए। उधर पंजाब और उत्तर-प्रदेश आदि मे नहरो का विस्तार होने से खेती की उन्नति होने लगी और अखाद्य पदार्थों की खेती दिन पर दिन बढने लगी। उपज का स्थानीयकरण भी होने लगा। बम्बई और बरार मे रुई, मध्य प्रान्त मे कपास और तिलहन, पजाब मे गेहूँ, उत्तर-प्रदेश मे गन्ना और बंगाल मे पटसन की खेती का अधिक प्रचार होने लगा। संक्षेप में, अब किसान अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रत्यक्ष नही वरन् अप्रत्यक्ष रूप से करता है। अब वह जिसमे लाभ देखता है वही फसल बोता है और नगद दाम पाने पर आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ मोल ले लेता है।

मुद्रा के अधिकाधिक व्यवहार के फलस्वरूप अब किसान को लगान, कर, सूद, मजदूरी आदि मुद्रा मे ही देना पड़ता है, जिससे उसे अपनी फसल की उपज बेचने को बाध्य होना पड़ता है। अतएव अन्न का लेन-देन करने वाले महाजनो और विदेश भेजने वाले व्यापारियो की सख्या भी बहुत बढ गई है। इस प्रकार बहुत से नए व्यवसायी उत्पन्न हुए हैं।

(ख) किसानो की बेदखली का कारण उनकी ऋणग्रस्तता है। भूमि के बँटवारे और उसके मूल्य मे वृद्धि होने आदि के कारण उन्हे ऋण लेने मे अधिक सुविधा होने लगी है। धीरे-धीरे ऋण बढ जाने पर महाजन कानून की सहायता से किसान को खेत से बेदखल करा देता है।

(ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती दिन पर दिन अधिक होती जा रही है, क्योकि आधुनिक प्रवृत्तियो के कारण सयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त हो गया है तथा वह नाम मात्र के लिए शेष रह गई है।

(घ) नगरो में नए-नए धन्धो के खुलने से देहाती जनता उधर आकर्षित हो रही है और जीविका के लिए गाँव छोड कर नगरो मे जाने लगी है। जिनके पास भूमि नही है उनके लिए गाँव छोड कर नगर मे मजदूरी करना लाभदायक होता है, अतएव खेती के लिए मजदूरो की कमी का अनुभव होने लगा है। इसके अतिरिक्त जीवन स्तर बढ जाने से कुछ सम्पन्न किसान अब छोटा काम करने में हिचकने लगे हैं। जो काम वे स्वयं कर लेते थे उसके लिए अब मजदूर रखने लगे हैं और मजदूरों का अभाव होता जा रहा है।

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने तथा कृषि उपज के मूल्य बढ जाने से किसानो को काफी लाभ हुआ और उनका ऋण भार भी कम हो गया। सन् १६४३ से देश में अन्न धान्यो की कमी के कारण उपज बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनी, जिससे कृषि सुधार के लिए काफी प्रयत्न किए गए और आज भी देश को कच्चे औद्योगिक माल एवं खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। इससे सन् १६३६ के बाद औसत किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि १६ वी शताब्दी के अन्त तक कृषकों की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नही थी। किसानो की आर्थिक दशा गिरी हुई होने से तथा देश मे सस्ते दर पर समुचित परिमाण मे साख की सुविधा न होने से कृषि-उद्योग मे पूंजी विनियोग का स्तर नीचा रहा। इससे किसानो को सदैव समुचित सिंचाई के साधनो का अभाव ही रहा तथा वे भूमि पर स्थाई सुधार करने मे असमर्थ रहे। वर्षा की अनिश्चितता से भारत की कुल कृषि भूमि मे केवल १६% सिंचित भूमि होना हमारे कृषि उद्योग में पूंजी विनियोग के निम्न स्तर की ओर सकेत करता है। इसी दोष के कारण कृषि उद्योग एक अनिश्चित व्यवसाय है। पूंजी विनियोग के निम्न स्तर का दूसरा प्रभाव कृषि मे स्थायी सुधारो का अभाव है, जैसे—खेतो की सीमा-बद्धता तथा समुचित खाद का अभाव आदि। भारत की १६ वी शताब्दी की वन नीति का प्रमुख अङ्ग 'जङ्गल सफाई' (Deforestatron) रहा है, जिससे भूमि का कटाव होता है तथा मरुभूमि पैदा होती है। इस अदूरदर्शी नीति के फल आज भी हमको स्पष्ट दिखाई देते है। तीसरे, पूंजी की कमी के कारण ही कृषि कार्यों की पद्धति एव यन्त्रो मे किसी भी प्रकार का सुधार नही हो सका, क्योंकि किसान अपने सीमित साधनों से आधुनिक कृषि यन्त्रो को अपनाने मे असमर्थ था। पूंजी की कमी का चौथा प्रभाव हमारी पशु-सम्पत्ति पर हुआ। भारत मे जहाँ कृषि-शक्ति के लिए पशुओ का अधिक उपयोग होता है वहाँ उनकी नस्ल (Breed) सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न किसान स्वय नही कर सकता और न सरकार ने ही १६ वी शताब्दी मे ऐसे कोई प्रयत्न किए। इस स्थिति मे किसान को विवश हो कर अपनी जीविका कमाने के लिए काम करना पड़ा, जिससे वह शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से उत्साहहीन एव निराशावादी बन गया। ऐसी स्थितियो में कृषि भूमि मे विस्तार होते हुए भी यदि भारत की प्रति एकड़ उपज कम रही तो आश्चर्य नही, क्योकि यह परिस्थिति का दोष था किसान का नही।

योजना काल—

परन्तु आजकल भारत को राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित हो रही है, उनसे कृषि का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट प्रतीत होता है और हम कह सकते है कि कल का किसान वास्तव मे भारत का भाग्य विधाता होगा।

श्रौर पूर्ति के नियमों द्वारा मूल्य निर्धारण होने लगा है। यातायात के साधनों में दिन पर दिन उन्नति होने से मूल्य पर केवल स्थानीय परिस्थितियों का ही नहीं, बाह्य परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

(४) मुद्रा की प्रधानता—अंग्रेजों राज्य की स्थापना होते ही मालगुजारी मुद्रा में ली जाने लगी। इससे पुरानी रूढ़ि को कुछ धक्का लगा, परन्तु कुछ दिनों के बाद मुद्रा में निश्चित लगान भी रूढ़िगत हो गया और अब मूल्य के चढ़ने या गिरने का प्रभाव लगान पर नहीं पड़ता था, लेकिन जन-संख्या की वृद्धि और भूमि की बढ़ती हुई माँग के फलस्वरूप किसानों में भी प्रतियोगिता आ गई और लगान में वृद्धि होने लगी। यह सच है कि लगान में इतनी तीव्रता से चढ़ाव या उतार नहीं होता जितना मूल्य में होता है, फिर भी लगान रूढ़िगत न होकर प्रतियोगिता से प्रभावित होता है। नगरों में मकान के किराये में कभी-कभी प्रतियोगिता का इतना परिणाम देखने में आता है कि किराया कई गुना बढ़ जाता है और कानून द्वारा उसे रोकना अनिवार्य हो जाता है। किसानों का लगान भी भिन्न-भिन्न कानूनों द्वारा निश्चित किया गया, जिससे जमींदार किसानों की प्रतियोगिता से लाभ उठा कर मनमाना लगान न बढ़ा सकें।

सन् १७५० के पश्चात् इङ्गलैंड द्वारा भारतीय धन का अपहरण प्रारम्भ हो गया। जैसा कि सन् १७६७ में मार्किस सैलिसबेरी ने कहा था : "इङ्गलैंड का प्रधान उद्देश्य एशिया के उपनिवेशों से धन प्राप्त करना था, न कि उन्हें लाभ पहुँचाना।"

सन् १८५८ तक भारत के कच्चे माल का निर्यात हो रहा था। भारत से हाथ के बने हुये सामान का निर्यात कम हो रहा था और इङ्गलैंड से कपड़े और धातु के बर्तन आदि का आयात बढ़ रहा था। इङ्गलैंड की औपनिवेशिक नीति और औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य में ह्रास न होकर भारत में निर्यात की अपेक्षा आयात की मात्रा बढ़ा दी गई, जिससे हमारे देश का धन इङ्गलैंड जाने लगा। इस समय भारत में पूँजी नहीं आ रही थी और देशी उद्योग धन्धों की अवनति की गति इस प्रकार तीव्र थी कि सन् १८७०-७५ के आस पास इस देश की औद्योगिक दशा पतन की सीमा पर पहुँच गई थी।

अतः १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित पुरानी अर्थ व्यवस्था, जो गाँव की आत्म निर्भरता पर आधारित थी, विदेशी शक्तियों के सम्पर्क में आने से बदलने लगी।

अध्याय ५

भारतीय कृषि (सन् १८५७ के पूर्व एवं पश्चात्)

(Indian Agriculture Before & After 1857)

"स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक समस्या की कुंजी कृषि के मानदण्ड में सुधार और उपज शक्ति बढ़ाने में निहित है, न कि इन्हें छोड़कर बड़े पैमाने पर उद्योग के निर्माण में। कृषकों की क्रय-शक्ति में वृद्धि ही औद्योगिक विकास के लिये एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकेगी।'

—जी० डी० एच० कोल।

"कृषि उद्योग भारत की दलित जातियों और उद्योगों में से एक है।"

—डॉ० क्लाउस्टन।

कृषि-उद्योग की प्रधानता भारत की अर्थ व्यवस्था का प्रधान लक्षण है। कृषि-व्यवस्था ही भारत को सम्पूर्ण खाद्य सामग्री तथा हमारे उद्योगों के लिए अधिकतर कच्चा माल देती है। हाँ, गत कुछ वर्षों से हमारी खाद्य निर्भरता दूसरे देशों के आयात पर निर्भर हो गई, परन्तु क्रमशः भारत स्वय-निर्भरता की ओर अग्रसर होता जा रहा है। कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारत का यह उद्योग गिरी हुई दशा में है।* कृषि उद्योग की अनेक समस्याएं हैं, जो समुचित संगठन के अभाव की ओर संकेत करती हैं। इन समस्याओं का विवेचन यथास्थान होगा।

इस अध्याय का हेतु सन् १८५७ के पूर्व एवं पश्चात् कृषि-उद्योग की स्थिति कैसी रही, यह देखने का है। इससे पूर्व हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस प्रकार का अध्ययन तात्त्विक दृष्टि से दोषपूर्ण है, क्योंकि भारतीय कृषि को स्पष्टतः दो सामयिक भागों में नहीं बांटा जा सकता और न सन् १८५७ के पूर्व एवं पश्चात् की स्थिति बताने की कोई रेखाबद्ध विभाजन ही किया जा सकता है। यह बात अन्य देशों की अपेक्षा भारत के लिए विशेष रूप से लागू होती है, क्योंकि प्राचीन काल से भारत का प्रमुख व्यवसाय कृषि ही रहा है, इसलिए यदि हम १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की कृषि की स्थिति का अध्ययन करने के साथ १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृषि उद्योग में शक्तिशाली घटकों के कारण कौनसे एवं कैसे परिवर्तन हुए, यह देखें तो समुचित होगा।

सन् १८५७ के पूर्व कृषि –

१९ वीं अर्द्ध-शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत की कृषि की स्थिति की विवेचना

---

* Agricultural Commission Report, 1928.

में यातायात एवं सम्वादवाहन साधनों का सबसे पहिले विचार करना होगा। क्योंकि इन साधनों के विकास एवं उन्नति पर ही देश का आर्थिक एवं औद्योगिक कलेवर निर्भर रहता है। प्रो० मॉरिसन ने कहा है :—"जब जल-यातायात असम्भव हो तथा स्थलवाहक धीमे एवं अविश्वसनीय हों, उस दशा में विनिमय केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित रहता है जो मनुष्यों द्वारा एवं जानवरों द्वारा सुगमता से ले जाये जाते हों।" १६ वीं अर्द्ध शताब्दी में, अर्थात् सन् १८५० के पहिले भारत में जल-यातायात के थोड़े से नैसर्गिक साधन उपलब्ध थे, जैसे—गङ्गा तथा सिन्ध नदी, लेकिन स्थल यातायात दोषपूर्ण था। सड़कें यातायात के लिए दोषपूर्ण थीं और उनकी वही स्थिति थी, जो इङ्गलैंड की सड़कों की १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में थी।* समुचित सड़कों का लगभग अभाव था। मुगल शासकों द्वारा बनाई गई कुछ सड़कें अवश्य थीं, परन्तु उनकी स्थिति विशेष सन्तोषप्रद नहीं थी और उन पर सदैव डाकुओं एवं लुटेरों का भय बना रहता था। इस संकीर्ण एवं असन्तोषप्रद परिस्थिति के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार नाम मात्र का था, जिसमें बाध्य हो कर ही जन-समूह छोटे-छोटे असम्बद्ध समुदायों में बँट गई थी तथा वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति अपने समुदाय में ही कर लेते थे। दूसरे शब्दों में, गाँवों में आत्मनिर्भरता थी। ऐसी स्थिति में गाँवों की आत्म-निर्भरता का प्रभाव हमारे कृषि संगठन पर पड़े बिना न रह सका, जिसकी निम्न विशेषतायें थीं :—

(१) जनता के प्रत्येक समूह में अथवा गाँव में एक ही प्रकार की फसलों की उपज होती थी। प्रत्येक गाँव को अपने खाद्यान्न अपने गाँव में ही उपजाना आवश्यक था। इस कारण भूमि की उर्वरा शक्ति एवं उपयोगिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्येक गाँव की अधिकांश कृषि-भूमि खाद्यान्न की फसलों के लिए काम में लाई जाती थी, जिससे उपज कम होती थी।

(२) किन्हीं भी विशेष स्थानों में कृषि-उत्पादन का मूल्य वहाँ की माँग एवं पूर्ति की स्थिति पर निर्भर रहने के कारण विभिन्न गावों में एक ही वस्तु की कीमतों में आश्चर्यकारी अन्तर था। इतना ही नहीं, अपितु उसी गाँव में समयानुसार कीमतों में अन्तर भी बहुत अधिक रहता था। कीमतों के इस अन्तर एवं अनिश्चितता के कारण कृषि उद्योग खतरे से खाली नहीं था तथा जनता की खाद्य स्थिति में भी खतरनाक अनिश्चितता थी। इसलिए प्राचीन भारत के इतिहास में भीषण एवं विस्तृत अकालों का होना कोई आश्चर्य नहीं था, अपितु कृषि अवस्था का एक साधारण लक्षण था।

(३) गाँवों की आत्म-निर्भरता एवं परिस्थिति-वश असम्बद्धता से ग्रामीण उद्योगों की सुरक्षा हुई तथा वे भविष्य में भी जीवित रह सके। इस

* Indian Economics Vol. 1—Jather & Beri p. 104.

कारण कृषि आय में होने वाले उतार-चढ़ाव एवं अनिश्चितता के परिणामों से ग्रामीणों की रक्षा हुई।

(४) सीमित बाजार क्षेत्र होने से विनिमय माध्यम के लिए धातु मुद्रा की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि मानव समाज का चरम लक्ष्य अपनी आवश्यक माँगों की पूर्ति था। इस कारण खाद्यान्नों ने ही अधिकतर क्रय-विक्रय व्यवहारों में विनिमय माध्यम की सुविधा दी, जिससे वस्तु विनिमय ही उस काल की विशेषता थी। मानव समाज के आर्थिक सम्बन्ध स्थिति एवं परम्परा से ही चलते थे, आज की भाँति प्रतियोगिता एवं अनुबन्धों से नहीं।

(५) १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि उद्योग की उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता राजनैतिक अस्थिरता के कारण कृषि-उद्योग का आर्थिक कलेवर बहुत प्रभावित हुआ, क्योंकि ऋण देने में जनता सशंक थी तथा उनके जीवन एवं धन सम्पत्ति की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं था। ब्याज की दर अधिक होती थी, जिससे कृषि में पूँजी का विनियोग बहुत कम होता था और कृषि उद्योग को आवश्यक पूँजी नहीं मिलती थी। कृषि पर दुर्लभ एवं मँहगी साख सुविधाओं के भयानक परिणामों की हम कल्पना ही नहीं कर सकते।

(६) युद्धों की अधिकता, अकालों की आकस्मिकता एवं अधिकता का गहरा परिणाम हमारे कृषि-उद्योग पर विपरीत दिशा में हुआ। इन नैसर्गिक आपदाओं में जन संख्या की वृद्धि पर लौह नियन्त्रण रहा तथा भारतीय कृषि-कलेवर अस्त-व्यस्त नहीं हुआ। सारांश में, सन् १८५७ के पूर्व भारतीय कृषि की अवस्था स्थिर एवं पिछड़ी हुई दशा की प्रतीक थी।

सन् १८५७ के बाद कृषि—

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक दस वर्षों में अर्थात् लार्ड डलहौजी के समय यातायात एवं संवादवाहन के साधनों में सुधार हुआ। इसका कारण १६ वीं शताब्दी में इङ्गलैंड के सभी क्षेत्रों में—औद्योगिक, कृषि एवं यातायात—क्रान्ति होना था, जिसका प्रसार क्रमशः अन्य देशों में हुआ। सन् १८४८ के पहिले लार्ड बैंटिक ने अपने शासन-काल में उत्तरी भारत की सड़कों में सुधार किया, परन्तु यातायात एवं संवाद-वाहन में विशेष परिवर्तन लार्ड डलहौजी के शासन-काल (सन् १८४८ से १८५४) में ही हुए, जिनका प्रभाव कृषि-उद्योग पर भी पड़ा। इस अवधि में केवल सड़कों में ही सुधार एवं विकास नहीं हुआ, बल्कि डाकखानों का भी संगठन किया गया तथा तार व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार सड़कों के विकास एवं सुधार के लिये सार्वजनिक निर्माण विभाग (P. W. D.) भी स्थापित किया गया। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य

युद्ध (जिसको अँग्रेजो ने गदर कहा है) के कारण अँग्रेज शासकों को देश में राजनैतिक सत्ता मजबूत रखने के लिए रेल के विस्तृत जाल की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप १६ वी शताब्दी के अन्त तक २५,००० मील रेल-मार्ग तथा १,७३,००० मील स्थल मार्ग बनाए गये, जिसमे ३७,००० मील पक्की सडके तथा १,३६,००० मील कच्ची सडकें थी। इसी प्रकार सन् १८६६ मे स्वेज नहर खुल जाने से भारत मे जहाजी एव बन्दरगाह की सुविधाओ मे भी सुधार हुआ।[1]

१६ वी अर्द्ध शताब्दी मे दूसरा उल्लेखनीय एव महत्वपूर्ण परिवर्तन देश की राजनैतिक सत्ता का ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हाथ मे केन्द्रित होना था। राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण एव यातायात सुविधाओ के सुधार तथा विकास के कारण देश में जनता और सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा हो गई। इन दो बातो के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था मे ऐसे शक्तिशाली घटको का प्रादुर्भाव हुआ, जिनसे हमारे कृषि उद्योग में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये।

यातायात के साधनो के विकास के कारण हमारा विदेशी व्यापार बढ गया। भारतीय कच्चे माल के लिए विदेशो से भी माँग आने लगी। व्यापार की वृद्धि के साथ ही रेल यातायात की सुविधाओ ने बगीचा उद्योग तथा बडे पैमाने के उद्योगो की आधुनिक ढग पर स्थापना होने मे बढावा दिया तथा भारत मे आधुनिक उद्योगो का विकास होने लगा। यातायात सुविधाओ के कारण गाँवो का एकाकीपन नष्ट हो गया, जिससे कृषि उत्पादन के मूल्यो मे होने वाले उतार-चढाव कम हो गये तथा विभिन्न बाजारो के मूल्यों में समानता रहने लगी।[2]

इस परिवर्तन का परिणाम कृषि के व्यवसायीकरण के रूप मे हुआ, क्योंकि यातायात के साधनो मे सुधार एव विकास के साथ भारतीय गाँवो की पृथक्ता नष्ट होकर उनका सम्बन्ध बाहरी विश्व से भी होने लगा। साथ ही व्यापारिक विस्तार के कारण बाजारो का भी विकास होने लगा। फलस्वरूप भारतीय किसान केवल खाद्यान्नो की ही उपज न करते हुए अन्य वस्तुओ की भी उपज करने लगे, जिनकी अन्य बाजारो मे माँग थी। इससे भारतीय कृषि उत्पादन लगभग विश्व के सभी देशो मे जाने लगा। कृषि के व्यवसायीकरण का दूसरा महत्वपूर्ण कारण था अमरीकी गृह युद्ध, जो सन् १८६३-६४, के लगभग हुआ। इस युद्ध से भारतीय किसानो को यह ज्ञात हुआ कि वे पश्चिमी बाजारो के कितने पास थे और इसी कारण उनको विदेशी बाजारो की महत्ता का ज्ञान हुआ।[3] अमरीकी गृह-युद्ध के कारण लकाशायर की कपडा-मिलों को रुई मिलना बन्द हो गया, इसलिए वे भारत एव मिश्र पर रुई की पूर्ति के लिए निर्भर हो गई। फलस्वरूप भारत का रुई का निर्यात बढ गया तथा कीमतें ऊँची होने से भारतीय किसानों एव निर्यातकर्त्ताओ ने काफी लाभ कमाये। इस अवधि मे रुई की कीमत भी

1 Economic Development of India—Vera Anstey, p. 179.
2. V.W E Weld : India's Demand for Transportation.
3 D.R Gadgil-Industrial Evolution of India.

२·७ आने प्रति पौंड (सन् १८५६) से ११·५ आने प्रति पौंड (सन् १८६४) हो गई तथा रुई का निर्यात सन् १८५६ में ५,०६,६६५ गांठों से बढकर सन् १८६४ में १३,६६,५१४ गांठ हो गया। इस परिस्थिति के कारण भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भूमि की उर्वरा शक्ति एवं जलवायु के अनुसार कृषि उपज का विशेषीकरण होने लगा, जिसका परिणाम कृषि-उद्योग की समृद्धि में हुआ।

इसी प्रकार पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा अन्य राज्यों में सिंचाई की स्थिति में सुधार होने के कारण कृषि भूमि का भी विस्तार हो गया तथा कृषि फसलों के विशेषीकरण को बढ़ावा मिला। उदाहरणार्थ, बम्बई तथा मध्य-प्रदेश में रुई, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब में गेहूँ आदि। इस प्रकार कृषि का विशेषीकरण हुआ तथा खाद्य फसलों के स्थान पर पटसन, गन्ना, तिलहन आदि औद्योगिक फसलों की उपज की खेती को अधिक महत्व दिया गया। सिंचाई के साधनों की उन्नति के साथ इन फसलों की उपज बढ़ने लगी।

1864

यातायात सुविधाओं के साथ प्रतियोगिता का बोलबाला हुआ। फलस्वरूप जहाँ कृषि उत्पादन एवं उसके वितरण पर अच्छे परिणाम हुए, वहाँ कृषि कलेवर को प्रतियोगिता के कारण गहरी चोट पहुँची, क्योंकि प्रतियोगिता के कारण विदेशी (विशेषतः इङ्गलैंड की) यन्त्र निर्मित माल भारत आने लगा, जिससे प्रतियोगिता करने में भारत के कुटीर-उद्योग असमर्थ थे। फलतः प्रतियोगिता एवं अन्य विदेशी प्रभावों के कारण यहाँ के कुटीर-उद्योगों की अवनति होने लगी, जिससे किसानों के सहायक उद्योगों के नष्ट होने के साथ ही कृषि पर जन-संख्या का प्रभार बढ़ने लगा, तथा कृषि संगठन का कलेवर बाधित हुआ। इसके अलावा नैसर्गिक अवरोधों (Positive Checks) की तीव्रता कम हो जाने के कारण जन संख्या में वृद्धि होने लगी। भारत में इस अवधि में संगठित उद्योगों का विकास होते हुए भी उसमें अतिरिक्त एवं विस्थापित जन संख्या को काम नहीं मिल सकता था। फलस्वरूप कृषि भूमि की तृष्णा बढ़ गई तथा किसान अपनी जीविका कमाने के हेतु कृषि-भूमि को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकने लगे।

भारतीय सरकार की कृषि नीति इस अवधि में उपेक्षापूर्ण हो रही। हाँ, कृषि कार्यों की देख-रेख के लिए सन् १८७० में एक शाही कृषि विभाग (Imperial Department of Agriculture) खोला गया। यह सन् १८७८ में बन्द कर दिया गया, जो सरकार की कृषि सम्बन्धी उपेक्षापूर्ण नीति का परिचायक है। इस विभाग को बन्द करने का प्रमुख कारण राज्य सरकारों के उचित सहयोग का अभाव था।

किसानों द्वारा कृषि योग्य भूमि की अनवरत मांग के कारण भूमि की कीमतें बढ़ने लगीं तथा जमींदारों की स्थिति मजबूत हो गई, जिन्होंने इस परिस्थिति का अच्छा लाभ उठाया। लगान व्यवस्था में भी शासकों द्वारा ऐसे अनेक परिवर्तन किये

गये[1] जिनसे किसानों को किसी भी प्रकार का लाभ न होते हुए उनसे मध्यस्थ पनपने लगे और किसानों की आर्थिक दशा बिगड़ती गई।

कुटीर-उद्योगों की अवनति एवं अन्य उपरोक्त स्थिति का महत्वपूर्ण प्रभाव कृषि भूमि पर पड़ा, क्योंकि कुटीर-उद्योगों को विस्थापित जन संख्या के लिए कृषि के अलावा दूसरा कोई साधन न था। इसके अलावा भारतीय उत्तराधिकारी कानून भी दोषपूर्ण थे, जिससे कृषि भूमि का विभाजन टुकड़ों में होता गया, जो इधर-उधर बिखरे हुए होते थे। फलस्वरूप ऐसे छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए खेतों पर खेती करना अनार्थिक हो गया।

अनार्थिक कृषि संगठन के कारण किसानों की निर्भरता साहूकारों पर बढ़ गई, क्योंकि उनकी उपज गिर गई। इससे कृषि उद्योग में विशेष लाभ न रहा। फलतः उनको अपने कृषि कार्यों के लिए ही नहीं, अपितु अन्य कार्यों के लिए भी साहूकारों से ऋण लेने पड़े और साहूकार वह एक ऐसा भूत है, जिसकी छाया से बचना कठिन है। क्योंकि उसका मूलधन ब्याज के साथ बढ़ता जाता है। इस प्रवृत्ति को सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वत्वों की मान्यता में बल मिला, क्योंकि कृषि भूमि का हस्तांतरण किसी भी व्यक्ति को अबाधित हो सकता था।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से कृषि के व्यवसायीकरण में किसानों को लाभ हुआ, यह कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव में कृषि व्यवसायीकरण से बहुत कम लाभ हुआ, क्योंकि हमारे यहाँ की कृषि उपज की विक्रय प्रथा दोषपूर्ण थी और आज भी है तथा उसमें यातायात की कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि-भूमि का हस्तान्तरण किसानों से साहूकारों को हुआ, जो कृषि से अनभिज्ञ थे।

सन् १८७० से १८८० की अवधि में अनेक राज्य अकाल से पीड़ित रहे, जिससे कृषि व्यवसाय को गहरी चोट पहुँची। इस परिस्थिति की जाँच के लिए सन् १८८० की अकाल जाँच समिति ने सरकार से अनुरोध किया कि कृषि विभाग का कार्य पुनः प्रारम्भ किया जाय, परन्तु सन् १८९६ तक कृषि के सुधार के लिए कोई उल्लेखनीय सरकारी कार्यवाही नहीं की गई।[2] हाँ, किसानों की ऋण-ग्रस्तता को दूर करने तथा उनको स्थायी कृषि-सुधार के लिए भू सुधार कानून (Land Improvements Act, 1888) तथा कृषक ऋण-कानून (Agriculturist's Loans Act, 1884) से तकावी ऋणों की सुविधायें दी जाने लगी। परन्तु ऋण देने की ये प्रथायें इतनी दोषपूर्ण थीं कि इनसे किसानों को बहुत कम लाभ हुआ, क्योंकि इन ऋणों के सम्बन्ध में अनेक जिलों के किसानों को तो जानकारी भी नहीं दी गई थी। इस प्रकार सन् १८९५ तक किसानों की आर्थिक स्थिति में बहुत ही कम परिवर्तन हुए।

1. लगान व्यवस्था का विवेचन आगे किया गया है।
2. Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil.

कृषि परिवर्तन युग—

सन् १८६५ से सन् १६१४ के बीस वर्ष मे कृषि अवस्था मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कारण इस युग को कृषि परिवर्तन युग (Transition in Agriculture) कहते हैं। इन परिवर्तनो का निश्चित विकास क्रम संक्षेप में देना कठिन है, परन्तु इस युग में निम्न प्रमुख परिवर्तन हुए :—

(१) फसलो को उगाते समय उनके व्यावसायिक महत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

(२) किसानो को फसलो का व्यावसायिक महत्त्व अनुभव होते ही उन्होने कृषि भूमि का खाद्यान्न एवं व्यावसायिक फसलें उगाने मे उचित वितरण किया।

(३) किसानो की आर्थिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ।

(४) यातायात साधनो के विकास के कारण किसानो को कृषि उत्पादन विभिन्न बाजारो में बेचना अधिक सुविधाजनक हो गया।

(५) इस अवधि मे जन-संख्या मे काफी वृद्धि हुई, परन्तु देश मे ऐसे उद्योग-धन्धो की कमी थी, जिनसे इस जन संख्या को काम मिलता। फलतः जन-संख्या का प्रभार कृषि भूमि पर बढ गया तथा भूमि का छोटे छोटे एवं बिखरे हुए खेतो मे विभाजन हो गया।

(६) कृषि भूमि की माँग बढने के कारण कृषि भूमि की कीमतें बढ गई तथा ऋण-ग्रस्तता के कारण उनका हस्तान्तरण गैर कृषिको मे हो गया। ये लोग इस भूमि को अनेक किसानो में खेती के लिए बाँटते थे, जिसमे उन्हे अधिक लगान मिलता था।

(७) भारत प्रमुख रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया, क्योकि जहाँ पहिले कच्चा माल केवल देशी कुटीर-धन्धो की पूर्ति के लिए ही उगाया जाता था, वहाँ कुटीर-उद्योगो की अवनति से तथा विदेशी सम्पर्क से वह निर्यात के लिए उगाया जाने लगा।

सन् १६१४ से सन् १६३६ तक कृषि की स्थिति मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुए, क्योकि सन् १६१८-१६ के भीषण अकाल ने किसानो की कमर तोड़ दी और देश में खाद्यान्नो की कमी हो गई। सन् १६२०-२१ में गल्ले की कमी के कारण खाद्यान्नो की कीमतें बढ गई। इसलिए सन् १६२७ तक लगभग कृषि उपज मूल्य ऊँचे ही रहे। सन् १६२७ मे विनिमय दर मे परिवर्तन से कृषि उपज कीमतें फिर गिरने लगी तथा सन् १६२६ में आर्थिक मन्दी आ गई, जो सन् १६३१ तक रही। इस मन्दी मे किसानो को भयङ्कर संकट का सामना करना पड़ा और उनको ऋण-ग्रस्तता बढ गई। यह स्थिति सन् १६३६ तक रही।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने तथा कृषि उपज के मूल्य बढ़ जाने से किसानो को काफी लाभ हुआ और उनका ऋण भार भी कम हो गया। सन् १९४३ से देश में अन्न धान्यो की कमी के कारण उपज बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनी, जिससे कृषि सुधार के लिए काफी प्रयत्न किए गए और आज भी देश को कच्चे औद्योगिक माल एवं खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। इससे सन् १९३९ के बाद औसत किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक कृषकों की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नहीं थी। किसानो की आर्थिक दशा गिरी हुई होने से तथा देश मे सस्ते दर पर समुचित परिमाण मे साख की सुविधा न होने से कृषि-उद्योग मे पूंजी विनियोग का स्तर नीचा रहा। इससे किसानो को सदैव समुचित सिंचाई के साधनो का अभाव ही रहा तथा वे भूमि पर स्थाई सुधार करने मे असमर्थ रहे। वर्षा की अनिश्चितता से भारत की कुल कृषि भूमि मे केवल १९% सिंचित भूमि होना हमारे कृषि उद्योग में पूंजी विनियोग के निम्न स्तर की ओर संकेत करता है। इसी दोष के कारण कृषि उद्योग एक अनिश्चित व्यवसाय है। पूंजी विनियोग के निम्न स्तर का दूसरा प्रभाव कृषि मे स्थायी सुधारो का अभाव है, जैसे—खेतो की सीमा-बद्धता तथा समुचित खाद का अभाव आदि। भारत की १९ वीं शताब्दी की वन नीति का प्रमुख अङ्ग 'जङ्गल सफाई' (Deforestation) रहा है, जिससे भूमि का कटाव होता है तथा मरुभूमि पैदा होती है। इस अदूरदर्शी नीति के फल आज भी हमको स्पष्ट दिखाई देते है। तीसरे, पूंजी की कमी के कारण ही कृषि कार्यों की पद्धति एवं यन्त्रो मे किसी भी प्रकार का सुधार नहीं हो सका, क्योंकि किसान अपने सीमित साधनों से आधुनिक कृषि यन्त्रो को अपनाने मे असमर्थ था। पूंजी की कमी का चौथा प्रभाव हमारी पशु-सम्पत्ति पर हुआ। भारत मे जहाँ कृषि-शक्ति के लिए पशुओ का अधिक उपयोग होता है वहाँ उनकी नस्ल (Breed) सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न किसान स्वयं नहीं कर सकता और न सरकार ने ही १९ वीं शताब्दी मे ऐसे कोई प्रयत्न किए। इस स्थिति मे किसान को विवश हो कर अपनी जीविका कमाने के लिए काम करना पड़ा, जिससे वह शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से उत्साहहीन एवं निराशावादी बन गया। ऐसी स्थितियों में कृषि भूमि मे विस्तार होते हुए भी यदि भारत की प्रति एकड़ उपज कम रही तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह परिस्थिति का दोष था किसान का नहीं।

योजना काल—

परन्तु आजकल भारत को राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित हो रही है, उनसे कृषि का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट प्रतीत होता है और हम कह सकते है कि कल का किसान वास्तव मे भारत का भाग्य विधाता होगा।

भारतीय कृषि की वर्तमान दशा—

भारत की ८२·८ प्रतिशत जन-संख्या प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर है, इसी से कृषि का महत्त्व स्पष्ट है। गाँवों में किसानों के अतिरिक्त खेत-मजदूर, बढ़ई, लुहार इत्यादि जो कारीगर हैं, खेती पर निर्भर रहते हैं। संसार में चीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में इतने अधिक मनुष्य खेती पर निर्भर नहीं हैं। यदि किसी वर्ष वर्षा की कमी से अथवा अन्य प्राकृतिक कारणों से फसलें नष्ट हो जाती हैं तो भारत का आर्थिक ढाँचा हिल जाता है। फसलों के नष्ट हो जाने से कृषि निर्यात कम हो जाते हैं। किसान के पास रुपया नहीं होता। इसी कारण वह विदेशों से आने वाला माल तथा भारतीय मिलों में तैयार माल को खरीद नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, भारतवर्ष का व्यापार कम हो जाता है और उद्योग-धन्धे शिथिल पड़ जाते हैं तथा सरकार को पूरी मालगुजारी नहीं मिलती। रेलों को कम माल ढोने के लिए मिलता है तथा किसान मेले और यात्राओं को कम जाते हैं, जिससे घाटा होता है। इससे स्पष्ट है कि देश का सम्पूर्ण ढाँचा खेती पर ही निर्भर है।

जिस उद्योग पर देश की लगभग तीन-चौथाई जन-संख्या निर्भर है, उसकी दशा अत्यन्त गिरी हुई है। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न फसलों की प्रति एकड़ पैदावार अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है।

सन् १९३० की मन्दी के अवसाद के पश्चात् तथा सन् १९३१ के पश्चात् जन-संख्या में वृद्धि के कारण देश में खाद्य-स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई थी। इसके पश्चात् ब्रह्मा के अलग हो जाने से यह समस्या और कठिन हो गई। द्वितीय महायुद्ध ने तो खाद्य-संकट ही उपस्थित कर दिया। फलस्वरूप लगातार १०-१२ साल तक देशवासियों को खाद्य-नियन्त्रण का सामना करना पड़ा और कई स्थानों पर तो दुर्भिक्ष की समस्या उत्पन्न हुई, किन्तु सम्भवतः विपत्तियों का अन्त नहीं हुआ था। देश के विभाजन ने देश की अर्थ-व्यवस्था की टाँग तोड़ दी, क्योंकि पंजाब और सिन्ध के उपजाऊ भाग पाकिस्तान में चले गये और विस्थापितों के कारण देश में खाद्य संकट आ गया। स्वतन्त्र भारत के सम्मुख इस क्षेत्र में एक विषम परिस्थिति थी, किन्तु भारत सरकार ने बड़ी सतर्कता तथा दूरदर्शिता से काम लिया। गत वर्षों में कृषि विकास के लिये निम्न कार्य हुये हैं, जिनका यथास्थान विवेचन होगा।

(१) प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंच-वर्षीय योजना—जिसके अन्तर्गत खाद्य-सामग्री तथा कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष जोर दिया गया है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कृषि के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी, खाद्यान्न एवं कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष बल था। इसमें पर्याप्त सफलता मिली। फलस्वरूप भारत सरकार ने कृषि नीति सम्बन्धी नीति की घोषणा की, जो निम्न बातों पर आधारित है:—

(१) कृषि उपज के मूल्यों का समुचित स्तर बनाए रखना।

(२) कृषि उपज के हेतु विक्रय, भण्डार एवं साख सुविधाओं का आयोजन।

(३) भूमि सुधार जिसमे कृषि को अधिक कार्यक्षम बनाने का प्रलोभन एवं सामाजिक न्याय प्रदान करने की दृष्टि से कृषि उद्योग के पुनर्गठन का भी समावेश है।

इन उद्देश्यो को लेकर ही दूसरी योजना मे कृषि नियोजन का निम्न आधार अपनाया गया था :—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।

(२) अल्पकालीन एव दीर्घकालीन उत्पादन लक्ष्यो का निर्धारण।

(३) विकास कार्यक्रम एवं सरकारी सहायता को उत्पादन लक्ष्य एवं भूमि-उपयोग नियोजन के साथ सम्बन्धित करना, तथा

(४) समुचित मूल्य नीति का निर्धारण।

जहाँ प्रथम योजना मे खाद्यान्न एव उत्पादन पर विशेष बल दिया गया था वहाँ दूसरी योजना मे कृषि अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अङ्गो के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया है। इससे कृषि उद्योग सुदृढ आधार पर सगठित होकर बढती हुई जन सख्या एव औद्योगिक विकास के हेतु खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति करने मे सफल हो सकेगा।

(२) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—इस आन्दोलन का श्रीगणेश सन् १९४३ मे किया गया।[1] इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारो की निश्चित योजनाओ को सहायता दी गई। इनमें कुँए, तालाव, छोटे बाँध, नलकूप एव नहरो का निर्माण एवं दुरुस्ती, खाद एवं बीजो के वितरण का समावेश होता है। इसी दृष्टि से केन्द्रीय रसायनिक खाद्य कोष (Central fertilizer Pool) का निर्माण हुआ है, जहा से अमोनियम सल्फेट का समान कीमतो पर कृषकों को वितरण होता है।

(३) चावल उत्पादन का जापानी ढङ्ग—उक्त आन्दोलन के अन्तर्गत सन् १९५३ से चावल के हेतु जापानी पद्धति का उपयोग आरम्भ किया गया। फलस्वरूप चावल का कृषि क्षेत्र सन् १९५३-५४ के ४'०२ लाख एकड से सन् १९५६-५७ मे २१'५४ लाख एकड तथा चावल प्रति एकड औसत उत्पादन १६'२३ मन से १९'०६ मन हो गया।[2]

(४) भूमि का कृषिकरण एव केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन (Tractorization)—बेकार एव काँसयुक्त भूमि का कृषिकरण करने के लिए केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन स्थापित हुआ, जिसके पास प्रारम्भिक अवस्था मे २०० ट्रैक्टर थे तथा सन् १९५१ मे २४० नए ट्रैक्टर खरीदे गये। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम पच-वर्षीय योजना मे १०'८४ लाख एकड भूमि का केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन द्वारा तथा १७ लाख एकड भूमि

१. देखिए 'खाद्य समस्या' अध्याय।
2. India—1958.

का राज्य ट्रैक्टर संगठनों द्वारा कृषिकरण किया गया। सन् १९५७-५८ के अन्त में केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा कुल १६ लाख एकड़ भूमि कृषि के अन्तर्गत लाई गई तथा आसाम और मध्य-प्रदेश में क्रमशः २,३८७ और २६,९८८ एकड़ भूमि जंगल की सफाई की गई।

(५) भूदान एवं ग्रामदान आन्दोलन—अनुमान है कि देश में ४५ लाख भूमिहीन कृषि मजदूर हैं, जिनके लिए जमींदारी उन्मूलन के बाद भी कोई आशा किरण नहीं थी। इस हेतु आचार्य विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन आरम्भ किया और उसी का विस्तृत रूप ग्रामदान आन्दोलन है। इस कार्य में विनोबाजी को काफी सफलता मिली है तथा इस आन्दोलन को शासकीय एवं राजनैतिक समर्थन भी है। क्योंकि इस आन्दोलन में राजनैतिक अखाड़ेबाजी के लिए कोई स्थान नहीं है। "ग्राम आन्दोलन के अन्तर्गत ४,३२० गाँव मिले हैं, जहाँ एक वर्गहीन, सजीव और सक्रिय लोकतन्त्र स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।"[१] इसी प्रकार भूदान आन्दोलन में दिसम्बर सन् १९५७ तक ४३,८१,८७१ एकड़ भूमि प्राप्त हुई, जिसमें से ६,५४,६४१ एकड़ भूमि का वितरण किया गया है।[२] इस आन्दोलन की सफलता इसी बात से प्रमाणित होती है कि सरकारी तौर पर ग्रामदान आन्दोलन तथा सामुदायिक विकास आन्दोलन को सम्बन्धित करने की योजना बन चुकी है, जो दूसरी योजना काल में प्रयोगात्मक रूप में कार्यान्वित हो रही है।[३]

(६) भूरक्षण (Soil Conservation)—भूमि के कटाव एवं रेगिस्तान के विस्तार की समस्या का हल करने के लिए भारत सरकार ने केन्द्रीय भूरक्षण सभा की स्थापना की है। इस सभा ने सन् १९५३ से भूमि-कटाव रोकने एवं मिट्टी के पृथक्करण की समस्या (Soil analysis) के हल का कार्य आरम्भ किया। सभा के अन्तर्गत देहरादून, कोटा, बेल्लारी, उटकमण्ड तथा वसाड़ में खोज, परीक्षण एवं प्रयोग केन्द्र हैं। इसके अलावा जोधपुर में रेगिस्तान जंगलीकरण (Afforestation) स्टेशन है, जहाँ पर रेगिस्तान का प्रसार रोकने एवं भूमि-कटाव सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। सन् १९५६-५७ में इसके अन्तर्गत प्रयोग एवं खोज के हेतु दो उप स्टेशन चण्डीगढ़ एवं आगरा में स्थापित किये गये हैं।

इन विविध प्रयत्नों से भारत को कृषि उद्योग क्रमशः उन्नति कर रहा है।

१. भूदान-यज्ञ : १८-७-५८, पृष्ठ ३।

२. भूदान-यज्ञ १४-३-५८, पृष्ठ ११।

३. येलवाल ग्रामदान सम्मेलन सितम्बर, १९५७ तथा सामुदायिक विकास सम्मेलन १५-१८ दिसम्बर, दिल्ली।

प्रमुख फसलों का कृषि क्षेत्र तथा उपज[1]

फसल	क्षेत्र हजार एकड़	उपज हजार टन	क्षेत्र (हजार एकड़)		उपज (हजार टन)	
	१९५८–५९	१९५८–५९	१९५१-५२	१९५६–५७	१९५१-५२	१९५६–५७
चावल	८१६	२९७·२	७३,७१३	७८,१७४	२०,९६४	२८,१४२
ज्वार	४२६	८६·९	३९,३९९	४१,३१४	५,९८१	७,४२७
बाजरा	२७९	३७·९	२३,५२२	२७,५४२	२,३०९	२,९२६
गेहूँ	३१०	९६·९	२३,४०४	३२,८९१	६,०८५	९,०६८
जौ	८२	२६·४	७,८०७	८,५९४	२,३३०	२,७४४
चना	२४८	६८·३	१६,८७६	२३,९९०	३,३३४	५,९३०
अन्य दालें	२४२	५३·८	२३,४७३	२७,६०९	३,१५१	३,४५८
अन्य धान्य	३८३	६७·६	३१,४०५	३२,८२३	७,०२०	८,९९१
कुल खाद्यान्न	२,७८६	७३५·०	२३९,५९९	२७२,९३७	५१,१७५	६८,६८६
रुई	१९८	८·२	१६,२०१	१९,८४३	३,१३१[2]	४,७२३[2]
पटसन	१८	९·२	१,९५१	१,८८३	४,६७८[3]	४,२२१[3]
चाय			७८२	७३८	६४१[4]	१,४७४
कॉफी			२३०	—	५५[4]	—
रबर			१४८	—	३२[4]	—

इस प्रकार कृषि-उत्पादन का सूचनांक जो सन् १९५५-५६ मे ११५·९ था वह सन् १९५६-५७ मे १२३·६ तथा सन् १९५८-५९ में १३१·० हो गया, जो कृषि की प्रगति का परिचायक है।

---

1. India 1958 & Commerce Annual number 1959.
2. In '000 bales of 392 lb. each.
3. In '000 bales of 400 lb. each.
4. In lakh lbs —is the production for the calander year.

अध्याय ६

भारतीय कृषि की समस्याएँ

(Agricultural Problems in India)

"भारतीय कृषि की समस्याओं का कारण कृषक का अज्ञान और निरक्षरता न होते हुए वे कठिन परिस्थितियाँ हैं जिनमें उसे अपना उद्योग करना पड़ता है। भारतीय कृषकों की कष्टमय स्थिति का कारण दृश्य कठिनाइयाँ हैं, मनोवैज्ञानिक नहीं।"

"भारत एक सम्पन्न देश है, जिसमें निर्धनता वास करती है।" यह कहावत भारत पर पूर्णतः लागू होती है। भारत की भूमि उपजाऊ है और जलवायु खेती के लिए अनुकूल होने हुये भी भारत में कृषि उद्योग की दशा अच्छी नहीं है। अन्य देशों की तुलना में यहाँ की प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है :—[1]

	गेहूँ	चावल	गन्ना	मक्का	कपास	तम्बाकू
अमरीका	८१२	२१८५	४७५३४	१५७६	२६६	८८२
जर्मनी	२०१७	—	७०३०२	२८२८	—	२१२७
इटली	१३८३	४५६८	—	२०५६	१७१	११४६
मिस्र	१६२८	२६६८	—	१८६१	५२५	—
जावा	—	—	४३२७०	—	—	—
जापान	१७१३	३४४४	—	१३२६	१५६	१६६५
चीन	६८६	२४३३	११६७०	१२८४	२०४	१२८८
भारत	६६०	२२४०	१४५८८	८०३	८६	६०७

भारत में प्रति एकड़ उपज ही अन्य देशों की तुलना में कम नहीं अपितु विभिन्न राज्यों की प्रति एकड़ उपज में भी भिन्नता है तथा प्रति वर्ष इसमें भिन्नता रहती है।[2]

उपज	मद्रास	बम्बई	मध्य-प्रदेश	बिहार	उत्तर-प्रदेश	बंगाल	पंजाब	भारत का औसत
गेहूँ		३८२	३९९	८२७	७१७	५६५	८०४	६२८
चावल	१०२३	८८७	५९६	६७१	५९२	८३०	५६५	७४८
मक्का	७७५	६३१	९९६	६२६	८७७	७२१	७८०	७२४
ज्वार	५४१	३४१	४९८	५६२	४८१	७०७	१९०	४३८
चना	४३१	३३१	३८५	७१७	६२६	५९४	४३०	५५५

1. Datar Singh—Indian Farming No. XI, 1951, Page 479.
2. Our Economic Problems—Wadia & Marchant, Page 209.

बीच अवसर दूसरे व्यक्तियों के खेत आ जाने से प्रायः लडाई-झगडे होते रहते हैं। कभी-कभी पडौसियों के पशु फसलो को रौंद डालते हैं। इन्ही कारणो मे गरीब किसान अपने खेतो से अच्छी फसल के रूप मे पूरा फायदा नही उठा सकता, अतः खेतो की फसल कम हो जाती है।

(२) कम आय—खेतो के छोटे होने के कारण किसानो की आय भी कम होती है। सेन्ट्रल बेंकिंग जांच कमेटी के अनुसार—"भारतीय किसान की औसत आमदनी लगभग ४२ रुपये प्रति वर्ष है। फलस्वरूप उसे अपनी जमीन और घर बार बेचने के लिए बाध्य होना पडता है। इसी कारण अच्छी फसल होने पर भी किसान ऋण ग्रस्त रहते है।" सरकारी रिपोर्टों के अनुसार सन् १६११ में किसानो पर कुल कर्जा ३०० करोड रुपये, सन् १६२१ में ५३३ करोड रु०, सन् १६३१ मे ६०० करोड रुपये और सन् १६३७ मे यह १,००० करोड रुपये तक बढ गया था। इस प्रकार उसका कर्ज बराबर बढता ही गया। ऋण का बोझ लदा हुआ होने के कारण किसान जब ऋण चुकाने मे असमर्थ हो जाता है तो उसे साहूकार के यहां गुलामी की जिन्दगी बितानी पडती है। बम्बई, मद्रास, बिहार, उडीसा और आसाम मे इस तरह की गुलामी प्रथा मौजूद है।

वास्तव मे भारतीय किसान इसलिये खेती नही करता कि उसे कुछ आर्थिक लाभ हो, बल्कि इसलिये कि उसे पेट भर भोजन मिल सके। खेती से मिलने वाली आमदनी प्रति व्यक्ति बहुत कम है। भारतीय किसान की वार्षिक आय सन् १६३१-३२ में ५१), सन् १६३७–३८ में ४७) और सन् १६४२–४३ मे ६१) थी, किन्तु यह आय विदेशी किसानो के मुकाबले मे (जो ६५ पौण्ड=१,४२५ रु०) बिलकुल नगण्य सी प्रतीत होती है। भारतीय किसान प्रति एकड से बहुत ही कम आय प्राप्त करता है। औसत रूप से एक एकड से उसे ३) रु० मिलते हैं, जबकि बेल्जियम, नीदरलैंड, स्विटजरलैंड आदि देशो मे १२ पौंड से १५ पौंड, डेनमार्क मे ६ से १२ पौंड, जर्मनी, फ्रास और इङ्गलैंड मे ६ से ६ पौंड तथा रूमानिया, अलबेनिया और यूगोस्लेवेकिया मे ३ पौंड आमदनी होती है। इतनी कम आमदनी वाले किसान से यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी खेती में सुधार करने की कोशिश करे। भला जब किसान अपना पेट नही भर सकता तो खेतो को किस प्रकार उर्वरा बना सकता है। इसलिए सबसे पहले उसकी आर्थिक दशा और रहन-सहन के दर्जे को सुधारा जाय तो स्वय ही खेती की दशा सुधर जावेगी।

(३) कृषक की ऋणग्रस्तता—कर्ज बढने का एक मुख्य कारण यह भी है कि भारत के किसानो को खेती के लिए वर्षा पर निर्भर रहना पडता है। कभी अत्यधिक वर्षा के कारण या बाढ आ जाने से खेती नष्ट हो जाती है, तो कभी उसके बैल मर जाते है या अनाज की दर गिर जाने से उसे हानि होती है। कभी-कभी उसे अपने बाल बच्चो की शादी के लिए साहूकार से अधिक ब्याज पर रुपया कर्ज पर लेना पड़ता है। कभी त्यौहारो पर या मौत पर अपने पुरखो का श्राद्ध, कथा अथवा अन्य

धार्मिक कार्यों के लिए उसे रुपयो की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में उसे अपना खेत गिरवी रख कर कर्ज पर रुपया लेना पड़ता है। इस प्रकार किसान की गाढी कमाई का रुपया जमींदार और साहूकार खा जाते है तथा कुछ वकीलों की जेबों में भी पहुँच जाता है। जैसे—जमींदार ८%, वकील आदि १%, साहूकार ५८% रैयत, ३२%।

जहाँ एक बार ऋण लेना शुरू हुआ कि वह पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। सन् १९२६ के कृषि कमीशन के शब्दो में—"भारतीय किसान ऋण मे जन्म लेता है और ऋण मे ही मरता है तथा ऋण को भावी पीढ़ियो के लिए छोड़ जाता है। यह ऋण पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही रहता है।" गरीबी और ऋण-ग्रस्तता के कारण किसान अपने खेतो की भली प्रकार सेवा नहीं कर सकता और न वह खेतो की पैदावार बढाने के लिए ही कुछ कर सकता है, जिससे खेतो की पैदावार दिन प्रति दिन कम होती जा रही है।

(४) खेतों को पर्याप्त वनस्पति खाद नहीं मिलती—भारत की भूमि की उर्वरा-शक्ति बिलकुल ही गिर गई है। इसका मुख्य कारण वनस्पति खाद की कमी है। कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिकों का मत है कि यहाँ की भूमि की उत्पादन शक्ति इतनी गिर गई है कि इससे अधिक अब गिर भी नहीं सकती। जब कोई फसल किसी भूमि मे बोई जाती है तो वह उस भूमि से कुछ निश्चित अंश खींच लेती है, जैसे—नाइट्रोजन या लवण आदि। भूमि मे इन अंशो की कमी होने से उसकी उर्वरा-शक्ति कम हो जाती है, इसलिए इस क्षति की पूर्ति करने के लिये खाद की आवश्यकता है। जितनी पुरानी भूमि है, उतनी ही उसमे अधिक खाद देना आवश्यक है, जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढे। कभी-कभी तो उत्तम खाद से ५% उत्पत्ति मे वृद्धि हो जाती है। गहरी खेती में तथा एक भूमि मे एक ही वर्ष मे कई फसलें उत्पन्न करने के लिये खाद देना आवश्यक हो जाता है। भारत के कई स्थानो मे तो तीन फसलें उगाई जाती हैं, जहाँ खाद देना आवश्यक होता है।

खाद कई प्रकार की होती है :— गोबर, कम्पोस्ट, मल-मूत्र, खली, रसायनिक एवं हरी खाद। भारत मे ये सभी प्रकार की खादें उपलब्ध हैं, परन्तु उनका सदुपयोग नहीं होता। क्योंकि खाद देने का तरीका ठीक नहीं है। साधारणतः खाद का ढेर खेतो मे कर दिया जाता है, जिसका ३३% अंश वर्षा, हवा एवं धूप से नष्ट हो जाता है। फलतः अन्न और धन का अप-व्यय होता है।

गोबर अथवा पशुओं का मल-मूत्र एक मौलिक खाद है, जिसे ईंधन की कमी के कारण जला दिया जाता है। डॉ० वाल्कर के अनुसार—"कुल गोबर का ४०% खाद देने में, ४०% जलाने में तथा २०% अनुचित तरीके से नष्ट होने में काम आता है।" पशुओं का मूत्र तो साधारणतः व्यर्थ ही जाता है, क्योंकि उसके उपयोग के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं होता।

चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन और जापान मे जो किया जाता है वह भारतीय किसानों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। वहाँ खाद की कमी को पूर्ण करने के हेतु—पेड पौधों की पत्तियाँ, उनकी शाखायें, घास, चिथडे, अन्य सडे गले पदार्थ, राख, चूना आदि सभी प्राप्य वस्तुयें खाद बनाने के काम मे लाई जाती है। भारत मे भी इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए कि जो खाद बनाई जावे उसका वितरण म्युनिसपॅलिटियो, ग्राम पचायतो और सरकारी समितियो द्वारा हो।

कृषि के लिए उन्नत किस्मो की फसलो को अपनाना चाहिएं। उदाहरण के लिए, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियाँ निकाली गई हैं, जो बीमारियों, पशुओ, अनावृष्टि अथवा सर्दी के कोहरे के अन्तर से मुक्त हैं। इस उन्नत जाति के बोने मे वहाँ पिछले ४ वर्षों मे (सन् १९४२-४६) ८,००० लाख टन बुशल की वृद्धि हुई है। सर रसल का कहना है कि उन्नत बीजो द्वारा पैदावार मे कम से कम १० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। भारत में गेहूँ, गन्ना, चावल और कपास की कुछ सुप्रसिद्ध उन्नत जातियो को विस्तृत रूप से सफलतापूर्वक अपनाना भी यह प्रकट करता है कि अन्य फसलो मे भी इस प्रकार के परिवर्तनो की सम्भावनायें हैं।

विशेष जाति का चुनाव करते समय केवल उपज प्राप्ति का ही नही बल्कि रोग, अनावृष्टि तथा बाढ सहन करने की प्रवृत्तियो पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा अनुमान है कि उन्नत जाति के बीजो को बोने से गेहूँ, चावल व जूट की पैदावार में औसतन २ मन की वृद्धि हुई है। इस प्रकार ज्वार व बाजरा में १ मन, मूंगफली मे १·७५ मन, बिनौला मे ०·५ मन तथा गन्ने मे २०० मन की वृद्धि हुई है।

कीड़ों व पशुओं से फसल का बचाव—

वर्तमान समय मे अनेकानेक कीडों, चिडियो, टिड्डियो, दीमक अथवा पशुओ द्वारा भी हमारी फसल में कमी हो रही है, अतः इनको रोकने के उपाय होना आवश्यक है। दीमक आदि कीडो को रोकने के लिए खेतो मे फसलो को हेर-फेर के साथ बोया जाय अथवा गहरे हल चला कर व्यर्थ घास-फूस को खेतो से निकाल दिया जाय। पानी के लिए उपयुक्त नालियाँ बनाई जायँ और जो पौधे सूख जायँ उन्हे शीघ्र ही हटा दिया जाय। फसलो को जगली पशुओ से बचाने के लिए खेत के चारों ओर कटीले तारों की मजबूत बाड लगाई जावे, परन्तु रात मे फसलो की रखवाली करना भी जरूरी है। फसलो में कब कीडे लगते हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, इसके लिए देख-रेख आन्दोलन चालू किया जाय, जो समय-समय पर किसानों को इससे सूचित करते रहें। इन कार्यो से फसल की सुरक्षा होकर उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी।

आस-पास के लगे हुए खेतो के किसान आपस मे मिलकर सम्मिलित खेती करें तो औजार, पशु आदि के खर्च मे कमी आ जायगी तथा इस बचे हुए धन को भूमि के सुधार मे लगाया जा सकता है।

बरसात का पानी धीरे-धीरे खेतों को काटता रहता है। पश्चिमी बंगाल तथा उत्तर-प्रदेश में तो लाखों एकड़ भूमि नदियों के कटाव के कारण नष्ट हो गई है। पानी के बहाव का भी ठीक प्रबन्ध नहीं होता है और किसी-किसी स्थान पर पानी रुक कर दल दल हो जाता है। खेतों पर इमारतें नहीं बनाई जाती, जिससे बहुत हानि होती है।

(६) खेती के पुराने तरीके—किसान परम्परागत ढंग से खेती करता है और जो नये तरीके है, उनको निर्धनता, अज्ञान के कारण नहीं अपनाता। खेत जोतने के लिए लकड़ी के हल का प्रयोग किया जाता है, जिसमें लोहे का फल लगा रहता है। इससे केवल ७''—८'' जमीन खुदती है। खेत बराबर करने के लिए लकड़ी का पटरा होता है तथा बीज या तो छिड़क दिए जाते हैं या जुताई के साथ-साथ डाल दिए जाते हैं। 'सीडड्रिल' या 'सीडहोवम' यन्त्रों का प्रयोग बहुत कम होता है। निराई तथा गुड़ाई के लिए खुरपी ही काम में लाई जाती है। काटने में भी किसी मशीन का प्रयोग नहीं किया जाता, बल्कि हँसिया से फसल काटी जाती है। पशुओं द्वारा खलि-यान माँडा जाता है और हवा में उड़ा कर भूसा अलग निकाला जाता है। थ्रेशर्स (Threshers), विनोवर (Winnower) आदि का प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार उसके सब यन्त्र पुराने हैं। नये यन्त्रों के प्रयोग से, जैसे—हल, पानी खींचने के पम्प आदि से कार्य-कुशलता अधिक बढ़ सकती है।

(७) उत्तम बीजों की कमी—किसान उत्तम बीजों का प्रयोग नहीं करता और बहुधा उसको मिलता भी नहीं है। वह गाँवों के बनियों या महाजनों से बीज लेता है, जो अच्छा नहीं होता, जबकि अच्छी उपज के लिए अच्छा, मोटा तथा स्वस्थ बीज आवश्यक है। परन्तु भारत के कुछ ही राज्यों में प्रगतिशील बीजों का प्रयोग १५% से अधिक नहीं है।[1] अच्छे बीजों का उपयोग बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने सन् सन् १९५७ ५८ में २·०३ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता तथा १·८४ करोड़ रु० का ऋण विभिन्न राज्यों में २५-२५ एकड़ के १,४१६ बीज फार्मों की स्थापना के लिए स्वीकृत किया। इसके साथ ही संघ-प्रदेशों (Union Territories) में १२ बीज फार्मों की स्थापना के लिए ३·८० लाख रुपए स्वीकृत किए,[1] जिससे अच्छी किस्म का बीज पर्याप्त मात्रा में वितरण के लिए उपलब्ध हो सके।

भारतीय कृषक बीजों के सम्बन्ध में भी बेफिकर है और वह अच्छे बीजों को रखने के लिए प्रयत्नशील नहीं है। वास्तव में परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़ता है और फिर उसे महाजनों या बनियों से ऊँचे दाम पर अच्छे किस्म का बीज नहीं मिलता, जिसका परिणाम फसलों पर होता है।

---

1. देखिये Grow More Food Enquiry Committee Report (1952) p. 127.

1. India 1958.

(८) पशुओं की दशा—यद्यपि भारतीय कृषि मे गाय और बैल का बहुत अधिक महत्त्व है। उनके बिना खेतो की जुताई नही हो सकती, कुँओ से सिंचाई नही हो सकती और न फसलों के भण्डार ही भरे जा सकते है और न हमारे भोजन के लिए दूध जैसा पौष्टिक पदार्थ ही मिल सकता है। किन्तु फिर भी हमारे यहाँ पशुओं की दशा अच्छी नही है। समस्त भारत मे २६१ करोड पशु हैं। इनमे से आधे प्रायः गिरी हुई हालत मे हैं, जो खेती को किसी प्रकार की सहायता नही पहुँचा सकते।

पशुओ की खराब अवस्था होने का मुख्य कारण चरागाहो की लापरवाही, दोषपूर्ण जनन (Breeding), किसानो की निर्धनता एवं अशिक्षा है। उदाहरणार्थ, उत्तर-प्रदेश मे जगलो को काट कर पहाडियो पर भी खेत बनाये गये है। चरागाहो के ठीक न होने से पशुओ को कमी होती जा रही है। इसके अलावा कृषि भी ऐसी की जाती है जिससे भूसा आदि अधिक नही मिलता, ताकि पशुओ की वृद्धि हो सके। साधारणतया चरागाहो मे ५ महीने पशुओ की चराई हो सकती है। इसी तरह बंगाल मे प्रायः सभी स्थानो पर रास्तो के किनारे, तालाबो के आस पास, खेतो की मेडो पर ही पशु अपनी गुजर कर सकते हैं। जमीन का कोई भी भाग ऐसा नही है, जो कृषि के उपयोग में न लाया गया हो। फसल काटने के वक्त कुछ समय के लिए अवश्य उन्हें खाने को मिल जाता है, किन्तु बाकी समय मे उनका कुछ भी प्रबन्ध नही होता। परिणामस्वरूप पशुओ की दशा गिरती जा रही है।

चारे की कमी के कारण पशुओ की नस्ल भी बहुत खराब है, क्योकि हमारे शहरो व गाँवो मे जो बेकार तथा खराब जाति के साड घूमा करते है, उनसे ही सन्तानोत्पत्ति होती है। फलस्वरूप नई नस्लें बिगड़ती जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें पशुओ की बीमारी भी सहायक होती है। इन्ही कारणो से हमारे पशु खेती के कार्यों के लिए पूर्ण रूप से लाभदायक सिद्ध नही होते। इसीलिए भारत मे पशुओ की प्रति १०० एकड सख्या ७५ है, जबकि हॉलैंड मे यही सख्या ३८, मिस्र मे २५ है।

(६) जन-सख्या मे वृद्धि, और बोई हुई भूमि मे कमी—भारत की जन-सख्या बडे वेग से बढ रही है, अतएव जब तक इस पर रोक थाम न हो, तब तक हिन्दुस्तान की खाद्य-समस्या हल नही हो सकती। सच बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा सभी देशो की जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई है, लेकिन साथ ही उन देशों में खाद्य-सामग्री का उत्पादन भी बढा है। उत्पादन ही क्यो, बल्कि इन देशो म शक्ति को संचित रखते हुए थोडी मेहनत से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के साधनो मे भी उन्नति हुई है। निम्न आकडो मे स्पष्ट है कि भारत के किसानो के पास जमीन कितनी कम है :—

देश	जन सख्या लाख	फसल का क्षेत्रफल (लाख एकड)	प्रति मनुष्य पीछे भूमि का हिस्सा (एकड)
जापान	६६०·३०	२३०·६०	०·३६
चीन	४,५००·०	२,०८०·०	०·४४

भारतवर्ष	३,५६६·०	३,०२१·१०	१·२
सोवियत रूस	१,६५०·०	७,०००·०	४·२
अमेरिका	१,२५०·०	४,१३०·२०	३·३
कनाडा	१००·३०	३,०००·०	२·८६

किन्तु नीचे की तालिका से स्पष्ट है कि भारत की जन-संख्या की वृद्धि के साथ साथ उत्पादन कम होता गया :—

वर्ष	जन-संख्या (लाख)	क्षेत्रफल (लाख एकड़)	प्रति व्यक्ति बोया गया (क्षेत्रफल)	अनाज (लाख टन)
१९११-१२	२,३६०·६	१,२००·५०	०·९	—
१९२१-२२	२,३३०·६	१,५८०·६०	०·८८	५४०·३०
१९३१-३२	२,५६०·८	१,५६०·९०	०·८२	५००·१०
१९४१-४२	२,९५०·८	१,५६०·५०	०·७२	४५०·७०
१९५१*	३,५६८·२	१,२६६·६४	०·३५	५१२·००

यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर तो कुल कृषि भूमि के साथ खाद्यान्न के अन्तर्गत कृषि भूमि का अनुपात तो कम हो रहा है और व्यापारिक फसलों उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि हो रही है।

(१०) सहायक उद्योग-धन्धों की नितान्त कमी—भारत में ऐसे व्यक्ति अधिक है, जो बिना जमीन के हैं और जो मेहनत-मजदूरी करके पेट पालते हैं। उन्हे खेतों में काम साल के कुछ ही महीनों में, जब फसलें बोई और काटी जाती हैं, मिलता है। बाकी वर्ष के अन्य समय में वे बिल्कुल बेकार रहते हैं, क्योंकि कृषि के साथ साथ चलने वाले धन्धों की बड़ी कमी है। फलतः यह समय ये मजदूर व्यर्थ में खो देते हैं। फसल नष्ट होने या ओले पड़ने या अकाल होने पर तो इनकी दशा और भी बुरी हो जाती है, क्योंकि खेतो मे पूरे साल भर भी इनको यथेष्ट काम नहीं मिल सकता। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—"उत्तरी भारत मे केवल २०० दिन के लिए खेती में काम मिलता है।" डा० स्लेटर के मतानुसार—"साल भर में केवल ५ महीने ही मद्रासी काश्तकार खेती में लगे रहते हैं।" मेजर जैक के कथनानुसार—"बंगाल में जब किसान जूट नहीं बोता है तब वह ९ महीने फालतू रहता है, किन्तु अगर वे जूट और चावल बो देते हैं तो उन्हे जुलाई और अगस्त मे ६ सप्ताह के लिए और कार्य मिल जाता है।" श्री कीटिंग का कहना है—"दक्षिण बम्बई में १८०-१९० रोज के लिए खेतो मे अधिक कार्य रहता है।" पंजाब श्री कॅलवर्ट के अनुसार—"साल भर में सिर्फ १५० दिन का ही काम रहता है।" रॉयल कृषि कमीशन (सन् १९२८) के अनुसार किसानों को साल भर में ४ महीने तक कोई काम नहीं रहता।

* सन् १९५१ के पूर्व के अङ्कों में पाकिस्तान के आँकड़े भी सम्मिलित हैं।

वे इस समय को व्यर्थ ही शादियो, झगड़ो और आलस्य मे गवाँ देते हैं, अतः भूमि पर और भी अधिक भार बढ जाता है ।

(११) फसल के रोग और शत्रु—यदि खेत अच्छी तरह से न जोता जाय, अच्छी खाद न डाली जावे या कम खाद डाली जावे, आवश्यकता से अधिक या कम पानी दिया जावे तो फसल निर्बल हो जाती है और उसमे कीडे लग जाते हैं। उदाहरण के लिए, चावल मे फूट रॉट (Foot rot) और ब्लास्ट (Blast) कीडे, गन्ने मे मोसेक (Mosaic) और रेड रॉट (Red rot), मक्का में स्मट्स (Smuts), मूँगफली मे विल्ट (Wilt) आदि । इन कीडो से फसल को बडा नुकसान होता है। एक जगह फसल मे कीडे लग जाने से अन्य स्थानो की फसल पर भी प्रभाव पडता है। ये कीडे पौधो की जडो से मिलने वाले भोजन को खा जाते हैं, जिससे पौधा अच्छी तरह नही बढ पाता । कई प्रकार के अन्य कीडे, जैसे - टिड्डियाँ, घास टिड्डे (Grass Hoppers), छोटे-छोटे चीटे तथा दीमक आदि भी फसल को समूचा ही नष्ट कर देते हैं । यह अनुमान लगाया गया है कि कीडे समस्त पृथ्वी की दस प्रतिशत फसलो को नष्ट कर देते हैं। केवल भारत मे ऐसी हानि सन् १९२१ में १३,६०,००,००० पौंड की कूती गई थी ।

कहीं-कहीं बन्दर, सूअर, गीदड, चूहे तथा जगली जानवर भी खेतो को बहुत हानि पहुचाते हैं । रॉयल कमीशन के अनुसार बम्बई प्रान्त में इनसे प्रति वर्ष ७२० लाख रुपये का नुकसान होता है । उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे यह नुकसान और भी अधिक होता है । परीक्षा से मालूम हुआ है कि एक चूहा साल मे ६ पौंड अनाज नष्ट करता है और भारत में कुल ८० करोड चूहे माने जाते हैं । अतः उनसे एक वर्ष मे २२ करोड रुपये की हानि होती है। फसलो के इन शत्रुओ से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि खेतो मे बाडे लगाई जावें और कीटाणुनाशक द्रव्यो का उपयोग किया जाय ।

(१२) प्राकृतिक कारण—भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है, अतः जिस वर्ष मानसून ठीक समय पर नहीं आते तो हमारे कृषि कार्य बिल्कुल रुक जाते हैं और कभी-कभी तो अकाल पड जाता है । अनुमान है कि प्रति पाँच वर्ष मे एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और तीन अनिश्चित वर्ष होते हैं । अतः हमारी फसलें कभी तो अच्छी और कभी औसत से भी कम होती हैं । कई बार अधिक वर्षा होने, असामयिक वर्षा होने, ओले गिरने या बाढ आने के कारण भी फसलें नष्ट हो जाती हैं । ऐसी अवस्था में किसान के लिए अधिक ब्याज पर ऋण लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नही होता । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमको सन् १९५८ की वर्षा से मिलता है, जिसमे फसलो को अत्यधिक हानि हुई है ।

(१३) पर्याप्त सिचाई सुविधाओं का अभाव—भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर रहती है, अतः मानसून का कृषि कार्यो मे विशेष महत्त्व है। अच्छे वर्ष में पानी

की विशेष आवश्यकता नही होती, किन्तु सूखे समय में सिंचाई आवश्यक हो जाती है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार भारत मे लगभग ५६·३ मिलियन एकड़ भूमि मे ५०% नहरों, से २५% कुंओं से, १५% तालाबों से और १०% अन्य साधनो से सिंचाई होती है। यद्यपि भारत मे सिंचाई का क्षेत्रफल ५६३ लाख एकड भूमि है, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस में ८० लाख, जापान मे ७० लाख, मिश्र मे ६० लाख, मेक्सिको में ५७ लाख और इटली में ४०·५ लाख एकड़ भूमि है। फिर भी यह मात्रा हमारे लिये पर्याप्त नही है, अतः देश के विभिन्न भागो मे ठीक समय पर फसलो को पानी न मिलने से प्रायः एक न एक फसल नष्ट होकर खाद्यान्नों की कमी हो जाती है।

(१४) क्रय-विक्रय की असुविधायें—साधारणतः खेती की पैदावार देश मे ही खप जाती है, क्योंकि अभी तक हमारे यहाँ खेती व्यावसायिक पैमाने पर नहीं होती। इसके अलावा हमारे यहाँ अन्य देशों की तरह मिश्रित खेती भी नही होती, ताकि कई तरह की पैदावार मिल सकें। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नही कि बड़ी मात्रा मे कृषि उत्पादन विदेशों को भेजे जा सकें। मोटे रूप में हमारे यहाँ पैदा होने वाली चाय और कॉफी का तीन-चौथाई भाग, कपास का दो-तिहाई भाग, जूट का एक-तिहाई भाग, अलसी का आधा भाग और मूंगफली का पाँचवा भाग विदेशों को निर्यात होता है। आम तौर पर किसान अपने खाने के लिए रखकर बाकी पदार्थों को अपने पुराने कर्ज चुकाने, लगान देने तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए बेच देते हैं। यही अतिरिक्त पदार्थ नगर-वासियो का भरण-पोषण करते हैं।

भारत का कृषि उद्योग ऐसे करोडो व्यक्तियो के हाथ मे है, जिन्हे न तो इस बात की शिक्षा ही मिली है कि अच्छे ढग से और सुचारु रूप से विशेष लाभ के लिए किस प्रकार उत्पादन किया जाय और न वे अपनी दरिद्रता के कारण खेती सम्बन्धी वैज्ञानिक तरीकों, सूचनाओं तथा वस्तुओं के भाव-ताव सम्बन्धी बातों से ही परिचित होते हैं। फलतः किसान के अज्ञान का लाभ व्यापारी उठाते हैं। हमारे निर्यात व्यापार मे इतने अधिक दलालो का हाथ रहता है कि वे किसान से मनमाना फायदा उठाते हैं। गरीब किसान अपने खेतों और गिरी हुई आर्थिक अवस्था के कारण इतना अधिक उपज नही कर पाता कि वह बड़ी-बड़ी मण्डियों मे जाकर अच्छे भाव पर बेच सके। दलालो की अधिकता और माल बेचने में कई अस्वस्थ तरीकों का प्रयोग होने से गरीब किसान को अपने एक रुपये की फसल मे से सिर्फ नौ आने ही मिल पाते हैं और बाकी रुपया दलालों, तुलावटियों, धर्मादा, पल्लेदारो, म्यूनिसिपल टैक्स आदि खर्चों में ही समाप्त हो जाता है। विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश व पंजाब मे अधिकतर माल इन दलालो की सहायता से बेचा जाता है। कभी-कभी तो महाजन किसानों को इस शर्त पर रुपया देते है कि फसल पकने पर उनको ही बेची जायेगी।

इस प्रकार के कार्यों मे गरीब किसान को आर्थिक नुकसान बहुत होता है, क्योकि उसे अपनी फसल का पूरा लाभ नही मिलता। इसका मुख्य कारण माल बेचने की पर्याप्त सुविधाओ का न होना है। बाजारो मे कई प्रकार के बांट काम मे लाये जाते हैं। कभी-कभी तो खरीदने और बेचने के बांट भी अलग-अलग होते हैं। इसके अलावा किसान से माल खरीदते समय कई प्रकार की कटौतियां की जाती हैं, जैसे—तुलाई, बिनाई, पल्लेदारी, धर्मादा, खाता दलाली, आढत, करदा आदि। इनके अलावा चौकीदार, भंगी, मुनीम, भिश्ती, आदि सभी को इसमें से कुछ न कुछ चुकाना पड़ता है। फलतः किसानो को काफी हानि होती है और उसकी उपज का ४२·३ से ५७·७ प्रतिशत दलालो और आढतियो की जेब मे चला जाता है। १ अक्टूबर सन् १९५८ से बांटो की नई प्रणाली लागू की गई है, इसका सभी क्षेत्रो मे उपयोग होने पर ऐसी आशा है कि नापतोल की सभी असुविधायें दूर हो जावेंगी।

(१५) कृषि पूंजी का अभाव—कृषक के पास कृषि मे विनियोग के लिए पर्याप्त पूंजी नही होती। इस कारण वह खेतो के लिए खाद नही खरीद सकता है और न पशुओ को खिला-पिला ही सकता है। सिंचाई के लिये पानी प्राप्त नही कर सकता है और न अधिक उपयोगी कीमती औजार ही खरीद सकता है। भारतीय किसान विस्तृत खेती करता है। चीन और जापान के किसानो की तरह गहरी खेती नही कर सकता। इन कारणो से भारत मे खेती की औसत उपज कम है।

(१६) भारतीय किसान साधक या बाधक—भारत मे कृषि की अवनत अवस्था के कारण कृषक की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ लोग इसका मुख्य कारण किसान को मानते हैं। भारतीय किसान को मूर्ख, अपने धन्धे के विषय में कुछ भी न जानने वाला और अत्यन्त रूढिवादी कहा जाता है। प्रारम्भ मे कृषि-विभाग भी समझता था कि भारतीय किसान खेती करना नही जानता, किन्तु सर्वप्रथम कृषि विशेषज्ञ डा० वोयेल्कर ने भारतीय किसान/की प्रशंसा करते हुए कहा—"भारतीय किसान खेती के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान रखता है और जिन विपरीत परिस्थितियो मे उसे उद्योग चलाना पड रहा है, उनको देखते हुए वह श्रेष्ठ किसान है। भारत का किसान ब्रिटेन के किसान की बराबरी नही करता, किन्तु वह उससे कुछ बातो में बढ जाता है। उनका कहना है कि उन्होने भारत जैसा मेहनती और होशियार किसान नहीं देखा, जो इतनी लगन और सावधानी से खेती करता हो।" क्रमशः अब तो कृषि-विभाग के अधिकारी भी इस बात को मानने लगे हैं कि भारतीय किसान को साधारणतः खेती बारी के सम्बन्ध में कुछ और नहो सीखना, परन्तु वैज्ञानिक खेती के लिए उसे कुछ नई आवश्यक बातें अवश्य सीखनी होगी।

उत्तम बीज, खाद, हल, बैल, गहरी जुताई और चकबन्दी के लाभ को वह न जानता हो, यह बात नही है, किन्तु जिस निर्धनता और उपेक्षा के वातावरण मे वह जीवन व्यतीत कर रहा है, उसमे वह खेती की उन्नति नही कर सकता। इन विषम

परिस्थितियों के कारण वह निराशावादी और भाग्यवादी हो जाता है। फिर भी जिस सहनशीलता और लगन का वह परिचय देता है, वह केवल सराहनीय ही नहीं अपितु इस बात की सूचक है कि पूर्ण सुविधाएँ होने पर वह अन्य देशों की तुलना में भी सफल हो सकता है।

यह सर्व विदित है कि आज का किसान सर्वथा अपढ़ और अशिक्षित है तथा उसके खेती करने का ढंग अत्यन्त पुराना है। वह सफाई की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। फलस्वरूप वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है तथा उनसे ग्रसित होकर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर लेता है और उसकी कार्यशक्ति में बहुत कमी आ जाती है।

समस्या का हल—

संयुक्त-राष्ट्र-संघ (U.N.O) के कृषि और खाद्य विभाग के (F.A.O.) डाइरेक्टर श्री एन० सी० डॉड ने भारत की कृषि उन्नति के लिए निम्न सुझाव दिये हैं:—जंगलों को काटने की प्रणाली पर कड़ा नियन्त्रण कर भूमि कटाव (Soil Erosion) को रोका जाय। (२) नल-कूपों द्वारा सिंचाई के क्षेत्रों मे वृद्धि करना। (३) रसायनिक खाद के उपयोग मे वृद्धि करने की अपेक्षा दाल वाली (Clover Crops) फसलों का अधिक उपयोग किया जाय, जिससे उनके द्वारा नाइट्रोजन संग्रह करने तथा पानी को अधिक समय भूमि मे रहने की प्रणाली का विकास हो। (४) खेती में मशीन का प्रयोग खेतों के नये टुकड़े तक ही सीमित कर देना। भारत की सम्पूर्ण कृषि मे मशीनों का प्रयोग करना एक मूर्खता का कार्य है, क्योंकि इससे भारत में एक लम्बे समय से प्रचलित खेती के उपयोग मे बाधा उपस्थित हो सकती है।

इस स्थिति का सामना करने के लिए उचित उपाय तो यही है कि देश मे काफी उत्पादन किया जाय और देश को खाद्यान्नों की वृद्धि से आत्म निर्भर बनाया जाय। यह कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है:—

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर।
(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढ़ाकर।
(३) वर्तमान कृषि योग्य भूमि को अनुत्पादक होने से बचाकर।

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर—कृषि के अन्तर्गत भूमि में वृद्धि करने का अर्थ यह होगा कि बेकार भूमि और कृषि-योग्य भूमि पर (जो ३१% होती है) कृषि की जाए। निस्सन्देह यह आक्षेप्य है, अतः इस प्रकार की भूमि पर खेती करने के पहले यह मालूम करना होगा कि किन कारणों से वह बेकार थी। सम्भव है किन्हीं भागों में कम वर्षा, किन्हीं में अधिक और किन्हीं में कीड़े मकोड़े या बीमारियों के अथवा घास-फूँस के कारण खेती न की जा सकी हो। अतः इन कारणों का पता लगाकर कौनसे तरीके काम मे लाये जायें, इसको सोचना होगा? इसके अतिरिक्त बेकार जमीन पर खेती करने का उपाय होना जरूरी है। ऐसी भूमि

को जो नदियों, तालाबों और रेल मार्गों के दोनों ओर बेकार पड़ी है, उसका पूरा ब्यौरा मालूम कर किसानों को या ऐसे व्यक्तियों को दे दी जाय जो उस पर शीघ्र से शीघ्र खेती कर सकें अथवा वहां जल्दी उगने वाले वृक्षों को लगा कर बढ़ती हुई ईंधन की समस्या को हल करें। केन्द्रीय सरकार की ट्रैक्टर व्यवस्था कमेटी ने इस सम्बन्ध में काफी सराहनीय कार्य किया है। अब तक तराई, मध्य-भारत और राजस्थान संघों के एक बड़े भाग की भूमि को ट्रैक्टरों द्वारा कृषि-योग्य बना दिया गया है। ऐसा अनुमान है कि यदि बेकार और बंजर भूमि के कम से कम चौथाई भाग पर ही खेती की जाय तो हमारी खाद्यान्न उत्पत्ति काफी हद तक बढ़ सकेगी।

कुछ लोगों का अनुमान है कि इस प्रकार की कुल भूमि वास्तव में देश की जन संख्या की तुलना में बहुत थोड़ी है, जिसमें अधिकांश की दशा ऐसी है कि उस पर कृषि करने से कोई बचत नहीं होगी। दूसरे, इस प्रकार की भूमि का उचित रूप से विकास करने के लिए दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाने पड़ेंगे। उनके अनुसार यदि इस प्रकार की सारी प्राप्य भूमि कृषि के अन्तर्गत कर ली जाय तो भी इन पर उत्पन्न होने वाली फसलों से देश के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होगी और न खाद्य समस्या में ही सुधार होगा।

(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढ़ा कर—इससे निश्चय ही लाभ होने की सम्भावना है। भारत में प्रति एकड़ चावल की उपज सिर्फ ८४० पौंड ही होती है, जबकि थाईलैंड में इसकी उपज ६४० पौंड, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में १,६८० पौंड, मिश्र में २,००० पौंड, जापान में २,१५० पौंड, स्पेन में ३,५०० पौंड और इटली में ३,००० पौंड एकड़ है। इसी प्रकार अन्य फसलों की भी यही दशा है। फिर यह प्रश्न उठता है कि दूसरे देशों में प्रति एकड़ उत्पादन का स्तर इतना ऊँचा है तो यह भारत में ही क्यों नहीं हो सकता। इस प्रश्न पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि फसलों को उगाने की प्रणाली में ही कोई बड़ा दोष है, जो न्यून उत्पादन के लिये उत्तरदायी है। जब तक इन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता तब तक खाद्य समस्या के हल करने की आशा करना व्यर्थ है।

सभी प्रान्तों में सिंचाई के पर्याप्त साधन प्राप्त नहीं हैं, अतएव सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि जिन जिन भागों में वर्षा कम होती है वहां सिंचाई के साधन प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत किये जायें। उदाहरण के लिये, दक्षिण भारत में भूमि के असमतल होने के कारण पहाड़ियों के बीच बाँध बना कर वर्षा का पानी रोका जा सकता है। पहाड़ी भागों में भी सोतों, नदियों तथा नालों को रोक कर तालाब की आकृति के बांध बनाये जा सकते हैं अथवा सरकार अपनी ओर से तकावी देकर ट्यूब-वैल बनाने में मदद कर सकती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान कुँओं की मरम्मत की जानी चाहिए अथवा उससे निकाले जाने वाले पानी का उपयुक्त उपयोग किया जाय, जिससे सींची हुई भूमि से थोड़े ही समय में दो फसलें मिलने लगेंगी और प्रति एकड़ उपज में काफी वृद्धि होगी।

वर्षा की कमी सूखी खेती को प्रणाली (Dry Farming) को अपनाकर भी दूर कर सकते हैं। इस तरह के प्रयोग इन्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च द्वारा पंजाब में रोहतक, बम्बई, शोलापुर, बीजापुर, हैदराबाद, रायपुर और मद्रास में हजारों केन्द्रों पर किये गये हैं। इस प्रणाली से न सिर्फ औसत वर्ष में ही उत्पत्ति की जा सकती है, अपितु सूखे वर्षों में भी कुछ न कुछ पैदा किया जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि अन्य बातों में सुधार करने से भी इस प्रकार की सफलता मिल सकती है। प्रत्येक फसल के साथ कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनका पूर्व उपयोग फसल को अधिक से अधिक प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है, जैसे खाद इसका दूसरा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न कमेटियों और विद्वानों ने बार-बार इस ओर संकेत किया है। कि भारतीय मिट्टी में नेत्रजन की कमी है। डा० बर्न ने अनुमान लगाया है कि भारत में प्रति वर्ष २६ लाख टन नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है। यह पूर्ति १३२ टन अमोनियम सल्फेट अथवा ५२·६० लाख टन गोबर की खाद से पूरी की जा सकती है।

डा० आचार्य के अनुसार यदि बबूल, खेजड़ा आदि जल्दी पनपने वाले वृक्षों को लगाकर गोबर को जलाने से बचाया जा सके तो प्रति वर्ष हमको इस अतिरिक्त गोबर की खाद से १०० प्रतिशत नाइट्रोजन मिल सकता है, जिससे खाद्यान्नों में १०० लाख टन की वृद्धि की जा सकती है।

इसके अलावा किसान खाद की कमी अपने खेत और पशुओं के बाड़े में मैले और कूड़े कर्कट से कम्पोस्ट बनाकर स्वयं खाद की पूर्ति कर सकते हैं। डा० सी० एन० आचार्य के अनुसार—"भारत के ५,००० शहरों में लगभग ६ करोड़ व्यक्ति रहते हैं, यदि उनके मैले को कम्पोस्ट बनाने में उपयोग किया जाय तो प्रति वर्ष १०० लाख टन उत्तम खाद मिल सकती है, जिससे उत्पादन में १० लाख टन की प्रति वर्ष वृद्धि होगी।"

कम्पोस्ट के अलावा तिलहन की खाद भी काम में लाई जा सकती है। इसके अलावा खेती में हरी खाद, ढेंचा, ग्वार, सनई, नील, सोयाफली आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। विदेशों में खेतों की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने के लिए बनावटी खादों का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु भारत में उनका प्रयोग खर्चीला और मुश्किल होता है। कई विद्वानों का कहना है कि खेतों को बनावटी खादों से दूर रखा जाय। अमेरिका में डा० क्लार्क और रौलट, इङ्गलैण्ड के डोलमेट और मोकरोड तथा भारत में डा० मैकरीसन तथा बी० बी० नाथ का तो कथन है कि खेतों में निरन्तर बनावटी खाद देने से यद्यपि दो फसलें पैदा होती हैं फिर भी उनमें उतने पोषक तत्व नहीं होते, जितने गोबर और अन्य खादों से तैयार की गई फसलों में होते हैं। फिर भारत के किसान गरीब हैं, उनके लिए इस खाद का उपयोग असम्भव है। अतः वर्तमान समय में खेतों से अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करने

चाहिए । इस सम्बन्ध में चीन और जापान मे जो किया जाता है वह भारतीय किसानों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है । वहाँ खाद की कमी को पूर्ण करने के हेतु—पेड पौधों की पत्तियां, उनकी शाखायें, घास, चिथड़े, अन्य सडे गले पदार्थ, राख, चूना आदि सभी प्राप्य वस्तुयें खाद बनाने के काम मे लाई जाती है । भारत मे भी इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए कि जो खाद बनाई जावे उसका वितरण म्युनिसपैलिटियो, ग्राम पचायतो और सरकारी समितियो द्वारा हो ।

कृषि के लिए उन्नत किस्मो की फसलो को अपनाना चाहिएं । उदाहरण के लिए, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियां निकाली गई हैं, जो बीमारियों, पशुओ, अनावृष्टि अथवा सर्दी के कोहरे के अन्तर से मुक्त हैं । इस उन्नत जाति के बोने मे वहाँ पिछले ४ वर्षों मे (सन् १६४२-४६) ८,००० लाख टन बुशल की वृद्धि हुई है । सर रसल का कहना है कि उन्नत बीजो द्वारा पैदावार मे कम मे कम १० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है । भारत में गेहूँ, गन्ना, चावल और कपास की कुछ सुप्रसिद्ध उन्नत जातियो को विस्तृत रूप से सफलतापूर्वक अपनाना भी यह प्रकट करता है कि अन्य फसलो मे भी इस प्रकार के परिवर्तनो की सम्भावनायें हैं ।

विशेष जाति का चुनाव करते समय केवल उपज प्राप्ति का ही नही बल्कि रोग, अनावृष्टि तथा बाढ सहन करने की प्रवृत्तियो पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा अनुमान है कि उन्नत जाति के बीजो को बोने से गेहूँ, चावल व जूट की पैदावार में औसतन २ मन की वृद्धि हुई है । इस प्रकार ज्वार व बाजरा में १ मन, मूंगफली मे १·७५ मन, बिनौला मे ०·५ मन तथा गन्ने मे २०० मन की वृद्धि हुई है।

कीड़ों व पशुओं से फसल का बचाव—

वर्तमान समय मे अनेकानेक कीडों, चिड़ियो, टिड्डियो, दीमक अथवा पशुओ द्वारा भी हमारी फसल में कमी हो रही है, अतः इनको रोकने के उपाय होना आवश्यक है । दीमक आदि कीडो को रोकने के लिए खेतो मे फसलो को हेर-फेर के साथ बोया जाय अथवा गहरे हल चला कर व्यर्थ घास-फूस को खेतो से निकाल दिया जाय । पानी के लिए उपयुक्त नालियां बनाई जायें और जो पौधे सूख जायें उन्हे शीघ्र ही हटा दिया जाय । फसलो को जगली पशुओ से बचाने के लिए खेत के चारों ओर कटीले तारों की मजबूत बाढ लगाई जावे, परन्तु रात मे फसलो की रखवाली करना भी जरूरी है । फसलो में कब कीडे लगते हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, इसके लिए देख-रेख आन्दोलन चालू किया जाय, जो समय-समय पर किसानों को इससे सूचित करते रहें । इन कार्यों से फसल की सुरक्षा होकर उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी ।

आस-पास के लगे हुए खेतो के किसान आपस मे मिलकर सम्मिलित खेती करें तो औजार, पशु आदि के खर्च मे कमी आ जायगी तथा इस बचे हुए धन को भूमि के सुधार मे लगाया जा सकता है ।

किसान अपने काम में पूरी रुचि ले, इसलिए यह जरूरी है कि जिस जमीन को वह जोतता है उस पर उसका हक हो, तभी वह अपनी खेती समझ कर सुधार कर सकता है। इस तरह खेतों की प्रति एकड़ पैदावार अधिक हो कर हमारी खाद्य-समस्या का हल हो सकेगा तथा विदेशी विनिमय की बचत हो सकेगी।

कृषि व्यवस्था के उत्थान के लिए देश की पंच-वर्षीय योजनाओं में कृषि उद्योग के विकास एवं सुधार को पर्याप्त स्थान दिया गया है। फलस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। तीसरी योजना में भी कृषि नीति का लक्ष्य यही है कि बढ़ती हुई जन-संख्या को पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध हो सके तथा विकसित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध हो एवं कृषि-पदार्थों का विदेशों को निर्यात सम्भव हो। योजना कालीन कृषि नीति के प्रमुख तत्त्व निम्न हैं :—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।
(२) दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन लक्ष्यों का निर्धारण।
(३) योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमों, भूमि-उपयोग योजना, खाद का बँटवारा, उत्पादन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सरकारी सहायता को समन्वित करना, तथा
(४) समुचित कृषि मूल्य नीति का निर्धारण।

इस प्रकार कृषि आधार को मजबूत बनाकर उत्पादन वृद्धि के लिए कृषि उद्योग को नया यान्त्रिक मोड़ दिया जा रहा है; जिससे निश्चय ही कृषि उद्योग की समस्याओं का निवारण होकर कृषि उद्योग का सन्तुलित विकास हो सकेगा।

परिशिष्ट

भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के सुझाव—

कृषि और पशुपालन मण्डल की "फसल और मिट्टी" का चार-दिवसीय सम्मेलन ११ जून सन् १९६० को रांची में हुआ। इस सम्मेलन ने भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं, जिनका प्रभाव दूरगामी सिद्ध होगा। सम्मेलन की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) पानी का अधिक से अधिक उपयोग कर सकने के लिए यह जानकारी एकत्र करना आवश्यक है कि किस स्थान की मिट्टी कैसी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिंचाई आरम्भ होने के पहले और सिंचाई आरम्भ होने के बाद भूमि का सर्वे

किया जाय । पानी जमा होने के सम्बन्ध में यह सुझाव है कि निश्चित भूमि के लिए निश्चित मात्रा में नहरो से पानी छोड़ा जाय तथा किसानो के लिए गूलें बनाना अनिवार्य कर दिया जाय । इसके अलावा नई सिंचाई योजनाओ से जिस प्रदेश में सिंचाई होने लगे उसमे जनता को सही ढङ्ग से बसाने के लिए एक अखिल भारतीय मण्डल संगठित किया जाय ।

(२) सम्मेलन की धारणा है कि कृषि को व्यावसायिक धन्धे का रूप दिया जाय । क्योकि अनुसन्धान के परिणामों का उपयोग न करने का कारण यह भी है कि खेती को उद्योग के रूप में नही लिया जाता । अतः उद्योगों के विकास व उनकी सहायता के लिए जो प्रगतिशील नीतियाँ और प्रोत्साहन के उपाय अपनाये गये है, उन्हें खेती के सम्बन्ध में लागू किया जाना चाहिए ।

वैज्ञानिक पद्धति से कृषि होने के लिए कुछ बातें आवश्यक हैं, जैसे कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये कृषि-पदार्थों के भाव स्थिर हो, उचित समय पर और काफी परिमाण मे ऋण का प्रबन्ध हो आदि । अतः इन बातों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये ।

(३) सम्मेलन की सिफारिश है कि रसायनिक खाद, कीड़े व खरपतवार नाशक दवाओ, औजार और कृषि सम्बन्धी मशीनो के उद्योगो को शीघ्र विकसित किया जाय, जिससे कृषको की आवश्यकतायें पूरी होने लगें । यह भी आवश्यक है कि कृषि-अनुसन्धानो के परिणामों की उपयोगिता की जाँच जल्द से जल्द की जाया करे, जिससे उसका लाभ अविलम्ब उठाया जा सके ।

(४) सम्मेलन की सिफारिश है कि अमेरिका के "सिनर्जी युगल सनव" के आधार पर भारत मे भी किसानों के शक्तिशाली संगठन का विकास किया जाना चाहिए ।

(५) रसायनिक खाद की समस्या पर विचार करते समय सम्मेलन ने यह अनुभव किया कि नैत्रजनीय खाद के उत्पादन एवं मांग का अन्तर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है और सरकारी क्षेत्र के कारखाने द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे निर्धारित लक्ष्य पूरा नही कर सकेंगे । अतः निजी क्षेत्र को रसायनिक खाद के कारखाने खोलने की छूट देनी चाहिए । खाद्य-उत्पादन को जो उच्च प्राथमिकता दी गई है उसे दृष्टि मे रखते हुए रसायनिक खाद-कारखानों की स्थापना को भी उतनी ही उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए । अनुमान है कि तीसरी पंच-वर्षीय योजना मे अब तक १२·५ लाख टन नैत्रजनीय खाद की आवश्यकता होगी ।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की है कि ४,००० जन-संख्या के ऊपर के सब गावो और पचायतों में कम्पोस्ट खाद का निर्माण अनिवार्य किया जाय । छोटे गाँवों में भी पंचायतो को बिक्री के लिए कम्पोस्ट खाद का प्रोत्साहन दिया जाय । यह भी अनुभव किया गया कि ईंधन प्राप्त करने के लिए यदि बंजर भूमि मे वृक्ष आदि लगाये

जायें तो गोबर की बरबादी रोकी जा सकती है। सम्मेलन ने यह सिफारिश की है कि खर-पतवार नष्ट करने के बारे में देश व स्थान के अनुकूल अनुसन्धान किये जायें।

(६) सम्मेलन की धारणा है कि सिंचाई, खाद व अन्य साधनों से अधिकतम लाभ उठाने के लिए फसल प्रणाली शुरू करने की आवश्यकता है। यह काम शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न किया जाय और यदि आवश्यक हों तो कानून भी बनाये जाँय और किसानों को प्रोत्साहन दिया जाय।[1]

इन सिफारिशों के कार्यान्वित होने पर कृषि-उपज की वृद्धि होने में सफलता मिलेगी।

अध्याय ७

भारत में कृषि-जोत

(Units of Holdings in India)

"कृषकों की पूंजी प्रति वर्ष सिकुड़ती जा रही है और वे आहत तथा अचम्भित से खड़े देख रहे हैं।"

—एo जीo स्ट्रीट।

"ग्रामीण भारत का अध्ययन करते समय तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है : जनता, भूमि और उपज।[2]

भारत की भूमि छोटे-छोटे किसानों की भूमि है, जहाँ प्रति व्यक्ति उपयोग में लाई गई भूमि का आकार केवल छोटा ही नहीं, अपितु आर्थिक दृष्टि से अलाभकर भी है। देश के बहुत से भागों में खेत इतने छोटे छोटे पाये जाते हैं कि उनका क्षेत्रफल ६/१० एकड़ या ३१२३ वर्ग गज है। भारत में खेती की जोत केवल छोटी ही नहीं, परन्तु वह कई टुकड़ों में बँटी हुई भी है। साधारणतया खेतों के उप-विभाजन और बिखरे हुए (Fragmentation) होने के कारण भारतीय कृषि पर बुरा असर पड़ा। इस कारण कृषक का जीवन-स्तर केवल निम्न ही नहीं रहा, अपितु वह अपने खेतों से न तो पूरा उत्पादन ही प्राप्त कर सकता है और न उसकी आय ही बढ़ पाती है। सत्य

1. भारतीय समाचार—१ जुलाई सन् १९६०, पृष्ठ ३६३-३६४।

2. Report of Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, 1954 Vol. II.

तो यह है कि जब तक खेतों का आकार छोटा है और वे बिखरे हुए हैं, तब तक कृषि के उत्पादन और आय में वृद्धि की आशा करना व्यर्थ है।

सबसे पहले श्री कीटिंग्ज का ध्यान खेतों के उप-विभाजन और अप-खण्डन की ओर आकर्षित हुआ, जिन्होंने इस बात की ओर इशारा किया। मोटे रूप में बम्बई प्रान्त में—विशेषकर कोंकण, पश्चिमी तथा दक्षिणी गुजरात के हरे-भरे चावल के खेतों और बगीचों में जोत के टुकड़े एकदम असह्य सीमा तक पहुँच गये। इन भागों के कुछ क्षेत्रों में खेतों की जोत आधे एकड़ से भी कम पाई गई। श्री कीटिंग्ज के अनुसार भारत के लिए जोत सम्बन्धी दो प्रमुख समस्याएँ हैं :—(१) जोत का छोटा होना और (२) जोत की चकबन्दी न होते हुए उनका भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बिखरे हुए होना।[1] शाही कृषि आयोग सन् १९२६ ने भी इन्हीं समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया है। इस सम्बन्ध में सन् १९४६ में सरैया सहकारी आयोजन समिति ने लिखा था :—"अलाभकर खेत कृषि उत्पादन वृद्धि में सबसे बड़ी बाधा है।" समस्या के दो पक्ष हैं—खेतों का केवल आकार ही छोटा नहीं होता बल्कि एक ही किसान के खेत एक चक में न होकर दूर-दूर फैलते जा रहे हैं।[2]

उप-विभाजन का अर्थ (Meaning of Sub-Division)—

जोत के उप-विभाजन से हमारा आशय खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने से है। उदाहरणार्थ, यदि एक किसान के पास ४० एकड़ भूमि है और उसके पाँच लड़के हैं, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यह भूमि आठ आठ एकड़ के ५ टुकड़ों में बँट जायेगी। जबकि अप खण्डन से हमारा आशय जोतों के भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बँटे होने के अतिरिक्त उनका विभिन्न भागों में बिखरे होने से है। उक्त उदाहरण में यदि किसान की ४० एकड़ भूमि पहिले ही से तीन टुकड़ों में बँटी हुई है तो उसकी मृत्यु के बाद प्रत्येक भाग की भूमि भिन्न-भिन्न प्रकार की होने के कारण पाँच-पाँच टुकड़ों में बँट जायेगी, जिससे सारी जोत एक क्षेत्र में न रह कर गाँव के विभिन्न भागों में होगी।

रॉयल कृषि आयोग सन् १९२६ के अनुसार हम जोत की समस्या का अध्ययन निम्न आधारों पर कर सकते हैं :—[3]

(१) भू-स्वामियों (Right-holders) की जोत का उप-विभाजन।

(२) कृषकों की जोत का उप विभाजन।

(१) भू-स्वामियों की जोत—भारत के विभिन्न भागों में जोत के सम्बन्ध में समय-समय पर हुई जाँच से स्पष्ट है कि देश के सभी भागों में जोत का आकार समान नहीं है।

---

1. Keatings : Agricultural Problems in Western India, pp. 61-65.
2. Report of the Co-operative Planning Committee, p. 24.
3. Report of the Royal Commission on Agriculture, pp 132-33.

पंजाब में भू-स्वामियों की जोत—[1]

भू-स्वामी	औसत जोत	कुल जोती गई भूमि का %
१७·६%	१ एकड़ से कम	१ %
४०·२%	१ से ५ एकड़	११ %
२६·२%	५ से १५ एकड़	२६·६%
११·८%	१५ से ५० एकड़	३५·६%
३·७%	५० एकड़ से अधिक	२५·७%

इसी प्रकार सन् १६३६ की जाँच के अनुसार ६३·७ भू-स्वामियों के पास ५ एकड़ से कम की जोत थी, जो कृषि भूमि के १२% थी।[2] फलस्वरूप पंजाब में ०·३४ टन प्रति एकड़ उपज थी, जो औसत आकार के खेत में केवल ३ टन थी।

इसी प्रकार सन् १६१७ में बम्बई प्रान्त में डाक्टर मान ने पूना जिले के पिपला सोदागर गाँव में जाँच की। उनके अनुसार—सन् १७७१ में प्रति जोत का क्षेत्रफल लगभग ४० एकड़ था, लेकिन सन् १८१८ में वह १०॥ एकड़ रह गया और सन् १६१४ १५ में केवल ७ एकड़ ही रह गया। ७७% जोतें २० एकड़ से कम की थीं और ४८% तो १० एकड़ से भी कम की थीं। डा० मान के अनुसार गत ५०-६० वर्षों में खेतों के आकार में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ।[3] सन् १६३६-३७ में ४६% जोतें ५ एकड़ से कम, २६% ५ से १५ एकड़ तक, ११% १५ से २५ एकड़ तक और १०% २५ से १०० एकड़ तक की थी। इन आँकड़ों के अनुसार औसत जोत ११·७ एकड़ की होती है और प्रति एकड़ पीछे केवल ०·१६ टन अनाज पैदा होता है।[4]

मद्रास प्रान्त में भी खेतों की जोत बहुत ही छोटी है। तिनावेली जिले (मद्रास) में अधिकांश जोत (४८%) तो दो एकड़ से भी कम की थी। परन्तु सन् १६१६ के बाद तो जोतों के आकार में और भी कमी हो गई।[5]

फ्लाउड आयोग के अनुसार बंगाल में जिनके पास २ एकड़ से भी कम भूमि है ऐसे परिवार ४२% हैं तथा जिनके पास २ से ४ एकड़ तक भूमि है, उनका प्रतिशत २१ से भी कम है।[6]

1. श्री कैलवर्ट की जाँच सन् १६२५।
2. Report of the Panjab Board of Economic Enquiry 1939.
3. H. Mann : Land and Labour in a Deccan Village, Vol. 1. p. 43.
4. Nanawati & Anjaria . The Indian Rural Problem, p. 153.
5. Thomas & Ramkrishnan : Some South Indian Village A Resurvey, pp. 71-72.
6. Report of the Bengal Land Revenue Commission. Vol. 1, p. 86.

(२) कृषकों की जोत—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भू-स्वामियों की जोतें बहुत ही अनार्थिक हैः—

सन् १९२८ में श्री कैलवर्ट ने पंजाब के किसानों की जोत का अध्ययन किया था। इस जाँच के अनुसार :—२२% किसानों के पास १ एकड़ से कम के खेत थे, ३३% के पास १ से ५ एकड़, ३१% के पास ५ से १५ एकड़, १२½% के पास १५ से ५० एकड़ और शेष १% के पास ५० एकड़ से अधिक के खेत थे। पूरे पंजाब का क्षेत्रफल २९ से ३० करोड़ एकड़ था, जोकि २० करोड़ खेतों में बँटा हुआ था।[1]

उत्तर-प्रदेश में खेतों की जोत, ज्यों-ज्यों पश्चिम से पूर्व की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हैं, कम होती जाती है।[2] उत्तर-प्रदेश बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार :—उत्तर-प्रदेश के दक्षिणी जिलों में औसत जोत १०½ से १२ एकड़ थी और उत्तरी जिलों में ६ से ७ एकड़ थी। पश्चिमी भागों में ८ से १०½ एकड़, पूर्वी जिलों में ३½ से ४½ एकड़ और दक्षिणी जिलों में ५ से ५½ एकड़ थी, जबकि सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश के लिए औसत जोत ६ एकड़ मानी गई है।[3] इस अनुमान के आधार पर यह निर्धारित किया गया है कि प्रान्त में अधिकांश खेत २½ एकड़ से ४ एकड़ के बीच में हैं।[4] गोरखपुर जिले में (सन् १९४३ की अकाल जाँच समिति) अधिक उपजाऊ भूमि की इकाई ४·८ एकड़ है, किन्तु झाँसी जिले में, जो कम उपजाऊ है, खेतों का आकार १२ एकड़ है। इस विषय में मन्त समिति का कहना है कि उत्तर-प्रदेश के खेतों का औसत आकार २·९८ एकड़ से ३·३६ एकड़ है। इससे स्पष्ट है कि ६४% किसानों के खेत अनार्थिक हैं, जो सम्पूर्ण खेतों के क्षेत्रफल का ५४·८ एकड़ है। ३७·९% जोतें कुल खेतों के क्षेत्रफल का ६% हैं, जबकि इतनी जोतें १ एकड़ से भी कम ही हैं।[5]

बंगाल के ¾ किसानों की जोत ४ एकड़ से भी कम है। लगभग ४६% किसानों के खेत २ एकड़ से कम, २८% किसानों के खेत २ से ५ एकड़, १७% किसानों के ५ से १० एकड़ और ९% किसानों के १० से अधिक एकड़ के खेत हैं।[6]

बम्बई राज्य के मुख्य भागों में भी जोत सम्बन्धी जाँच की गई है :—थाना जिले के भिवण्डी ताल्लुका सन् १९३७ में ६९% जोत ५ एकड़ से कम, २५·५% की ५ से २५ एकड़, ४½% की २५ से १०० एकड़ और १% की १०० से २०० एकड़ की थीं।[7] बम्बई में सन् १९३६–३७ में २% किसानों की जोतें १५ एकड़ से कम

1. H. Calvert : Wealth & Welfare of the Punjab, p. 74.
2. B. Singh : Whither Agriculture in India, p. 66.
3. Report of the U. P. Banking Enquiry Committee.
4. U. P. Agrarian Distress Committee Report 1931, p. 30
5. U. P. *Zamindari* Abolition Committee Report, p. 24.
6. Bengal Land Revenue Commission Report, vol. II, pp. 114 115.
7. M. G Bhagat : the Farmer, His Wealth & Welfare, p. 93.

थी।[1] मद्रास में भी खेतो की जोत अनार्थिक है, वहाँ ४% खेतो का आकार केवल २·४% ही है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश में खेतों का औसत आकार एकसा नही है। सन् १६३१ की जनगणना के आधार पर प्रति किसान पीछे कृषि भूमि और खेत का आकार निम्न था[3] :—

प्रान्त	प्रति किसान कृषि भूमि एकड	खेतो का औसत आकार एकड़
बम्बई	१६·८	११·७
मध्य प्रदेश	१२·०२	८·५
पंजाब	८·८	७·२
मद्रास	५·६६	४·५
बङ्गाल	३·१७	२·४
आसाम	३·४	२
युक्त-प्रान्त	३·३	६·०
बिहार-उडीसा	२·६६	४ और ५ के बीच

जोतो का उप-विभाजन केवल भारत मे ही नही, किन्तु विदेशो मे भी पाया जाता है। उदाहरण के लिये, जापान में खेतो की जोत बहुत ही छोटी है। दो करोड़ किसानो के खेत १½ एकड़ से भी कम हैं और अन्य २ करोड के १½ से २½ एकड़ के खेत है। चीन मे भी खेतो की जोत बहुत छोटी होती है। फ्रास में हमारे देश की तरह उप-विभाजन के कारण कभी-कभी तो खेतो का आकार अंगूर की बेल तक छोटा हो जाता है। बाल्कन प्रायद्वीप मे दक्षिणी-पूर्वी बल्गेरिया के एक गांव मे १२½% जोत २ हैक्टर से कम, ४२% के २ से ५ हैक्टर, २२½% के ५ से ७½ हैक्टर, ११½% के ७½ से १० हैक्टर और १०% के १० से १५ हैक्टर के हैं।

यदि भारत की तुलना अन्य देशो से करें तो ज्ञात होगा कि जोतों के सम्बन्ध में हमारी स्थिति दयनीय है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट होगी :—

देश	जोत (एकड़ मे)
अमेरिका	१४५
इङ्गलेड	२०
डेनमार्क	४०
हालेड	२६

1. Nanawati & Anjaria : Indian Rural Problem, p. 153.
2. Woodhead Committee Report, p. 156.
3. World Agriculture, p. 27.

स्वीडन	२५
जर्मनी	२१·५
फ्रान्स	२०·६
बेल्जियम	१४·५
भारत	६

जोत के अपखण्डन का अर्थ (Fragmentation of Holdings)—

खेतों के छोटे-छोटे होने के साथ ही उनके एक चक में न होने के दोष को अपखण्डन कहते हैं। यह देश के सभी कृषि भागों में है।

भारत में खेतों के अपखण्डन की कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

भारत में भूमि की जोत (कुटुम्बों का प्रतिशत)

प्रान्त	२ एकड़ से कम	२ से ५ एकड़	५ से १० एकड़	१० एकड़ से अधिक
आसाम	३८·६	२७·४	२१·१	११·६
पश्चिमी बङ्गाल	३४·७	२८·७	२०·०	१६·६
मध्य-प्रदेश	५१·०	—	२१·०	३०·०
उड़ीसा	५०·०	२७·०	१३·३	१०·०
मद्रास	५१·०	३१·०	७·०	११·०
उत्तर-प्रदेश	५५·८	२५·४	१२·८	६·०
पेप्सू	४५·४	—	१७·६	३७·०
बम्बई (गुजरात जिले)	२७·५	२५·७	२२·३	२४·५
दकन	१९·८	१६·७	१८·८	४४·७
कर्नाटक	१८·२	१९·२	२१·७	४६·६
पञ्जाब (अविभाजित)	२०·० (½ एकड़ से कम)	१८·० (१ एकड़ से कम)	४०·० (२½ एकड़ से कम)	२६·० (८¾एकड़)
मैसूर	६६·२	२१·२	—	१२·६

भूमि के अपखण्डन की समस्या भारत में ही नहीं, अपितु कई योरोपीय और एशियाई देशों, *विशेषकर फ्रान्स, स्विट्जरलैंड, जर्मनी, बलगेरिया,* चीन और जापान में भी इतनी ही विकट है। उदाहरणार्थ, चीन में कई किसानों के खेत ५ से ४० टुकड़ों तक बँटे हुए हैं, जो कि लम्बे-लम्बे टुकड़े, जमीन के कोने और कटार, बिना

* Congress Agrarian Reforms Committee Report, p. 14.

गाँव के खेत एक मील से अधिक दूरी पर स्थित है।[1] इसी प्रकार जर्मनी और स्विट-जरलैंड मे भी इस समस्या का जटिल रूप है। स्विटजरलैंड की गत् जन-गणना के समय २,११२ एकड के ५३० ऐसे खेत थे, जो ५० से भी अधिक टुकडो मे बँटे हुए थे।[2]

उप-विभाजन और अपखण्डन के कारण—

(१) जन-संख्या मे वृद्धि—यह इस समस्या का मूल कारण समझा जाता है। पिछली अर्द्ध शताब्दी से भारत की जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई है—सन् १६०१ से सन् १६११ मे जन-संख्या में ६·७%, सन् १६११–२१ मे ०·६ %, सन् १६२१-३१ मे १०·७%, सन् १६३१–४१ मे १५% और सन् १६४१-५१ मे १३% की वृद्धि हुई। अधिकांश जन-सख्या कृषि पर निर्भर होने से कृषि पर लगे हुए लोगो की जन-सख्या बढ गई है, लेकिन उसी अनुपात में कृषि भूमि के क्षेत्रफल मे वृद्धि नही हुई। फलतः बोई गई भूमि का वितरण प्रति व्यक्ति कम हो गया। सन् १६११ में प्रति व्यक्ति ०·६० एकड भूमि बोई जाती थी, सन् १६२१ मे यह क्षेत्रफल केवल ०·८८ एकड, सन् १६३१ मे ०·८१ एकड, सन् १६४१ मे ०·७२ एकड और सन् १६५१ में इससे भी कम क्षेत्रफल रह गया। स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो कृषि पर निर्भर जन-संख्या में वृद्धि होती गई, त्यो-त्यो भूमि की माँग बढी और पुराने खेतो के टुकडे होते चले गये।

(२) व्यक्तिवाद का विकास—भारत मे आधुनिक-काल में व्यक्तिवाद का इतना अधिक विकास हुआ है कि संयुक्त-पारिवारिक प्रणाली प्रायः नष्ट हो चुकी है। कुटुम्ब विघटन मे पुरुष-व्यक्ति पृथक-पृथक हो जाते है और खेत तथा सामूहिक सम्पत्ति का बँटवारा भी करते है, जिससे कृषि भूमि का बँटवारा होता है, क्योकि यही जीवन निर्वाह का एकमात्र साधन होता है। श्री 'क्लो' का कथन है—"जब बँटवारे का निश्चय हो जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि समानाधिकार के कारण सारी सम्पत्ति मे उसको समान रूप से भाग मिले, यहाँ तक कि घर-द्वार, खेत, बगीचे, तालाब और वृक्ष तक बाटे जाते हैं। कभी-कभी तो वृक्ष पर लगे हुए शहद के छत्तो तक का बँटवारा होता है और कई बार तो केवल वृक्ष की टहनियो और फलो पर ही नही बल्कि उसकी छाया का भी बँटवारा करने के उदाहरण पाये जाते हैं।"[3]

(३) कुटीर उद्योगो की अवनति—भारत की अधिकांश जन-सख्या खेती पर निर्भर है, इससे खेती से अधिक आय प्राप्त नही होती। साथ ही, देश में कुटीर-धन्धो की अवनति के कारण बढती हुई जन सख्या के लिए कृषि के अलावा उपजीविका का अन्य साधन न रहा। अतः खेती पर जन-सख्या का भार बढ रहा है, जिससे उपयोग में लाई जाने वाली भूमि का भी बँटवारा होता जा रहा है।

(४) उत्तराधिकार नियम—भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटे होने का

1. R. H. Tanney : Land & Labour in China, p. 39.
2. Report of the Co-operative Planning Committee, p. 45.
3. Jather & Beri : Indian Economics, Vol. I, p. 186.

मुख्य कारण देश में उत्तराधिकार के नियमों का होना भी है। कानून की दृष्टि से हिन्दुओं में सब पुत्र अपनी पैतृक सम्पत्ति में समान रूप से अधिकार रखते हैं। मुसलमानों में भी पिता के सब पुत्र-पुत्रियाँ सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, अतः पिता की मृत्यु के बाद सब सम्पत्ति और भूमि सारे उत्तराधिकारियों में बराबर-बराबर बँट जाती है। इससे खेतों का उप विभाजन ही नहीं, बल्कि उनका अपखण्डन भी होता है। ये नियम शताब्दियों से भारत में प्रचलित हैं, फिर भी उप विभाजन तथा अपखण्डन प्राचीन-काल में नहीं था, इसलिए आज उत्तराधिकार नियमों को भूमि विभाजन का मुख्य कारण नहीं माना जा सकता। इस समस्या ने केवल पिछली चार पाँच शताब्दियों से ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। खेतों के विभाजन की प्रवृत्ति को ग्रामीणों की गिरती हुई आर्थिक स्थिति ने प्रोत्साहन दिया है और उत्तराधिकार नियम इस प्रवृत्ति को बल देने में सहायक हुए हैं।*

(५) भारत में उद्योगों का धीमा विकास—कुटीर उद्योगों की अवनति होने के बाद कृषि जन संख्या को एक तो सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव हो गया। फलतः उनकी कृषि आय कम हो गई तथा बेकार समय के लिए कोई सहायक व्यवसाय नहीं रहा। साथ ही, भारत में आधुनिक संगठित उद्योगों का विकास भी अत्यन्त धीमी गति से हुआ; परिणामस्वरूप कुटीर उद्योगों पर निर्भर रहने वाली जन संख्या का कोई वैकल्पिक व्यवसाय न रहा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कृषि पर ही जन-संख्या का भार बढ़ता गया।

उप-विभाजन और अपखण्डन से हानियाँ—

भूमि के उप विभाजन और अपखण्डन से केवल कृषि व्यवस्था का सन्तुलन ही नहीं बिगड़ा, अपितु सम्पूर्ण कृषि-व्यवसाय अनार्थकर हो गया है। खेतों के छोटे छोटे होने से निम्नलिखित हानियाँ हुई हैं:—

(१) अधिक व्यय—छोटे छोटे खेतों के होने से उत्पादन व्यय बढ़ता है, और प्रति एकड़ उत्पादन व्यय में कमी नहीं आती। खेत के आकार छोटे होते हैं तो उत्पादन की प्रति मात्रा पर उत्पादन व्यय बढ़ता जाता है। खेतों के छोटे होने के साथ-साथ किसान के अन्य खर्च, जो उसे अपने परिवार के भरण-पोषण, एक जोड़ी बैल और कुछ औजार रखने में होते हैं, उनमें कमी नहीं आती। यही नहीं, खेतों में बाड़ लगाना तथा बीज और खाद आदि डालने में भी अधिक व्यय होता है।

(२) समय की हानि—किसान का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसके खेत छोटे-छोटे और एक चक में न होने से उसे बैल, हल और औजार इत्यादि इधर से उधर ले जाने पड़ते हैं। अनुमान है कि खेतों के ५०० मीटर दूर होने के कारण खेतों को जोतने और मजदूरों से काम लेने पर ५·३% व्यय बढ़ जाता है, खाद को ढोने में २०% से २५% तक और फसलों के ढोने में १५% से ३२% तक

* Wadia & Merchant : Our Economic Problem, p. 244.

अधिक व्यय होता है। इसलिए खेत जब एक दूसरे से १ मील की दूरी पर हो तो केवल जुताई पर ही ११% से २०% तक व्यय अधिक हो जाता है।*

(३) कृषि भूमि की हानि— खेतों के छोटे-छोटे होने के कारण बाड आदि बनाने में केवल खर्चा ही अधिक नही होता, बल्कि ४% तक भूमि का क्षेत्र नष्ट हो जाता है।

(४) स्थायी सुधारों की असम्भवता— कृषि मे स्थायी सुधार नही किये जा सकते, क्योंकि पहिले से ही खेतो का आकार इतना छोटा होता है कि कभी-कभी तो पुराने हल भी भूमि मे घुमाये नही जा सकते। ऐसी अवस्था में आधुनिक ढङ्ग के कृषि औजार, मशीनें, ट्रैक्टर, विनोवर आदि काम मे नही लाये जा सकते।

(५) पर्याप्त सिचाई का अभाव—कभी-कभी तो सिचाई के पर्याप्त साधन होने पर भी खेतो के दूर होने के कारण उनकी सिंचाई नही की जा सकती। यदि सिचाई के आधुनिक साधनो के उपयोग के लिए कृषक किसी प्रकार पर्याप्त धन सग्रह कर लें तो भी खेतो के छोटे आकार के कारण कुँओं या नल कूपो का उपयोग नही कर सकता।

(६) वैज्ञानिक खेती का उपयोग न होना—खेत छोटे होने के कारण वह अच्छे बीज, अच्छी खाद और वैज्ञानिक ढगों का पूर्ण उपयोग नही कर सकता, क्योंकि उत्पादन व्यय मे अनुपात से अधिक वृद्धि होने का भी डर रहता है।

(७) खेतो की सीमा नही डाली जा सकती—खेतों के छोटे-छोटे और फैले होने के कारण न तो उनके चारों ओर बाध ही बाधे जा सकते है और न सीमा ही बाँधी जा सकती है। परिणामतः जङ्गली पशु उनके खेतो का नुक्सान करते रहते हैं।

(८) मार्ग बनाने में अड़चन—बिखरे हुए खेतो में जाने के लिए मार्ग बनाने पडते हैं। इसलिए जुते हुए खेतो मे पगडण्डियाँ बनानी पड़ती है, जिससे कठिन परिश्रम का एक बहुत बड़ा भाग यो ही नष्ट हो जाता है।

(९) पारस्परिक कलह—किसानो मे पट्टेदारो और पडोस के खेत वालों से सदैव परस्पर कलह होते रहते हैं, जिससे मार-पीट तक की नौबत आ जाती है तथा मुकद्दमेबाजी मे बहुत सा धन एवं समय नष्ट होता है।

(१०) उचित देख-भाल का अभाव—छोटे-छोटे खेत होने के कारण कृषक खेतो की देख-भाल स्वयं नही कर सकता, इसलिए उसे जितनी सम्हालकर खेती करनी चाहिए उतनी वह नही कर पाता।

(११) गहरी खेती असम्भव—भारतीय कृषक न तो गहरी खेती ही कर

* B. P. Miśra : Op. cit.

पाता है और न विस्तृत खेती ही, क्योंकि दोनों प्रकार की खेती के लिए पर्याप्त पूंजी आवश्यक होती है। विदेशों में कृषक अपनी आय बढाने के लिए खेती के साथ-साथ साग भाजी पैदा करने, अण्डे, दूध, मक्खन और शहद के लिए मुर्गियां, पशु और मक्खियां भी पालता है, परन्तु भारतीय किसान अपने छोटे खेतों के कारण पशुओं के लिये चारा तक पैदा नहीं कर सकता, फिर सहायक उद्योगों की बात ही कैसे की जा सकती है ?

(१२) कम-आय—खेतों के छोटे-छोटे होने के कारण खेती एक अलाभकर व्यवसाय हो जाता है। जैसा कि उत्तर-प्रदेश के कुछ भागों की जांच से स्पष्ट है:—तीन एकड़ से कम की जोत पर प्रति वर्ष प्रति एकड ४०) रु० व्यय था और उससे प्राप्त आय केवल ४१ रु० १ आना। अर्थात् प्रति एकड़ शुद्ध आय केवल १ रु० १ आना ही थी।[1]

उप-विभाजन और अपखण्डन के लाभ—

छोटे-छोटे खेतों से केवल हानि ही नहीं होती, बल्कि इनसे कुछ लाभ भी हैं:—

(१) विभिन्न उर्वरा शक्ति का लाभ—जब खेत छोटे-छोटे और बिखरे हुए होते हैं तो किसान को भिन्न-भिन्न खेतों की उर्वरा शक्ति और जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं का पूरा पूरा लाभ मिलता है। कारण, जब गांव के एक भाग में एक खेत में वर्षा होती है तो गांव के दूसरे भाग के खेत में जुताई आदि करके बीज बोया जा सकता है। इस प्रकार किसान के परिश्रम और पशुओं के श्रम का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है।

(२) कृषि आय का सन्तुलन—डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार 'वर्षा की कमी का सभी खेतों पर एकसा असर नहीं पड़ता, क्योंकि जब एक खेत की फसल अनावृष्टि या अतिवृष्टि से नष्ट हो जाती है तो दूसरे खेतों की फसल इस आर्थिक हानि को दूर कर सकती है, जिससे कृषक की आय का सन्तुलन हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय किसान अपने छोटे छोटे खेतों पर हेर-फेर के साथ खेती करता है।[2]

(३) मांग और उत्पादन का सन्तुलन—खेतों के छोटे छोटे होने पर उत्पादकों और उपभोक्ताओं में परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है। इस कारण उत्पादकों को उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक ज्ञान रहता है, जिसके अनुसार कृषि उत्पादन होता है। इससे कृषक को मांग के लिये भटकना नहीं पड़ता और न उत्पादनाधिक्य का ही भय रहता है। इतना ही नहीं, अपितु तेजी और मन्दी के कारण व्यापार में जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं वे भी नहीं होने पाते। उत्पादकों को अधिक

1. R. K. Mukerjee: Economic Problems of Modern India, Vol. I, p. 111.

2. R K. Mukerjee : Problems of Modern India, Vol. I, p. 111.

लाभ न होने से कुछ व्यक्तियों के हाथ मे धन एकत्रित नही होता और न असमान वितरण की समस्या ही आती है ।

(४) उपलब्ध श्रम का पूर्ण उपयोग—छोटे छोटे खेतों के उत्पादन में किसान प्रायः अपने बच्चे और स्त्रियो के श्रम का पूरा उपयोग कर सकता है। दूसरे, उन्हें अपनी इच्छा और सुविधानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है ।

(५) श्रम एवं पूँजी में सहयोग—छोटे-छोटे खेतो के कारण किसान या जमीदारो का अपने मजदूरो से सीधा सम्बन्ध होता है, इसलिए कार्य करने मे सद्‌भावना रहती है। इसके अतिरिक्त उनमें परस्पर सहयोग रह कर संघर्ष नही होने पाता।

(६) अनावश्यक देख-भाल—छोटे-छोटे खेतो पर काम करने में श्रमिक को अपनी योग्यता एवं कुशलता के प्रदर्शन तथा उन्नति का यथेष्ठ अवसर मिलता है। इस प्रकार की उत्पत्ति में अधिक देख रेख नही करनी पड़ती, इसलिए इन पर होने वाले खर्चों में भी कमी आ जाती है ।

यद्यपि उप-विभाजन एवं अपखंडन से कुछ लाभ होते हैं, फिर भी उससे होने वाली हानियों की तुलना में यह आवश्यक है कि कृषि के इस महत्वपूर्ण दोष का निवारण किया जाय ।

आर्थिक जोत
(Economic Holding)

भारत मे अधिकांश जोत अलाभकर एवं अनार्थिक है। अतः कृषि मे उत्पादन बढ़ाने एवं किसान का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए भारतीय जोत का क्षेत्रफल आर्थिक स्तर तक बढ़ाना आवश्यक है। कृषक और उसके परिवार का श्रम, उसके हल एक बैल की जोड़ी और औजार एक प्रकार से श्रम और पूंजी की अविभाज्य इकाई है। इसलिए एक कृषक के पास इतनी भूमि होनी चाहिए जिससे वह अपने श्रम और पूँजी का उचित प्रयोग कर सके तथा कृषि की लागत को पूरा करने के बाद उसे अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो। यदि भूमि कम हुई तो श्रम और पूँजी का उचित उपयोग न हो सकेगा, जिससे उपज की लागत बढ़ जायेगी।

भूमि की आर्थिक जोत के सम्बन्ध में अर्थ-शास्त्रियो के भिन्न भिन्न मत हैं। श्री कीटिंग्ज[1] के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह है जो किसी व्यक्ति को आवश्यक लागत को निकाल कर अपना और अपने परिवार का उचित आराम के साथ निर्वाह कर सके इसका अवसर दे।" उनके अनुसार ४० से ५० एकड़ की जोत आर्थिक होगी। डा० मैन के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह होती है, जो एक औसत कुटुम्ब के लिए सन्तोषजनक न्यूनतम स्तर प्रदान कर सके।" इनके अनुसार दक्षिणी भारत के गाँवो के लिए २० एकड पर्याप्त होगे।[2] स्टेनले जैवन्स के अनुसार—

1. Keatings : Rural Economy in Bombay Deccan, p. 52-53.
2. H. Mann : Op. Cit., p. 43.

"आर्थिक इकाई वही है जो एक कृषक को न्यूनतम-स्तर प्रदान करके एक ऊँचे जीवन-स्तर को सम्भव बना सके।" इनके अनुसार उत्तर-प्रदेश के लिए ३० एकड़ भूमि आर्थिक जोत होगी।[१]

उत्तर-प्रदेश कांग्रेस कृषि समिति के अनुसार—"न्यून कीमतों के समय जोत की इकाई १५ से १० एकड़ तक होनी चाहिए, किन्तु यदि कृषि वस्तुओं का मूल्य काफी ऊँचा, लगान कम तथा सिंचाई और कृषि के साधन उपलब्ध हों तो जोत का क्षेत्रफल कुछ कम भी किया जा सकता है।"[२]

श्री डार्लिंग के अनुसार—"पंजाब में एक किसान को न्यूनतम स्तर प्रदान करने के लिये कम से कम ८ से १० एकड़ भूमि चाहिए, यदि उसके पास आय के अन्य साधन न हों। अनुमान है कि पंजाब में जो कृषक बँटाई प्रथा के अनुसार खेती करता है ऐसे औसत दर्जे के एक परिवार के लिए कम से कम १० से १२ एकड़ भूमि आवश्यक होती है।"[३]

फ्लाउड कमीशन के अनुसार "बङ्गाल में औसत जीवन-स्तर के ग्रामीण कुटुम्ब के लिए ५ एकड़ भूमि आवश्यक है। किन्तु जिन भागों में भूमि पर दो फसलें पैदा की जाती हैं वहाँ २½ एकड़ भूमि आर्थिक जोत हो सकती है तथा जिन भागों में भूमि की कम उर्वरा शक्ति के कारण केवल एक फसल पैदा होती है वहाँ कम से कम १० एकड़ भूमि होनी चाहिए।"[४]

मध्य-प्रदेश के लिये कुमारप्पा उद्योग जाँच समिति ने २० एकड़ वाले खेत को लाभकर जोत माना है, क्योंकि इस आकार वाले क्षेत्र से किसान का साधारण जीवन-निर्वाह हो सकता है और उसको पूरा रोजगार मिलकर उसकी एक जोड़ी बैल का भी पूरा उपयोग हो सकता है।[५]

सर टी० विजयराघवाचारी के अनुसार "मद्रास में भूमि की आर्थिक जोत कम से कम ४ से ६ एकड़ होनी चाहिए।"[६]

राजस्थान के पश्चिमी भागों के लिये जहाँ भूमि रेतीली, कम उपजाऊ और कम वर्षा वाली है, एक किसान को कम से कम १५ से २० एकड़ भूमि आवश्यक होगी, किन्तु पूर्वी भागों में यह जोत १२ एकड़ तक भी हो सकती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जो जोत देश के एक भाग में आर्थिक हो सकती है वही अन्य स्थानों में अनार्थिक भी हो सकती है। इसलिये आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित करने में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

1. C. B. Mamoria: Agricultural Problems of India, p. 123
2. Quoted in Agricultural Problems of India, p. 123.
3. Darling: Punjab Peasants in Prosperity & Debt.
4. Floud Commission Report.
5. Congress Agrarian Reforms Committee Report, p. 36-37.
6. Kumarappa C. P. Industrial Enquiry Committee Report.

का परीक्षण हो रहा है तथा इस हेतु वैधानिक एवं प्रशासकीय औपचारिक कार्य पूर्णता की ओर है। सन् १९५८-५९ में इस हेतु १०·१६ लाख रु० का आयोजन था, जिसमें से केवल ३·८० लाख रु० व्यय हुआ।

महाकौशल क्षेत्र की चकबन्दी योजनाओं के लिए पंच-वर्षीय योजना का कुल आयोजन ३१·५० लाख रु० था, जिसमें से प्रथम तीन वर्ष में केवल ७·७८ लाख रु० व्यय हुआ। इसी प्रकार सन् १९५८-५९ में ८·२० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी प्रस्तावित थी, परन्तु केवल २·१४ लाख एकड़ भूमि की ही चकबन्दी हुई है तथा ०·५६ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही हो चुकी है।*

उपसंहार—

उक्त तथ्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक किसान उत्पादन के लिए अपनी भूमि का उपयोग स्वेच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र हो। इसलिये जब तक वह भूमि के एक टुकड़े को जोतता रहे तब तक भूमि पर उसका अधिकार स्वामित्व के समान ही स्थायी रूप से बना रहे। उसका यह अधिकार चाहे कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार भू-स्वामित्व अधिकार खरीदने की स्वतन्त्रता हो। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित किया जाय तथा कृषि भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित की जाय। आर्थिक जोत का क्षेत्र न्यूनतम १० एकड़ हो और किसी भी दशा में आर्थिक जोत से कम भूमि का उप-विभाजन न हो। इस सम्बन्ध में यद्यपि विभिन्न राज्यों में अधिनियम लागू हो गये हैं, फिर भी उनमें कड़ाई से पालन होने की आवश्यकता है। आर्थिक जोत रखने वाले कृषक अपने उत्तराधिकारियों की वयस्कता तक उनके भरण पोषण के लिए जिम्मेवार हों। इस हेतु उत्तराधिकार नियमों में आवश्यक संशोधन किये जायें। गाँव की बेकार भूमि को कृषि योग्य बना कर उसका वितरण अनार्थिक जोत वाले कृषकों एवं भूमि हीन कृषकों को किया जाय। वर्तमान समय में भारत में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल ०·३६ एकड़ है, जो इस सम्बन्ध में शोचनीय अवस्था की सूचक है, अतः भूमि विहीन एवं अनार्थिक जोत वाले कृषकों के आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाय।

कृषि की मूल समस्या अनार्थिक जोत की है और पूर्ण चकबन्दी के अभाव में स्थाई एवं वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः चकबन्दी को प्राथमिकता देनी होगी है। ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि उद्योग के इस सर्वव्यापी दोष को दूर करना होगा। अर्थात् उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन करना होगा, जिससे "प्रत्येक उत्तराधिकारी को सभी खेतों में बराबर-बराबर भाग मिलता

* Progress Report of 2nd Plan for 1958-59, page 68 of Madhya Pradesh Government.

सफल प्रयास किये गये हैं। फ्रान्स, डेनमार्क, स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी और जापान देशो के अनुभव से स्पष्ट हो गया है कि कृषक स्वेच्छा से अपने खेतो की चकबन्दी करने के लिये तैयार नही होते। इसलिए प्रायः सभी देशो में कानून के द्वारा चकबन्दी और भविष्य मे उपविभाजन तथा अपखण्डन को रोकने के लिये कानूनी प्रयास किये गये हैं। कीटिंग्ज के अनुसार ये प्रयास निम्न थे :—*

(१) वर्तमान कृषको की भूमि अनिवार्यतः अपने अधिकार मे ले लेना।
(२) कुछ भू स्वामियो के तैयार होने पर अन्य भू स्वामियो के लिये खेतो की चकबन्दी अनिवार्य करना।
(३) चकबन्दी किये हुये खेतो के भविष्य मे अपखण्डन के विरुद्ध आयोजन करना।
(४) चकबन्दी किये हुये खेतो को रहन से बचाना।
(५) चकबन्दी किये हुये खेतो को दूसरे खेतो से न मिलने देना।

आर्थिक जोतों का संरक्षण—

भविष्य मे जोत का उप-विभाजन एवं अपखण्डन रोकने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान जोतो को छोटे छोटे होने से रोका जाय और बिखरे हुए खेतो की चकबन्दी कर दी जाय। इस दशा में सबसे पहिले उत्तराधिकार नियमो में परिवर्तन होगा, जिससे परिवार का सबसे बड़ा पुत्र ही समस्त सम्पत्ति का अधिकारी हो सके। यदि इस प्रकार की व्यवस्था हो गई तो कृषि पर जन संख्या का भार भी कम हो जायगा और अन्य उद्योग-धन्धो के विकास के साथ कुछ व्यक्ति उनमें लग जावेंगे।

भूमि बँटते-बँटते एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाय तो उसका विभाजन रोक दिया जाय और जब एक किसान को आर्थिक जोत के अधिकार प्राप्त हो जायें तो उनका विभाजन होना कानून द्वारा प्रबंध कर दिया जाय।

जोतो का विभाजन एवं अपखण्डन रोकने के लिए प्रथम पच-वर्षीय योजना के पहिले ही बम्बई, दिल्ली, पंजाब और पेप्सू मे आवश्यक अधिनियम लागू किये गये हैं। प्रथम योजना काल में एक निश्चित न्यूनतम् सीमा से कृषि भूमि कम न होने देने से रोकने के लिए बिहार, हैदराबाद, उड़ीसा, राजस्थान एवं सौराष्ट्र मे भूमि के विभाजन एवं हस्तान्तरण का नियमन करने के लिए अधिनियम बनाए गये हैं। मध्य-प्रदेश में मध्य-भारत और भोपाल क्षेत्र की कृषि भूमि की न्यूनतम सीमा १५ एकड़ नियत की गई है। इसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश की कृषि भूमि के लिए सिंचित भूमि का ५ एकड़ और सिंचित भूमि का १० एकड़ न्यूनतम सीमा है। आन्ध्र राज्य के हैदराबाद क्षेत्र की कृषि भूमि के लिए २ से २४ एकड़, उत्तर-प्रदेश मे ६¼ एकड़ तथा दिल्ली के लिए ८ प्रमाप एकड़ न्यूनतम सीमा है। भूमि के उप-विभाजन या हस्तान्तरण से यदि भूमि का क्षेत्र इस सीमा से कम होता हो तो उस पर कानूनी रोक रहेगी। उप-विभाजन एव

* Keatings : Op. cit.

अपखण्डन रोकने के लिए कानून का कड़ाई से पालन होना आवश्यक है, तभी वांछित परिणाम होंगे।

(१) स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी—इस समस्या को हल करने के लिए सबसे अच्छा उपाय किसानों द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपने भूमि की चकबन्दी और सरकार द्वारा अनिवार्य चकबन्दी है। स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी की दो कठिनाइयाँ हैं :—

(अ) स्वेच्छापूर्वक काम करने में काफी देर लगती है और चकबन्दी का कार्य शीघ्रता से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जमींदार या महाजन भी चकबन्दी के कार्य में रुकावट डालते हैं।

(ब) किसानों को यह समझाना बहुत कठिन है कि चकबन्दी से उनको लाभ होगा। किसान चाहेगा कि उसके बदले में मिलने वाली भूमि की किस्म पहले वाली किस्म से भिन्न न हो। वह नहीं चाहता कि नई भूमि कम उपजाऊ अथवा सिंचाई के साधनों से रहित हो। हर एक किसान अपनी पैतृक भूमि को बदलने के लिये तैयार नहीं होता, क्योंकि वह इसे पूर्वजों की धरोहर समझता है। कभी-कभी उसे यह भी डर रहता है कि चकबन्दी के कारण भूमि पर उसका अधिकार नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त गाँव का पटवारी चकबन्दी के मार्ग में रोड़ा अटकाता है। इस कारण स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी के प्रयोग सफल नहीं होते।

"व्यक्तिगत प्रयत्नों से चकबन्दी करने की पद्धति जर्मनी, फ्रांस, डेन्मार्क तथा जापान आदि देशों में असफल रही है। *ऐसी स्थिति में भारत जैसे देश के लिए—जहाँ किसानों में घोर अज्ञान है—यह आशा करना कि वे उदारता एवं बुद्धिमानी से* व्यक्तिगत रूप से अपनी जड़ता छोड़कर चकबन्दी के हेतु तैयार होंगे, यह केवल हठ है"—कौटिंज। संक्षेप में इस मार्ग में निम्न बाधाएँ हैं :—

(१) कृषक की अशिक्षा एवं अज्ञान,
(२) पैतृक भूमि के प्रति प्रेम,
(३) सिंचाई के साधनों की तुलनात्मक अनुकूलता,
(४) भूमि सम्बन्धी अधिकारों की विभिन्नता एवं उनके छिन जाने की आशंका।

(२) कानून द्वारा चकबन्दी—कुछ राज्यों ने कानून द्वारा चकबन्दी अनिवार्य की है। सबसे पहिले मध्य-प्रदेश ने सन् १९२८ में चकबन्दी अधिनियम स्वीकृत किया। इस कानून के अनुसार कोई भी दो या इससे अधिक भूस्वामी कृषक, जिनके पास गाँव की $\frac{1}{3}$ से कम भूमि न हो, चकबन्दी के लिए आवेदन दे सकते हैं। आवेदन की स्वीकृति पर भूमि की चकबन्दी योजना गाँव के शेष लोगों पर भी अनिवार्य रूप से लागू होती है। इस अधिनियम के अनुसार २५ लाख एकड़ कृषि भूमि की चकबन्दी मार्च सन् १९५५ तक हो चुकी है। उत्तर-प्रदेश में चकबन्दी कानून सन् १९३९ में,

बम्बई में सन् १९४७ में, पंजाब में सन् १९३६ एवं १९४८ में, दिल्ली में सन् १९३६ और १९४८ में तथा जम्मू एवं कश्मीर राज्य में भी स्वीकृत किए गए हैं, जिनके अनुसार चकबन्दी कार्य हो रहा है।

प्रथम एवं द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं में भूमि की चकबन्दी के महत्त्व की ओर संकेत किया गया है। योजना आयोग की यह सिफारिश है कि सामुदायिक विकास के अन्तर्गत कृषि कार्यक्रम में भूमि की चकबन्दी का प्राथमिक कार्य होना चाहिये। इस दृष्टि से सामुदायिक विकास अधिकारियों ने इस सम्बन्ध की उपलब्ध पद्धतियों का अध्ययन पूर्ण किया है, जिससे इस समस्या के हल के लिये उपलब्ध अच्छे अनुभव की प्राप्ति हो सके।

प्रथम योजना की अवधि में बम्बई में २१ लाख एकड, मध्यप्रदेश में २० लाख एकड, पंजाब और पेप्सू में क्रमशः ४८ और १३ लाख एकड तथा उत्तर-प्रदेश में ४४ लाख एकड भूमि की चकबन्दी की गई है। द्वितीय योजना काल में विभिन्न राज्यों में ४५० लाख एकड भूमि की चकबन्दी का कार्य-क्रम था। निम्न तालिका से इस सम्बन्ध में प्रगति की कल्पना होगी :—

कृषि जोतों की चकबन्दी[1]

राज्य	१९५६–६१ के लिये आयोजन लाख रुपये	१९५६–६१ का लक्ष्य लाख रुपये	३१-१२-५७ को पूर्ण एकड	३१-१२ ५७ को चालू काम एकड
आंध्र	२०·५३	५·००	—	१,९२,३४१
असम	१४·२५	१३·८२	—	—
बिहार	१८·९७	१८·००	—	२,५५,८८५
बम्बई	७९·३९	७२·८१	१३,६५,२७५	११,७६,५४२
मध्य-प्रदेश	५४·२५	१६·२५	२१,९५४,३५	२,१९ ६४२
मद्रास	११·५०	N.F.	—	—
मैसूर	१४·५१	१५·०४	३,८८,३३४	४,५१,११०
उडीसा	५·००	N.F.	७३	—
पंजाब	१७=·००	१५७·७२	८५,८०,८१४	५६,१७,४३८
राजस्थान	३२·५	१०·००	२१,०००	३,६२,११९
उत्तर-प्रदेश	D	५०·००	१३,९८,५९२	१०,३५,१२९
बंगाल	१४·२५	N.A.	—	—
दिल्ली	२·८५	०·५९	२,०१,८३४	—
हिमालय प्रदेश	९·५०	११८	२१,७६२	२६,१०४
मनीपुर	०·२९	E	—	—
पाडचेरी	०.२०	—	—	—
योग	४४९·९९	३६०·४१	१,४८,७३,१७९	१,२०,३९,३१०

1. India 1959.

D. Consolidation scheme was outside the plan, nor it is being included in annual plans.

N. F. Not fixed.

N. A. Not available.

E. Proposed to be taken up after survey is finished.

(३) सहकारी प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी—चकबन्दी का काम सन् १९२० में सहकारी विभाग के अन्तर्गत पंजाब में शुरू हुआ। इस काम की प्रगति बहुत ही धीरे-धीरे थी। सन् १९४८ तक ७ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी तब हो सकी, जबकि सन् १९४८ का अन्तिम पंजाब अराजी (चकबन्दी राव टूकरान रोक) अधिनियम पास किया गया। सहकारी विभाग के प्रचार से किसानों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और सन् १९४७-४८ के अन्त तक राज्य में ६,५७३ चकबन्दी समितियाँ थी, जिनकी सदस्यता २ लाख से अधिक थी। इन समितियों द्वारा की गई चकबन्दी के कारण खेतों की संख्या १८·२४ लाख से घट कर २·८६ लाख रह गई। सन् १९५१ में गाँवों में चकबन्दी की माँग बहुत बढ़ गई, अतः सरकार ने चकबन्दी योजना में परिवर्तन का निर्णय किया। नई योजना अप्रैल सन् १९५१ से लागू हुई, जिसके अनुसार प्रत्येक जिले में चकबन्दी के लिए एक तहसील चुनी गई। नई योजना के अन्तर्गत अगस्त सन् १९५७ तक कुल ४७ तहसीलों में से ४० तहसीलों में चकबन्दी करने का निश्चय किया गया है और बाकी ७ तहसीलों में सन् १९५९ तक चकबन्दी करने की योजना है। पुरानी योजना के अनुसार आज ४४ तहसीलों में चकबन्दी होनी थी और बाकी ३ में सन् १९६१ तक चकबन्दी समाप्त करने का इरादा था। तात्पर्य यह है कि चकबन्दी कार्य का अधिकतर भाग पुरानी योजना की तुलना में अब ४ वर्ष पहिले पूर्ण हो जायगा और बाकी तहसीलों में भी पहिले से दो साल पूर्व चकबन्दी समाप्त हो जायगी।

चकबन्दी करने में कठिनाइयाँ थी, जो कुछ हद तक मानसिक और कुछ हद तक टेक्नीकल थी। औसत भारतीय कृषक की मानसिक प्रवृत्ति के कारण उसमें अपनी भूमि से अलग होने के विचार से घृणा हो गई है। चकबन्दी के लाभ किसानों के सामने व्यवहारिक रूप में रखकर इस प्रवृत्ति में परिवर्तन किया जा रहा है। दूसरी बात, जिस पर इस कार्य की सफलता आधारित है, वह यह है कि कर्मचारी विचारपूर्ण, स्पष्ट और अपने काम में दिलचस्पी रखने वाले, शिक्षित, योग्य और इससे भी अधिक ईमानदार होने चाहिये। अधिकतर कठिनाइयाँ उस समय होती है, जब भूमि का अधिकार दिया जाता है या घटिया भूमि प्राप्त करने वाले को उसकी घटिया भूमि के बदले मुआवजा देने का प्रश्न आता है। कभी-कभी यह दोष भी लगाया जाता है कि कुछ गुटों और व्यक्तियों की तरफदारी की गई है। यह कहा जा सकता है कि न तो स्वेच्छापूर्वक सहयोग से ही और न कानून द्वारा ही चकबन्दी की समस्या सुलझाई जा सकी है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि ग्रामीण लोगों में शिक्षा का अभाव है, अतः जब तक उनमें शिक्षा का प्रचलन नहीं होगा तब तक समस्या ठीक प्रकार से हल नहीं हो सकेगी।

(४) संयुक्त ग्राम व्यवस्था—उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया जाता है कि गाँवों में संयुक्त ग्राम व्यवस्था लागू की जाय। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक भूमि-स्वामी के भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार को माना जाता है, परन्तु प्रबन्ध के लिए भू-स्वामी अपनी-अपनी भूमि

को देते हैं और इस सम्मिलित भूमि पर गाँव वाले आपस में मिल कर खेती करते हैं। भूमि से प्राप्त होने वाली आय को दो भागों में विभाजित किया जाता है :—एक तो, वह आय जो काम करने के कारण होती है और दूसरी, जो भूमि स्वामित्व के कारण होती है। विभाजन नकद या जिन्स में किया जाता है, लेकिन प्रतियोगिता के आधार पर भी यह विभाजन हो सकता है, किन्तु साधारणतः यह व्यवस्था रिवाजी होती है। खेत की सम्पूर्ण आय काम करने वालों में बँट जाती है तथा शेष आय में लगान आदि चुका दिये जाते हैं और जो कुछ बचता है, वह भू-स्वामियों में बाँट दिया जाता है। वास्तव में संयुक्त ग्राम व्यवस्था का सुझाव बहुत अच्छा है, किन्तु उसके अपनाने के पूर्व सरकार और कृषक के बीच में सम्पर्क स्थापित करने वाले समस्त मध्यस्थों का अन्त होना जरूरी है।

(५) सामूहिक कृषि—कुछ व्यक्तियों का कहना है कि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सारी भूमि को बड़े-बड़े टुकड़ों में विभाजित करके आधुनिक पद्धति से उन पर खेती की जाय। इसमें काम करने वाले व्यक्तियों को उनकी आवश्यकता के अनुसार आय का भाग देना चाहिए। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था क्रान्तिकारी होगी, क्योंकि इसमें खेती करने वाला व्यक्ति भूमि का स्वामी नहीं, अपितु एक मजदूर होगा। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रजातन्त्रात्मक भावना नहीं है और व्यक्तिगत विकास की सम्भावना भी कम है। साथ ही, इसमें बहुत से खेतिहर मजदूर बेकार हो जावेंगे, क्योंकि वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा कृषि की जायगी। इसमें सबसे बड़ी असुविधा यह भी होगी कि प्रत्येक किसान, जिसके पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हैं, वे सामूहिक खेती के लिए शीघ्र तैयार न होंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनके अधिकार वाली भूमि का पृथक अस्तित्व ही मिट जाता है। वे सोचते हैं कि ऐसा करने पर भविष्य के बन्दोबस्त में उनकी भूमि उनके स्वामित्व में न रहकर समिति की हो जायगी। अतः भविष्य में कुछ समय तक सामूहिक खेती भारतीय कृषि क्षेत्र में अपनाना सम्भव नहीं है।

(६) सहकारी कृषि—जोत के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिए यह भी सुझाव है कि किसान सहकारी प्रणाली द्वारा कृषि करें। इस प्रकार की खेती में सभी मालिक किसान अपने छोटे-छोटे खेतों को एक बड़ी इकाई में मिला देते हैं और वे अपनी भूमि, पूँजी तथा पशुओं को एकत्रित करके इन बड़ी इकाइयों पर सहकारी प्रणाली द्वारा खेती करते हैं। प्रत्येक किसान का इस इकाई में व्यक्तिगत अधिकार रहता है और इसके लिए उन्हें लाभ का एक अंश मिल जाता है। इसके अतिरिक्त खेतों में काम करने वाले व्यक्तियों को काम के लिए मजदूरी के रूप में शेष लाभ का अंश बाँट दिया जाता है। इस प्रकार की खेती करने से किसानों को कई लाभ होते हैं, जैसे:—बड़े पैमाने पर रुपया उधार लेने की, कच्चे माल

खरीदने तथा उपज को बेचने की सुविधा आदि। इस प्रकार की खेती के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है, किन्तु भारतीय कृषक इतने दरिद्र हैं कि वे किसी बाहरी सहायता बिना अपना काम नहीं चला सकते।

सहकारी खेती को अपनाने में कई कठिनाइयाँ भी हैं :—

(१) किसान को भूमि से बहुत प्रेम होता है, अतः वह इन्हें किसी भी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में और विशेषकर जब गाँव में अन्ध-विश्वास हो और शिक्षा का अभाव हो, सहकारी खेती सफलतापूर्वक नहीं चलाई जा सकती।

(२) यदि किसी प्रकार छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़ी इकाइयाँ बना भी ली जायें तो उन्हें सुचारु रूप से रखने के लिए योग्यता और व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होगी, जिसका मिलना भारतीय ग्रामीणों में असम्भव है।

इन उपरोक्त कठिनाइयों को परिश्रम से दूर किया जा सकता है। गाँव के कुशल व्यक्तियों को खेती की देखभाल करने के लिये शिक्षा दी जा सकती है। सरकार देश के विभिन्न भागों में बेकार पड़ी हुई भूमि को आधुनिक साधनों द्वारा खेती के योग्य बनाकर ग्रामीणों को सहकारी खेती के लिए दे सकती है। सरकार किसानों में सहकारी खेती के प्रति रुचि पैदा करने के लिए अपने खेतों में प्रदर्शन आदि के द्वारा इस प्रणाली के लाभों को किसानों को प्रत्यक्ष रूप से समझा सकती है। प्रारम्भ में एक गाँव से यह प्रयोग प्रारम्भ किया जा सकता है और किसानों के तैयार हो हो जाने पर प्रदर्शन द्वारा यन्त्रों, वैज्ञानिक खादों, अच्छे बीजों को सस्ती बिक्री द्वारा सहकारी खेतों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इस प्रणाली के द्वारा किसानों की जोतें अलाभकारी न रह कर आर्थिक इकाइयों में बदल जायेंगी।

भविष्य में भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने और कृषकों के आर्थिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम खेतों के संगठन पर विचार करें। परन्तु इस बात पर निश्चय करने से पहिले हमें देश की निम्न परिस्थितियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) हम एक प्रजातन्त्रात्मक विधान में विश्वास करते हैं, इसलिए हमारा विश्वास विकास में है, क्रान्ति में नहीं।

(२) प्रत्येक प्रकार की भूमि में सुधार करते समय हमें यथाशक्ति अधिक से अधिक व्यक्तियों को काम देना है। क्योंकि भूमि सीमित है और काम करने वाले लोगों की संख्या अधिक।

(३) भारतीय किसान परम्परा से भूमि के व्यक्तिगत उपयोग के अधिकार को अपने प्राणों से भी अधिक समझता है।

(४) कांग्रेस कृषि सुधार समिति के अनुसार हर भूमि सुधार में तीन बातों

का समावेश होना आवश्यक है—(अ) प्रति एकड़ उत्पादन वृद्धि, (ब) कृषक का व्यक्तिगत विकास, (स) किसान के वर्तमान सामाजिक स्तर मे उन्नति ।

(५) सहकारी कृषि की सफलता के लिए श्री आर० के० पाटिल के द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन के अनुसार दो प्रमुख बातें आवश्यक हैं—

(अ) सहकारी कृषि को अपनाने में कृषक को पूर्ण स्वतन्त्रता हो, अर्थात् उस पर उसको सहकारी कृषि के हेतु वैधानिक अनिवार्यता न हो ।

(आ) सहकारी कृषि की सदस्यता छोड़ने के लिये कृषक स्वतन्त्र हो, परन्तु इस स्वतन्त्रता का उपयोग वह केवल फसल की कटाई के बाद ही कर सके, ऐसा बन्धन हो ।[1]

फिर भी दूसरी पंच-वर्षीय योजना में कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए सहकारी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में ही लगभग सभी राज्यों में सहकारी कृषि समितियों के संगठन के लिए नियम एवं उपनियम बनाये गये । दूसरी योजना की अवधि मे राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर सन् १९५७ मे निर्णय किया कि दूसरी योजना की अवधि मे प्रयोगात्मक तौर पर ३,००० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना की जाय । इस निर्णय के अनुसार दिसम्बर सन् १९५८ तक २,०२० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना हुई है ,जो निम्न हैं :—

सहकारी कृषि समितियाँ[2]

राज्य	समितियों की संख्या
आन्ध्र	३१
आसाम	१७०
बिहार	२७
बम्बई	४०२
दिल्ली	२२
जम्मू-काश्मीर	७
केरल	५५
मध्य प्रदेश	१४०
मद्रास	३७
मनीपुर	३
मैसूर	१००
उडीसा	२८

1. Report on Cooperative farming in China by R K. Patil. (June 1957)

2. India-1959.

पंजाब	४७८
राजस्थान	१०५
त्रिपुरा	१२
उत्तर-प्रदेश	२५५
प० बंगाल	१४८
योग	२,०२०

द्वितीय योजनाकारों के अनुसार "द्वितीय पंच वर्षीय योजना की अवधि का मुख्य कार्य आवश्यक उपकरणों द्वारा सहकारी कृषि के विकास के लिए सुदृढ़ नींव बनाना है, जिससे लगभग १० वर्षों में देश के अधिकांश क्षेत्रों में सहकारी सिद्धान्तों पर कृषि होने लगे।"

अब चूँकि कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में सहकारी कृषि का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है इसलिये सहकारी कृषि भारतीय कृषि-जीवन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग हो गई है। इसको सफलता से कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त "कार्यकारी दल" ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है, जो सारांश में निम्न है :—

सहकारी कृषि समिति "यह कृषकों का स्वेच्छा संगठन है, जिसका उद्देश्य भूमि, श्रम और कृषि साधनों का उपज बढ़ाने एवं लोगों को काम देने के लिए अच्छी तरह उपयोग करना है और जिसके अधिकांश सदस्य स्वयं कृषि-कार्य करें।"* स्वेच्छापूर्ण सहकारी कृषि को प्रोत्साहन देने के लिये दल का सुझाव है कि जिन प्रदेशों में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार अल्पमत यदि चाहे तो सहकारी कृषि संगठन में सम्मिलित होने को बाध्य किया जा सकता है। ऐसे कानूनों को रद्द कर देना चाहिये।

चुने हुये सामुदायिक विकास क्षेत्रों में जहाँ सहकारिता का काम अच्छा है, अगले चार वर्ष में प्रत्येक चार जिलों में एक के दर से ३२० मॉडेल सहकारी कृषि योजनायें प्रारम्भ की जायें। चालू वर्ष में ४० योजनायें प्रारम्भ की जायें, प्रत्येक योजना में १० सहकारी समितियाँ बनाई जायें। इस प्रकार सन् १९६३-६४ के अन्त तक ३,२०० समितियाँ काम करने लगेंगी। इनकी सफलता से यह आशा है कि अन्य क्षेत्रों में भी २०,००० सहकारी कृषि-समितियाँ और बन सकेंगी।

निम्न महत्वपूर्ण कदम शीघ्र ही उठाने चाहिये :—

(१) सहकारी कृषि समिति के सदस्य ही इस काम में अगुआ हों,
(२) समिति के सदस्यों के हितों या स्वार्थों में संघर्ष न हो।
(३) सदस्यों की संख्या या समिति का आकार इतना ही होना चाहिये कि लोग एक दूसरे को जानते हों।
(४) प्रत्येक सदस्य को प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार हो।

* Report of the Working Team on Cooperative Farming : सम्पदा १९६० अप्रैल से।

स्वामित्व एवं सदस्यता—

सहकारी कृषि मे जो भूमि शामिल हो वह साधारणत: ५ वर्ष के लिए हो। भूमि पर सदस्यो का अक्षुण्ण अधिकार रहे और पृथक होने वाले सदस्य को यदि वह भूमि न दी जा सके तो उतनी ही पैदावार की जमीन उसे वापिस दी जाय।

समिति मे ऐसे सदस्यो को सम्मिलित नही करना चाहिए जो स्वय कृषि न करें। इनकी भूमि का सहकारी कृषि मे समावेश करने के स्थान पर उसे पट्टे पर लिया जाय। सदस्यो को अपने एवज में काम करने के लिए दूसरे व्यक्ति को देने की अनुमति न दी जाय। सहकारी कृषि समितियो को ऐसे कुटीर एवं ग्रामीण धधे भी प्रारम्भ करना चाहिए जिनमे सदस्यो को काम मिल कर उनकी पूरी श्रम शक्ति का उपयोग हो।

सफलता—

सहकारी कृषि की सफलता इस बात से मापी जानी चाहिए कि उसके सदस्यों की सम्मिलित या कुल आय कितनी हुई, न कि दैनिक मजदूरी से। योग्य और परिश्रमी कार्यकर्त्ताओ को अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। सहकारी कृषि के लाभ से कृषि मे विकास, सुरक्षित कोष, भोजन कोष आदि के लिए यथोचित धन रखकर बाकी रकम सदस्यो मे उनके काम के अनुसार बोनस के रूप में बांटना चाहिए। बोनस भूमि के हिसाब से भी दिया जा सकता है। ऐसी मशीनो को काम में लिया जाय जिनसे बेकारी न बढे, जैसे सिंचाई के लिये पम्प आदि।

सहकारी कृषि की सफलता के लिए कृषको, सहकारी मत्रियो, शिक्षकों, विशेष अधिकारियो, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ एव सम्बन्धित कर्मचारियो को नई ट्रेनिंग देने तथा अनुसधान करने के लिए सहकारी कृषि की राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय।

आर्थिक सहायता—

बैंको आदि द्वारा सहकारी कृषि का महत्त्व न समझने, सहकारी कृषि समिति द्वारा जमीन आदि की जमानत देने मे असमर्थता के कारण इन समितियो को काफी कठिनाई हुई है। इसलिए सरकार को चाहिये कि प्रत्येक समिति को उपज के कार्यक्रमो के अनुसार अधिकतम ४,००० रु० तक का ऋण देना चाहिए। जो ऋण अल्प काल में ही चुकाया जाने वाला हो उसे सरकार की गारण्टी बिना ही केन्द्रीय सहकारी बैंको से सीधे मिलना चाहिए।

भूमिपतियो की सामर्थ्य बढाने के लिए प्रत्येक सोसाइटी से अधिकतम २,००० रु० के शेअर ले। ये शेअर समिति की शक्ति बढाने के लिये है उन पर नियन्त्रण करने के लिए नही।

सहकारी खेती के कार्यक्रम पर लगभग ३५·२६ करोड रु० व्यय होगा, जिसमें से २८·६५ करोड कृषि समितियो की सहायता के लिये, ४·२४ करोड ट्रेनिंग और शिक्षा के लिए तथा २·३७ करोड़ रु० कारीगरो पर व्यय किया जाय।

(६) भूमि का ग्रामीणीकरण—श्री विनोबा जी के प्रवर्तन में चलाया गया भू-दान आन्दोलन का स्वरूप क्रमशः ग्राम-दान या भूमि के ग्रामीणीकरण में दिनांक २३ मई सन् १९५२ को किया गया है, जिस दिन मंगरौठ (उत्तर-प्रदेश) का पहिला गाँव ग्राम-दान में मिला। इस आन्दोलन के कारण ३१ अगस्त सन् १९५८ तक ४,४४० ग्राम ग्राम-दान में मिले हैं। इस सम्बन्ध में मैसूर (एलवाल) में सब पक्षों व राजकीय नेताओं की परिषद् में ग्रामदान को भारत की भूमि समस्या का सही हल प्रस्तुत करने वाला प्राथमिक स्थान माना गया। फलस्वरूप नये राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड और सामुदायिक विकास योजनायें ग्राम दान क्षेत्रों में ही प्रारम्भ होंगी। क्योंकि इन गाँवों में विकास कार्य की सफलता हेतु जो जन-सहयोग एवं स्वामित्व का त्याग, आदि प्राथमिक बातों की आवश्यकता होती है, वे पूर्ण हो गई हैं।

इन ग्रामदानी क्षेत्रों में गाँव की पूर्ण बेकारी दूर करने के लिए व सरकारी व्यवस्था के अनुरूप सामूहिक, सहकारी व व्यक्तिगत व्यवस्था में कृषि की व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रयोग परिस्थिति के अनुरूप किये जायेंगे। इन क्षेत्रों में भू स्वामित्व के विसर्जन के कारण भूमि का हस्तान्तरण ऋण व बिक्री की दृष्टि से न हो सकेगा, परन्तु भूमि पर कार्य न करने अथवा उसका समुचित उपयोग न करने पर भूमि-व्यवस्था में हेर-फेर हो सकेगा। इस प्रकार भारत के गरीब व अशिक्षित कृषकों के लिए यह ग्रामीणीकरण गतिशील एवं प्रजातन्त्राय योजना का भाग होने के साथ ही उसमें व्यक्तिगत विकास के लिए लाभप्रद होगा।

इस पद्धति के निम्न लाभ हैं :—

(अ) गाँव की ग्राम सभा या पचायत या सहकारी संस्था की ऋण लेने एवं भुगतान करने की तथा सहकारी सहयोग प्राप्त करने की शक्ति में वृद्धि होगी, जो ग्रामीण उन्नति को आधार मिला है।

(ब) कृषक को उसकी उपज का उचित मूल्य मिलेगा, क्योंकि विक्रय की जिम्मेदारी ग्राम सभा आदि की होगी।

(स) इस प्रकार की व्यवस्था में फसलों का योजनाकरण सम्भव होगा, जिससे खाद्यान्न समस्या को प्राथमिकता मिलेगी।

(द) सभी कृषि कार्य सामूहिक ढङ्ग पर होने के कारण उत्पादन व्यय में कमी और प्रति एकड़ उपज में वृद्धि होगी।*

ग्राम-दान आन्दोलन के व्यय के हेतु भारत सरकार ने सन् १९५६-५७ में ११.९२ लाख रु० तथा सन् १९५७-५८ में १० लाख रु० का आयोजन किया था।

मध्य-प्रदेश में चकबन्दी—

गत वर्षों की भांति मध्य-प्रदेश के केवल महाकौशल क्षेत्र में ही चकबन्दी योजना कार्यान्वित हो रही है। इस योजना को अन्य क्षेत्रों में लागू करने के प्रस्तावों

* भूदान यज्ञ साप्ताहिक से।

का परीक्षण हो रहा है तथा इस हेतु वैधानिक एवं प्रशासकीय औपचारिक कार्य पूर्णता की ओर है। सन् १९५८-५९ में इस हेतु १०·१६ लाख रु० का प्रायोजन था, जिसमें से केवल ३·८० लाख रु० व्यय हुआ।

महाकौशल क्षेत्र की चकबन्दी योजनाओं के लिए पंच-वर्षीय योजना का कुल प्रायोजन ३१·५० लाख रु० था, जिसमें से प्रथम तीन वर्ष में केवल ७·७८ लाख रु० व्यय हुआ। इसी प्रकार सन् १९५८-५९ में ८·२० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी प्रस्तावित थी, परन्तु केवल २·१४ लाख एकड़ भूमि की ही चकबन्दी हुई है तथा ०·५६ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही हो चुकी है।*

उपसंहार—

उक्त तथ्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक किसान उत्पादन के लिए अपनी भूमि का उपयोग स्वेच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र हो। इसलिये जब तक वह भूमि के एक टुकड़े को जोतता रहे तब तक भूमि पर उसका अधिकार स्वामित्व के समान ही स्थायी रूप से बना रहे। उसका यह अधिकार चाहे कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार भू-स्वामित्व अधिकार खरीदने की स्वतन्त्रता हो। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्र-फल निर्धारित किया जाय तथा कृषि भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित की जाय। आर्थिक जोत का क्षेत्र न्यूनतम १० एकड़ हो और किसी भी दशा में आर्थिक जोत से कम भूमि का उप-विभाजन न हो। इस सम्बन्ध में यद्यपि विभिन्न राज्यों में अधिनियम लागू हो गये हैं, फिर भी उनमें कड़ाई से पालन होने की आवश्यकता है। आर्थिक जोत रखने वाले कृषक अपने उत्तराधिकारियों की वयस्कता तक उनके भरण-पोषण के लिए जिम्मेवार हों। इस हेतु उत्तराधिकार नियमों में आवश्यक संशोधन किये जायें। गाँव की बेकार भूमि को कृषि योग्य बना कर उसका वितरण अनार्थिक जोत वाले कृषकों एवं भूमि हीन कृषकों को किया जाय। वर्तमान समय में भारत में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल ०·३६ एकड़ है, जो इस सम्बन्ध में शोचनीय अवस्था की सूचक है, अतः भूमि विहीन एवं अनार्थिक जोत वाले कृषकों के आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाय।

कृषि की मूल समस्या अनार्थिक जोत की है और पूर्ण चकबन्दी के अभाव में स्थाई एवं वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः चकबन्दी को प्राथमिकता देनी होगी है। ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि उद्योग के इस सर्वव्यापी दोष को दूर करना होगा। अर्थात् उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन करना होगा, जिससे "प्रत्येक उत्तराधिकारी को सभी खेतों में बराबर-बराबर भाग मिलता

* Progress Report of 2nd Plan for 1958-59, page 68 of Madhya Pradesh Government.

है।''[1] तभी हम कृषि भूमि को उप-विभाजन एवं अपखण्डन रूपी 'आर्थिक भूकम्पों'[2] के दुष्परिणामों से बचा सकेंगे।

परिशिष्ट

भूमि के चकबन्दी की प्रगति[3]

प्रदेश	१९५६-६१ के लिए आयोजन (लाख रु०)	१९५६-६१ लक्ष्य (लाख एकड़)	३०-६-५९ चकबन्दी कार्य की पूर्ति (लाख एकड़)	चकबन्दी चालू है (लाख एकड़)
आन्ध्र	२०'५३	५'००[४]	—	२'३६
असम	१४'२५	१३'८२	—	आरम्भ नहीं
बिहार	१८'९७	९'५०	—	०'७२
बम्बई	७९'३६	७२'८१	१८'१२	१८'६५
जम्मू-कश्मीर	—	—	—	आरम्भ नहीं
केरल	—	—	—	"
मध्य-प्रदेश	५४'२५	१६'२८[५]	३३'३९	२'६०
मद्रास	१४'२०	—	—	आरम्भ नहीं
मैसूर	१४'५१	१५'०४[६]	७'४९	४'०१
उड़ीसा	५'००	—	—	आरम्भ नहीं
पंजाब	९५'००	१५३'७२	९५'५५	४२'८३
राजस्थान	३१'५०	१०'००	३'९७	७'१६
उत्तर-प्रदेश	*	५०'००	३०'३०	२६'४५
पश्चिमी बंगाल	१०'२५	—	—	आरम्भ नहीं
दिल्ली	२'८५	०'५९	२'०२	३१-८-५५ से काम बन्द है
हिमाचल-प्रदेश	९'५०	१'१८	०'६३	०'२०
मणीपुर	०'२६	—	—	आरम्भ नहीं
योग	३०५'४९	३५१'९१	१९१'८७	१०५'२८

1. Consolidation of agricultural holdings—C. F. Strickland, page. 3.

2. Economic Development of Overseas Empire, Vol.—I C.A. Knowles.

3. India—1960 Table 143.

४. केवल तेलंगाना जिले में।

५. महाकौशल क्षेत्र में ही।

६. पहिले के बम्बई राज्य के ४ जिलों में।

* योजना में समाविष्ट नहीं।

अध्याय ८

भारत में सिंचाई

(Irrigation in India)

"भारतवर्ष में सिंचाई ही सब कुछ है। पानी भूमि से मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है तो उपज शक्ति में कम से कम छः गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि भी उपजाऊ हो जाती है, जो बन्जर थी, अतः भारत में सिचाई ही सब कुछ है।"

—सर चार्ल्स ट्रैवीलियन

"भारतवर्ष के सिचाई के साधनों से विशाल साधन किसी अन्य देश में नहीं हैं और इससे पवित्र निर्माण कार्य संसार में कभी नहीं किया गया है।"

—सर जे० स्ट्रैची।

भारत की कृषि प्रमुख रूप से वर्षा पर ही निर्भर है। भारत के अनेक भाग ऐसे है, जहाँ पर केवल नाम मात्र की ही वर्षा होती है, जैसे—राजपूताना, दक्षिणी-पश्चिमी पजाब। इसलिए ऐसे क्षेत्रो मे जब तक सिंचाई के स्रोत उपलब्ध नही है, तब तक कृषि व्यवसाय होना असम्भव हो जाता है। भारतीय जलवायु की विशेषता है कि कई भागो मे वर्षा देर से होने के कारण या बिलकुल न होने के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं, जैसे—चावल, गन्ना आदि। कुछ फसलें ऐसी भी होती हैं, जिनके लिए पानी का अधिक परिमाण मे होना आवश्यक है। डॉ० वॉयल्कर के शब्दो मे—"पानी और खाद ये दोनो ही कृषको की प्रमुख आवश्यकताएँ होनी है।"* इसी दृष्टि से वर्षा की पर्याप्तता के अभाव मे भूमि की सिंचाई के लिये नदियो का तथा वर्षा से उपलब्ध पानी के उचित उपयोग के लिए कृत्रिम साधनो का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय वर्षा की अनिश्चितता, वर्षा का असमान वितरण अवर्षा अथवा अति वर्षा आदि के कारण सिंचाई के कृत्रिम साधनो का अस्तित्व एव उनकी पर्याप्तता कृषि उद्योग की सफलता के लिए आवश्यक है।

अर्थ—

सिंचाई से अभिप्राय है कि जिन प्रदेशो मे प्राकृतिक साधनो से कृषि के लिए पानी की व्यवस्था नही है वहाँ नदी, तालाब, नहरो आदि कृत्रिम साधनो से पानी पहुँचाने की व्यवस्था करना। अथवा "जहाँ कृषि योग्य भूमि पर होने वाली फसलों के

* Water and manure together represent in brief the ryot's main warts—Dr. Voelker.

लिए वर्षा से होने वाला पानी का प्रदाय कम है, वहाँ कृत्रिम साधनों द्वारा पानी के नियन्त्रित प्रयोग को सिंचाई कहते हैं।"

सिंचाई का महत्त्व—

भारत जैसे देश में जहाँ पर मरु-भूमि तथा अर्द्ध मरु-भूमि क्षेत्र कुल भूमि के अनुपात से अधिक है, वहाँ पर्याप्त खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल के प्रदाय एवं राष्ट्रीय समृद्धि के दृष्टिकोण से सिंचाई के पर्याप्त साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में श्री० नोल्स का कथन है—"सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योंकि भूमि की उपज, उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय में वृद्धि हुई है। इस कारण दुर्भिक्ष के समय में इस सहायता की आवश्यकता पड़ती है। अतः ये सम्पूर्ण क्षेत्र को सभ्य बनाने में सहायक हुए हैं।..........जिन्होंने दुर्भिक्ष देखा है, उन्हें सिंचाई के विषय में यह बात स्पष्ट है कि इनमें सुरक्षा और हित में वृद्धि हुई। जो सुरक्षा का प्रभाव समझ सकते हैं—योग्य व्यक्तियों की सहायतार्थ कार्यों में रोजगारी, स्त्रियों का मिट्टी ढोना, बच्चों का दुर्बल और क्षीणकाय होना, पशुओं का मरना और खेतों का वृक्ष रहित होना—वे सिंचित क्षेत्र में जाते ही अन्तर अनुभव कर सकते हैं क्योंकि वहाँ हरी-भरी फसलें, अन्न का आधिक्य और सुसम्बद्ध कुटुम्ब दिखाई देते हैं तथा बच्चों में इधर-उधर खेलने की शक्ति होती है, इसलिए इन दो परिस्थितियों में प्रसन्नता का अन्तर मुद्रा के मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता।"

सिंचाई से केवल कृषि और कृषक की ही उन्नति नहीं होती है, बल्कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विकास, व्यापार में उन्नति, उत्पादन में वृद्धि, उद्योगों का विस्तार, क्रय-शक्ति में वृद्धि, सरकारी आय में वृद्धि, दुर्भिक्ष-सहायता व्यय में कमी तथा जन सख्या के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होती है। सिंचाई साधनों के निर्माण से बेकारी कम होती है। संक्षेप में, देश में आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता का साम्राज्य छा जाता है।

सिंचाई के साधनों से सरकार और कृषक दोनों को ही लाभ होता है, क्योंकि इससे दोनों की ही आय बढ़ती है। सन् १९५०-५१ में सरकार को १४ करोड़ रुपये की आय केवल सिंचाई के साधनों से हुई थी। बर्नार्ड डार्ले के शब्दों में—"भारत की वृद्धिगत जन-संख्या की खाद्यान्न पूर्ति होना अत्यावश्यक है। वह समय दूर नहीं जब प्रत्येक भू-भाग पर कृषि करना अनिवार्य होगा तथा जनता को खाद्यान्न पूर्ति के लिए और भी अधिक भूमि की आवश्यकता होगी।" इसलिए सिंचाई की महत्ता अत्यधिक है।

भारत में सिंचाई का क्षेत्र—

भारत के कुल कृषि-क्षेत्र में से लगभग १८% कृषि क्षेत्र को सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हैं। सन् १९५५-५६ में समाप्त होने वाले ७ वर्षों के सिंचित क्षेत्र में ९६ लाख एकड़ भूमि की वृद्धि हो गई है:—*

* India—1958.

(लाख एकड में)

सिंचाई का साधन	१९४७-४८	१९५५-५६	कुल वृद्धि या कमी
नहरें	१९८	२३२	+ ३४
तालाब	८०	१०५	+ २५
कुँए	१२५	१६८	+ ४३
अन्य	६४	५८	— ६
योग	४६७	५६३	+ ९६

भारत मे कुल कृषि योग्य भूमि ७१'८३ करोड एकड है, जिसमे से ३०'२४ करोड एकड भूमि पर प्रति वर्ष खेती होती है। इस भूमि मे ५६३ एकड भूमि अथवा लगभग १/५ भाग को ही सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध है, जो विश्व के किसी भी देश के सिंचित क्षेत्र से अधिक है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस मे ८० लाख एकड, जापान मे ७० लाख एकड, मिश्र मे ६० लाख एकड, मैक्सिको मे ५७ लाख एकड तथा इटली मे ४५ लाख एकड भूमि मे सिंचाई होती है। भारत में सिंचाई का महत्वपूर्ण साधन 'नहरें' हैं, जिनमे १२५ करोड रु० से अधिक पूँजी लगी हुई है। इसी कारण भारत 'नहरो का देश' माना जाता है।

भारत मे सिंचित क्षेत्र विश्व के सभी देशो से अधिक होने के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) नहरो को खोदने के लिये सबसे अच्छे भाग उत्तरी भारत मे गङ्गा-यमुना के मैदान और दक्षिणी भारत मे पूर्वी किनारे की नदियों के डेल्टा हैं, जो समतल हैं। इन भागो में भूमि का ढाल इतना धीमा है कि नदियो के ऊपरी हिस्सो मे निकलती हुई नहरो का पानी सारे मैदान मे सरलता से फैल जाता है।

(२) उत्तरी भारत का गगा-यमुना का मैदान और दक्षिण भारत के पूर्वी किनारो की नदियो के डेल्टाओ की भूमि नदियो द्वारा लाई गई मिट्टी के बने हुए है, जो बहुत ही उपजाऊ हैं। अतः सिंचाई होने पर उत्तम फसलें पैदा होती है।

(३) इन भागो मे चट्टानें बहुत कम और मिट्टी मुलायम है। इसलिए नहरें खोदने मे बडी आसानी होती है तथा खर्च भी अधिक नही होता।

(४) उत्तरी भारत के मैदान में हिमालय पर्वत की बर्फ से ढकी चोटियो से निकलती हुई बडी-बडी नदियाँ साल भर पानी से भरी बहती हैं, जिनमे अथाह पानी रहता है।

(५) देश की अधिकाश जन-सख्या खेती मे सलग्न है, अतः खेती के लिये सिंचाई की अधिक माँग है।

सिंचाई के विभिन्न साधन—

भारत में सिंचाई के लिये भिन्न भिन्न साधन काम में लाए जाते हैं। कारण, देश के विभिन्न भागो मे प्राकृतिक दशा की विभिन्नता है, जैसे—उत्तरी भारत मे विशेषकर नहरो और कुँओ से तथा दक्षिण के पठारो मे तालाबो से सिंचाई की जाती है। कुल सिंचित भूमि की ४१ प्रतिशत नहरो, ३० प्रतिशत कुँओ, १९ प्रतिशत तालाबो और अन्य साधनो द्वारा सिंचाई होती है।*

* Hindusthan Year Book 1959.

सिंचित क्षेत्र[1]

सिंचाई के साधन	१९४७–४८ (लाख एकड़)	%	१९५२–५३ (हजार एकड़)	%	१९५४–५५ (लाख एकड)	%	१९५५–५६ (लाख एकड)	%
(१) नहरें :								
सरकारी	१५३	३२	१८,९१८	३७	२२३·००	४१	२३२	४१
प्राइवेट	४५	१०	३,२३९	६				
(२) तालाब	८०	१७	७,८७२	१५	९८	१८	१०५	१९
(३) कुँए	१२५	२७	१६,०१४	३१	१६४	३०	१६८	३०
(४) अन्य श्रोत	६४	१४	५,७१७	११	५९	११	५८	१०
(५) कुल क्षेत्र	४६७	१००	५१,७५१	१००	५४४	१००	५६७	१००
कुल बोया गया क्षेत्र			३,०२,४७२		३,१४९		३,१९८	

इस तालिका से स्पष्ट है कि कुल सिंचित क्षेत्र मे वृद्धि होते हुए भी नहरों द्वारा अधिक सिंचाई होती है। इन विभिन्न साधनों की उपयोगिता अब हम देखेंगे :—

नहरें (Canals)—

यह भारत का एक प्रमुख सिंचाई का साधन है, जिसकी कुल लम्बाई ६७,००० मील है।[2] नहरें भारत मे बहने वाली नदियों अथवा बड़े-बड़े सग्राहकों (तालाबों) से पानी लेकर खेतों तक पहुँचाती हैं। नहरें ज्यादातर उत्तरी भारत मे ही बनाई गई हैं, कारण यहाँ की नदियाँ साल भर बहती हैं, इसलिए नहरों में भी प्रायः साल भर पानी रह सकता है। सग्राहकों से पानी लेने वाली नहरें दक्षिण, मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड (मध्य-प्रदेश) में बनाई गई हैं। कारण, इन प्रदेशों मे बहने वाली नदियाँ साल भर नही बहती, जिससे नहरों को वर्षा

1. India—1956, 1957 and 1958.
2. Hindustan year Book 1958.

यह विशेष तौर से कार्य की शीघ्रता के सम्बन्ध मे होना चाहिए, अतः ऐसे कार्य मे पूँजी अधिक लग सकती है और बाढ आदि के समय पूरे तौर मे प्राप्ति न हो तो ध्यान दिया जा सकता है । इस प्रकार यह गवेषणापूर्ण कार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई के कार्य का कितना ही महत्त्व हो, जिसे हम उत्पादक श्रेणी मे पाते है, वह प्रत्यक्ष आय से कम होता जायगा, अतः उन क्षेत्रो मे जो अकालग्रस्त हैं, सिंचाई कार्य पूरा महत्त्व रखते है ।"

इन सुझावो मे हम आधुनिक शताब्दी की सिंचाई नीति का जन्म मानते हैं। इस युग मे जो उत्पादन कार्य हाथ मे लिया गया, वह त्रिवेणी नहर का था । अन्य उत्पादन कार्य जो मध्य प्रदेश मे हाथ मे ले लिए गये थे वे महानदी, वैनगगा, तुन्हला और रमेतक नहरो का कार्य था । बम्बई मे भी इस प्रकार का कार्य हाथ मे ले लिया गया था, जिसमे प्रवोरा और नीरा नहरो का कार्य महत्त्वपूर्ण है ।

युद्धोत्तर सिंचाई निर्माण कार्य में प्रगति—

सन् १९११ के पश्चात् सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, इसलिए प्रान्तीय सरकारें अब नहरो के निर्माण मे उत्साह ले रही हैं, लेकिन ५० लाख रुपये से अधिक की योजना प्रारम्भ करने पर भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक है । उत्पादक व अन्य कार्यों के लिए ऋण लिया जा सकता है । इसके अलावा प्रान्तीय आय दुर्भिक्ष संरक्षण एव सहायता कार्य मे भी खर्च की जा सकती है । महायुद्ध के पश्चात् कई सिंचाई कार्यों का विकास हुआ है, जैसे—सतलज घाटी बाँध, जो कि २१ करोड की लागत से सन् १९३२-३३ में बनाया गया, जिसमे राजस्थान के बीकानेर डिवीजन की ५० लाख एकड भूमि पर सिंचाई होने लगी । दूसरा कार्य सक्कर बाँध का था, जोकि आज पाकिस्तान मे है । इस पर ४० करोड रुपये खर्च हुए और ७५ लाख एकड भूमि की सिंचाई की जाने लगी ।

योजना काल में सिंचाई कार्यक्रम—

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् सिंचाई कार्यक्रम में तेजी से विकास हुआ है, विशेषतः अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत और सन् १९५१ के बाद पञ्च-वर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप ।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना मे ७२० करोड रु० लागत की सिंचाई योजनाओ का समावेश किया गया था, जिसमे १५० योजनाएँ तो ऐसी थी जिनकी लागत १० लाख रु० से अधिक की थी और २०० योजनाएँ दुर्लभ क्षेत्रो के स्थायी सुधार के सम्बन्ध मे थी । इन २०० योजनाओ में १३ बहुमुखी एवं सिंचाई योजनाएँ थी, जिनकी प्रत्येक की लागत १० करोड रु० से अधिक थी । इन योजनाओ मे कुछ तो ऐसी थी जिन पर योजना के आरम्भ के पूर्व ही ८० करोड रु० व्यय किया गया था ।*

---

* Economic Weekly, Aug. 2, 1958.

अनुत्पादक दो भाग रखे गए हैं तथा सभी प्रकार की योजनाओं के लिए ऋण लिया जाता है।

गत ६७ वर्षों से सिंचाई में स्थिर रूप से विकास हो रहा है—सन् १८७८ में सिंचाई के अन्तर्गत १०·५ मिलि० एकड़ क्षेत्र था। सन् १९१९-२० में २८·१ मिलि० एकड़ सन् १९२२-२३ में ३३ मिलि० एकड़, सन् १९२६-२७ में ३१·६ मिलि० एकड़, सन् १९२९-३० में ३२·५ मिलि० एकड़, सन् १९३९-४० में ४८·२ मिलि० एकड़, सन् १९४५-४६ तथा सन् १९४७-४८ में ८८·९२ मिलि० एकड़ तथा सन् १९५०-५१ में लगभग ५१·५ मिलि० एकड़ था।

गत वर्षों में नवीन योजनाओं से सारे देश में सिंचाई और विद्युत शक्ति की दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ है। थोड़ा बहुत प्राथमिक गवेषणा के बाद कई नवीन योजनाओं पर निर्माण कार्य आरम्भ हो चुका है। कुछ का निर्माणोद्देश्य सिर्फ सिंचाई है तथा इनसे विद्युत प्राप्ति भी की जायगी, जो बहुमुखी योजनायें होंगी। आज १३५ भिन्न-भिन्न योजनायें, जिनकी कुल लागत ५९० करोड़ रुपया है, देश के भिन्न-भिन्न भागों में चालू हैं।

नई योजनाओं के समाप्त हो जाने पर न केवल जल-विद्युत शक्ति के उत्पादन में ही वृद्धि होगी, बल्कि इनसे सिंचाई के क्षेत्रफल और परिणामतः अन्न उत्पादन में भी निम्न प्रकार से वृद्धि होगी—

वर्ष	सिंचित क्षेत्रफल (००० एकड़)	अतिरिक्त खाद्यान्न (१० लाख टन में)
१९५१–५२	६४७	०·२
१९५२–५३	१,११४	०·४
१९५३–५४	१,१९७	०·७
१९५४–५५	४,३१५	१·४
१९५५–५६	५,४९९	१·८
१९५६–५७	६,६८५	२·२
१९५७–५८	७,५०२	२·५
१९५८–५९	८,५२७	२·८
१९५९–६०	९,१९०	३·१
अन्तिम वर्ष	१२,९४९	४·३

कुँयें (Wells)—

भारत में कुँओं द्वारा सिंचाई प्राचीन काल से होती रही है गरीब किसानों के लिए कुँए ही सिंचाई के उपयुक्त साधन हैं, क्योंकि इनके खेत छोटे-छोटे और बिखरे

हुए होते हैं तथा पर्याप्त मात्रा में वे खाद भी दे नहीं सकते। कुँए दो प्रकार के होते हैं—कच्चे और पक्के। कच्चे कुँए बहुत थोड़े व्यय में बनाए जाते हैं और पक्के कुँओं में अपेक्षाकृत अधिक निर्माण व्यय होता है।

कुँओं द्वारा उन्हीं भागों में सिचाई लाभकर होती है जहाँ पानी धरातल के निकट हो। इसलिए गङ्गा का मैदान कुँओं द्वारा सिंचाई के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यहाँ सभी भागों में भूमि की धरातल से थोड़ी गहराई पर जल मिल जाता है। दूसरे, जिन भागों में अधिक वर्षा होती है वहाँ भी थोड़ी गहराई पर ही जल मिल जाता है, परन्तु जिन क्षेत्रों में वर्षा कम होती है वहाँ अधिक गहराई पर कुँओं में जल मिलता है। इसी कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश में १०-१५ फीट गहराई पर जल मिल जाता है, जबकि पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में ५०-६० फीट पर तथा पश्चिमी राजस्थान में २००-३०० फीट गहराई पर जल मिलता है। उथले कुँए छिछले होते हैं, किन्तु गहरे कुँओं में सदैव जल मिलता है। वर्षा के दिनों में तो दोनों ही प्रकार के कुओं में पर्याप्त जल मिलता है, किन्तु शुष्क ऋतु में उथले कुँए शीघ्र ही सूख जाते हैं। सिंचाई की दृष्टि से कुँओं का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग पूर्वी पञ्जाब से बिहार तक का गङ्गा सिंधु का मैदान है।

कुँओं द्वारा सिंचाई के लिये पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी बंगाल, मध्य-प्रदेश, बम्बई और मद्रास अधिक प्रसिद्ध हैं। कुँओं द्वारा उत्तर प्रदेश में ५१·५% पूर्वी पंजाब में २५·४%, मद्रास में १७·८% और बम्बई में १४% सिंचाई होती है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में तो कुँए ही सिंचाई के मुख्य साधन हैं। कारण, यहाँ पर जल भूमि के निकट ही मिल जाता है, अतः फसलों को पानी की आवश्यकता कम रहती है, इसलिए इन भागों में अधिकांशतः कच्चे कुँए ही अधिक बनाये जाते हैं। पश्चिमी बंगाल में अधिक वर्षा होते हुए भी सिंचाई की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है। कुँओं से सिंचाई पाने के लिए मद्रास प्रान्त का दक्षिणी भाग, नीलगिरि और इलायची की पहाड़ियों का पूर्वी भाग मुख्य है, जो गन्तूर से कोयम्बटूर होता हुआ टिनेवेली तक फैला हुआ है। बम्बई के दक्षिणी पठार से लगा कर पश्चिमी घाट के पूर्वी भागों तक कुँओं द्वारा सिंचाई की जाती है।

कुँओं से सिंचाई के लिए जल कई प्रकार से ऊपर उठाया जाता है। पूर्वी भागों के अधिक वर्षा वाले स्थानों में कुँओं से पानी ऊपर लाने के लिए प्रायः हल्के पानी उठाने के साधन (मनुष्य, ढेंकली आदि) काम में लाए जाते हैं, किन्तु पश्चिमी भागों में चरस, रहट आदि के अलावा यान्त्रिक साधनों का भी प्रयोग किया जाता है।

कुँओं से सिंचाई में कई दोष हैं:—

(१) यदि लगातार अधिक समय तक कुँओं से पानी निकाला जाता है तो

वे शीघ्र ही सूख जाते हैं अथवा जिस वर्ष वर्षा कम होती है, उस वर्ष तो पानी और भी कम हो जाता है।

(२) कुंओं द्वारा सिंचाई करने में व्यय और परिश्रम दोनों ही अधिक होते हैं।

(३) कुंओं से केवल सीमित क्षेत्रों में ही सिंचाई हो सकती है, इसलिए कच्चा कुंआ अधिक से अधिक तीन एकड़ और पक्का कुंआ १५ से ५० एकड़ भूमि तक ही सींच सकता है।

(४) बहुत से कुंओं का पानी खारा होता है, जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नहीं होता।

(५) कुंओं के जल में खनिज मिश्रण का अभाव रहता है, क्योंकि वह एक स्थान से निकलता है।

भारत में कुंओं द्वारा सिंचाई को और भी अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। रॉयल कृषि आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि सरकारी संस्थाएं कुंओं को बनाने में मदद करें। इसके अलावा सरकार को भी कुंओं को खुदवाने के लिए किसानों को तकावी ऋण आदि उदारतापूर्वक देना चाहिए। कुंओं से सिंचाई करने वाले किसानों पर सिंचाई का भार अधिक न पड़े, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में कुंओं द्वारा सिंचाई बढ़ने की अधिक सम्भावना है, जिससे जन-साधारण पर बाधा भार, जो जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ रहा है, कम हो जावेगा।

सन् १६०३ के प्रथम भारतीय सिंचाई आयोग का मत था कि देश में कोई भी ऐसा सिंचाई का साधन नहीं है जो कुंओं द्वारा सिंचाई से होने वाले लाभों की तुलना में खड़ा रह सके। वास्तव में कुंओं की सिंचाई नहरों की सिंचाई से उत्तम है। इस कारण अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत कुंओं के निर्माण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। सन् १६४४ के दुर्भिक्ष आयोग ने राज्यों में कुंओं की वृद्धि के लिए निम्न सिफारिशें की थीः—(अ) भूमि से पानी की प्राप्ति का पूरा अनुसन्धान करना। (आ) ऐसे सुव्यवस्थित कर्मचारियों के समुदाय की, जो प्रान्तीय जनता को कुंओं को खोदने की मदद एवं सलाह दें। (इ) तकावी ऋण आदि दिये जावें। (ई) पानी निकालने के उत्तम तरीके की सुविधा (विशेषतः उन क्षेत्रों में जहां पर पानी की सतह काफी गहरी है) दी जावे।

नल-कूप—

कुछ ही वर्षों से सिंचाई के लिए विद्युत शक्ति द्वारा चालित कुंओं से अभ्यान्तरिक जल उपलब्ध किया जाने लगा है। नल-कूप की योजना चालू करने का सबसे पहिला प्रयास श्री विलियम स्टॅम्प ने किया था। नल-कूपों द्वारा सबसे अधिक

सिंचित क्षेत्र उत्तर-प्रदेश में पाया जाता है, जहाँ पर २,३०० नलकूप हैं।* इसके निम्न कारण हैं :—

(१) यहाँ के अधिकांश कुँओं में पानी का स्रोत पृथ्वी की ऊपरी सतह से ३० फीट से भी कम गहराई पर मिलता है। इन कुओं में केन्द्रो-पसारी पम्प लगाये जाते हैं, जो एक यूनिट बिजली से ३,५०० से ४,५०० गैलन तक तक पानी खींच लेते हैं।

(२) यहाँ पर पूरे ही वर्ष सिंचाई की आवश्यकता रहती है। कारण, खरीफ में गन्ना, धरी, कपास आदि तथा रबी में गेहूँ, चना, चारा आदि की फसलों के लिए पानी की अधिक आवश्यकता होती है।

उत्तर-प्रदेश के नल-कूप क्षेत्र दो भागों में विभक्त हैं:—(१) गङ्गा नदी के पश्चिम की ओर के वे भाग जिनमें सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ़ सम्मिलित हैं जहाँ वर्षा कम होती है; लेकिन पानी का स्रोत भूमि के धरातल से २५-३० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। (२) गङ्गा नदी के पूर्व की ओर के वे भाग जिनमें बिजनौर, मुरादाबाद और बदायूँ के जिले सम्मिलित हैं, जहाँ जल स्रोत भूमि से १५-२० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। गंगा की नहरों से उत्पादित सस्ती बिजली इन कुँओं को चलाने के लिए उपलब्ध है, जिससे प्रत्येक कुँए से १½ वर्ग मील भूमि की सिंचाई की जाती है।

नल-कूपों द्वारा सिंचाई करने से कई लाभ हैं:—

(१) नल कूपों में केवल एक बार ही व्यय करना पड़ता है तथा इसके प्रबन्ध का व्यय भी बहुत कम होता है।

(२) प्रत्येक नल-कूप पर एक कर्मचारी नियुक्त होता है, जो कृषक को आवश्यकतानुसार जल नाप कर देता है। इसलिए कृषकों को नहरों के पानी की तरह प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती और न खेतों में व्यर्थ पानी ही बहता है।

(३) कुँओं का जल नहरों के जल की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है।

नल-कूप योजना की प्रारम्भिक दशा में यह भय था कि अभ्यान्तरिक जल को अधिक मात्रा में प्राप्त करने में कहीं उसका जलस्रोत इतना नीचा न हो जाय कि साधारण कुँए भी सूख जाएँ और कृषि को नुकसान हो। परन्तु विशेषज्ञों का विचार है कि इसके द्वारा जितना जल प्राप्त किया जावेगा, उससे कहीं अधिक जल वर्षा द्वारा भूमि में रिस कर अभ्यान्तरिक जल स्रोत को प्राप्त होता रहेगा। भारत में नल कूप अभी हाल ही में अधिक परिमाण में फैले हैं, इसलिए सरकार द्वारा इस कार्य के लिये अधिक सलाह व सहायता की आवश्यकता है तथा कुछ ऋण आदि की भी सुविधा मिलनी चाहिए।

साधारणतया ट्यूबवैल योजना को सफल बनाने के लिए चार बातें आवश्यक

* Second Five Year Plan.

है:—(१) वह पानी जो भूमि पर बहा कर लाया जाता है, धरातल के लिए पर्याप्त हो, जिससे वह स्थायी रूप से पानी की माँग को पूरा कर सके। (२) पानी का धरातल ५० फीट से अधिक गहरा न हो तथा उसका तल साधारण तल से नीचा हो। (३) सिंचाई की माँग औसत रूप से साल भर में ३,००० घन्टे हो। (४) विद्युत शक्ति की सुविधा हो, जिसका मूल्य दो पैसे प्रति इकाई से अधिक न हो।

भारत अमेरिका टेक्निकल सहयोग कार्यक्रम तथा अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत प्रथम योजना में क्रमशः २,६५० और ७०० तथा राज्य सरकारों की योजनाओं के अन्तर्गत २,४०० नल कूपों का निर्माण उत्तर-प्रदेश, पेप्सू और बिहार में होना था। इसका वितरण एवं प्रगति नवम्बर सन् १९५७ तक इस सम्बन्ध में निम्नवत् थी :—

	उ० प्र०	बिहार	पञ्जाब	पेप्सू
(१) भारत अमेरिका तांत्रिक सहयोग कार्यक्रम	आबटित १,२७५	३८५	५३०	४६०
	निर्मित १,२७५	३८५	५३०	४६०
(२) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन	आबटित ४२०		१५०	१३०
	निर्मित ९३[1]		—	—
(३) राज्य की योजनाएँ	आबटित १,४००	४२४	२५६	—
	निर्मित १,१६५[1]	४७४[1]	२५६[1]	—

बम्बई राज्य की प्रथम योजना में ४०० नल कूपों के निर्माण का लक्ष्य था, जिसमें से दिसम्बर सन् १९५५ तक १९८ नल कूपों का निर्माण हो चुका है।[1] इसके अलावा नवम्बर सन् १९५७ तक पंजाब, उत्तर-प्रदेश, उत्तरी गुजरात में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत १,००९ नल कूप खोदे गये हैं। इसी प्रकार दूसरी योजना के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश और असम में ३९९ नल कूप खोदे गए हैं। फलस्वरूप नलकूप और लघु-सिंचाई योजनाओं से सन् १९५७-५८ में लगभग २२ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हो जावेंगी।* दूसरी योजना में विभिन्न राज्यों में १० करोड़ की लागत से ३,५८१ नल कूपों के निर्माण का लक्ष्य है, जिसमें लगभग ९१९ हजार एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ सकेगी।

तालाब—

भारत में तालाबों से १६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है और ये तालाब दक्षिणी भारत की विशेषता के परिचायक हैं।

तालाब दक्षिण की विशेष परिस्थिति के द्योतक हैं। क्योंकि,

(१) दक्षिण की नदियाँ वर्फीली नहीं हैं, इसलिए वे सिर्फ वर्षा के पानी पर ही निर्भर हो कर बहती हैं। दक्षिण में ऐसे बहुत से झरने प्रपात हैं, जो वर्षा के वेग से प्रभावित हो कर बहते हैं, परन्तु वर्षा के बाद सूख जाते हैं।

1. Second Five Year Plan, p. 329.
2. दिसम्बर सन् १९५५ तक।
* India—1958.

(२) इस प्रकार नदियो व जल प्रपातो की अस्थायी दशा तथा दक्षिण का पहाडी धरातल, दोनो स्थितियां इस बात के लिए एक बडी भारी बाधा उपस्थित करती है कि वहां नहरो का निर्माण कैसे हो।

(३) इसके अलावा वहाँ की दृढ चट्टानें भी पानी को सोख नही सकती, इसलिए कुँओ का निर्माण होना असम्भव है। परन्तु बडे बडे जलाशयो और जल भण्डारो का जल आसानी से बाध बना कर, तालाबो का निर्माण करके खेतो को निरन्तर पानी पहुँचाया जा सकता है।

(४) साथ ही वहां की जन संख्या बिखरी हुई है, इसलिए वह स्वय बाध की योजना के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती है। अतः यही एक सुव्यवस्थित और सुविधाजनक उपाय है, जिससे वर्षा का पानी संग्रह द्वारा सिंचाई के प्रयोग मे लाया जा सकता है, अन्यथा वह यो ही बह कर बेकार चला जावेगा। बाध निर्माण योजना, विशेषतः मद्रास में अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है।

बाध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। यह बम्बई की फाइफ झील और विटिंग से लेकर पेरियर झील तक बडे हो सकते हैं। एक छोटे ग्राम मे छोटे बाध द्वारा ५ एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकती है। बडे बडे बाध बहुत कम हैं, क्योकि उनमे चतुर इञ्जीनियरो, वैज्ञानिक यन्त्रो और धन की आवश्यकता होती है, इसलिए केवल सरकार ही इतने बडे कार्यों का सम्पादन कर सकती है। परन्तु जिस प्रकार देश के छोटे छोटे क्षेत्रो को समुचित रूप मे रखना कठिन कार्य है, उसी प्रकार सरकार छोटे छोटे बाधो के कार्य को कठिन समझती है। यद्यपि विशेषज्ञो द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि लम्बे समय मे ये बाध मूल्यवान् सिद्ध होगे, भार रूप नही। इसलिए इनके निर्माण का भार ग्राम की जनता पर ही छोडा जा सकता है, जो अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित कर सकती है। इसके लिए एक बोर्ड बनाने और एक ऐसी निर्धारित नीति द्वारा संचालन की आवश्यकता है, जिससे यह कार्य सरल हो।

भारत सरकार की सिंचाई नीति (Irrigation Policy of the Government of India)—

भारत मे सिंचाई बहुत प्राचीन युग से होती आ रही है, जिसका प्रमाण पुराने कुँओ और बाधो के अस्तित्व से मिलता है। उदाहरण के लिए, मद्रास के चिंगलपुर जिले में दो बाध हैं, जो कि ८/९ वी शताब्दी के बतलाये जाते हैं, और अभी भी एक बहुत बडे भू भाग की सिंचाई करते हैं। प्राचीन-काल मे जो बाध आदि बनाये जाते थे, वे छोटे पैमाने पर ही बनाये जाते थे, इसलिए आर्थिक दृष्टि से समाज के अनुकूल भी होते थे, परन्तु बडे बड़े बाधो का अभाव था। नहरें भी बनवाई जाती थी, जैसे—पश्चिमी यमुना नहर १४ वी सदी मे बनवाई गई थी। पूर्वी यमुना नहर मुगल बादशाहो द्वारा बनवाई गई थी। कावेरी नदी के डेल्टा मे सिंचाई की नहरें दूसरी शताब्दी की बनी हुई हैं, जोकि चोलियो द्वारा बनवाई गई थी, लेकिन मुगल साम्राज्य

के पतन के पश्चात् सन् १८०० के आस-पास नहरों की मरम्मत बन्द सी हो गई। डा० बीरा एन्सटी के अनुसार—"पूँजी एवं इञ्जीनियरिङ्ग योग्यता का अभाव, व्यय की अस्थिरता और बाह्य व विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रवों ने सिंचाई के विस्तार को रोक दिया।" अतः १८ वीं सदी में यमुना नहर की हालत बिगड़ गई और जंगलों से ढँक सी गई। रमेशचन्द्रदत्त के अनुसार रेलवे में धन का अपव्यय जितनी बड़ी बेवकूफी थी, उतनी ही बड़ी बेवकूफी सिंचाई में कंजूसी करना था।*

(६) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सिंचाई कार्य—

(क) पुरानी नहरों आदि का सुधार—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना समस्त ध्यान सिंचाई सुधार की ओर केन्द्रित किया तथा उसने अपनी धन राशि का एक बड़ा भाग मरम्मत और सुधार कार्य पर व्यय किया। वे महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं :—

(१) सन् १८२० में पश्चिमी यमुना नहर को सुधारा गया। निर्माण कार्य बहुत जल्दी में किया गया था, इसलिए इसके आस-पास के भागों में दलदल बन गये। बरनार्ड डार्ले के अनुसार—"दोषपूर्ण एवं शीघ्र निर्माण के कारण पानी का उपयोग ठीक से नहीं हुआ, जिससे देश के अधिकांश भागों में दलदल बन गये, जिसका स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।" सन् १८७३ में इस नहर का पुनः निर्माण किया गया तथा नालियाँ खोदी गई और उसका कार्य ठीक रूप से पूर्ण किया गया।

(२) सन् १८३० में पूर्वी यमुना नहर का सुधार किया गया, लेकिन दोषपूर्ण निर्माण कार्य से इसमें भी जल वितरण सम्बन्धी हानि हुई, इसलिए इस नहर का भी पुनः निर्माण किया गया।

(३) सन् १८३६ में सर आर्थर कॉटन ने कावेरी ग्राम एनीकट बाँध बनाने के कार्य को अपने हाथ में लिया। यह बाँध २,५६२ फीट लम्बा और ५ से ७½ फीट ऊँचा था। नीचे कुँओं का भी निर्माण किया गया, जिसमें २२ छोटे मार्ग बनाये गये, ताकि समय पर मिट्टी बाहर निकाली जा सके। सन् १८४३-४४ में यह अधिक विस्तृत किया गया तथा कावेरी का बाँध बनाया गया। यह बाँध सन् १८९९-१९०२ में पुनः निर्माण कार्य द्वारा पूरा किया गया था।

(ख) नवीन सिंचाई योजना का निर्माण—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नवीन सिंचाई कार्यों का भी निर्माण किया :—

(१) पुरानी नहरों की मरम्मत आदि करने में इञ्जीनियरों को जो सफलता प्राप्त हुई, उससे उत्साहित होकर उन्होंने भिन्न भिन्न प्रान्तों में कई नवीन योजनाओं को बनाने का निश्चय किया, जिससे अकाल की छाया दूर हो। परिणामस्वरूप ऊपरी गंगा नहर का निर्माण हो सका, जो सर प्रोबी केन्टले द्वारा सन् १८४०-१८५० में

---

* R. Dutt, "The Economic History of India under the early British Rule. p. 550.

बनाई गई थी। इस नहर ने अकाल क्षेत्र को एक धनी एवं समृद्ध भू भाग में परिणित कर दिया।

(२) दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो कम्पनी द्वारा किया गया, वह ऊपरी बारी दोग्राव नहर की योजना थी। उसमें हँसली नहर का कार्य सन् १८४७-१८५४ में समाप्त हुग्रा।

(३) सन् १८४६ में गोदावरी नहर का निर्माण किया गया। नदी के बाये किनारे पर पूर्वी डेल्टा का सिर था, जिसमें ग्रावागमन बन्द था तथा छोटे-छोटे मार्ग बने हुए थे। दो बाधो (ढोलेस्वरम ४,६४० फुट लम्बा तथा राली बाध २,८५७ फुट लम्बा) ने गोमती व गोदावरी नदी को सुव्यवस्थित रूप से अपने महान् कार्य में नियोजित कर दिया। उनका केन्द्रीय कार्यालय ११,६४५ फुट ऊँचा तथा डेढ मील के घेर वाला बना, जिनमें ३ नहरें व बाँध योजनायें सम्मिलित थी। यद्यपि यह एक महान् सफलता थी, फिर भी पुराने पदार्थों व यन्त्रों के कारण यह कार्य दोषपूर्ण ही रहा। ग्रतः सन् १८६० में दो नहरों की व तीन मुख्य बाधों की दीवालें बनाकर इसके स्तर में सुधार किया गया। इससे प्राप्त सिंचाई की सुविधा ने गोदावरी के डेल्टा का ग्राम्य-जीवन ही सुखी बना दिया। ग्रतः उस प्रदेश में जहाँ कि अकाल की छाया रहती थी, एक समृद्धशाली भाग बन गया है।

(४) कृष्णा नदी बाँध योजना का कार्य सन् १८५२ में ग्रारम्भ किया गया, जो सन् १८५५ में समाप्त हो गया। इसके ग्रलावा कई छोटे मोटे ग्रौर कार्य भी सुधारे गये। कम्पनी ने पजाब की नहरों को भी सुधारने में सहायता पहुँचाई, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बेगारी नहर ग्रौर फुलेली नहर का था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रेलो के ग्रभ्युदय से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों को अपने हाथ में लिया, जिसका प्रमुख ध्येय दुर्भिक्ष का सामना करना था। इङ्गलैंड में, जहाँ नहरों का निर्माण ग्रावागमन के लिए किया गया, वहाँ भारत में सिंचाई के उद्देश्य से किया गया।

(२) प्राइवेट कम्पनियों द्वारा निर्माण कार्य—इस प्रकार नहरों की सफलता देख कुछ प्राइवेट कम्पनियों को भी उत्साह हुग्रा कि वे इस कार्य में सफलता प्राप्त करें, लेकिन उनके कार्य असफल ही रहे। ये उपर्युक्त नहर निर्माण कार्य कम्पनी की ग्राय से किये गये थे, ग्रतः उसकी ग्रार्थिक स्थिति पर इनका प्रभाव पड़ना ग्रनिवार्य था। इसलिए सन् १८५७ में कोर्ट ग्रॉफ डाइरेक्टर्स ने यह प्रस्ताव रखा कि नहर निर्माण कार्य प्राइवेट कम्पनियाँ ही करें। सर ग्रार्थर कॉटन ने उत्साहवर्द्धक योजनायें प्रस्तुत की। उसने कई नहरों के निर्माण का प्रस्ताव किया, जो तुङ्गभद्रा ग्रौर कृष्णा नदी के बीच वाले क्षेत्र को जोड़ने वाली थी। इस योजना के ग्रनुसार ४ बाँध तुङ्गभद्रा व कृष्णा नदी पर बाँधे गये, जिनके द्वारा ५ नहरों के पानी का वितरण कार्य हो सकता था। इसके साथ ही ६०० मील नहर मार्ग या नदी-मार्ग सुधार कर यातायात

योग्य बनाये जाने की भी योजना प्रस्तुत की गई और एक तटीय नहर द्वारा कृष्णा नदी का डेल्टा मद्रास से जोड़ दिया गया। इसके अलावा ६०० मील का कार्य पूना और बंगलौर के मध्य में भी हुआ, जिसका खर्च २० लाख पौंड था। एक दूसरी योजना संथाल पहाड़ियों से ढाका तक सिंचाई कार्य की थी, जो कानपुर के समीप गंगा की नहर से अलग ५५० मील लम्बी नहर द्वारा जोड़ी जाय। इसके अलावा २०० मील लम्बी एक नहर गंगा और सतलज को जोड़ने वाली थी, जिससे उत्तर-प्रदेश, पंजाब और बंगाल में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सके। उड़ीसा नहर द्वारा करांची से कलकत्ता और मद्रास के बीच ४,००० मील लम्बा जल मार्ग प्रस्तुत करने की योजना बनाई गई।

दो कम्पनियों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। पहली, सन् १८५८ में स्थापित ईस्ट इण्डिया सिंचाई नहर कम्पनी, जिसने अपना कार्य सन् १८६३ में चालू किया। इसने उड़ीसा व मिदनापुर में नहरें बनाई, परन्तु सन् १८६६ तक इसकी पूँजी समाप्त हो गई, जबकि एक बहुत बड़ा कार्य अभी पूरा नहीं हुआ था। लेकिन उसे अतिरिक्त पूँजी प्राप्त न हो सकी, अतः सरकार ने ६,००,००० पौंड देकर इस कार्य को अपने हाथ में लिया। यह सिंचाई योजना कृषक जनता के लिए लाभदायक प्रमाणित हुई और इसमें नावें चलाने की सुविधा भी प्राप्त हो सकी। परन्तु आर्थिक दृष्टि से यह कार्य सफल नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि जिस समय यह योजना बनाई गई उस समय इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि यहाँ वर्षा ६०″ होती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इसी नहर के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया, परन्तु पूँजी की कमी के कारण कार्य अधूरा ही रह गया। इसलिए सरकार द्वारा यह कार्य पूरा किया गया। दूसरी कम्पनी सन् १८६२ में मद्रास सिंचाई कम्पनी के नाम से बनी, जिसकी पूँजी १० लाख पौंड थी। इस कम्पनी ने करनूल कडप्पा नहर का कार्य अपने हाथ में लिया। इसका अनुमानित व्यय ४,५०००० पौंड था, परन्तु जब निर्माण कार्य चालू हुआ तो सारी पूँजी समाप्त हो गई। इसलिए कम्पनी ने सरकार से ६,००,००० पौंड ऋण लेकर इस कार्य को पूरा किया और बाद में सरकार ने ही इस कम्पनी को ११,८५,५०० पौंड में खरीद लिया। स्पष्ट रूप से इन कम्पनियों की असफलता आदि का कारण कम्पनियों की तात्कालिक लाभ की इच्छा तथा अनुभव का अभाव एवं स्थानीय दशा थी।

सरकारी ऋणों द्वारा सिंचाई निर्माण कार्य—

सन् १८६६ के अकाल के फलस्वरूप जो हानि हुई, उसको ध्यान में रखते हुए यह अनुभव किया गया कि सिंचाई कार्यों को जल्दी ही महत्ता प्रदान की जानी चाहिए, अतः भारत सरकार के मन्त्री ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेकर भी कार्यों को किया जाना चाहिए। इस नवीन नीति के परिणामस्वरूप ५ महत्त्वपूर्ण नहरों का निर्माण उत्तर-प्रदेश, बम्बई, सीमाप्रान्त, पंजाब

में किया गया:—(१) सरहिन्द नहर (पूर्वी पंजाब) (२) निचली गङ्गा नहर (उत्तर-प्रदेश), (३) स्वात की निचली नहर (सिन्ध सीमा-प्रान्त), (४) रेगिस्तान की नहर, (५) मुथा नहर (बम्बई)। इस प्रकार यह एक महत्वपूर्ण कार्य था, जिससे पानी के वितरण का कार्य सुगम हुआ तथा अकाल से ये क्षेत्र बचे।

पंजाब के नहर उपनिवेश तथा अन्य स्थानों में रक्षात्मक नहरों का निर्माण—

इसी समय सरकार अनुभव करने लगी कि अकाल घोषित क्षेत्रों को सहायता दी जाय। सन् १८८० की दुर्भिक्ष आयोग की प्रकाशित विज्ञप्ति के बाद रक्षात्मक नहर निर्माण कार्य में पर्याप्त प्रगति हुई। सन् १८१८ से ही सरकार ने दुर्भिक्ष फंड आदि के लिये १½ करोड़ रुपया अलग से निश्चित किया था, जिसमें से ७५ लाख ६० रक्षात्मक रेलवे और सिंचाई कार्य पर व्यय होता था। पहिला रक्षात्मक कार्य बेतवा नहर के निर्माण से चालू हुआ, जो उत्तर प्रदेश में है। इसके अलावा अट्पिरला बाँध (जिसमें बाँध, नहर, जल भण्डार है), नीरा नहर (बम्बई प्रान्त में) और पेरियार नदी (मद्रास प्रान्त में) का निर्माण कार्य हाथ में लिया। सिन्ध में दो महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिए गये—जमराव नहर, जो पूर्वी नारा और सिन्ध के बीच में है तथा पश्चिमी नारा नहर।

इस प्रकार के रक्षात्मक कार्य के अलावा नहरों का निर्माण कार्य पंजाब में प्रारम्भ किया गया। इस योजना ने वृक्षों से रहित रेगिस्तान और उजड़े हुए मू मार्गों को हरे-भरे रूप में परिणित कर दिया। झेलम और सतलज नदी के बीच के भाग में ५" से १५" तक वर्षा होती थी तथा ग्वाले और घसियारे लोग रहा करते थे, अतः अन्य स्थानों की सरकार ने नहर निर्माण की एक नवीन योजना प्रारम्भ की। प्रारम्भिक गवेषणा कार्य कठिनाइयों से भरा था। मलेरिया के क्षेत्र में किया जाने वाला कार्य और भी असुविधाजनक था। कारण, पूरा कर्मचारी दल बीमारी का शिकार हो जाता था, जिससे श्रम करना मुश्किल हो जाता था। उस समय केवल श्रम की ही बाधा उपस्थित न होती थी, वरन् ईंटें बनाने तथा चूना पकाने के लिए ईंधन आदि की बाधा उपस्थित होती थी।

पहली उपनिवेश नहर के रूप में सोहाग नहर का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है तथा इसके साथ ही सिधनई नहर मुलतान जिले में खोदी गई। पहली नहर को बाद में सतलज की नहरों से मिला दिया गया। इन नहरों द्वारा पूँजी लागत पर ४०% लाभ हुआ। परिणामस्वरूप उत्पादन में काफी वृद्धि हुई और सरकार ने उत्साहित होकर निचली चिनाव नहर निकाली। झेलम और सतलज के बीच का भाग ठीक रूप से कार्य में न ला सकने से इन नहरों द्वारा उसका महत्व और भी बढ़ गया। प्रति परिवार पीछे कृषकों को भूमि दी गई। इस प्रकार पंजाब में चिनाव उपनिवेश की सन् १८९३ में, झेलम उपनिवेश की सन् १९०१ में, जमराव उपनिवेश की सन् १८९८ में सिन्ध में स्थापना हुई।

सिंचाई आयोग के बाद निर्माण कार्य—

सन् १८६६-१६०१ के दुर्भिक्षों के परिणामस्वरूप सरकार ने सिंचाई आयोग की स्थापना की। उत्पादक कार्यों के सम्बन्ध में आयोग का विचार था:—"चुनाव, अर्थ और निर्माण कार्य के अनुसार हर एक उत्पादक कार्य रक्षात्मक है। उनके द्वारा जो प्रत्यक्ष आय होती है, वह एक सम्पदा है। विशेषतः उन अकालों व बाढ़ों के समय जब अन्य दिशा में तनाव होता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि यह राष्ट्र की सम्पदा को बढ़ाने का एक महान् साधन है, जिसके व्यय का बहुत बड़ा भाग पुनः सरकार को प्राप्त हो जाता है। घनी आबादी वाले भागों की जन-संख्या इस ओर आकर्षित होती है इसके साथ ही अकाल के समय भागे हुए व्यक्ति शरण पाते हैं। यह नवीन क्षेत्र कृषि कार्य के उपयोग में आते हैं, जिससे कृषि का विकास होगा, जन जीवन की सुरक्षा में वृद्धि होगी व रेलवे किराया आदि सस्ते होंगे तथा देश के अन्य भागों में उत्पादन आसानी से पहुँचाया जा सकेगा। इन्हीं कारणों से यह सुझाव रखा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादक कार्य को महत्व दिया जाना चाहिए। नए बाँधों के निर्माण के बदले आबादी व बस्ती के अनुसार बाँधों व नहरों का निर्माण होना चाहिए। यदि उस पर भी अधिक आवश्यकता हो व कोष की कमी हो तो उसमें सहकारिता के आधार पर व्यवस्था की जा सकती है।" इस प्रकार सिंचाई आयोग की सिफ़ारिशें बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई तथा व्यय व कार्य पहले से दूना हो गया। *इसी नीति के अनुसार नवीन कार्यों का श्रीगणेश हुआ।*

सर्व प्रथम जो कार्य हाथ में लिया गया, वह त्रिशाखा योजना (ट्रिपल प्रोजेक्ट) थी, जिसमें ऊपरी झेलम नहर (१९१५), ऊपरी चिनाव नहर (१९१२) तथा नीचे की बारी दोआब नहर (१९१५) शामिल थी। इसी समय निचली झेलम नहर का भी निर्माण हुआ और ऊपरी स्वात नहर का निर्माण उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में हुआ। दुर्भिक्ष आयोग की इस दिशा में रुकावट की कोई इच्छा न थी। उसका मन्तव्य इस प्रकार है :—"हमारी यह धारणा नहीं है कि हम किसी दुर्भिक्ष से पीड़ित क्षेत्र की उत्पादक सुरक्षा को खतरा पहुँचायें, अतः उन क्षेत्रों में जहाँ इस प्रकार की सुरक्षा नहीं है, वहाँ उनके लिये आवश्यक माँग की जा सकती है, परन्तु अन्य के लिए यह सोचा जा सकता है कि उत्पादक भागों की तुलना में बाह्य आय कम होगी। दूसरे शब्दों में, पूरी व्यय सम्पत्ति की खालिस आय २० गुनी से अधिक नहीं है, इसलिये उनके मूल्य के बारे में हमें सम्यक् विचार करना चाहिए तथा जो भाग उत्पादक ढङ्ग से असुरक्षित है, वहाँ वह धन राशि व्यय की जानी चाहिए, जो लगान से ३० गुनी से अधिक न हो अथवा लागत पूँजी पर ३% के रूप में वर्ष भर में प्राप्त होती रहे। इसके अलावा अप्रत्यक्ष आय व अन्य उत्पादक कार्य इस बात की स्वीकृति दिलवाते हैं कि आशा की गई पूँजी से कम प्राप्त होता है तो हमें उस पर ध्यान देना चाहिए।

यह विशेष तौर से कार्य की शीघ्रता के सम्बन्ध मे होना चाहिए, अतः ऐसे कार्य मे पूँजी अधिक लग सकती है और बाढ़ आदि के समय पूरे तौर मे प्राप्ति न हो तो ध्यान दिया जा सकता है। इस प्रकार यह गवेषणापूर्ण कार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई के कार्य का कितना ही महत्त्व हो, जिसे हम उत्पादक श्रेणी मे पाते है, वह प्रत्यक्ष आय से कम होता जायगा, अतः उन क्षेत्रो मे जो अकालग्रस्त हैं, सिंचाई कार्य पूरा महत्त्व रखते है।''

इन सुझावो मे हम आधुनिक शताब्दी की सिंचाई नीति का जन्म मानते हैं। इस युग मे जो उत्पादन कार्य हाथ मे लिया गया, वह त्रिवेणी नहर का था। अन्य उत्पादन कार्य जो मध्य प्रदेश मे हाथ मे ले लिए गये थे वे महानदी, वैनगंगा, तुन्दला और रमेतक नहरो का कार्य था। बम्बई मे भी इस प्रकार का कार्य हाथ मे ले लिया गया था, जिसमे प्रवोरा और नीरा नहरो का कार्य महत्वपूर्ण है।

युद्धोत्तर सिंचाई निर्माण कार्य में प्रगति—

सन् १९१९ के पश्चात् सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, इसलिए प्रान्तीय सरकारें अब नहरो के निर्माण मे उत्साह ले रही हैं, लेकिन ५० लाख रुपये से अधिक की योजना प्रारम्भ करने पर भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। उत्पादक व अन्य कार्यों के लिए ऋण लिया जा सकता है। इसके अलावा प्रान्तीय आय दुर्भिक्ष संरक्षण एव सहायता कार्य मे भी खर्च की जा सकती है। महायुद्ध के पश्चात् कई सिंचाई कार्यों का विकास हुआ है, जैसे—सतलज घाटी बाँध, जो कि २१ करोड़ की लागत से सन् १९३२-३३ में बनाया गया, जिसमे राजस्थान के बीकानेर डिवीजन की ५० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होने लगी। दूसरा कार्य सक्कर बाँध का था, जोकि आज पाकिस्तान मे है। इस पर ४० करोड़ रुपये खर्च हुए और ७५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जाने लगी।

योजना काल में सिंचाई कार्यक्रम—

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् सिंचाई कार्यक्रम में तेजी से विकास हुआ है, विशेषतः अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत और सन् १९५१ के बाद पञ्च-वर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना मे ७२० करोड़ रु० लागत की सिंचाई योजनाओ का समावेश किया गया था, जिसमे १५० योजनाएँ तो ऐसी थी जिनकी लागत १० लाख रु० से अधिक की थी और २०० योजनाएँ दुर्लभ क्षेत्रो के स्थायी सुधार के सम्बन्ध मे थी। इन २०० योजनाओ में १३ बहुमुखी एवं सिंचाई योजनाएँ थी, जिनकी प्रत्येक की लागत १० करोड़ रु० से अधिक थी। इन योजनाओ मे कुछ तो ऐसी थी जिन पर योजना के आरम्भ के पूर्व ही ८० करोड़ रु० व्यय किया गया था।*

* Economic Weekly, Aug. 2, 1958.

प्रथम योजनाओं में इन योजनाओं पर ३८० करोड़ रु० व्यय किए गए तथा शेष राशि दूसरी योजना की अवधि में व्यय होगी। प्रथम योजना काल में २२० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई सुविधायें बढ़ाने का लक्ष्य था, परन्तु योजना काल में १६३ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत बढ़ाया गया, जिसमें १००लाख एकड़ सिंचाई की लघु योजनाओं तथा शेष ६३ लाख एकड़ वृहत योजनाओं की पूर्ति से बढ़ा।[1]

दूसरी योजना में प्रथम योजना की अधूरी योजनाओं को पूर्ण करने तथा नई योजनाओं की रीति के लिए ३८० करोड़ रु० का आयोजन है। इस राशि में से २२२ करोड़ प्रथम योजनाओं की पूर्ति के लिए व्यय होगा और शेष दूसरी योजना काल में समाविष्ट १९५ नई योजनाओं पर व्यय किया जायगा।[2]

अनुमानित लागत	योजनाओं की संख्या	कुल अनुमानित लागत (करोड़ रु०)	भूमि पर अनुमानित सिंचाई लाभ (लाख एकड़)
१० से ३० करोड़ रु०	१०	१११	८४
५ से १० करोड़ रु०	७	५४	१५
१ से ५ करोड़ रु०	३३	८५	३४
१ करोड़ रु० से कम	१४३	४६	१५
योग	७९५	३०६	१४८

स्पष्ट है कि दूसरी योजना में मध्यम सिंचाई योजनाओं को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें ३१ करोड़ रु० का आयोजन सिन्ध नदी से भारत को मिलने वाले पानी के हिस्से के उपयोग के लिए व्यय होगा। इन योजनाओं के फलस्वरूप दूसरी योजना की पूर्ति पर २१० लाख एकड़ से सिंचाई का क्षेत्र बढ़ेगा, जिसमें से १२० लाख एकड़ वृहत मध्यम सिंचाई योजना से तथा शेष ९० लाख एकड़ लघु-सिंचाई योजनाओं से लाभान्वित होगा। फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में सिंचाई सुविधाओं के विकास से ४·२ मि० टन से बढ़ेगा, ऐसा अनुमान है।[2]

सिंचाई से होने वाली हानियाँ—

सिंचाई से भूमि के उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही कारी हानियाँ भी हुई हैं। नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र में भूमि इतनी संतृप्त हो जाती है कि उसमें हर समय पानी भरा रहता है तथा दलदल हो जाता है, जिससे मच्छर आदि पैदा हो जाते हैं। अधिक सिंचाई के कारण भूमि का क्षार फैल जाता है, जिससे भूमि कृषि के अयोग्य हो जाती है। पंजाब प्रान्त में ११,२५,००० एकड़ और बम्बई में नीरा घाटी में

1. Hindustan Year Book, 1958.
2. Second Five Year Plan.

५१,००० एकड़ भूमि जल रेखा के ऊँचे हो जाने तथा भूमि पर क्षार फैल जाने से खेती के अयोग्य हो गई है।

प्रोफेसर बृजनारायण ने इस खतरे की सूचना देने वाली मुख्य बातें इस प्रकार बतलाई हैं :—(१) एक या दो वर्ष तक 'बारनी' की फसलें असाधारण रूप में अच्छी रहती हैं। (२) तीसरे वर्ष इस दोष में भूमि के ऊपर 'कालर' के धब्बे दिखाई देते हैं, जिससे बीज नहीं उगते। (३) धीरे-धीरे उत्पादन कम होने लगता है और वह धब्बा सारे खेत में फैल जाता है। (४) नहर के पास के गड्ढों का पानी मुर्चैले रंग का हो जाता है। (५) धीरे-धीरे पानी ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। (६) सोते के पानी वाला स्तर धीरे-धीरे सतह की ओर बढ़ता जाता है। (७) उस क्षेत्र के पीने का पानी स्वाद रहित हो जाता है और उस सारे वातावरण में एक प्रकार की दुर्गन्ध फैलने लगती है।

वास्तव में बात यह होती है कि मिट्टी में जो नमक या क्षार का अंश होता है वह पानी की सतह की मिट्टी के साथ साथ ऊपर की ओर बढ़ आता है। नहरों द्वारा बाढ़ या वर्षा का जल रुक जाता है। दूसरे, नहरों का भी जल बढ़ता है। इसका प्रभाव मिट्टी पर बुरा पड़ता है और धीरे-धीरे जमीन के नीचे के क्षार पदार्थ ऊपर की ओर बढ़ने लगते हैं। इस प्रकार मिट्टी की उर्वरा शक्ति जाती रहती है।

इस दोष से बचने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिये :—(१) ट्यूबवैल तथा नालियों आदि के द्वारा पानी को बाहर निकाल देना। (२) वह भूमि जिस पर नहरें बढ़ती हैं उसको कम्पोस्ट से भर देना, परन्तु इस व्यवस्था से अन्य नालों की स्थिति में कोई सुधार न होगा। (३) रुकी हुई नालियों को खोल देना। (४) नहरों द्वारा सिंचाई को रोकना। सिंचाई की वर्तमान व्यवस्था में कभी-कभी अत्यधिक सिंचाई हो सकती है। अतः उक्त उपायों द्वारा हम इस दोष से मुक्त हो सकेंगे।

परिशिष्ट

तृतीय पंचवर्षीय योजना और सिंचाई सुविधाएँ—

योजना आयोग की राय में कृषि अर्थतन्त्र के पुनर्निर्माण और औद्योगीकरण का पथ तेजी से प्रशस्त करने के लिए सिंचाई और बिजली साधनों का तेजी से विकास करना बहुत जरूरी है।*

* नवभारत टाइम्स अगस्त १२, १६६०

देश मे प्राप्त नदी जल साधनों के एक अंश का ही उपयोग हो रहा है। सन् १६५० में इन साधनो का अनुमान १ अरब ३५ करोड़ ६० लाख एकड़ फुट लगाया गया था। प्राकृतिक कारणो से सिर्फ ४५ करोड एकड फुट जल साधनों का ही सिंचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है।

द्वितीय योजना के अन्त तक नदियो में बहने वाले ११ करोड ६० लाख एकड़ फुट पानी का ही उपयोग हो सकेगा, जो उपयोग में आ सकने वाले जल साधनो के २६ प्रतिशत भाग के बराबर है। तृतीय योजनाकाल मे उपयोगी पानी का प्रतिशत बढ करके ३६ प्रतिशत हो जायगा।

पहली योजना के आरम्भ में सिर्फ ५ करोड १५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी। सन् १६६०-६१ तक ७ करोड एकड भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तीसरी योजना के अन्त में ६ करोड एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी।* अनुमान है कि पांचवी योजना के अन्त तक साढे आठ से नौ करोड एकड़ तक भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तृतीय योजना में इस दीर्घकालीन लक्ष्य को सामने रखा गया है।

पहली और दूसरी योजना मे सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की योजनाओं पर १४ अरब रुपये का अनुमानित व्यय होगा। इन योजनाओं का जब पूरा-पूरा विकास हो जायगा तब ३ करोड़ ८० लाख एकड भूमि पर सिंचाई हो सकेगी।

पहली और दूसरी योजना अवधि मे जो परिकल्पनाएं शुरू की गयी उनको पूरा करने के लिए ६ अरब २० करोड रुपये की आवश्यकता होगी। इन परिकल्पनाओं पर ४ अरब ७० करोड़ रुपया तो तृतीय योजना काल मे तथा शेष चौथी योजना काल में खर्च किया जायेगा।

आयोग का कहना है कि देश के कुछ भागो मे जैसे पंजाब मे पनसाट की समस्या गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। तृतीय योजना काल मे इस समस्या को हल करने के लिए बड़े पैमाने पर कार्यवाई करने का विचार है। इसी प्रकार केरल जैसे राज्यो मे जहां समुद्री लहरो से भूमि का कटाव होता है, इस समस्या को हल करने के लिए ध्यान दिया जाना चाहिए।

तृतीय योजना में बाढ नियन्त्रण, पानी की निकासी, पनसाट और जमीन के कटाव को रोकने के कार्यक्रमो पर ८० करोड रुपया खर्च करने का विचार है। यह रकम सिंचाई की मदद से ली जायगी। सिंचाई के लिये तृतीय योजना मे साढे छः अरब रुपया रखा गया है।

घाटे पर—

योजना आयोग ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हाल के वर्षों मे सिंचाई के लिए जो व्यवस्थायें की गयी वे प्रायः सभी राज्यो मे घाटे पर चल रही हैं और

* सम्पदा—अगस्त १९६०

विभिन्न कारणों से उनसे पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है। आयोग ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करके निम्न बातें सुझायी।

(१) सिंचाई योजनाओं द्वारा सिंचाई की जिन सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है उनका तेजी से उपयोग हो।

(२) आबपाशी की दर मे फेर-बदल की जाय और जल उपकर लगाया जाय।

(३) खुशहाली कर वसूल किया जाय।

यह भी जरूरी है कि किसी क्षेत्र के लिए सिंचाई की योजना मंजूर होते ही उस समूचे क्षेत्र मे यथाशीघ्र विकास खड स्थापित कर दिये जायें।

जल उप-कर—

आयोग का यह भी सुझाव है कि जिन इलाको के लिये सिंचाई की व्यवस्था की गई है, परन्तु जहां इस सुविधा से लाभ उठाना या न उठाना किसान की इच्छा पर निर्भर है, वहां समूचे इलाके की जनता पर अनिवार्य जल उप कर लगाया जाय। इस उप-कर की अदायगी के लिये यह जरूरी नही कि कोई किसान सिंचाई सुविधा का उपयोग करता है अथवा नही। यह सभी को देना होगा।

अध्याय ६

बहुमुखी नदी घाटी योजनाएँ

(Multi purpose River-Valley Projects)

"बहुमुखी नदी योजनायें आदि वस्तुतः देश के नए तीर्थ हैं, जिन्हें भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी यात्री आश्चर्य के साथ देखते हैं।

—श्री नेहरू

"बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने का ढंग है जो वास्तव में एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।"

—लुई सम्फर्ड

बहुमुखी-योजनायें

(Multi-purpose Projects)

भारत में खाद्य पदार्थों की कमी को पूरा करने के लिये सिंचाई की सुविधाओं में और अधिक वृद्धि करने की तत्कालीन आवश्यकता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में सिंचाई के लिये जितना पानी उपलब्ध हो सकता है उसका केवल ६% ही अब तक कार्य में लाया गया है। शेष पानी व्यर्थ ही समुद्र में बह जाता है और प्रति वर्ष अनियन्त्रित बाढ़ों से इतनी धन और जन की हानि होती है, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है।

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा जल शक्ति और सिंचाई की वृद्धि के लिये कई योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओं की पूर्ति पर न केवल देश में सिंचाई के साधनों में वृद्धि होगी, वरन् जल-शक्ति में वृद्धि, बाढ़ नियन्त्रण, जल-मार्ग, आमोद-प्रमोद और मछली पकड़ने आदि, सभी कार्यों में सहयोग प्राप्त होगा। ये सभी बहुमुखी योजनायें कहलाती हैं।

'बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने का ढंग है जो वास्तव में एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।" इस प्रकार हम न तो किसी पक्ष की उपेक्षा ही करते हैं और न हमारा दृष्टिकोण एकांकी रह पाता है। उस क्षेत्र की सभी आवश्यकताओं और सभी साधनों को ध्यान में रखते हुये बहुमुखी योजना विकास कार्य करती है। किसी नदी का सम्पूर्ण अध्ययन इसी ढंग के अन्तर्गत सम्भव है। नदी की स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक अर्थव्यवस्था तथा साधनों में अनावश्यक उलट-फेर न कर उनका इस प्रकार विकास किया जाता है कि समाज को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो

विद्युत केन्द्र को प्राप्त हो गई। इस केन्द्र की पूर्ण क्षमता ६०,००० किलोवाट तक बढ़ाई जा सकती है।

पचेट हिल पर बांध बनाने का कार्य चालू है, जिसका प्रमुख उद्देश्य बाढ़ नियन्त्रण है। यहां पर १,३६१ एकड़ फीट पानी संग्रह होगा तथा इसकी सहायता से ४०,००० किलोवाट बिजली का उत्पादन हो सकेगा। इसकी कुल लागत १८·२५ करोड़ रु० होगी तथा सन् १९५६ में पूर्ण होने की आशा थी।

दुर्गापुर बराज आसनसोल से २५ मील और दुर्गापुर रेलवे स्टेशन से १ मील पर है। इसकी लम्बाई एवं ऊँचाई क्रमशः २,२७१ और २८ फीट है। इस बांध की नहर पद्धति से १०·२६ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधायें उपलब्ध हो गई हैं। इसका उद्घाटन सन् १९५५ में किया गया। इसके अलावा कलकत्ता से कोयले की खानों तक हुगली नदी से जल यातायात की सुविधायें भी यहां की नहर पद्धति से उपलब्ध हो गई। इसकी कुल लागत २२·६८ करोड़ रु० है। जल यातायात की सुविधायें सन् १९५९ तक उपलब्ध हो सकेंगी, जिनसे २० लाख टन माल का यातायात हो सकेगा।

बोकारो थर्मल स्टेशन बिहार स्थित कोनार बांध की निचली धारा पर १२ मील दूरी पर है। इसमें ५०,००० किलोवाट विद्युत उत्पादक तीन इकाइयां हैं तथा ७५,००० किलोवाट की चौथी इकाई की शीघ्र ही स्थापना होनी है। इस केन्द्र से जमशेदपुर और बर्नपुर के लौह उद्योग, घाटशिला की तांबे की खानों, बिहार और बंगाल की कोयले की खानों, सिन्द्री एवं कलकत्ता तथा आसनसोल के आसपास के सीमेंट और इञ्जीनियरिंग कारखानों को बिजली का प्रदाय होगा। इस केन्द्र का उद्घाटन फरवरी सन् १९५३ में हुआ।

(३) कोसी योजना—

यह बिहार की महत्वपूर्ण योजना है, जो सिंचाई, विद्युत, जलमार्ग, बाढ़ नियन्त्रण, मिट्टी के कटाव से सुरक्षा, मलेरिया नियन्त्रण, मत्स्य उद्योग और मनोरंजन की सुविधायें प्रदान करेगी। इस योजना के अनुसार हनुमाननगर (नेपाल) से तीन मील दूरी पर कोसी नदी पर एक बराज बनेगा। दूसरे, कोसी नदी के दोनों तटों पर १५० मील लम्बी दीवारें बनाई जावेंगी। तीसरे, हनुमाननगर बराज से पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा, जो लगभग १३·९५ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधायें देगी। इस प्रमुख नहर की मुर्लीगंज, प्रतापगंज, पूर्णिया और अररिया, ये चार शाखायें होंगी। ये सभी कार्य चालू अवस्था में हैं और १५० मील की तटबन्दी का कार्य पूर्णता पर है। इस योजना की लागत ४४·६ करोड़ रु० है।

(४) हीराकुण्ड योजना—

हीराकुण्ड योजना के अन्तर्गत महानदी के पानी का उपयोग सम्बलपुर और बोलानगिर जिले के ६·७ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएं देने के लिए किया

जायगा। हीराकुण्ड बांध संभलपुर रेल्वे स्टेशन से ६ मील दूरी पर होगा। इसकी लम्बाई एवं ऊँचाई क्रमशः १५,७४८ और २०० फीट होगी तथा इसमें ६'६० मि० एकड़ फीट पानी रहेगा। इससे निकलने वाली नहर एवं उसकी शाखाएँ ६१'५ लाख मील तथा इसकी सहायक नहरें ४६० मील लम्बी होंगी और जलमार्ग (Water Courses) की लम्बाई ६,५०० मील होगी। इस योजना की लागत ७०'७८ करोड़ रु० है।

इस योजना का कार्य सन् १९४८ में प्रारम्भ हुआ तथा हीराकुण्ड का प्रमुख बांध और उसके अवरोध सन् १९५७ में पूर्ण किए गए। यहाँ पर एक विद्युत गृह भी बनाया गया है, जिसमें ४०,००० किलोवाट उत्पादन क्षमता की दो इकाइयाँ (Generating units) हैं, जहाँ से हीराकुण्ड अल्यूमिनियम फेक्ट्री, झरसुगुडा, राजगंगपुर, रूरकेला, जोडा, तालचर, चौद्वार और बारगढ आदि स्थानों पर बिजली के प्रदाय की व्यवस्था पूर्ण हो गई है तथा दिसम्बर सन् १९५६ से शक्ति का प्रदाय प्रारम्भ किया गया। प्रमुख नहर और सहायक नहरों की खुदाई का कार्य पूर्ण हो गया है, जहाँ से सिंचाई की सुविधायें सितम्बर सन् १९५६ से दी जाने लगी हैं। फलस्वरूप इस योजना से नवम्बर सन् १९५७ तक लगभग १'४५ लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ गई।

डेल्टा सिंचाई की एक १४'६२ करोड़ रु० की योजना स्वीकृत की गई है, जो सन् १९६० में पूर्ण होने पर कटक और पुरी जिलों की १९७ लाख एकड़ भूमि को स्थायी सिंचाई सुविधाएँ देगी। इसी प्रकार विद्युत-शक्ति की अधिक मांग की पूर्ति करने की दृष्टि से विद्युत-गृह के विकास की योजना भी स्वीकृत की गई है, जिससे विद्युत गृह की विद्युत उत्पादन-क्षमता २,३२,५०० किलोवाट हो जायगी।

इस योजना की पूर्ति पर दामोदर घाटी का प्रदेश भारत के अत्यन्त समृद्ध भागों में गिना जायगा, क्योंकि यह प्रदेश खनिज पदार्थों से सम्पन्न है।

(५) तुङ्गभद्रा योजना—

यह योजना आन्ध्र और मैसूर राज्य द्वारा आरम्भ की गई है तथा दक्षिण भारत की सबसे बड़ी बहुमुखी योजना है। इस योजना के अनुसार तुङ्गभद्रा नदी पर ७,९४२ फीट लम्बा और १६२ फीट चौड़ा बांध बनेगा, जहाँ से नहरें निकाली जायेंगी तथा बांध के दोनों ओर जल-विद्युत केन्द्र होंगे। यह बांध द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद प्रारम्भ होकर जुलाई सन् १९५३ में पूरा हो गया तथा इसमें ३० लाख एकड़ फीट पानी की संग्रहण क्षमता है। इसके दोनों ओर से नहरें निकाली जायेंगी जो १'३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना में तीन विद्युत केन्द्र बनाए जायेंगे, जिनकी उत्पादन क्षमता ९९,००० किलोवाट होगी। बांध पर स्थित विद्युत-गृह में ९,००० किलोवाट उत्पादन-क्षमता वाली दो बिजली उत्पादक

इकाइयाँ आ गई हैं तथा तीनो विद्युत गृह सन् १९६७ तक पूर्ण होने की आशा है। इस योजना की कुल लागत ६० करोड रु० है।

(६) रिहंड योजना—

यह पूर्वी उत्तर प्रदेश की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। यह बाँध मिरजापुर जिले में पिपरी के पास रिहड नदी पर बनाया जायगा, जिसकी ऊँचाई एवं लम्बाई क्रमशः २९४·५ एव ३,०९५ फीट तथा तथा पानी सग्रहण क्षमता ८९ लाख एकड फीट होगी। इसी बाँध पर प्रारम्भिक अवस्था में २·५ लाख किलोवाट का विद्युत केन्द्र बनेगा, जिसकी अन्तिम विद्युत उत्पादन क्षमता ३ लाख किलोवाट होगी। इस योजना से उत्तर-प्रदेश में १४ लाख एकड और बिहार मे ५ लाख एकड भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इसकी अनुमानित लागत ४५·२६ करोड रु० है और सन् १९६१-६२ में पूर्ण होने का अनुमान है।

इस योजना से सोन नदी की घाटी का प्रधान प्रदेश गगा से सम्बन्धित हो जायगा तथा बड़े-बड़े जहाज हुगली से रिहड तक चल सकेंगे तथा खनिज पदार्थों के धनी प्रदेशो का औद्योगीकरण किया जा सकेगा। यह योजना पूर्वी रेल्वे के कुछ भागो को बिजली की पूर्ति करेगी, जिससे २०,००० डिब्बे कोयले की वार्षिक बचत हो सकेगी।

(७) चम्बल योजना—

चम्बल योजना की प्रथम सीढी पर राजस्थान और मध्य-प्रदेश शासन सयुक्त रूप से कार्य कर रहे है। इस योजना के अनुसार तीन बाँधो मे से प्रत्येक पर एक विद्युत केन्द्र, कोटा के पास बराज (Barrage) एव इसके दोनो ओर नहरें बनाई जावेंगी। पहिली सीढी मे गान्धीसागर बाँध बनेगा, जो झालावाड स्टेशन से लगभग ५ मील दूरी पर होगा। इसकी ऊँचाई, लम्बाई एव पानी सग्रहण शक्ति क्रमशः २१२ व १,६८० फीट एव ५७·३ लाख एकड फीट होगी। गाँधी सागर विद्युत केन्द्र पर २३,००० किलोवाट वाली चार विद्युत उत्पादक इकाइयाँ होगी। "इस योजना का अनुमानित व्यय ४६·४६ करोड रु० होगा तथा इसकी पूर्ति पर यह राजस्थान को १४ लाख एकड और मध्य-प्रदेश की १२ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करेगी। इसका आरम्भ जनवरी सन् १९५४ मे हुआ तथा प्रथम सीढी जून सन् १९५९ में पूर्ण होने का अनुमान है।"*

(८) कोयना-योजना (बम्बई)—

उत्तरी सतारा जिले के देशमुखवाडी के पास कोयना नदी पर २,२०० फीट लम्बा एवं २०७·५ फीट ऊँचा बाँध बनाया जायगा। इसमे पानी सग्रहण शक्ति ३९,०४५ मि० घन फीट होगी। इसी बाँध पर एक विद्युत केन्द्र होगा, जिसमें

* साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २८ सितम्बर, १९५८।

में से कुछ राशि देहातों मे भेजी है, परन्तु इन सबके विरुद्ध दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—छोटे किसान लगान और ऋण चुकाने के लिए अपनी फसल का थोड़ा भाग ही बेचते है और दूसरी ओर उपभोग पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस वर्ग के किसानों के ऋण मे कोई विशेष कमी नहीं हुई।"[1] गाडगिल कृषि अर्थ उपसमिति का इसी प्रकार का मत नीचे मे निम्न है[2]:—

(१) सन् १९४४ में ऋण की राशि सन् १९३९ की अपेक्षा कम हो गई, परन्तु इसके पश्चात् ऐसी प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो गयीं जिससे इस राशि मे फिर वृद्धि हुई।

(२) कृषि पदार्थों की मूल्य वृद्धि कुछ रुक गई थी और उत्पादन व्यय की वृद्धि लगभग कृषि मूल्य वृद्धि के बराबर हो चली थी।

(३) बड़े-बड़े जमींदारों और काश्तकारों को इस मूल्य वृद्धि से अवश्य लाभ हुआ, परन्तु छोटे छोटे अनाभकारी खेतों वाले किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

(४) बढ़ी हुई आय का ऋण चुकाने मे उपयोग किया गया हो अथवा इसको उपभोग्य पदार्थों पर खर्च न किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य मे किसानों को इतना लाभ होने वाला नहीं है, सम्भवतः उन्हें कठिन समय का सामना करना पड़े।

ऋण का भार—

केन्द्रीय बैंक जाँच समिति ने ऋण-ग्रस्त कृषक पर ऋण के भार का अनुमान इस प्रकार लगाया है—उत्तर-प्रदेश मे प्रति कृषक औसत ऋण १७२ रु० पाया गया। मद्रास प्रान्त मे लगान के प्रति १ रु० के पीछे लगभग १६ रु० ऋण था। मध्य-भारत मे प्रति एकड़ ६ रु० ५ आने ऋण आँका गया और प्रति परिवार पर औसत ऋण २२७ रु० था। बिहार और उड़ीसा में भी प्रति परिवार २१७ रु० से ३०७ रु० तक ऋण पाया गया। बगाल मे प्रति व्यक्ति औसत ऋण लगभग १४७ रु० और १५२ रु० के बीच था। बम्बई प्रान्त मे प्रति परिवार पर ११५ रु० से २२५ रु० ऋण था। ऋण से मुक्त कृषकों की भी जाँच की गई, सयुक्त प्रान्त मे लगभग ६१ प्रतिशत कृषक ऋणी नहीं थे। मध्य प्रान्त में लगभग ४० प्रतिशत ऋण मुक्त थे और बम्बई में १३ प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश की बैंक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है—छोटे-छोटे किसान, जिनके पास कुछ खेत है, अधिक ऋणी थे, क्योंकि उन्हें अपनी जमीन बेचने की सुविधा प्राप्त थी।

१. "रिपोर्ट ऑफ फेमिन इन्क्वायरी कमीशन" (Final), पृष्ठ ३००।
२. गाडगिल कृषि-अर्थ उपसमिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

इस योजना की लागत ८६·३३ करोड रु० है तथा सन् १९६३-६४ में पूर्ण हो जायगा।

(१२) भद्रा-संघ योजना—

यह मैसूर सरकार की बहुमुखी योजना है, जिससे शिमोगा, चिकमगलूर, चितलदुर्ग तथा बेलारी जिले की २·३४ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। साथ ही, ३३,२०० किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन कम हो सकेगा। बांध की ऊँचाई एवं लम्बाई १०९ एवं १,४०० फीट होगी, जिसमें ३६,०३५ मि० घन फीट पानी रह सकेगा। इसके दोनों ओर २१२ मील लम्बाई की दो नहरें निकाली जावेंगी। इस योजना का कार्य सन् १९४७-४८ में आरम्भ हुआ था तथा सन् १९६१ तक पूर्ण होने की आशा है। योजना की लागत २४·४२ करोड रु० है।

(१३) मचकुण्ड योजना—

यह आन्ध्र और उड़ीसा राज्य की संयुक्त योजना है, जिससे इन प्रदेशों की सीमा पर मचकुण्ड नदी पर १७६ फीट ऊँचा और १,३४५ फीट लम्बा एक बांध बनाया गया है। इसमें २७,२०० मि० घन फीट पानी संग्रहण-क्षमता है। इस बांध पर जो विद्युत-गृह बनाया गया है उसमें १७,००० किलोवाट वाली तीन बिजली उत्पादक इकाइयां हैं। २३,००० किलोवाट वाली तीन और इकाईयां बढ़ाई जावेंगी, जिससे इसकी विद्युत उत्पादन क्षमता १,२०,००० किलोवाट हो जायगी।

इन योजनाओं के अलावा निम्न योजनाएँ भी हैं :—

नाम योजना	लागत (करोड रु०)	सिंचाई सुविधा (एकड)	विद्युत शक्ति (किलोवाट)	पूर्णता
मलपुफाह (करल)	—	३५,०००	—	१९५५
मनीमुथार (मद्रास)	३·०५	—	—	—
पेरियर (त्रिवाकुर)	१०·४८	—	७,०५,०००	—
लोवर भवानी (मद्रास)	६·५१	२,०७,०००	—	१९५६
कंगसावती (प०बङ्गाल)	२५·९६	९·५ लाख	—	१९५७
कुन्दाह (मद्रास)	३३·४४	—	१८,०००	—
शरावती विद्युत योजना (मैसूर)	२२·९९	—	१,७१,०००	१९६१
तवा (मध्य-प्रदेश)	१८·३४	५,८५,६७२	—	—

उक्त योजनाओं के अलावा अनेक छोटी-मोटी योजनाएँ देश में कार्यान्वित हो रही हैं। फलस्वरूप दूसरी योजना की समाप्ति पर सिंचाई के अन्तर्गत १·२ करोड एकड भूमि में वृद्धि होगी। प्रथम योजना की चालू योजनाओं की पूर्ति होने पर ९० लाख तथा दूसरी योजना की नवीन योजनाओं की पूर्ति से ३० लाख एकड़ भूमि

सिंचाई के अन्तर्गत बढ़ेगी। फलस्वरूप सन् १९६१ तक भारत की सिंचित भूमि ८·९८ करोड हो जायगी। इस प्रकार पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् सन् १९७५-७६ तक लगभग १८-१९ करोड एकड़ भूमि के लिए सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हो जावेंगी।[1]

इस प्रकार प्रथम योजना के प्रारम्भ में भारत की विद्युत उत्पादन शक्ति २३ लाख किलोवाट थी, जो योजना की समाप्ति पर ३४ लाख किलोवाट हो गई। दूसरी योजना के अन्त में यही ६९ लाख किलोवाट हो जायगी और तीसरी योजना की समाप्ति पर १·६ करोड किलोवाट होगी।[2] इस विकास से जन गणना कमिश्नर सन् १९५१ की याद आती है कि—"विश्वास नहीं होता है, किन्तु फिर भी सत्य है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत उल्लिखित सिंचाई के नये साधनो द्वारा सींची जाने वाली कुल भूमि अंग्रेजी राज्य के सौ वर्षों मे निर्मित साधनो द्वारा सिंचित भूमि से अधिक होगी। इसका कारण यह है कि पुराने दिनों में सिंचाई के साधनो का आर्थिक दृष्टिकोण से लाभप्रद होना साधारणतः अनिवार्य था, किन्तु आज यह बन्धन नहीं रह गया है।"

सिंचाई व्यवस्था के मार्ग में कठिनाइयाँ—

सिंचाई की बहुमुखी योजनाओं को पूरा करने के लिये भारतवर्ष मे संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और इङ्गलैंड की भाँति कुशल कम्पनियों और विशेषज्ञों का अभाव है। इससे इनके निर्माण मे बाधा पड़ती है। आधुनिक जल नियन्त्रण योजनाओं के निर्माण मे समय का मूल्य सबसे अधिक है, अतः निर्माण की शीघ्रतम विधियो को कार्यान्वित करना उचित होगा। यदि निर्माण काल अधिक हो गया तो व्यय भी निश्चित ही बढ़ेगा। ऐसा अनुमान किया गया है कि एक वर्ष की देर हो जाने से कुल व्यय मे १०% की वृद्धि आसानी से हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह क्षेत्र उतने समय तक सभी सुविधाओं से वंचित रहता है।

भारत मे सिंचाई की व्यवस्था का विकास करने मे निम्न कठिनाइयाँ हैं:—

(१) वित्त की समस्या— सिंचाई योजनाओ को लागू करने मे सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है, जिसके लिए बहुत अधिक रुपयो की आवश्यकता पड़ती है। पंच-वर्षीय योजना के अनुसार बड़ी सिंचाई योजनाओ के लिए ३९१ करोड तथा ४२७ करोड़ रु० की बिजली के लिए आवश्यकता पड़ेगी। इसके साथ ही कुँओ तथा तालाबो का निर्माण करने के लिए व्यक्तियों और सहकारी समितियों को कुछ अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी। इस धन को प्राप्त करने के लिए पंच-वर्षीय योजना में ऋण लेने, राजस्व की आय से सहायता लेने, विशेष अनुदानों, जल पूर्ति कर और लगान मे वृद्धि

१. भारतीय समाचार १५-६ १९६०

2. India.

करने और सिंचाई तथा विकास कर (Betterment Levy) लागू करने की व्यवस्था की गई है।

(२) टेक्नीकल ज्ञान का अभाव—धन की कमी के साथ ही योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक टेक्नीकल कर्मचारियों का भी अभाव है। प्रायः सभी बड़ी योजनाओं में विदेशी टेक्नीशियनों को नियुक्त किया गया है, जिस पर अनावश्यक रूप में अधिक व्यय होता है, इसलिए यह जरूरी है कि देश में भारतियों को शिक्षित करने के लिए अनुसन्धान और ट्रेनिंग केन्द्र खोले जायें।

(३) आवश्यक सामान की कमी—भारत में इन योजनाओं के लिए इस्पात और सीमेंट की कमी है, इसलिए यह जरूरी है कि इनका उत्पादन बढ़ाया जाय और जो कुछ सामान उपलब्ध हो सके उसको सबसे पहिले सिंचाई के निर्माण कार्य में लगाया जाय।

(४) पानी का अनुचित उपयोग और बरबादी—भारतीय किसान पानी का उचित उपयोग नहीं करता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक पानी की मात्रा अलग-अलग होती है, परन्तु भारतीय किसान बिना सोचे-समझे पानी का उपयोग करता है। पानी की अधिकता खेती के लिए उतनी ही हानिकारक है जितनी कि उसकी न्यूनता। एक समय में अधिक पानी देने की अपेक्षा बार-बार पानी देना अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। पानी की इस बर्बादी को कुछ हद तक नहरों को पक्का बनाने और काम में लाये गए पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लागू करने में रोका जा सकता है।

(५) पानी का गलत बँटवारा—भारतीय किसान अपने खेत को सींचने के लिए बहुत समय तक वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा करता है और जब वर्षा में देर हो जाती है तब सिंचाई के लिए नहरों और नल-कूपों से पानी लेने के लिए भागता है, परन्तु सब किसानों को एक ही समय में नहरों और नल कूपों से आवश्यक पानी मिलना सम्भव नहीं है, क्योंकि भारत में नहरों और नल कूपों का पानी किसान की औसत आवश्यकता से कम है। इस प्रकार की भाग-दौड़ से सिंचाई की व्यवस्था पर बहुत भार पड़ता है, जिसको कम करने के लिए किसानों को अपनी आवश्यकताएँ पहिले से ही दर्ज करानी चाहिए, लेकिन रजिस्ट्री के क्रमानुसार ही उन्हें पानी मिलना चाहिये।

ये कठिनाइयाँ असाध्य नहीं हैं, इसलिए उचित प्रयत्नों से इनको हल किया जा सकता है। यदि किसान सहयोग दें और पानी को उचित रूप में व्यवहार में लाने की आवश्यकता को समझें तथा बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं के साथ साथ फलीभूत होने वाली योजनाओं पर जोर दिया जाय तो देश की सिंचाई व्यवस्था में अवश्य ही सुधार होगा।

बाढ़ नियन्त्रण—

कृषि उद्योग की सफलता एवं विकास के लिए जितनी अवर्षा से रक्षा होने के लिए सिचाई साधनो की आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता फसलों की बाढ से रक्षा करने की है, परन्तु इस ओर सन् १९५४ तक कोई ध्यान नही दिया गया था। सन् १९५४ यह एक ऐसा वर्ष था जिसमे अप्रत्याशित बाढे आने से देश की असीमित हानि हुई। फलस्वरूप भारत सरकार ने सितम्बर सन् १९५४ में बाढ नियन्त्रण कार्यक्रम बनाया, जिसके तीन खण्ड हैं:—तत्कालीन, अल्पकालीन और दीर्घकालीन।

तत्कालीन खण्ड की अवधि २ वर्ष है, जिसमे बाढ सम्बन्धी गहन खोज और आँकडो के एकत्रीकरण का समावेश था। दूसरे खण्ड की अवधि अगले ५ वर्ष की थी, जिसमें बाढ सुरक्षा साधनो को कार्यान्वित करना था, जैसे—तटबन्दी और नहरों में सुधार। तीसरे रूप में कुछ नदियों की सहायक नदियो पर अवग्राही-तालाब तथा आवश्यक अतिरिक्त तटबन्दी का निर्माण होना था।

इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए एक केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा तथा १२ राज्यो मे बाढ नियन्त्रण सभाएँ बनाई गई हैं। इन सभाओं को तान्त्रिक मामलों में सहायता देने के लिए सलाहकार समितियाँ भी है। इसके अलावा केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा की सहायता के लिए चार नदी आयोग (बाढ) [River Commission (Floods)] भी है। केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा ने २४·०६ करोड़ रु० लागत की ५४ योजनाएँ स्वीकृत की है। इनमे से प्रत्येक की लागत १० लाख रु० से अधिक है। इसके अलावा ४०·६२ करोड रु० लागत की ६४ योजनाएँ विचाराधीन हैं। विभिन्न राज्यो एवं संघीय प्रदेशो (Union Territories) ने ६·६५ करोड रु० की ४७७ अन्य योजनाएँ स्वीकृत की गई है।

अभी तक बाढ-नियन्त्रण का जो कार्य हुआ है उसमें उत्तर-प्रदेश के ३,२०० गाँवों का धरातल ऊँचा किया गया, कोसी नदी पर १३५ मील की तटबन्दी तथा १,६०० मील की अन्य तटबन्दियों की गई है। इसके अलावा जो अन्य कार्य इस दिशा में हुए उन्होंने सन् १९५७ की बाढो मे अपनी सफलता का परिचय दिया।[1] इसके अलावा ४६,८०० वर्ग मील क्षेत्र के चित्र विमान द्वारा लिए गए और ३५,५०० वर्ग मील भूमि को समतल किया गया।[2]

उच्च-स्तरीय समिति—

उपलब्ध जानकारी के आधार पर बाढ नियन्त्रण की समस्या का विचार कर रक्षात्मक साधनो पर सलाह देने के लिए एक उच्च-स्तरीय समिति सन् १९५७-५८ वर्ष में बनाई गई, जिसने अपनी प्रतिवेदना भारत सरकार को प्रस्तुत कर दी है।

1. India 1958.
2. Indian Information, June 1, 1958.

समिति ने बाढ को रोक-थाम के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—*

भारत मे बाढ की समस्या के तीन रूप हैं—(१) जमीन का पानी में डूब जाना, (२) नदियो के किनारो को काटना और (३) नदियो की दिशा या धारा बदलना। स्थिति के अनुसार इनके लिए विशेष उपाय करना होगा।

चार क्षेत्र—

समिति ने बाढ नियन्त्रण के लिए पूरे देश को चार क्षेत्रों में बांटा है :—(१) उत्तर पश्चिम की नदियो का क्षेत्र, (२) गंगा नदी क्षेत्र, (३) ब्रह्मपुत्र नदी क्षेत्र और (४) दक्षिण की नदियो का क्षेत्र। कश्मीर मे बाढ का मुख्य कारण यह है कि झेलम का पाट और मुहाना चौडा न होने के कारण उसका पानी चारो ओर फैल जाता है। पजाब मे जल की निकासी ठीक से नही होती। गंगा की घाटी मे भी मुख्य समस्या है कि पानी चारो ओर भर जाता है और गाव डूब जाते हैं। कही-कहीं किनारो के कटाव से और पानी की निकासी ठीक न होने के कारण भी क्षति होती है। कोसी नदी की धारा बदलती रहती है और इसमे बहुत नुकसान होता है। सुन्दरबन के क्षेत्र में बाढ के साथ ज्वार आने के कारण किनारे धसक जाते हैं। ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियो की बाढ से किनारे बहुत कटते हैं और कभी-कभी भूमि पानी में डूब जाती है। दक्षिण में मुख्य समस्या नदियो के मुहानो के आस-पास के क्षेत्र का जलमग्न होना है।

समिति ने बाढ से होने वाली क्षति का अनुमान लगा कर बताया कि यदि बाढ न आए तो देश की राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष एक अरब रुपये बढ सकती है। सबसे अधिक क्षति असम में होती है। सन् १९५० से अब तक बाढ से सबसे अधिक क्षति गगा के मैदान मे हुई, इसके बाद ब्रह्मपुत्र की घाटी मे।

क्षति में वृद्धि नहीं—

रिपोर्ट मे कहा गया है कि क्षति के आंकडो से यह प्रकट नही होता कि इधर कुछ वर्षों मे बाढ से होने वाली क्षति मे वृद्धि हुई है। सबसे अधिक क्षति फसलो को और उसके बाद गांवो और शहरों को सम्पत्ति को पहुँची। इसके बाद सार्वजनिक इमारतों, सड़को, पुलो आदि का नम्बर आता है। क्षति के आंकडे भी अभी ठीक से इकट्ठे नही किये जाते। समिति ने इसके लिए विधि बताई है, जिससे क्षति का ठीक अनुमान लग सके।

समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि क्षेत्र विशेष के लिए अलग-अलग बाढ-नियन्त्रण योजनाएं बनाई जानी चाहिए और जहां तक सम्भव हो, इन योजनाओं का सिंचाई और बिजली योजनाओं से मेल बैठना चाहिए। बहुमुखी योजनाओं पर विचार के समय उनके बाढ रोकने के पहलू पर भी विचार होना चाहिए और उसके लिए एक साथ धन स्वीकार किया जाना चाहिए।

* भारतीय समाचार दिनाक जून १५, १९५८—पृष्ठ ३२०।

तटबन्धों की उपयोगिता—

समिति इस नतीजे पर पहुँची है कि बाढ़-नियन्त्रण के लिए तटबन्ध बहुत उपयोगी हो सकते हैं, यदि उन्हें ठीक तरीके से बनाया जाये, उनकी डिजाइन सही हो और वे उपयुक्त स्थानों पर बनाये जायें। किन्तु तटबन्धों के साथ-साथ बाढ़ का पानी इकट्ठा करने के लिए जलाशय आदि भी बनाए जाने चाहिए। इनकी मरम्मत भी अवश्य होती रहनी चाहिए। इन कामों में काफी लागत पड़ सकती है और नदियों के बहाव और मार्ग के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होना चाहिए। समिति ने बाढ़-नियन्त्रण के दूसरे उपायों पर भी विचार किया है, जिन्हें दो वर्गों में बाँट दिया गया है—(१) बाढ़ रोकने के उपाय और (२) क्षति कम करने के उपाय। बाढ़ रोकने के कई उपाय हैं, जैसे—बाढ़ का पानी जमा करने के लिए जलाशय बनाना, धारा पर नियन्त्रण, गाँवों, बस्तियों आदि को ऊँचाई पर बसाना और पानी के बहाव का ठीक प्रबन्ध करना।

क्षति घटाने के भी कई उपाय हैं, जैसे—लोगों को बाढ़ क्षेत्रों से हटाकर दूसरी जगहों में बसाना, बाढ़ की पहले से सूचना देना और बाढ़ का बीमा करना। समिति ने विभिन्न राज्यों में बाढ़-नियन्त्रण के इन उपायों की सफलता और त्रुटियों पर विचार किया है।

भू-संरक्षण—

समिति ने इस बात पर भी जोर दिया है कि बाढ़-नियन्त्रण के लिए नदी के तल में बालू, मिट्टी न जमने दी जाए। इसलिए भू-संरक्षण बहुत आवश्यक है। जमीन का कटाव रोकने से धारा में मिट्टी कम बह कर आती है और इससे बाढ़ की कुछ रोक होती है।

जमीन का कटाव रोकने के तरीकों में मेंड़बन्दी, गरकों या कटी जमीन को भरना और उन पर पेड़ लगाना, सीढ़ीनुमा खेत बनाना आदि हैं। ये काम बहुमुखी बाँधों के क्षेत्र में, हिमालय की तराई में, गंगा के मैदान में और दक्षिण की पठारी भूमि में होने चाहिए। काम शीघ्रता से और उपरोक्त क्रम से होना चाहिए। राज्य सरकारों को जमीन का कटाव रोकने के काम कराने के लिए विभाग या मण्डल बनाने चाहिए और उन्हें समुचित अधिकार देना चाहिए।

समिति ने राय दी है कि जिन राज्यों में बहुत बाढ़ें आती हैं, उन्हें इसके रोकने की योजनाएं बनाने के लिए विशेष टुकड़ी बनानी चाहिए।

जहाँ बाढ़ से खतरा बहुत हो, उसके लिए तात्कालिक उपाय किये जायें। इसके बाद ऐसे उपायों और कामों को हाथ में लेना चाहिए, जिनसे आगे चल कर बाढ़ रुकने और अन्न की पैदावार बढ़ने में मदद मिले।

बाढ़ रोकने की योजनाओं की जाँच के लिए राज्यों को ऋण—*

भारत सरकार ने राज्यों को बाढ़ रोकने की योजनाओं की जाँच करने के

* भारतीय समाचार १-६-५८, पृ० २६२-२६३।

लिए उन्ही शर्तों पर ऋण देने का निर्णय किया है, जिन शर्तों पर उन्हे योजनाओ के लिए ऋण दिया जाता है।

बाढ रोकने की योजनाओं के लिए दूसरे आयोजन मे ६० करोड रुपया रखा गया है। इसमे से पड़ताल, कोसी और दामोदर घाटी निगम की बाढ नियन्त्रण योजनाओं और केन्द्र शासित राज्यो की बाढ नियन्त्रण योजनाओ के लिए १६ करोड ६१ लाख रुपया रखा गया है। बाकी ४३ करोड ६ लाख रुपया राज्यो को बाढ नियन्त्रण योजनाएं चलाने के लिए दिया जायेगा। राज्य सरकारो को सन् १६५६–५७ मे ८ करोड ३६ लाख रुपया और सन् १६५७–५८ मे ८ करोड १६ लाख रुपये का ऋण देना स्वीकार किया गया था। सन् १६५८–५६ मे ८ करोड रुपया ऋण दिया गया।

योजना के सीमित साधनो को ध्यान मे रख कर राष्ट्रीय विकास परिषद् ने हाल ही मे कुछ निर्णय किए हैं। अब उन्ही निर्णयो के अनुसार मण्डल को बाढ-नियन्त्रण योजनाओ पर होने वाले खर्च पर फिर से विचार करना होगा।

इन विविध प्रयत्नो के फलस्वरूप बाढो से होने वाली हानि से भारत की रक्षा हो सकेगी तथा कृषक को अपने विकास के लिए निश्चितता एव निरुभयता का वातावरण हो उत्पन्न सकेगा, ऐसी आशा है।

अध्याय १०

ग्रामीण ऋण एवं ऋण सन्नियम

(Rural Debt & Debt Legislation)

'ग्रामीण ऋण संकट का सूचक है, जबकि औद्योगिक ऋण सामान्य है।"
—बंगाल बैंकिंग जाच समिति की रिपोर्ट।

ग्रामीण ऋण भारतीय कृषि की महत्त्वपूर्ण समस्याओं मे से एक है। भारत की समृद्धि कृषि पर निर्भर है और तीन-चौथाई से अधिक जन-सख्या अपना उदर पोषण इसी पर करती है। परन्तु भारी ऋण के कारण आज भारतीय किसान पिछड़ा हुआ है और कृषि की दशा दयनीय है। इसमे सन्देह नहीं कि ग्रामीण ऋण की समस्या का कोई भी प्रभावशाली हल हमारे आर्थिक कार्य-क्रम का पहिला कदम होगा। ऋण कृषक को अनुत्पादक बना देता है, जिसका भार पीढ़ी दर पीढी बढता चला जाता है। इस प्रकार

भारतीय कृषकों का ऋण कृषि के सर्वनाश का कारण है। वुल्फ के अनुसार :—"देश महाजनों के चंगुल में है, इसलिए कृषि की असफलता का कारण ऋण ही है।"

ग्रामीण ऋण का अनुमान—

समय-समय पर भारतीय कृषकों की ऋण-ग्रस्तता का अनुमान लगाया गया है। सन् १८७५ में डेक्कन रॉयट्स कमीशन के अनुसार ब्रिटिश भारत के कृषकों में से ⅓ ऋणी हैं, जिनका औसत ऋण ३७१ रु० है। सन् १८८० और सन् १९०१ के दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार कम से कम ⅓ कृषक ऋण ग्रस्त थे और उनके खेत तेजी से महाजनों के पास जा रहे थे। सन् १९११ में सर एडवर्ड मैक्लेगन के अनुसार ब्रिटिश भारत का कुल ऋण ३०० करोड़ रुपया था और सन् १९२४ में सर डार्लिंग के अनुसार कुल ६०० करोड़ रुपया था। प्रान्तीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी और भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने उक्त अनुमानों के आधार पर खोज करके सन् १९३४ में भारतीय ऋण का पूरा लेखा ९०० करोड़ रुपये का बताया। बीच के इस समय में कृषक की आमदनी तो घट कर आधी हो गई, परन्तु सन् १९३५ में डा० पी० जे० थॉमस ने १२,०० करोड़ रुपये ऋण का अनुमान लगाया था। उस समय का रुख व्यापार की मन्दी की ओर था और जैसे-जैसे कच्चे माल की कीमतें कम होने लगी, ऋण का वास्तविक भार बढ़ता गया। सर थॉमस ने इस बात को सोचा कि वास्तविक ऋण तो २,२०० करोड़ रुपया है। कीमतों की इस गिरावट ने एक साधारण कृषक के लिये मूल का भुगतान भी असम्भव कर दिया। मन्दी के कठोर प्रहार के कारण ऋण भविष्य के लिए बढ़ता जा रहा था। कृषि साख विभाग की सन् १९३७ की खोज के अनुसार सन् १९२९ से सन् १९३२ की कृषि उपज की कीमतों में मन्दी के कारण ऋण का भार वास्तव में कृषक को रुपये की तुलना में कई गुना अधिक कष्टदायक है। उन्होंने इसको १,८०० करोड़ रुपया आंका था। इस रकम पर वार्षिक ब्याज यदि सबसे नीची दर पर भी लगाया जाय, तो १०० करोड़ रु० से अधिक होगा।

प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियों के अनुसार विभिन्न प्रान्तों के ऋण के आंकड़े १९२९ में निम्न थे—*

प्रान्त	करोड़ रु०
मद्रास	१५०
बंगाल	१००
पंजाब	१३५
उत्तर-प्रदेश	१२४
मध्य-प्रदेश, बरार	३६½
बिहार, उड़ीसा	१५५
असम	२२

* Reports of Provincial Banikng Enquiry Committies.

गाडगिल कृषि उप समिति के अनुसार ऋण के ये आँकड़े विश्वसनीय नहीं है। परन्तु फिर भी उनमें साधारण प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। ग्रामीण साख सर्वे समिति की रिपोर्ट के अनुसार मन्दी के पश्चात् की अवधि में सन् १९२९-३० की अपेक्षा ऋण की मात्रा में वृद्धि ही हुई है।[1]

सन् १९२९ की मन्दी का प्रभाव—

सन् १९२९ में बाजार भाव गिरने के साथ-साथ कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत कम हो गये, परन्तु लगान और अन्य मदों में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। फलतः किसान की आय कम और व्यय अधिक हुआ। मन्दी का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि ऋण का मौद्रिक भार ही नहीं, बल्कि वास्तविक भार भी बहुत अधिक बढ़ गया।[2]

सन् १९२९ की मन्दी के पश्चात् जो सर्वे हुए उनमें इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[3] उत्तर-प्रदेश की ऋण निवारण समिति (सन् १९३८) के अनुसार "मन्दी के काल में सारे राज्य में ब्याज या ऋण चुकाना स्थगित हो गया था। नए ऋण पर ब्याज की दर बढ़ गई थी, लेकिन राज्य के समस्त ऋण में वृद्धि अवश्य हुई।" इसी प्रकार बङ्गाल के आर्थिक आपरीक्षण बोर्ड (१९३५) के अनुसार—"बंगाल के प्रायः सभी जिलों में कृषि ऋण में वृद्धि हुई, फलस्वरूप किसानों के पास कुछ भी नहीं बच पाता था।" सन् १९३५ में श्री सत्यनाथ ने मद्रास की जो जाँच की थी, उसमें भी स्पष्ट है कि मन्दी के समय किसानों पर ऋण बहुत अधिक बढ़ गया था। रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग ने भी अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य की पुष्टि की है। ऋण का यदि पदार्थों में मूल्यांकन किया जाये तो निश्चित रूप से अब यह सन् १९२९ की मन्दी के बाद पहिले से दुगुना हो गया है।[4] श्री एम० एल० डार्लिंग ने भी पंजाब में मन्दी के बुरे प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है:—सन् १९२१ में मेरा कृषि ऋण का अनुमान ९० करोड़ रुपए था, परन्तु ९ वर्ष पश्चात् सन् १९३० में मेरा अनुमान १४० करोड़ रुपयों का है।[5]

जहाँ तक कृषि ऋण का प्रश्न है, मन्दी का दूसरा पक्ष भी है। कुछ विद्वानों का मत है कि मन्दी से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण ऋण वृद्धि की गति धीमी हुई। मन्दी से किसानों की कठिनाई निःसन्देह बढ़ी, परन्तु साथ ही उसने ऋण चुकाना भी स्थगित कर दिया था। इससे साहूकार का ऋण देने का सामर्थ्य कम हो गया और ऋण राशि भी घटी। इस समय मुस्वत्व का हस्तान्तरण भी बहुत अधिक हुआ, जिससे ऋण में कमी हुई। अतः साहूकार भी वसूली कठिनता से कर पाते थे, इसलिए उन्होंने

1. Vol. 1. Pt.1, page 225-26.
2. गाडगिल कृषि अर्थ उप-समिति की रिपोर्ट, पृ० ५।
३. डा० कृष्णकुमार शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड रूरल क्रेडिट, पृ० १३।
४. प्रेलिमनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक) सन् १९३६, अनुच्छेद १३।
5. Darling : Punjab Peasants in Prosperity and Debt, p. 17

अधिक छूट देकर ऋण राशि में कमी की। कृषि अलाभकर होने के कारण कम ऋण लिये गये और ऋण भी उतनी सरलता से नहीं मिलते थे। उक्त युक्तियों में सत्य का कुछ अंश हो सकता है, परन्तु इन सब बातों ने मन्दी के प्रभावों को रोका हो, ऐसी कोई बात वस्तुस्थिति से सिद्ध नहीं होती। कृषि पदार्थों के मूल्य जो इस काल में गिरे उससे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में जो उथल-पुथल मची वह सर्व विदित है।

युद्ध-काल सन् (१९३९–१९४५) में कृषि मूल्य, विशेषकर खाद्यान्न और तम्बाकू के मूल्य कच्चे माल तथा औद्योगिक पदार्थों के मूल्य की तुलना में बहुत कम बढ़े। परन्तु पक्के माल की कीमतें बढ़ती ही जा रही थी। इसलिये कृषक के उत्पादन व्यय में वृद्धि हुई। यद्यपि लगान और सिंचाई की दरें स्थिर थी, फिर भी परिव्यय के अन्य मदों में वृद्धि होती जा रही थी। अतः यह निर्विवाद है कि कृषक की क्रय-शक्ति में कमी हुई, क्योंकि कृषि मूल्यों की अपेक्षा औद्योगिक मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई। फलतः कृषक वर्ग, विशेषकर खेतिहर मजदूरों और छोटे कृषकों की आय में कमी हुई।

कृषि मूल्यों की इस असाधारण वृद्धि के जो लाभकारी प्रभाव कुछ क्षेत्रों और किसानों के कुछ वर्गों पर हुए, उनके कारण कुछ विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं :—युद्ध-काल में कृषि ऋण की राशि में कमी हुई है, इस मत की पुष्टि के लिये सामान्यतः निम्न तथ्य दिये जाते हैं :—

(१) भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) तथा कृषि ऋण अधिनियम (Agricultural Loans Act) के अन्तर्गत दिये गये ऋण युद्ध-काल में अधिक चुकाये गये हैं और अप्राप्त (Out Standing) ऋण की राशि भी कम हुई।[1]

(२) सहकारी समितियों के आँकड़ों से पता लगता है कि उनकी कालातीत ऋण राशि जो सन् १९४०-४१ में १०½ करोड़ रुपया थी, वह सन् १९४२-४३ में ९ करोड़ रुपये रह गई।[2] समितियों को पहले की अपेक्षा ऋण भी कम देने पड़े।

(३) कृषि भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के कारण मद्रास प्रान्त में किसानों ने भूमि बन्धक बेंकों के ऋण समय से पूर्व ही चुका दिये तथा बम्बई प्रान्त से भी इसी प्रकार की सूचनायें प्राप्त हुई हैं।

रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सरकारों और अन्य संस्थाओं की सहायता से जो युद्धकालीन कृषि परिस्थिति की जानकारी प्राप्त की है, उससे पता चलता है कि सामान्यतः किसानों ने सहकारी समिति का, साहूकार का एवं सरकार का ऋण चुकाने का प्रयत्न किया है।

1. गाडगिल समिति की रिपोर्ट, पृ० ७।
2. डा० शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड रूरल क्रेडिट, पृ० १४।

अतः कुछ विद्वानो ने इन तथ्यों से निष्कर्ष निकाला कि युद्ध-काल में किसानों ने अपना ऋण चुकाया, इसलिये ऋण की राशि कम हो गई है, परन्तु इस मत को स्वीकार करने से पहिले उल्लिखित तथ्यों का विश्लेपण करना आवश्यक है।

भूमि सुधार ऋण विधान और कृषि ऋण विधान के अन्तर्गत दिये गये ऋणों की अदायगी समस्त कृषक वर्ग की आर्थिक उन्नति की द्योतक नहीं मानी जा सकती। "इन विधानों के अन्तर्गत ऋण बड़ी राशि में कभी नहीं दिया गया, अतः वे कृषि अर्थ व्यवस्था के सम्पूर्ण अङ्ग नहीं माने जा सकते।"[1] इस प्रकार का ऋण अधिकतर किसान अकाल या अन्य सङ्कट के समय ही लेता है, अतः किसी भी वर्ष सारे भारत में उसकी राशि ३५ लाख से अधिक नहीं हुई, जबकि कृषि की वार्षिक आर्थिक आवश्यकता ४०० करोड़ रुपये आंकी गई।[2] जब किसान सरकारी ऋण लेता है तो उसकी वसूली कड़ाई के साथ की जाती है, अतः किसान उसे चुकाने के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रकार के ऋण की अदायगी किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार की द्योतक नहीं, बल्कि सरकारी ऋण से मुक्त होने की चिन्ता की द्योतक है।

भूमि बन्धक बैंकों के ऋण समय से पूर्व चुकाये जाने की बात पर भी ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। निस्सन्देह जमींदारों और बड़े-बड़े किसानों को कृषि मूल्य वृद्धि से लाभ हुआ है और उन्होंने अपने ऋण में कमी भी की है, परन्तु हमारे देश में मद्रास प्रान्त को छोड़ कर भूमि बन्धक बैंकों की संख्या कितनी है ? और जहाँ इस प्रकार के बैंक है भी, उनसे लाभ उठाने की स्थिति में कितने प्रतिशत किसान हैं ? बड़े किसानों को भी जो लाभ आरम्भ में हुआ, उनमें अब कमी आरम्भ हो गई है। कृषि उत्पादन व्यय और कृषि मूल्यों की वृद्धि में अब विशेष अन्तर नहीं है, अतः जिस लाभ के कारण सन् १९४१-४४ में कमी हुई, वह कम होता जा रहा है। मद्रास की भूमि बन्धक बैंकों से अब कृषक फिर ऋण लेने लगे हैं।[3]

रिजर्व बैंक की रिपोर्टों और प्रान्तीय सरकारों के विवरण से कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि युद्ध मे ऋण चुकाने की प्रवृत्ति बढ़ी है, इसलिये ऋण की राशि में कमी हुई। निस्सन्देह सन् १९४३ के पश्चात् कृषि मूल्यों में वृद्धि विशेषकर खाद्यान्नों के मूल्यों में सामान्य स्तर से कहीं अधिक हुई है। इसका लाभ कृषकों को अवश्य हुआ है, परन्तु यह मत समस्त ग्रामीण जनता के सम्बन्ध में स्वीकार करने से पूर्व समस्त स्थिति का विश्लेषण करना आवश्यक है। असाधारण कृषि मूल्य वृद्धि से केवल वे कृषक ही लाभ उठा सके हैं, जो अतिरिक्त उत्पादन करने की स्थिति में थे। ऐसे किसान जो अपनी खेती से अपने अनाज का खर्च निकाल कर बाजारों में अनाज बेच सकते थे उनको ही बाजार के बढ़ते हुए मूल्यों से लाभ हुआ है, परन्तु छोटे-छोटे

1. The Indian Rural Problem—Nanawati & Anjaria, P 188.
२. केन्द्रीय बैंक जाँच समिति सन् १९२९।
३. गाडगिल समिति रिपोर्ट 1946 : Page 8

किसान जिनके पास छोटे-छोटे खेत थे और जो खेती से जैसे तैसे अपने लिए अनाज और लगान का काम चलाते थे, उनके पास बाजार में बेचने के लिये बहुत कम अनाज था। इसलिए उनको बाजार के बढ़ते हुए भावों से क्या लाभ हो सकता था ? अकाल जाँच कमीशन ने प्रान्तीय सरकारों से इस सम्बन्ध में जो मत प्राप्त किए हैं, उनसे उक्त बात सिद्ध होती है कि छोटे किसान कृषि मूल्य वृद्धि से लाभ उठाने की स्थिति में थे हीं नहीं।*

सुप्रसिद्ध कृषि अर्थशास्त्री श्री मनीलाल नानावटी के अनुसार "बड़े-बड़े जमींदारों और साहूकारों को लाभ हुआ, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ग्रामीण जनता को विशेष लाभ नहीं हुआ।" खेतिहर मजदूरों तथा छोटे किसानों की आर्थिक परिस्थिति में युद्ध के कारण जो परिवर्तन हुए, उनके सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हुए, अतः इस विषय पर हम केवल विशेषज्ञों और जाँच समिति के मत पर ही निर्भर रहते हैं।

कुमारप्पा कृषकीय सुधार समिति ने इस विषय को वैज्ञानिक ढङ्ग से विवेचना की है। समिति ने डा० कायडू के सहमत होते हुए ऋण के प्रभावों के सम्बन्ध में लिखा है :—

(१) कृषि मूल्य वृद्धि की अपेक्षा कृषक के निर्वाह व्यय और उत्पादन व्यय में अधिक वृद्धि हुई।

(२) कृषक अपनी आवश्यकता के सारे पदार्थ सीमित भूमि होने के कारण स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः युद्धकालीन मूल्य वृद्धि से लाभ के बजाय अधिकांश में हानि ही हुई।

(३) खेतिहर मजदूरों को केवल अनाज में जब मजदूरी मिलती है तो उसे छोड़कर मजदूरी की दरों में वृद्धि का कोई लाभ नहीं हुआ।

(४) सहकारी समितियों में ऋण की अदायगी और ऋण में कमी होने पर कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली थी कि ऋण मात्रा में काफी कमी हो गई है। परन्तु यह धारणा बहुत कुछ गलत थी, क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में ऐसे किसान ऋण ग्रस्त थे, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक न होने से सहकारी समितियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

अकाल जाँच समिति की (जो कुमारप्पा समिति से पहिले नियुक्त हुई थी) उक्त मत की ही थी:—"विभिन्न प्रान्तों द्वारा भेजे हुए विवरणों से ऐसा लगता है कि छोटे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि कृषि भूमि का मूल्य बढ़ा है। मजदूरी की दरों और रोजगार में वृद्धि होने के कारण ऐसे किसानों की आय में भी जो सहायक धन्धे करते हैं, कुछ वृद्धि हुई है। सिपाहियों ने भी अपने वेतन

* फ़ैमिन कमीशन रिपोर्ट (फाइनल), पृ० २६७-६१।

में से कुछ राशि देहातों में भेजी है, परन्तु इन सबके विरुद्ध दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—छोटे किसान लगान और ऋण चुकाने के लिए अपनी फसल का थोड़ा भाग ही बेचते हैं और दूसरी ओर उपभोग पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस वर्ग के किसानों के ऋण में कोई विशेष कमी नहीं हुई।"[1] गाडगिल कृषि अर्थ उपसमिति का इसी प्रकार का मत नीचे में निम्न है[2]:—

(१) सन् १९४४ में ऋण की राशि सन् १९३९ की अपेक्षा कम हो गई, परन्तु इसके पश्चात् ऐसी प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो गयीं जिससे इस राशि में फिर वृद्धि हुई।

(२) कृषि पदार्थों की मूल्य वृद्धि कुछ रुक गई थी और उत्पादन व्यय की वृद्धि लगभग कृषि मूल्य वृद्धि के बराबर हो चली थी।

(३) बड़े-बड़े जमींदारों और काश्तकारों को इस मूल्य वृद्धि से अवश्य लाभ हुआ, परन्तु छोटे छोटे अनार्थकारी खेतों वाले किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

(४) बढ़ी हुई आय का ऋण चुकाने में उपयोग किया गया हो अथवा इसको उपभोग्य पदार्थों पर खर्च न किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य में किसानों को इतना लाभ होने वाला नहीं है, सम्भवतः उन्हें कठिन समय का सामना करना पड़े।

ऋण का प्रभार—

केन्द्रीय बैंक जाँच समिति ने ऋण-ग्रस्त कृषक पर ऋण के भार का अनुमान इस प्रकार लगाया है—उत्तर-प्रदेश में प्रति कृषक औसत ऋण १७२ रु० पाया गया। मद्रास प्रान्त में लगान के प्रति १ रु० के पीछे लगभग १६ रु० ऋण था। मध्य-भारत में प्रति एकड़ ६ रु० ५ आने ऋण आँका गया और प्रति परिवार पर औसत ऋण २२७ रु० था। बिहार और उड़ीसा में भी प्रति परिवार २१७ रु० से ३०७ रु० तक ऋण पाया गया। बंगाल में प्रति व्यक्ति औसत ऋण लगभग १४७ रु० और १५२ रु० के बीच था। बम्बई प्रान्त में प्रति परिवार पर ११५ रु० से २२५ रु० ऋण था। ऋण से मुक्त कृषकों की भी जाँच की गई, संयुक्त प्रान्त में लगभग ६१ प्रतिशत कृषक ऋणी नहीं थे। मध्य प्रान्त में लगभग ४८ प्रतिशत ऋण मुक्त थे और बम्बई में १३ प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश की बैंक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—छोटे-छोटे किसान, जिनके पास कुछ खेत हैं, अधिक ऋणी थे, क्योंकि उन्हें अपनी जमीन बेचने की सुविधा प्राप्त थी।

१. "रिपोर्ट ऑफ फेमिन इन्क्वायरी कमीशन" (Final), पृष्ठ ३०० ।
२. गाडगिल कृषि-अर्थ उपसमिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

सन् १६४२ के पूर्व एवंपश्चात् के खेतिहर मजदूरों के ऋण समाप्त किये जायें या उनकी भुगतान शक्ति के अनुसार उसे घटा दिया जाय। कर्ज अनुरक्त बोर्ड की सिफारिश है कि देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक कमी की जाय।

रुपया उधार देने का कार्य निम्न प्रकार से किया जाय :—

महाजन को लाइसेंस आदि की प्राप्ति—

मध्य-प्रदेशीय (केन्द्रीय) महाजन सुधार कानून सन् १६३६ के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया कि प्रत्येक महाजन अपने आपको रजिस्टर्ड कराकर प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। जो इस प्रकार रजिस्ट्री न कराएगा, वह कानून की दृष्टि से अपराधी माना जाकर ५०) रु० जुर्माना देगा और यदि बाद में भी यह क्रम जारी रहा तो १००) रु० जुर्माना देना होगा। पंजाब महाजन रजिस्ट्रेशन कानून १६३८ के द्वारा लाइसेंस न लेने वालों के साथ किसी प्रकार की रियायत न की जायगी। बिहार तृतीय महाजन कानून सन् १६३८ के द्वारा पंजाब कानून की नकल की गई। सन् १६३८ के बंगाल कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस पर जोर दिया गया। जो व्यक्ति रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्र नहीं रखता, उसका अदालत में मुकद्दमा चलाने का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है तथा लाइसेंस न लेने पर १५) जुर्माना किया जाएगा। उत्तर-प्रदेश का महाजन कानून (सन् १६३६) भी पंजाब कानून की भाँति प्रभावशाली है, परन्तु इसमें अदालत में निर्धारित रुपया जमा कराने पर मुकद्दमे का अधिकार दिया गया है। बम्बई (सन् १६३८) कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस लेना आवश्यक हो गया है, अन्यथा वह जुर्म समझा जायगा।

हिसाब सम्बन्धी कानून—

महाजनों की चालाकियों और बेईमानियों को रोकने के लिए हिसाब रखना जरूरी कर दिया गया। पंजाब हिसाब कानून के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया कि महाजन लोग सालाना हिसाब रखें और भुगतान की रसीद आदि कृषकों को पहुँचावें। इसकी अनुपस्थिति में न्यायालयों को यह अधिकार होगा कि वे उस पत्र व ब्याज को गैर कानूनी करार दें। मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई, बंगाल, आसाम और उत्तर-प्रदेश में भी इसी प्रकार के कानून बने। इस प्रकार इन सबमें पंजाब हिसाब कानून (सन् १६३०) का अनुकरण था।

कर्ज मुक्ति कानून में अत्यधिक सुधार की आशा से ब्याज की दर घटाने का प्रस्ताव रखा गया। सन् १६३६ के बंगाल महाजन कानून में यह धारा रखी गई कि प्रत्यक्ष कर्ज से ज्यादा आमदनी ब्याज से नहीं चुकाई जायगी, यदि यह ली गई तो एक अपराध के रूप में मानी जायगी, जिसकी सजा ६ माह जेल अथवा १,००० रुपये जुर्माना होगा। सन् १६३६ के उत्तर-प्रदेश के कानून में भी यही धाराएँ सम्मिलित की गई हैं। महाजन के चंगुल से कर्ज लेने वाले कृषक को बचाने सम्बन्धी आधार ये

हमारा कृषि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए बहुत बड़ी मात्रा में लिया गया है। देश के प्रत्येक भाग में विवाह इत्यादि के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत काफी ऊँचा है। यह ऋण कृषक की आय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करता, इसलिए उसका सबसे प्रभाव होता है और कृषक को ऋण मुक्त नहीं होने देता। (३) कृषक के परिवार की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अधिक राशि में ऋण लिया गया है। इससे कृषि अलाभकारी बन गई है, विशेषकर छोटे किसान के लिए। उसके कारण वह अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता। (४) भूमि या कृषि सुधार के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत बहुत ही कम है। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषक का विकास योजनाओं की सफलता में उतना विश्वास नहीं है कि वह कृषि सुधार के लिये पूँजी उधार ले। अर्थात् कृषि में एक प्रकार का स्थायित्व और निष्क्रियता आ गई है।

ऋण के कारण (Causes of Debts)—

(१) पैतृक ऋण—सबसे महत्वपूर्ण और मुख्य कारण पितृता ऋण है, जो पिता मरते समय अपने पुत्र को सौंप जाता है। किसान शायद इस नियम से परिचित नहीं होता है कि अपने पूर्वज के छोड़े हुए कर्ज को चुकाने का उत्तरदायित्व उस पर केवल उतना ही होता है कि जितने मूल्य की वह सम्पत्ति छोड़ गया था और यदि वह कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गया तो ऋण चुकाने की जिम्मेदारी बिल्कुल ही नहीं रहती। यदि यह नियम समझा भी दिया जाय तो सामाजिक प्रथायें ऐसी उलझी हुई हैं जो उन्हें ऋण अदा करने को ईश्वरी या पवित्र कार्य मानने को बाध्य कर देती है।[1] इस प्रकार किसान के सामने ऋण अदा करने का एक ही मार्ग है, जो "एक महाजन का कर्जा चुकाने के लिए दूसरों से कर्जा लिया जाय।" इस प्रकार कर्जे का बोझ और भी बढ़ता है। शाही कृषि कमीशन ने बतलाया है:—"भारतीय किसान ऋण में पैदा होता है और ऋण में जीवित रहता है तथा ऋण में ही मरता है।"[2]

(२) खेतों का बँटवारा—जब भू सम्पत्ति कम होती है, कृषि लाभकारी नहीं रहती और किसान व उसके परिवार के लिये भी खेत की उपज अपर्याप्त रहती है। फलस्वरूप या तो किसान ऋणी हो जाता है या कठोर परिश्रमी या फिर वह अपनी आय का और कोई प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध में डार्लिङ्ग का यह वक्तव्य मनोरंजक है:- कुछ एकड़ जमीन द्वारा अपने परिवार को चलाने और ऋणी न होने के लिए कौशल के प्रति अत्यन्त प्रेम, उद्योग और मितव्ययिता की आवश्यकता है। निस्सन्देह यह ठीक इसी प्रकार का होगा कि जैसे एक छोटी खेई जाने वाली नाव अटलान्टिक सागर के तूफान का सामना करे। लेकिन इसके लिए अच्छे खेने वाले और अच्छे बनाने वाले दोनों ही जरूरी हैं, नहीं तो वह निश्चय ही डूब जाएगी। भारत में कभी खेत

1 Central Banking Enquiry Committee Report, p 61.
2 Royal Commission Report on Agriculture, p 365.

एक का रहता है तो कभी दूसरे का और प्रकृति भी भूमि पर उतनी ही नाशकारी सिद्ध हो सकती है, जितनी समुद्र पर।''* खेत इतने छोटे होते हैं और रक्षा के साधन इतने सीमित होते हैं कि थोड़ा सा दुर्भाग्य ही उसको ऋण-ग्रस्त बनाने के लिए पर्याप्त होता है, जिससे वह फिर जीवन पर्यन्त छुटकारा नहीं पा सकता।

(३) जलवायु की अनिश्चितता—भारत में यदि वर्षा ठीक समय पर न हो तो उसका अनिवार्य फल दुर्भिक्ष है, जो किसान को उत्कट भाग्यवादी और सरकार के बजट को जुए का दांव बना देता है। फसल के नष्ट होने के कारण मुख्यतः बाढ़, तूफान, आग, अनिश्चित टिड्डी दल आदि हैं। कृषि पर यह अत्याचार गरीब किसान से बदला लेना है, जो उसकी स्थायी विपत्तियों का द्वार खोल देते हैं। इन-दुर्भाग्यों से बचने के लिए उसके पास पहिले का कोई सुरक्षित धन नहीं होता, फलस्वरूप उसे महाजनों के पास जाना पड़ता है, जो उसे इच्छानुसार नचाते हैं। केवल साधारण किसान ही अच्छे साल में बिना उधार लिए गुजारा कर सकता है, लेकिन बुरे साल में तो उसको भी अपनी आवश्यकता की सब चीजें उधार लेनी पड़ती हैं, जैसे—बीज, पशु, कपड़े और यहाँ तक कि भोज्य पदार्थ भी। कृषक के लिए पशुओं की बीमारी सबसे बड़ी मुसीबत होती है। पशु कृषक के पास सबसे खर्चीली पूँजी है और यह नुकसान उसको सबसे मँहगा पड़ता है, इसलिए उसको उधार लेना आवश्यक हो जाता है।

(४) कृषकों का अज्ञान और अशिक्षा—कृषकों की दशा और भी खराब बनाने के लिए अशिक्षा और अज्ञान मिल कर जन-संख्या को बढ़ाती जा रही हैं, जबकि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में उतनी वृद्धि नहीं हो रही है। अपने सीधेपन और अज्ञानता के कारण वे क्रूर और चतुर महाजन के चंगुल में आसानी से फँस जाते हैं। महाजन उधार देने में समर्थ होता है तथा मुकद्दमा लड़ने के लिए उसके पास वकील होता है। लेकिन कृषक के पास इसके विपरीत कोई उपाय नहीं, अतः वह पराजित हो जाता है।

(५) सहायक धन्धों का अभाव—भारत में ग्रामीण उद्योगों का अभाव और वर्ष में कुछ समय के लिए कृषकों का बेकार रहना, ऋणी होने का कारण है, अर्थात् जन संख्या का भार अब केवल भूमि को ही वहन करना पड़ता है। फल यह होता है कि उदर पोषण के लिए उनको पर्याप्त आय नहीं मिल पाती और किसान को विवश होकर महाजन की खर्चीली सहायता प्राप्त करनी पड़ती है। क्योंकि उसे आय बढ़ाने के वैकल्पिक साधन नहीं मिलते।

(६) कृषक की शारीरिक अयोग्यता और दरिद्रता—भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुसार:—भारतीय कृषक की वार्षिक आय अधिक से अधिक ४५ रु० से कुछ कम या ३ पौंड से कुछ कम होती है, जबकि इङ्गलैंड में यही आय ८५

* M. L. Darling : Pumjab Peasants in Prosperity and Debt, p. 262.

पौंड है। भारतीय कृषक कभी कभी तो आवश्यक खाद्य-पदार्थों का एक-चौथाई ही प्राप्त कर पाते हैं। खाने के लिए उनके पास पूरा भोजन नहीं होना, पहनने को पूरे वस्त्र नहीं होते, इसलिए परिश्रम करने के लिए उनमें पर्याप्त शारीरिक योग्यता का अभाव रहता है। कृषकों की एक बड़ी संख्या अत्यन्त निर्धनता से अपना जीवन व्यतीत करती है। शारीरिक निर्बलता के कारण वे आसानी से बीमार हो जाते हैं, जिससे और भी कमजोर हो जाते हैं। इसलिए उन्हें बाध्य हो कर ऋण लेना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक बन्धन और पारिवारिक स्नेह के कारण निर्धन व्यक्ति भी बड़ी ऊँची भावनाओं वाला होता है, लेकिन सीमा का अतिक्रमण कर जाने वाली निर्धनता के कारण वह उनको कार्य में परिणित नहीं कर सकता। फलतः इसका ऋण भार बढ़ता जाता है।

(७) महाजन और उसको उधार देने का तरीका—कृषि के लिए अधिकतर पूँजी महाजन या साहूकार से ही प्राप्त की जाती है।[१] कभी कभी तो महाजन बहुत ऊँची दर से सूद लगाता है और ब्याज लेने के बहाने प्रति वर्ष फसल का एक निश्चित भाग बाजार भाव से कम कीमत पर ले लेता है। निर्धन किसान की सूखी हड्डियों से मोच कर भाग की अन्तिम मात्रा तक लेने में साहूकारों को कोई हिचक नहीं होती और वे कृषक को निर्धनता तथा गुलामी का जीवन बिताने को बाध्य कर देते हैं। फलस्वरूप कृषक की क्रिया शक्ति पंगु हो जाती है, जिससे वह घोर भाग्यवादी बन जाता है। आशा और उत्साह उसके जीवन से सदैव के लिए बिदा हो जाते हैं और वह निष्क्रिय सा जीवन व्यतीत करता रहता है तथा उसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता।[२] बहुत से कृषक फसल बोने के समय महाजन से अन्न का ऋण लेते हैं, जिसको वह बाजार भाव से एक सेर कम देता है। जब कृषक पर बुरे दिन आते हैं तो साहूकार उनकी ओर से लगान देकर उन्हें बेदखली से बचाता है। इसके अलावा किसानों को शादी-ब्याह, अन्य आवश्यक खर्चों और मुकद्दमा लड़ने के लिए भी रुपया देता है। अमल में साहूकार सदैव धन प्राप्त करने का एक साधन मात्र है, जिसके पास गरीब किसान राहत पाने को जाता है, लेकिन वह महाजन के चंगुल में ऐसा फँस जाता है कि फिर कभी नहीं लौट पाता।

१. नीचे तीन प्रान्तों में विभिन्न एजेन्सियों द्वारा दिये जाने वाले ऋण का प्रतिशत बतलाया गया है :—

(१) यू० पी०—शहरी महाजन २८·३%, गाव का चौहरा ५·१%, जमींदार २४·६%, किरायेदार १३·७%, सहकारी समितियाँ ५·३% और सरकार २·६%।

(२) मध्य-प्रदेश—महाजन ८२·७१%, जमींदार ११·८%, सहकारी समितियाँ २·८१% और सरकार २·६%।

(३) मद्रास—महाजन ३१%, रय्यत ४७%, सहकारी समितियाँ १७% और सरकार ३%।

(C. B. Mamoria: "Agricultural Problems of India" pp. 523-524)

2. Wolf : "Co operation in India," p. 3

ऋण की अधिकता, कृषक की तुरन्त आवश्यकता, साख का अभाव और आर्थिक दुर्व्यवस्था कृषक को पूर्णतया साहूकार की मर्जी पर छोड़ देते हैं। महाजन कृषक को असहाय और अकेला देख कर अपने अधिकार और प्रभाव के जरिये उससे पूरा लाभ उठाता है।

(८) ब्याज की ऊँची दर—ब्याज की ऊँची दर भी किसान को उधार लेने को बाध्य करती है। ब्याज की दरें प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न होती हैं और कृषक की आर्थिक दुरावस्था के कारण ब्याज प्रति वर्ष जमा होता जाता है।

प्रान्तीय बैंकिंग समितियों की जाँच के अनुसार अनेक प्रान्तों में महाजन १२ से ३७३% सूद पर ऋण देते हैं। यह सूद की दर कई बातों पर निर्भर रहती है :—

(१) गिरवी या रहन रखने वाली वस्तु की मात्रा और अवस्था।

(२) ऋण की मात्रा और ऋण देने वालों की संख्या। जब आभूषण गिरवी रखकर ऋण दिया जाता है तो सूद की दर कम होती है और बिना गिरवी रखे जब ऋण दिया जाता है तो ऋण की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक रहती है, जो कभी-कभी ३००% तक हो जाती है। सूद की दर इतनी अधिक ऊँची होने के निम्न मुख्य कारण होते हैं :—

(अ) अनेक गाँवों में किसानों को ऋण देने के लिए महाजन के सिवाय अन्य कोई दूसरा नहीं होता, इसलिए ऐसी अवस्था में वे अपने एकाधिकार का लाभ उठाते हैं।

(आ) बहुत से ऐसे गाँव होते हैं, जिनमें निकट के कई गाँवों में भी कोई महाजन नहीं होता, ताकि किसान अपनी आवश्यकता के समय धन उधार ले सकें। ऐसी अवस्था में वे पास के गाँवों जहाँ महाजन होता है, वहाँ से रुपये प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन महाजन उन किसानों से अपरिचित होता है, अतः वह जोखिम की दरों को पूरा करने के लिए सूद की दर को बढ़ा देता है।

(इ) किसानों की माँग के अनुसार ऋण देने की व्यवस्था नहीं होती, अर्थात् ऋण देने वाले महाजनों की संख्या तथा उनके पास धन की मात्रा इतनी नहीं होती कि वे सबकी आवश्यकताएँ समयानुकूल पूरी कर सकें, अतः सूद की दर अधिक ली जाती है।

(ई) अज्ञानता, अन्ध-विश्वास और ऋण प्राप्त करने के लिए गिरवी रखने के लिए उचित माल के अभाव में भी सूद की दर अधिक हो जाती है।

स्पष्ट है कि ऋण चाहे भोजन या बीज किसी के लिए भी दिया गया हो, सवाया या ड्योढ़ा हो जाता है और यदि दुर्भाग्यवश फसल खराब हो जाती है तो किसान को भूखों मरना पड़ता है, क्योंकि महाजन तो हर हालत में पहिले का तय किया हुआ भाग ले लेता है, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता है तो ब्याज चक्रवर्ती से बढ़ता जाता है, जो पीढ़ियों तक चलता रहता है।

(९) फिजूल खर्ची और सामाजिक कुरीतियाँ—कृषक की अपव्ययिता उसके ऋणी होने का प्रमुख कारण है। भारतीय किसान अपने धन को खर्च करने का तरीका नहीं जानता और अत्यन्त अव्यवस्थित ढग से खर्च करता है। वह उसका अनुत्पादक रूप से उपभोग करता है, जैसे—शादी व्याह में, जेवर बनवाने में और अपने पूर्वजो आदि का श्राद्ध करने मे, यद्यपि इतना खर्चा उसकी शक्ति से बाहर होता है। समय-समय पर लम्बे भोज, धार्मिक उत्सव, जैसे कथा आदि और यहाँ तक कि परिवार के खुशी के किसी मौके पर जाति भोज के नाम पर भी ये लोग फिजूल खर्ची करते है। आत्मनिर्भरता और मितव्ययिता के अभाव मे ये लोग फसल पकने तक बहुत सा रुपया इधर-उधर के कामो में खर्च कर देते है, जो किसान के ऋणी बनने मे बहुत सहायक होते है।

"एक अच्छे साल मे कृषक अपने अज्ञान के कारण शादी और अन्य उत्सवो पर अपनी सब बचत खर्च कर देता है और अपनी फिजूल खर्ची के कारण उसे अच्छे वर्षों मे महाजन के पास जाना पड़ता है। अपने बच्चों की शादी या जन्म उत्सवो में किसी भी कृषक की प्रकृति अपने साथियो से अधिक खर्च करने से रोकने की नही होती।"[1] मेजर जैक के अनुसार ऋणी मनुष्यो की एक बडी सख्या ने घर के खर्चों के कारण ऋण लिए और खास तौर से वे शादी के कारण इन उत्सवो पर पूरे अथवा अथवा आधे वर्ष की आय खर्च कर देना कोई बडी बात नही समझते।"[2] दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार शादी और जन्म उत्सव ऋण के मुख्य कारण हैं।

(१०) ब्रिटिश शासन की स्थापना—शक्तिशाली नियमों की स्थापना, व्यापार की उन्नति, आवगमन के साधनो का विकास और शहरो का विकास आदि कारणो से कृषि की वस्तुओं के दाम बढ गये। इसलिए कृषकों की उधार लेने की शक्ति बढ गई, जिससे ऋण लेने मे तेजी से वृद्धि हुई। किसान उत्पादक और अनुत्पादक खर्चों के लिए शक्ति से अधिक ऋण लेने लगे। फलतः अधिकतर कृषक भूमि रहित हो गये, क्योंकि उनकी जमीन साहूकार ने व्याज की रक्षा के लिए बिकवा ली। कृषि भूमि का बहुत बडा क्षेत्र गत ३० वर्षों मे ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे चला गया, जो स्वय खेती नही करते थे। उदाहरणार्थ, पजाब मे सन् १८३३ और सन् १८७४ के बीच कृषकों ने प्रति वर्ष लगभग ८८,००० एकड जमीन बेची, किन्तु इसके आगे के ४० वर्षों में प्रति वर्ष ६२,०००, १६,००० और ३,३८,००० एकड भूमि बेची गई।[3]

कृषकों की गरीबी के कारण उतना ऋण नही बढा, जितना कृषि योग्य भूमि की कीमत बढ जाने के कारण, क्योंकि अब जमींदार ऋण के लिए अधिक मूल्य की चीज रहन रख सकता है। पहिले नियम के अनुसार कृषक को अपनी सब बचत दे देनी पडती थी और उस पर ऐसी कोई चीज नहीं रह जाती थी, जिसके आधार पर

1 Indian Famine Commission Report (1880), Vol. II, p 133.
2 Jack: Economic Life in Bengal Village. p. 120.
3. Central Banking Committee Report p. 59.

वह उधार ले सके। लेकिन लगान के रुपयों के निश्चित हो जाने, सड़क और रेल का विकास हो जाने, नई मण्डियों के खुलने और कीमतों के बढ़ जाने से अपने सब खर्चों को निबटा कर भी उसके पास इतनी साख रहती है कि साहूकार खुशी से उधार देने को तैयार हो जाता है। केवल पंजाब में ही ऐसा नहीं हुआ, वरन् मध्य-प्रदेश के इन दो प्रदेशों—नागपुर और जबलपुर में भूमि के मूल्य की वृद्धि के कारण सारा देश व्यापारिक मार्गों से सम्बन्धित हो गया, लेकिन शादी आदि के अवसरों पर फिजूल खर्ची का ठिकाना न रहा। इसलिए बहुत अच्छे वर्षों में भी ऋण करना भूमि की शक्ति के बाहर हो गया। दक्षिण में यह फिजूल खर्ची रुई के दामों में वृद्धि के कारण हुई। अमेरिकन युद्ध के कारण और बिना सोचे-समझे ऋण लिया जाने लगा। हाल ही में बड़ौदा और उड़ीसा में भी भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के कारण ऋण बढ़ने लगा था। बर्मा में चाय के मूल्य तेजी से बढ़ने के कारण स्वभावतः फिजूल खर्ची और ऋण बढ़ गये थे।

(११) मुकद्दमे बाजी—जहाँ पर फसल प्रति वर्ष अच्छी बुरी होती रहती है, वहाँ हर वकील यह भी जानता है कि किसान की आय फसल पर निर्भर है और जब कृषक की जेब में पैसा होता है तो वह अपने को अदालत में लड़ने से नहीं रोक सकता। मि० कालवर्ट ने अनुमान लगाया है कि २३ लाख व्यक्ति प्रति वर्ष अदालत में या तो गवाही देने के लिए या वादी प्रतिवादी बन कर आते हैं† और इस सम्बन्ध में न केवल वकील की फीस और स्टाम्प वगैरह के दाम जाते हैं, वरन् बहुत से अफसरों की अच्छी आय हो जाती है।

(१२) भूमि और सिंचाई के भारी कर—कृषकों को ऋणी बनाने के लिए सरकार की लगान नीति भी दोषी है। सन् १९०१ में दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार—"लगान-प्रबन्ध की कठोरता किसानों को उधार लेने को बाध्य करती है और उनकी कीमती सम्पत्ति उन्हें उधार लेने में सहायता देती है।" अपने प्रसिद्ध पत्र में श्री आर० सी० दत्त बताते हैं—"भारत एक कृषि प्रधान देश है, जिस पर बहुत अधिक लगान लगाया जाता है, जिससे कृषकों की आय कम हो जाती है।" अनेक दुर्भिक्षों में प्रति एकड़ उपज में कमी होते हुए भी लगान में वृद्धि की गई है, इसलिए विपत्ति के समय के लिए वे कोई रकम नहीं बचा पाते और शक्ति के बाहर शर्तों पर उन्हें उधार लेना पड़ता है। श्री डार्लिङ्ग के अनुसार—ब्रिटिश शासन में लगान कम तो किया गया, परन्तु विशेष नहीं। सन् १९३६ के पश्चात् बाजार भावों के गिरने पर लगान का भार बढ़ गया, जिसको अदा करने के लिए अनेक बार रुपया उधार लेना पड़ा।

(१३) बिक्री सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—बाजार में ऊँची कीमतों के होने के कारण किसान एक संकीर्ण बाजार में सस्ते दाम पर अपनी सब फसलों को

† H. Calvert : Wealth & Welfare of the Punjab, p. 206

बेच देना है, किन्तु आवश्यकता के समय उसको ऊँचे भाव पर अनाज खरीदना पड़ता है। असमय में लगान की वसूली और फसल के समय महाजन द्वारा अपनी पूरी फसल बेचने के लिए बाध्य होने के कारण कृषक अपना सर्वनाश करने के लिए बाध्य है।

ऋण से होने वाली बुराइयाँ—

(१) निम्न जीवन स्तर—ऋण ने किसानों को बहुत बुरी दशा में पहुंचा दिया है। उनकी बहुत सी बुराइयां, जिनमें वे कष्ट उठाते हैं, ऋण का ही परिणाम है। कृषकों की गरीबी, उनका अज्ञान और निम्न जीवन-स्तर तथा आय ऋण के कारण है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी लिखती है—"अच्छी फसल के दिनों में भी ऋण निम्न जीवन स्तर तथा कृषकों की उन्नति में बाधा डालने वाले कारणों में प्रमुख है। यह कम आय और गरीबी, खेतों में काफी पूँजी लगाने में बाधा डालती है और समाज के नैतिक स्तर को गिराने के प्रमुख कारणों में है। यह कृषकों को शारीरिक व मानसिक रूप से निर्बल करती है। ये सब कारण कृषि में अयोग्यता उत्पन्न करते हैं और ऋण इन कारणों के मूल में रह कर इन्हें बढ़ाता है।

(२) कृषि उपज की विक्रय में असुविधा—कृषि की उत्पादित वस्तुओं के ठीक-ठीक विक्रय में भी ऋण बाधा डालता है। एक छोटे से प्रतियोगिता रहित बाजार में ऋणी कृषक को अपनी सब फसल उस महाजन को बेच देनी पड़ती है, जो निश्चय ही बाजार भाव से कम मूल्य चुकाता है।

(३) राष्ट्रीय आय के लिए हानिकर—जब लम्बी रकम पूँजी लगाने या पुराना ऋण चुकाने के लिए ली जाती है तो उसको वापिस करने का समय अधिक नहीं दिया जाता। मध्य-प्रदेश में यह समय साधारणतया ३ साल का होता है। इसका फल यह होता है कि कृषक की अधिकतर आय ऋण चुकाने में ही चली जाती है, जिसमें जीवन-निर्वाह के लिए बहुत थोड़े पैसे बचते हैं। राष्ट्रीय आय के लिए यह बहुत हानिकारक होता है और इस प्रकार अनुत्पादक कृषि शुरू हो जाती है।

(४) कृषि-उन्नति में बाधा—ऋण के कारण सम्पत्ति का नाश होता है और भूमि कृषक के पास से खेती न करने वालों के पास चली जाती है। मारवाड़ी बनिये और इसी तरह की अन्य जातियाँ कृषकों से उनकी भूमि लेती में छीन रही हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कृषि की उन्नति में बाधा डालती है तथा भूमि रहित किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे अकुशलता में वृद्धि होती है। महाजन इतने अधिक लगान पर भूमि को उठाता है कि उसको देने के बाद कृषक के पास अच्छी फसल उगाने के लिए कुछ भी पूँजी नहीं बचती। इस अकुशलता के कारण कृषक न तो पूँजी लगा सकता है और न अच्छी फसलें ही पैदा कर सकता है।

(५) कृषक की समता—इसका सबसे बुरा सामाजिक और नैतिक प्रभाव यह होता है कि यह ऋणी को महाजन का गुलाम बना देता है। यदि महाजन एक

चावल और गेहूँ आदि फसलों में कंकड़-मिट्टी आदि मिला दी जाती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की कृषि वस्तुओं को मूल्य कम मिलता है।

(५) यातायात की अपूर्णता एवं असुविधायें—फसल को गांव से मंडी ले जाने के लिए उत्तम सडकें नहीं हैं, अतः कृषि उत्पादन के यातायात में बहुत सी असुविधायें होती हैं। वर्षा में सडकों की अवस्था और भी शोचनीय हो जाती है। सडकों की असुविधा के कारण एक तो पशुओं को काफी कष्ट उठाना पड़ता है और मण्डी तक माल ले जाने में व्यय भी अधिक होता है। अनुमान है कि माल ढोने का खर्चा किसान को मिले मूल्य का २०% तक होता है। उपज को उचित बिक्री के लिए अच्छी सडकें अत्यावश्यक हैं। भारतवर्ष के गावों में ऐसे मार्गों का नितान्त अभाव है, जिन्हें सडक कहा जा सके। भारत में औसतन ०·२२ मील सडकें प्रति वर्ग मील हैं। यह औसत अमेरिका के मरुस्थल औसत (०·३० मील) से भी कम है।*

इसके अतिरिक्त जानवर और बैलगाडी बहुत ही मन्द गति से चलते हैं तथा एक फेरी में अधिक माल नहीं ले जा सकते।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं की दुर्लभता—भारतीय किसानों को भिन्न भिन्न वस्तुओं के भावों की दरें पूर्णतया ज्ञात नहीं रहतीं, जबकि महाजनों और मण्डी के व्यापारियों को बडे-बडे बाजारों की दरें समय-समय पर ज्ञात होती रहती हैं। ऐसी दशा में किसानों को सदैव महाजनों द्वारा बताई गई दरों पर विश्वास करना पड़ता है। कई बार तो वास्तविक भाव मालूम होने पर भी भिन्न-भिन्न बाजारों के दरों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि सभी क्षेत्रों में कृषि उपज के लिए कोई एक निश्चित श्रेणी नियत नहीं है। साथ ही, जो भाव स्थानीय सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं वे विश्वसनीय नहीं होते और राजकीय पत्रों में प्रकाशित होने वाले भाव समझना अशिक्षित कृषक के लिए सम्भव नहीं होता, अतः महाजन किसानों के अज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

(७) फसल को सुरक्षित रखने के साधनों का अभाव—गाँवों में फसल को संग्रह करने के लिए भूमि में गड्ढे या मिट्टी की कोठियाँ (खत्तियाँ) काम में लाई जाती हैं। इसलिए सील अथवा कीडे मकोड़ों से बहुत सी फसल नष्ट हो जाती है। अनुमान है कि सील अथवा कीड़ों द्वारा भारत में प्रति वर्ष ३ लाख टन गेहूँ गाँव में ही नष्ट हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण गाँवों अथवा मण्डियों में अनाज भरने के लिए गोदामों की कमी है।

(८) अन्य कारण—अन्य कारणों में कृषक की अशिक्षा, निर्धनता, ऋण-ग्रस्तता, विवशता, अनार्थिक जोतें आदि कारणों का समावेश होता है, जो कृषि के दोषपूर्ण संगठन के परिचायक हैं।

* Report of the Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, Vol. II 1954.

कृषि उपज की विक्रय प्रणाली में सुधार की दशा—

स्पष्ट है कि भारतीय किसानो को अपनी फसल की बिक्री से उचित मूल्य नही मिलता। श्री वाडिया और मर्चेन्ट के अनुसार किसानो को फसल की १ रुपये की बिक्री मे अलसी मे १० आने, गेहूँ मे ९। आने, चावल में ८। आने, आलू मे ८ आने और मूंगफली मे केवल ७॥ आने मिलते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कृषि पदार्थों की बिक्री की पद्धति मे सुधार हो। इस हेतु निम्न दिशा मे सुधार आवश्यक हैं—

(१) नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना—भारत मे नियन्त्रित मण्डियो की बहुत आवश्यकता है, क्योकि भारतीय कृषक सभी जगह व्यापारियो द्वारा ठगे जाते हैं। नियन्त्रित बाजारो की स्थापना सबसे पहले सन् १८६७ मे बरार में की गई थी। किन्तु इसकी कार्य-प्रणाली मे बहुत से दोष आ गये। बरार के बाद मध्य-प्रदेश में सन् १९३२ मे, मद्रास मे सन् १९३३ मे और हैदराबाद मे सन् १९३६ मे तथा मैसूर, बड़ौदा आदि राज्यो मे भी नियमित मण्डियो की स्थापना की गई है।

मध्य-प्रदेश में रुई के लिए नियन्त्रित मण्डियाँ पाई जाती हैं। सन् १९४८ में रुई की ३६ और अन्य कृषि वस्तुओ की नियन्त्रित मण्डियाँ ६ थी। ये मण्डिया मध्य-प्रदेश म्युनिसिपिल विधान और मध्य-प्रदेश रुई मण्डी विधान सन् १९३२ (C. P. Cotton Market Act) द्वारा सचालित होती है। पहिले प्रकार की मण्डियाँ मुख्यतः रायपुर, दुर्ग और नागपुर मे है। यहाँ कृषि पदार्थों के संग्रह और संरक्षण का भी प्रबन्ध होता है। प्रत्येक मध्यस्थ को लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। तोलने का व्यय, चुङ्गी की दर तथा बाजार की अन्य दरें मण्डी समिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

बरार में रुई की मण्डियाँ, सी० पी० कॉटन मार्केट एक्ट सन् १९३२ से नियन्त्रित होती है, जिनमे कपास का ही व्यापार होता है। अमरावती और अकोला मे इस प्रकार की मण्डियाँ है, जिनका प्रबन्ध इस विधान के अन्तर्गत स्थापित की गई मण्डी समितियो द्वारा होता है। ये समितियाँ आपसी झगड़े मिटाने, खेतों का निरीक्षण तथा तौल और नाप का प्रबन्ध करने का कार्य करती है। यहाँ भी सभी प्रकार के व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है।

बम्बई में सन् १९२७ में, बम्बई रुई मण्डी विधान (Bombay Cotton Market Act) लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत मण्डी समिति मण्डियों का प्रबन्ध करती है। यहाँ भी व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है। मद्रास राज्य मे मद्रास-व्यापारिक फसल बिक्री विधान सन् १९३३ द्वारा, रुई (त्रिपुर, अदोनी और नन्दलाल), मूंगफली (कडालोर) तथा तम्बाकू (गन्तूर जिला) के बाजारों का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस समय पूर्वी पञ्जाब में ५६, हैदराबाद मे ३२ और ग्वालियर मे ३६ नियन्त्रित मण्डियाँ हैं। इन सभी मंडियों की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:—

जायगी, जिसमे उसे कुछ भी देने को बाध्य न होना पडेगा। पंजाब कानून के अन्तर्गत कृषक उन्ही लोगो को भूमि बेच सकता है जो सरकार की ओर से कृषक मान लिए गये हैं। इस प्रकार का कार्य इस बात को ध्यान मे रखते हुए किया गया था कि महाजन वर्ग अधिक न रहे, परन्तु इसका प्रत्यक्ष कारण ग्रामो की दरिद्रता व ऋण पर प्रतिबन्ध लगाना था। लेकिन उनका खास उद्देश्य तो वहाँ असफल होता था जहाँ महाजन भूमिपति थे। कुछ समय जरूर उन्हे बाधित किया जाता था कि वे कृषक बनें। दूसरे प्रकार का कार्य जो ये महाजन करते थे वह था कि वे बेनामी हक्के लिखवा लेते थे, जिससे कभी भी ऋणी कृषक की जमीन लेकर वे दूसरे कृषक को दे देते थे, ताकि या तो उससे लगान आदि वसूल कर लें या उत्पादन ही पूरा कर लें।

आधुनिक ऋण सन्नियम—

सन् १९३० की आर्थिक मन्दी देश मे (विशेष तौर से कृषको मे) एक असन्तोष पैदा करने वाली घटना हुई। इसके कारण भुगतान शक्ति बढ गई और फसलों का भाव गिर गया, फलतः किसानो पर ऋण की रकम बढ गई। महाजनों ने न्यायालय की मदद चाही, ताकि किसानो पर दबाव डाल कर ऋण वसूल कर सकें। इस प्रकार भूमि हीन कृषक की दशा अत्यन्त सोचनीय हो गई। अतः प्रान्तीय सरकारों ने इस प्रकार के आधार व उपाय खोज निकाले जिनसे कृषको का ऋण भार कम हो गया और कुछ अंशो मे तो बिल्कुल ही हट गया।

प्रान्तीय ऋण मुक्ति कानून के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

(अ) वर्तमान ऋण की मात्रा घटा दी जाय।

(ब) ऋण देने की सुविधा के लिए ग्रामीण आर्थिक सहायता देने वाली संस्थाओं की स्थापना की जाय।

(स) महाजनों की अनुचित शोषण रीति से कृषको को बचाने के लिए कुछ आवश्यक साधन अपनाये जायें।

अल्प-कालीन कर्ज कानून—

कृषको को शीघ्र ही राहत पहुँचाने के लिए तीन प्रकार के कानून बनाये गये—

(अ) मोरेटोरियम कानून।

(ब) ऐसे उपायो का अवलम्बन, जिनके द्वारा ब्याज का भार हटा दिया जाय।

(स) मूलधन मे कमी करने और उसके भुगतान के सुगम उपाय।

(अ) मोरेटोरियम कानून—कीमतो का अत्यधिक गिरना कृषक की स्थिति को डावाडोल कर देता था, इसलिए वह इस स्थिति मे न था कि अपने ऋण का भुगतान कर सके। महाजन न्यायालय की शरण ले रहे थे, ताकि उन्हे उनका ऋण पूर्ण रूप से मिल जाय। यह खतरा बढता ही जा रहा था कि जमीनें देनदारो (महाजनो)

को बेच दी जायेंगी। जमीनें न बेची जायें और साथ ही कृषकों को ऋण भुगतान में सुगमता हो, इस कारण मोरेटोरियम कानून कई प्रान्तों में लागू किये गये।

उत्तर-प्रदेश का सन् १६३४ का स्थायी कानून इसलिए बनाया गया था कि जिससे कृषकों को ब्याज आदि की सुगमता हो। उसमें यह भी कहा गया कि कर्ज का भुगतान किश्तों में हो और वह भी सन् १६३७ में। साथ ही, कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने उन व्यक्तियों के कर्ज का भुगतान आगे के लिये बढ़ा दिया जो १०,०००) रुपया लगान देते थे और जो आय कर से मुक्त थे। वे व्यक्ति जो २५०) रुपया से अधिक लगान देते थे, उसका ½ हिस्सा जमा करा कर लिये गये कर्ज को विक्री ठहरा सकते थे। इस प्रकार कानून से दूसरा लाभ यह हुआ कि वे कृषक जो कर्ज के भुगतान न करने पर जेल में डाल दिये जाते थे, मुक्त किये गये।

मद्रास सरकार ने इस बिल को स्वीकृत करने के लिए सन् १६३७ में प्रयत्न किया, परन्तु कर्ज मुक्ति बिल की वजह से वह स्थगित कर दिया गया। बम्बई में छोटे कृषकों के भुगतान सम्बन्धी कानून से वे कृषक, जिनके पास ६ एकड़ सिंचाई भूमि व १६ एकड़ बिना सिंचाई की भूमि थी, सुरक्षित रहे। मध्य-प्रदेश में भी इसी प्रकार का *कानून बनाया गया।*

(ब) ब्याज की दर कम करने के उपाय—कर्ज के परिणामस्वरूप कृषक को भूमि न बेचनी पड़े, इस सम्बन्ध में जब कानून बन गये तब सरकार ने उसके ब्याज सम्बन्धी उत्तरदायित्व पर ध्यान दिया। लगभग सभी प्रान्तों ने सन् १६१८ के अधिक ब्याज लेने वाले कानून में आवश्यक संशोधन का कार्य-भार उठाया।

उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बम्बई और मद्रास प्रान्तों ने आर्थिक मन्दी के पूर्व के कर्ज को ध्यान में रखते हुए विशेष ब्याज दर निर्धारित की। उत्तर प्रदेश के कृषि मुक्ति कानून (सन् १६३४) के अन्तर्गत १ जनवरी सन् १६३० से जो तारीख स्थानीय सरकार नियत करे, उसमें ब्याज दर उस वस्तुस्थिति पर आधारित होगी, जिस दर पर वह केन्द्रीय सरकार से कर्ज लेती है। इसके पश्चात् सन् १६३६ में उत्तर-प्रदेश सरकार ने कृषि कर्ज भुगतान सम्बन्धी बिल के अन्तर्गत यह निर्णय किया कि अदालतें सुरक्षित कर्ज के लिए ४½% ब्याज दर और ६% असुरक्षित कर्ज के लिये निर्धारित करें।

बंगाल महाजन कानून (Bengal Money-lender Act)—

सन् १६३८ के अनुसार सुरक्षित कर्जों के लिए १०% और असुरक्षित के लिए १२% ब्याज दर निश्चित हुई। मध्य-प्रदेश में कर्ज मुक्ति कानून के अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि १२ साल में पूर्व के कर्जों पर पुनः विचार किया जायगा। सन् १६३२ की १ जनवरी से ब्याज की दर निम्नलिखित होगी :—चक्रवर्ती ब्याज की दर ५%, साधारण ब्याज की दर ७% सुरक्षित कर्ज पर और साधारण ब्याज की दर १०% असुरक्षित कर्ज पर।

बम्बई कृषि सहायक कानून (Bombay Agricultural Debtor's Relief Act)—

सन् १६३६ मे निम्नलिखित तीन प्रकार से ब्याज की दर घटाने का निश्चय किया गया :—

(१) कर्ज मुक्ति बोर्डों को यह अधिकार है कि वे १ जनवरी सन् १६३६ से पूर्व के कर्जों पर १२% साधारण ब्याज की दर से निर्णय दें।

(२) जिस ब्याज का सन् १६३६ मे भुगतान होगा और अगर कर्ज का इकरार नामा सन् १६३६ की जनवरी के पहिले का है तो ४% कम कर दिया जायगा, नही तो ३०% देना होगा।

(३) कर्ज के भुगतान की तारीख से सन् १६३२ की १ जनवरी तक ६% या अन्य निर्धारित ब्याज दर (जो भी इन दोनो मे से कम हो) लिया जाय।

मद्रास कृषि मुक्ति कानून—

मद्रास कृषि मुक्ति कानून ने, जो कि सन् १६३८ मे स्वीकृत हुआ, निम्नलिखित उपाय बतलाये :—

(१) १ अक्टूबर सन् १६३७ से पूर्व के बिना भुगतान किये गये कर्ज रद्द कर दिये जायें।

(२) पहिले के कर्जों मे ५% ब्याज दर लगाई जाय, जो कि १ अक्टूबर सन् १६३७ के कानून के अन्तर्गत आते हो। इनके अलावा अन्य रकम मूलधन के चुकाने के काम मे लाई जाय।

(३) कानून बन जाने के पश्चात् किये गये सम्पूर्ण इकरारनामों पर अदालतें व न्यायालय ६½% साधारण ब्याज निर्धारित करें।

इसके अलावा प्रान्तीय सरकारो ने ब्याज के भार को हलका करने के लिए दामदुपत का सिद्धान्त अपनाया। इसके अनुसार तब तक कोई अदालत उस कर्ज पर डिग्री नही कर सकती, जब तक कि ब्याज मूलधन के बराबर नही हो जाय। बंगाल (सन् १६३३), उत्तर-प्रदेश (सन् १६३४), मद्रास और बिहार (सन् १६३८), बम्बई और सिन्ध (सन् १६३८) ने इस सिद्धान्त को अपनाया। मद्रास मे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्ज देने वाले को यदि उसने मूलधन का दुगुना चुका दिया है तो कुछ भी देने की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार अन्य प्रान्तो ने भी मूलधन से अधिक ब्याज की रकम चुकाना निषेध कर दिया है।

(स) कर्ज की रकम मे कमी करना—कर्ज शान्त करने वाला कर्ज अनुरक्षक कानून (Debt Conciliation Act) पाँच प्रान्तो मे स्वीकार हुआ :— आसाम, मध्य-प्रदेश, मद्रास, बगाल और बम्बई। इस कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय सर-

कारो को अधिकार था कि अनुरक्षक बोर्ड स्थापित करें, जिसकी सदस्य संख्या ३ से कम और १२ से अधिक न हो। ये बोर्ड कर्ज लेने वालो की सम्पूर्ण जायदाद व उसके कर्ज का अनुमान लगाने के बाद उसके भुगतान का २०-२० किश्तो मे प्रयत्न करें।

जो बोर्ड के निर्णय को नही मानते, उन्हे कानून की दृष्टि से अयोग्य करार कर दिया जाता था। इस प्रकार के मामलो मे लेनदार को अदालत से एक प्रमाण पत्र मिलता है, जिसमे अदालत ब्याज दर (जो कि ६% से अधिक न हो) तय कर देती थी। इसके साथ ही जो महाजन बोर्ड के निर्णयो को स्वीकार कर लेते थे, उनके कर्ज को चुकाने मे प्राथमिकता दी जाती थी। यह कार्य इसलिए किया जाता था जिससे लोग बोर्ड के निर्णय को मानें।

पंजाब कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३४, बंगाल कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३५, आसाम कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३५, मद्रास कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३६, सिन्ध अनुरक्षक कानून सन् १६३५ ने इन्ही उपायो का प्रयोग किया।

ऋण अनुरक्षक बोर्डो की कुछ प्रान्तो मे सफल कार्यवाही हुई :—मध्य-प्रदेश और बरार मे कुल ऋण १५.६ करोड रुपया था, जो कि घटकर ७.७ करोड रुपया रह गया, अर्थात् ५०% कम हो गया। बंगाल मे मार्च सन् १६४४ तक कुल ५ करोड रुपया कर्ज था, जो कि घटकर १.८ करोड रुपया रह गया, अर्थात् लगभग ६४% कम हुआ। इसी प्रकार मद्रास प्रान्त मे भी ५ करोड रुपयो का २.६५ करोड रुपया रह गया। सन् १६४० तक के आँकडों के आधार पर यह अनुमान लगाया कि पंजाब मे १ वर्ष के अन्तर्गत अर्थात् ३१ दिसम्बर सन् १६४० तक ६१.४५ लाख रुपये के ५५.६ लाख रुपये ही रह गये।* दूसरी बात यह है कि ऋण अनुरक्षक बोर्ड नकद पैसे न होने से ऋण चुकाने मे समर्थ न हो सका, अतः यह आवश्यकता अनुभव की गई कि भूमि बन्धक बैंक स्थापित की जायें, जो भुगतान का उत्तरदायित्व लें। तीसरी बात, मध्य प्रदेशीय भूमि विभाग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा कि ऋण अनुरक्षक बोर्डो मे कृषक अपने को नये ऋण लेने की स्थिति मे नही पाता। वह तब तक परावलम्बी रहता है जब तक पुराने ऋण का भुगतान किश्तो द्वारा न कर दे, अतः ऋण अनुरक्षक बोर्ड को यह देखना चाहिये कि कृषक अपने परिवार की आवश्यकताओ और भूमि-कर आदि के अलावा कितनी रकम रखता है, तदनुसार उसकी ऋण भुगतान विधि नियुक्त करें।

मूलधन घटाने के उपाय—

यद्यपि ऋण घटाने का कार्य बहुत कुछ अर्शो मे ऋण अनुरक्षक बोर्ड ने पूरा कर लिया, परन्तु मूलधन घटाने का एक अन्य कानून बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश मे बनाया गया। इसका उद्देश्य कीमतो के गिरने के आधार पर मूलधन की राशि घटा देना था।

---

* Agricultural Finance Sub Committee Report p. 23.

विविध उपाय—

(अ) गिरवी रखी भूमि को पुनः लौटाने का सिद्धान्त मुख्यतः पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बंगाल में प्रयोग लाया गया। इसके अनुसार गिरवी रखने वाले की भूमि १५ या २० साल के बाद पुनः उसे लौटा दी जाय, चाहे वह कर्ज का भुगतान करे या न करे।

(ब) कुछ प्रान्तों की अदालतों को यह विशेषाधिकार दिया गया कि वे उन भू भागों का मूल्य ठीक से निर्धारित करें, जो डिग्री के कारण बेची जा रही हैं। उत्तर-प्रदेश के बचाव-कानून सन् १९३४ और कर्ज भुगतान कानून सन् १९३६ व बिहार महाजन कानून सन् १९३८ द्वारा ये अधिकार दिये गये।

(स) प्रान्तीय दिवालिया कानून (सन् १९२०) में कृषकों के लाभ को ध्यान में रखते हुए कुछ आवश्यक संशोधन भी किए गये। बंगाल कृषक लेन-दार कानून के अन्तर्गत सन् १९३५ में यह घोषित कर दिया गया कि वे कृषक दिवालिये घोषित किए जायें, जो बीस किश्तों में भी अपना कर्ज न चुका सकें, लेकिन दिवालिये खेतिहर की जायदाद और रहने का मकान आदि को छोड़कर उसकी शेष सम्पत्ति बेच दी जाय। बम्बई खेतिहर कर्ज मुक्ति कानून के अन्तर्गत उस खेतिहर को दिवालिया करार दे दिया जाय, जो कि २५ साल में अपने कर्ज का भुगतान न कर सके, लेकिन कर्ज पेटे में उसकी आधी जायदाद बेची जा सकती है।

ऋण सम्बन्धि के नवीन उपाय—

गाडगिल कमेटी ने यह सिफारिश की कि खेतिहरों के कर्ज की अच्छी तरह से अध्ययन व जाँच होनी चाहिए तथा इसके पूर्व की उनकी आर्थिक दशा भी ज्ञात होनी चाहिए। यही सिफारिशें एग्रेरियन कमेटी ने भी कीं। गाडगिल कमेटी की सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण निम्न है :—

(१) कृषकों के ऋण का पूर्णरूपेण निर्धारण अनिवार्य हो।

(२) अनुमान करने का कार्य एक विशेष समय की अवधि में (अधिकतम २ साल) हो जाना चाहिए। कारण, इस कार्य में देर होने से निश्चित परिणाम पर पहुँचना कठिन हो जाता है।

(३) ऋण देने वालों (अर्थात् महाजनों) को अपने ऋण को रजिस्टर्ड करवाना चाहिए तथा अपनी पूँजी आदि का विवरण निश्चित समय में सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए।

(४) कृषक से उचित रुपया मिलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में मुक्ति कानून और दक्षिणी भारत कृषक मुक्ति कानून में दी गई धाराओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(५) इसके साथ ही दामदुपट सिद्धान्त को भी लागू करना चाहिए कि कहीं मूलधन से ब्याज दूना न हो जाय और उसका पूँजी के रूप में परिवर्तन न हो जाय।

(६) बोर्ड द्वारा निश्चित की गई रकम (जो कृषक को चुकानी है) इतनी होनी चाहिए कि वह २० वर्ष में ४ प्रतिशत ब्याज की दर से अथवा अचल सम्पत्ति की ५० प्रतिशत हो, चुकाई जा सके; किन्तुः—

(अ) सुरक्षित कर्ज की रकम जिस जायदाद के रहन पर दी गई है, ५० प्रतिशत से कम नहीं करना चाहिए।

(ब) सुरक्षित कर्ज का अनुपात असुरक्षित कर्ज के अनुपात से बढाना न चाहिए।

(७) यह निश्चित की गई कर्ज राशि भूमि बंधक बैंक से या इसी प्रकार की अन्य एजेन्सी से लेकर चुका देनी चाहिए।

(८) बैंक अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से २० किश्तों में वसूल करें।

(९) यदि कृषक या लेनदार को अपनी भूमि को हस्तान्तरित करने का हक नहीं है और उसका ऋण भुगतान शक्ति से अधिक है तो बोर्ड को उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए।

(१०) यदि खेतिहर को अपनी भूमि पर हक प्राप्त है, परन्तु फिर भी कर्ज उसकी शक्ति से ज्यादा है तो बोर्ड को कानून के अन्तर्गत आवश्यक सुधार कर उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए और उसे कर्ज मुक्त कर देना चाहिए।

किश्तों में चुकाने के बारे में गॉडगिल कमेटी ने २० साल का समय निर्धारित किया है, जबकि बम्बई खेतिहर मुक्ति कानून ने यह अवधि १२ साल की मानी है। लेकिन एग्रेरियन कमेटी कम किश्त दर में विश्वास करती है। एग्रेरियन कमेटी ने किसान द्वारा कर्ज चुकाये जाने में इस प्रकार की प्राथमिकता निर्धारित की है:—

(१) वह कर्ज जो कि सरकार से मकान आदि की रहन पर लिया गया है।

(२) स्थानीय सरकारों का कर्ज, जो खेतिहर ने अपनी स्थायी जायदाद पर लिया है।

(३) विकास समितियों का दिया हुआ ऋण।

(४) सुरक्षित कर्ज।

(५) सरकार, अन्य सरकारी संस्थायें और सहकारी समितियों से लिया हुआ ऋण।

(६) सहकारी समितियों का अन्य कर्ज।

(७) सुरक्षित कर्ज।

सन् १६४२ के पूर्व एवंपश्चात् के खेतिहर मजदूरों के ऋण समाप्त किये जायें या उनकी भुगतान शक्ति के अनुसार उसे घटा दिया जाय। कर्ज अनुरक्त बोर्ड की सिफारिश है कि देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक कमी की जाय।

रुपया उधार देने का कार्य निम्न प्रकार से किया जाय :—

महाजन को लाइसेंस आदि की प्राप्ति—

मध्य-प्रदेशीय (केन्द्रीय) महाजन सुधार कानून सन् १६३६ के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया कि प्रत्येक महाजन अपने आपको रजिस्टर्ड कराकर प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। जो इस प्रकार रजिस्ट्री न कराएगा, वह कानून की दृष्टि से अपराधी माना जाकर ५०) रु० जुर्माना देगा और यदि बाद में भी यह क्रम जारी रहा तो १००) रु० जुर्माना देना होगा। पंजाब महाजन रजिस्ट्रेशन कानून १६३८ के द्वारा लाइसेंस न लेने वालों के साथ किसी प्रकार की रियायत न की जायगी। बिहार तृतीय महाजन कानून सन् १६३८ के द्वारा पंजाब कानून की नकल की गई। सन् १६३८ के बंगाल कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेन्स पर जोर दिया गया। जो व्यक्ति रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्र नहीं रखता, उनका अदालत में मुकद्दमा चलाने का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है तथा लाइसेंस न लेने पर १५) जुर्माना किया जाएगा। उत्तर-प्रदेश का महाजन कानून (सन् १६३६) भी पंजाब कानून की भाँति प्रभावशाली है, परन्तु इसमें अदालत में निर्धारित रुपया जमा कराने पर मुकद्दमे का अधिकार दिया गया है। बम्बई (सन् १६३८) कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस लेना आवश्यक हो गया है, अन्यथा वह जुर्म समझा जायगा।

हिसाब सम्बन्धी कानून—

महाजनों की चालाकियों और बेईमानियों को रोकने के लिए हिसाब रखना जरूरी कर दिया गया। पंजाब हिसाब कानून के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया कि महाजन लोग सालाना हिसाब रखें और भुगतान की रसीद आदि कृषकों को पहुँचावें। इसकी अनुपस्थिति में न्यायालयों को यह अधिकार होगा कि वे उस पत्र व ब्याज को गैर कानूनी करार दें। मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई, बंगाल, आसाम और उत्तर-प्रदेश में भी इसी प्रकार के कानून बने। इस प्रकार इन सबमें पंजाब हिसाब कानून (सन् १६३०) का अनुकरण था।

कर्ज मुक्ति कानून में अत्यधिक सुधार की आशा से ब्याज की दर घटाने का प्रस्ताव रखा गया। सन् १६३६ के बंगाल महाजन कानून में यह धारा रखी गई कि प्रत्यक्ष कर्ज से ज्यादा आमदनी ब्याज से नहीं चुकाई जायगी, यदि यह ली गई तो एक अपराध के रूप में मानी जायगी, जिसकी सजा ६ माह जेल अथवा १,००० रुपये जुर्माना होगा। सन् १६३६ के उत्तर-प्रदेश के कानून में भी यही धाराएं सम्मिलित की गई हैं। महाजन के चंगुल से कर्ज लेने वाले कृषक को बचाने सम्बन्धी आधार ये

हैं :—(१) दिये हुये जायदाद के भाग से कृषक का छुटकारा, अर्थात् उसकी जायदाद आदि कोई बेचे नही। (२) किसान को डर या धमकी और कष्ट से छुटकारा दिलाना।

सन् १९३७ के मध्य प्रदेशीय कृषक संरक्षण कानून, सन् १९३८ के बम्बई महाजन कानून और सन् १९३९ के उत्तर-प्रदेश महाजन कानून मे यह धारा थी कि महाजन को ३ माह की सजा और ५० रु० जुर्माना किया जाय, यदि वह कृषक को दुख दे। बगाल महाजन कानून सन् १९३९ मे ६ माह की जेल यातना और १,००० रु० जुर्माने का निर्धारण है। सन् १९३५ के पजाब संरक्षण कृषक कानून, सन् १९३६ के बगाल सरक्षण कानून और सन् १९३९ के बम्बई महाजन कानून मे कृषको के संरक्षण के लिए व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष—

परन्तु यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार कृषको के हित से सम्बन्धित प्रान्तीय कानून कृषको की दशा को सुधारने मे असफल रहेगे, जब तक कृषि उत्पादन के ढग में परिवर्तन न किया जाय। अतः कृषको का कर्ज एक महान् रोग है। हमने ऊपर जिन साधनो का वर्णन किया है वे तो घाव के खून को रोकने और ,जख्मो की मरहम पट्टी करने के तुल्य है, जो रोग की जड तक नही पहुँच पाया है। कर्ज की मात्रा का निर्धारण और महाजनो के शोषण से छुटकारा कृषक की दशा मे सुधार न ला सकेंगे और न ब्याज की दर निश्चित होने आदि से ही सुधार होगा। साथ ही, ऋण सन्नियमो के सम्बन्ध मे कृषक सुधार समिति का मत है कि "हम यह निसकोच कह सकते हैं कि महाजनो को प्रतिबन्धित करने के सन्नियम पूर्णतः असफल रहे हैं।" कृषि साख सर्वे समिति के अनुसार "यह विश्वास करने के लिये कारण है कि अधिकांश भाग का ऋण प्रदाय बिना लाइसेंस के हो रहा है, यद्यपि वहाँ लाइसेंस लेना अनिवार्य।" इसके सिवा "आधुनिक ऋण सन्नियमो मे आयोजित अनिवार्य ऋण की कमी से साहूकारो का विश्वास बहुतायत मे डिग गया है।"* इसलिये जब तक कि प्रत्येक ग्राम में सहकारिता आन्दोलन का प्रचार न होगा, कृषक की वर्तमान दशा मे आमूल परिवर्तन नही हो सकता।

दूसरे, भूमि बदलाव के नियमो के बढने से कृषि ही नही अपितु महाजन भी खेती आदि का समुचित लाभ पा लेते हैं। जहाँ यह अधिकार महाजन के हाथों मे चला जाता है, वहाँ कृषक मजदूर के रूप मे अपने ही खेत पर महाजन के आधीन कार्य करता है। इसलिए वह न तो खेती की दशा मे सुधार कर सकता है और न महाजन उसे ऐसे साधन ही सुलभ करता है, जिससे वह खेती मे पूर्ण रूप से सुधार कर सके।

*Reorganisation of Agricultural Credit : Dr. G. D. Gadgil, p. 128

इस प्रकार हमारा देश इतनी महान् कृषि भूमि होने पर भी गरीबी और निर्भरता का शिकार है।

तीसरे, कृषक की ऋण-ग्रस्तता उसके आर्थिक विकास की समस्या से सम्बन्धित है। गरीबी, निरक्षरता, उद्योगों का अभाव, स्थायी समाज व्यवस्था, गहरे धार्मिक विचार, सामाजिक एवं धार्मिक प्रथायें, मूल्यों की अनिश्चितता, ऋण-ग्रस्तता और कम उत्पादन ही कृषक की अवनत अवस्था के कारण हैं, अतः जब तक एक सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण को लेकर कोई योजना कार्यान्वित नहीं होती, तब तक कृषक की उपर्युक्त आपत्तियों से निवारण होना तथा कृषि उन्नति होना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, इसलिए देश में आज खेती एवं ग्रामीण आर्थिक विकास चहुँमुखी करने के लिए ही भारत सरकार ने सामूहिक विकास योजनाएँ कार्यान्वित की हैं, जिनकी पूर्ति से यह निःसन्देह है कि ग्रामीण आर्थिक जीवन एवं कृषि की उन्नति हो कर देश के आर्थिक कलेवर का प्रमुख भाग सुदृढ़ नींव पर आधारित होगा।

अध्याय ११

कृषि उपज की बिक्री

(Marketing of Agricultural Produce)

"कृषक अपने उत्पादन के वितरक और उपभोक्ता के सामने एक उपेक्षणीय इकाई है।"

—रॉयल कृषि कमीशन प्रतिवेदन।

भारतीय कृषक की आर्थिक दशा उन्नत करने के लिए जितनी आवश्यकता कृषि का उत्पादन बढ़ाने की है उससे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि कृषि उपज के बिक्री की समुचित व्यवस्था द्वारा उसे उसकी उपज का समुचित मूल्य मिले। रॉयल कृषि कमीशन के अनुसार:—"जब तक कृषि उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया जाता तब तक कृषि समस्या का हल अधूरा ही है।" इसलिए देश की लगभग ७२% जन-संख्या को उपजीविका प्रदान करने वाली कृषि के विकास, उत्पादन वृद्धि करने और खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए कृषि उपज के विक्रय की उचित व्यवस्था होना नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान विक्रय संगठन—

(१) गावों में बिक्री—कृषक अपनी उपज को गाँव के महाजन या बनिए को बेच देता है। इस बिक्री को 'ग्रामीण बिक्री' कहते हैं। गाँव के महाजन और बनिये कृषक को उसकी कृषि सम्बन्धी या अन्य आवश्यकताओं के लिए ऋण देते हैं। इस ऋण के साथ यह शर्त होती है कि कृषक अपनी फसल निश्चित भाव पर उसे बेच देगा। यह निश्चित भाव बाजार भाव से काफी कम होता है। कभी-कभी बनिये किसान को खेती के लिए बीज ड्योढ़े पर देते हैं। इस समय बीज की कीमत अधिक होती है। बीज का यही मूल्य बही में दर्ज किया जाता है तथा वापसी के समय उस रकम का अनाज ले लेते हैं। ध्यान रहे कि इस समय अनाज काफी सस्ता रहता है। इस प्रकार किसान को बहुत सस्ते दामों पर अपना अनाज गाँव में ही बेच देना पड़ता है। किसान एक छोटा उत्पादक होता है, जो अपनी उपज का आधे से अधिक अपने उपयोग के लिए रख लेता है और शेष उपज, जो बहुत थोड़ी होती है, दूर के बाजारों में ले जाना लाभदायक नहीं होता। साथ ही, लगान साहूकार का ऋण चुकाने, शादी आदि के समय धन की आवश्यकता होने के कारण लाचारी की अवस्था में वह अपनी फसल गाँव में ही साहूकार, बनिये, जमींदार व व्यापारी अथवा बाजार के बड़े व्यापारियों के दलालों को बेच देता है।

अनुमान है कि भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न परिमाण में कृषक अपनी पैदावार को गाँव में ही बेच देते हैं। उदाहरण के लिए, पंजाब में गेहूँ की ७०%, कपास की ३५% और तिलहन की ७०% बिक्री गाँव में ही होती है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में गेहूँ की ८०%, कपास की ४०% और तिलहन की ७५%, बिहार और बंगाल में तिलहन की ८५% तथा जूट की ६०% पैदावार किसान को गाँव में ही बेचनी पड़ती है।

गाँव में ही बिक्री होने के कारण कृषकों को अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि :—(१) उन्हें परिस्थितिवश असमय पर तथा अलाभकर शर्तों पर अपनी फसल महाजनों को बेचनी पड़ती है। अतः उनको बिक्री का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह मूल्य महाजनों द्वारा निर्धारित किया जाता है। निर्धन किसानों के पास, जो ऋणी भी होते हैं, इन मूल्यों को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता। (२) बाँटों और तराजुओं में काफी अन्तर रहता है, क्योंकि खरीदने के बाँट अलग होते हैं और बेचने के बाँट अलग। (३) अनियन्त्रित मण्डियों की भाँति गाँवों में किसानों को कई प्रकार की दस्तूरी आदि चुकानी पड़ती है। (४) बहुधा बिक्री की वस्तुओं का परिमाण थोड़ा होता है, जिसे मण्डियों तक ले जाने में आवागमन के साधनों की असुविधाओं के कारण काफी व्यय पड़ जाता है। अनुमान है कि यातायात के साधनों की असुविधा के कारण माल ले जाने और ढोने का खर्च किसान को मिले मूल्य का २०% होता है। इस अनावश्यक व्यय से बचने के लिए किसान अपनी फसल गाँव में बेचने में ही हित समझता है।

(२) मण्डियों में बिक्री—कृषक अपनी उपज को गाड़ियों में भर कर कच्चे आढ़तियों या थोक खरीदारों के दलालों के पास ले जाता है। ये आढ़तिये उसके ग्राहकों से मिलते हैं। साधारणतः खरीदने वाले या तो पक्के आढ़तिये होते हैं या थोक खरीदार, जो अन्य मण्डियों के व्यापारियों के लिए दलालों का काम करते हैं। वे अपने आप भी खरीद सकते हैं और जब उपयुक्त कीमत मिले तो उसे अन्य स्थानों पर बेच भी देते हैं। व्यापारी अपने आपको अन्य स्थानों के भावों से तार, टेलीफोन आदि द्वारा परिचित रखते हैं और मूल्यों के अन्तर के अनुसार वे वस्तुओं के क्रय-विक्रय के सौदे करते रहते हैं। खरीदने वाले नमूने देख कर आढ़तियों के साथ मूल्य निश्चित करके सौदा करते हैं। कई बार नीलाम द्वारा बिक्री होती है, किन्तु विक्रेता अपना अधिकार सुरक्षित रखता है, जिससे यदि भाव उचित न हों तो वह सौदा करने से इन्कार कर सकता है। अनेक बार दलाल भी बिक्री का सौदा कराने में सहायता देते हैं। सौदा निश्चित हो जाने पर आढ़तिया विक्रेता को अपनी छूट और अन्य खर्चे काट कर मूल्य दे देता है। इसके पश्चात् थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों को माल बेचता है और इन्हीं फुटकर व्यापारियों से माल अन्त में उपभोक्ताओं के पास पहुँचता है।

मण्डियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं:—(अ) सगठित, जिनमें क्रय-विक्रय के लिए नियम होते हैं और इन्हीं नियमों द्वारा क्रेता और विक्रेता अपनी उपज का मूल्य निश्चित करते हैं। (ब) असगठित, जिनमें प्राचीन व्यवस्था के अनुसार प्रायः क्रय-विक्रय होता है। भारत में गेहूँ, कपास, गन्ना और जूट आदि की सगठित मण्डियाँ पाई जाती हैं।

असगठित मण्डियों में माल बेचने पर किसान को कई प्रकार से आर्थिक हानि होती है :—

(अ) चूँकि सौदा तय करने वाले दलाल बहुधा आढ़तियों और थोक व्यापारियों के अपने आदमी होते हैं, इसलिए उनकी सद्भावना किसानों की ओर नहीं रहती। ये दलाल खरीदारों से मिलकर उपज का मूल्य निर्धारित करते हैं। इस मूल्य निर्धारण में ये लोग आढ़तियों का ही अधिक ध्यान रखते हैं।

(ब) चूँकि दलालों को आय आढ़तियों से प्राप्त होती है, इसलिए उनका अधिक लाभ किसानों को ठग कर कम मूल्य पर ही सौदा करने में होता है।

(स) अधिकतर किसान अपढ़ और सीधे-साधे होते हैं, जबकि दलाल और आढ़तिये धूर्त और चालाक होते हैं। इसलिए बिक्री के अधिकांश खर्चे ये लोग व्यापारियों से वसूल न करके किसानों से ही वसूल करते हैं। इस प्रकार किसानों को न केवल आढ़तियों का ही पारिश्रमिक देना पड़ता है, किन्तु धर्मादाय, गद्दी खर्चा, गोशाला, पाठशाला, मन्दिर

प्याऊ, पल्लेदारी, तुलाई, बोराबन्दी, कर्दा, पिंजरपोल, महतर, ब्राह्मण आदि को भी थोड़ा-बहुत पैसा चुकाना पड़ता है। इस प्रकार साधारणतया १०० रुपये की उपज पर कृषकों को २१·५१% और खुर्दाफरोशों को २२% राशि मिलती है और शेष अन्य खर्चों में चला जाता है।

(द) वस्तुओं के मूल्य प्रायः दलाल और आढ़तिये अपने हाथों पर कपड़ा डालकर एक दूसरे की उँगली छूकर गुप्त रूप से तय करते हैं। भाव निश्चित होने पर माल गोदाम में भर दिया जाता है, किन्तु मूल्य चुकाते समय पैदावार को घटिया बताकर उसके मूल्य में कमी कर देते हैं।

(॥) कृषकों में संगठन का अभाव होता है। प्रायः जूट, कपास, तिलहन आदि उत्पन्न करने वाले कृषक संगठित होते हैं, किन्तु भोज्य पदार्थ उत्पन्न करने वाले कृषकों का न केवल उत्पादन ही छोटी मात्रा में होता है, बल्कि वे सम्पूर्ण क्षेत्र में बिखरे हुए होते हैं, अतः उनके स्वार्थों की रक्षा करने वाला कोई उचित संगठन नहीं होता। इसके विपरीत व्यापारियों के संगठन बड़े मजबूत होते हैं, जिन्हें सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(३) व्यापारियों के प्रतिनिधि—शहरों के व्यापारी भी अपने प्रतिनिधियों को फसल कटने के समय गाँवों में भेजते हैं। ये अपनी बैलगाड़ी, तराजू और बाँट भी अपने साथ ले जाते हैं तथा प्रत्येक गाँव में जाकर सम्पूर्ण उपज उसके सामने ही तोल कर खरीद लेते हैं तथा उसे गाड़ी में भर कर नगरों में थोक व्यापारियों अथवा आढ़त वालों को बेच देते हैं। इस प्रकार की बिक्री में व्यापारियों को बड़ा लाभ होता है। फसल तैयार होने के समय उपज का भाव बहुत गिर जाता है, अतः वे सस्ते भावों पर माल खरीद लेते हैं। इसके साथ ही व्यापारी बाजार भावों से परिचित होने के कारण किसान को झूठे भाव बताकर सस्ते भाव में माल खरीदते हैं और यही माल नगरों में ऊँचे भाव पर थोक खरीदारों को बेच देते हैं। इस प्रकार व्यापारी किसान तथा खरीदारों के बीच में अच्छी रकम कमा लेते हैं। नगर के व्यापारी बड़े चतुर होते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि किस स्थान पर कौन सी वस्तु प्राप्त हो सकती है और इसकी खपत कहाँ होगी। अतः वे गाँवों में पहुँच जाते हैं तथा किसानों को गाँव में ही रुपया चुका देते हैं।

कृषि उपज की बिक्री प्रणाली के दोष—

कृषि वस्तुओं की विक्रय पद्धति में निम्न दोष प्रमुख हैं :—

(१) मध्यस्थों की अधिकता—कृषक अपनी पैदावार का अतिरिक्त माल गाँव में बेच देते हैं, किन्तु कई बार उसे अपना माल निकट की मण्डियों में बेचने को

आवश्यकता होती है। कृषक को इन मण्डियों में बिक्री के लिए दलाल, आढ़तिये, महाजन, साहूकार आदि अनेक मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्यस्थों की यह बाढ़ कृषक को मिलने वाली आय में काफी कमी कर देती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचों से स्पष्ट होता है कि गेहूँ की बिक्री में एक रुपए के मूल्य में से कृषक को केवल ८½ आने और चावल की बिक्री में से केवल ६½ आने मिलते हैं। निम्न तालिका से भिन्न भिन्न वस्तुओं की बिक्री में कृषक के भाग का पता चलता है:—

माल	कृषक का भाग (%)	किराया (%)	मिश्रित व्यय (%)	थोक व्यापारी का भाग (%)	फुटकर व्यापारी का भाग (%)
१. ज्वार	१५·१७	१०·७१	९·१८	५·३६	९·५८
२. चावल	६६·८०	५·५६	१७·२०	३·१९	६·२५
३. गेहूँ	६८·५०	१९·००	९·३०	१·६	१·१०
४. अलसी	७९·३६	८·४०	९·३५	१·६	—
५. मूँगफली	७४·७०	८·५३	१६·७७	—	—
६. तम्बाकू	४२·१८	६·६६	३४·४६	१६·७०	—
७. आलू	५६·१३	११·९०	६·८०	५·४	१८·६
८. अंगूर	२६·४०	९·९५	११·५५	—	१४·९०
९. नारंगी	३२·४८	१६·३०	२६·५४	—	२४·६८
१०. कॉफी	६४·७७	—	१४·७०	९·२०	९·४०
११. अंडे	—	—	—	—	—
१२. दूध	६४·७५	—	—	१४·७५	२०·५०

औद्योगिक आयोग (सन् १९१८) ने इन मध्यस्थों की बढ़ती हुई शृंखला के विषय में असन्तोष प्रकट किया है। आयोग का कथन था—"गाँव की फसलों का जो निर्यात होता है, उनकी बिक्री में बहुत से अनावश्यक मध्यस्थों का समावेश रहता है, जो किसानों के अधिकांश लाभ को स्वयं ही हड़प जाते हैं। क्योंकि किसानों के निर्धन और अशिक्षित होने के कारण वे अपनी फसल को मण्डी में ले जाकर बेचने में असमर्थ होते हैं। यह शोचनीय अवस्था मुख्यतः बंगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश में पाई जाती है।

(२) मण्डी की लागत और अनियन्त्रित कर—मण्डियों में उपज की बिक्री के लिए किसान को कच्चे आढ़तिये अथवा दलाल को नियुक्त करना पड़ता है। इन व्यक्तियों को उनके पारिश्रमिक के रूप में आढ़त और दलाली देनी पड़ती है, किन्तु इनके अतिरिक्त किसान को और भी बहुत से व्यय चुकाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, तुलावटिये को तुलाई, बोरे आदि खोलने या भरने वाले मजदूरों को बोरावन्दी,

अन्य मजदूरों को अनाज की गाड़ी खाली करने, बोरों को भरने आदि के लिए पल्लेदारी, उपज में अशुद्धता के कारण गर्दा चुकाने, माल के वजन में कमी के लिए दालता या दाना आदि भी चुकाना पड़ता है। इन खर्चों के अतिरिक्त मण्डी में और भी बहुत से व्यक्ति और संस्थाएँ होती हैं, जिन्हें किसान अपनी उपज का थोड़ा-थोड़ा अंश देता है। उदाहरणार्थ, व्यापारियों के यहाँ कार्य सीखने वाले शागिर्दों, चौकीदार, भंगी, ब्राह्मण, मुनीम तथा भिश्ती आदि को भी अनाज या नकद देना पड़ता है। धर्मादा के नाम पर मन्दिर, गौशाला, प्याऊ तथा पाठशाला आदि के लिए भी किसान को कुछ न कुछ देना पड़ता है। इस सम्बन्ध में मुख्य विशेषता तो यह है कि ये खर्चे प्रत्येक मण्डी में अलग-अलग होते हैं। साधारणतया उन किसानों से जो बहुधा मंडियों में माल बेचने आया करते हैं, उन किसानों की अपेक्षा जो कभी-कभी ही आया करते हैं, अधिक लागतें वसूल की जाती हैं। इसके अतिरिक्त व्यापारियों से कम और किसानों से अधिक लागतें वसूल की जाती हैं। कई बार बानगी के रूप में नमूना लेकर उसका मूल्य भी नहीं चुकाया जाता। शाही कृषि आयोग (१६२८) के अनुसार खानदेश में कपास की बिक्री के समय प्रति गाड़ी के पीछे ५ सेर से ८ सेर तक रुई नमूने के रूप में ले ली जाती है। इसका प्रमुख कारण असंगठित मण्डियाँ होना है।

(३) तोल व बाँटों की विभिन्नता—भारत में तोल और बाँटों की बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। शाही कृषि आयोग के अनुसार पूर्वी खानदेश के १६ जिलों में से १३ जिलों में १ मन की तोल २१॥ से लगा कर ८० सेर तक की थी। इसी प्रकार भारतीय कपास समिति का कहना है कि बम्बई राज्य के अधिकांश भागों में रुई की बिक्री ७८४ पौंड की १ खदी के रूप में होती है, किन्तु यह खदी १६० पौंड से लगाकर २५० पौंड तक की है। कानपुर में कपास के लिए १०३ पौंड का मन पाया गया है। यही नहीं, ये बाँट लकड़ी, पत्थर, लोहे आदि के टुकड़ों के होते हैं। इसके अतिरिक्त एक सेर की तोल ३१ तोले से लगाकर १०२ तोले तक की तथा १ पसरी ५ सेर से लगाकर ६ सेर तक और एक मन ४० सेर से लगाकर ५४ सेर तक का पाया गया है। बाँटों के इस प्रकार गलत होने के साथ-साथ यह भी पाया जाता है कि व्यापारी खरीदने और बेचने के लिए अलग अलग बाँटों का प्रयोग करते हैं। इससे कृषक को काफी हानि उठानी पड़ती है।

(४) श्रेणी विभाजन (Grading) का अभाव—भारतीय मण्डियों में फसल बोने से लेकर बेचने तक फसल की शुद्धता और श्रेणीयन (Grading) का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा जाता। यहाँ पर अच्छी और बुरी फसल दोनों को ही धारा पद्धति के अनुसार ढेरों में बेचा जाता है। इससे शुद्ध व अशुद्ध उपज वाले किसानों को एकसा मूल्य चुकाया जाता है। अतः अच्छी फसल वाले कृषक को अपनी उत्तम फसल के लिए विशेष लाभ नहीं होता। बाजार में वस्तुओं के श्रेणीयन के अभाव में किसानों को हानि उठानी पड़ती है। आज भी रुई में कई प्रकार की अशुद्धताएँ, मिलावट तथा पानी के छींटे लगाकर कपास को गीला किया जाता है। इसी प्रकार मूँगफली, इमली,

चावल और गेहूं आदि फसलों में कंकड़-मिट्टी आदि मिला दी जाती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की कृषि वस्तुओं को मूल्य कम मिलता है।

(५) यातायात की अपूर्णता एवं असुविधायें—फसल को गांव से मंडी ले जाने के लिए उत्तम सड़कें नहीं हैं, अतः कृषि उत्पादन के यातायात में बहुत सी असुविधायें होती हैं। वर्षा में सड़कों की अवस्था और भी शोचनीय हो जाती है। सड़कों की असुविधा के कारण एक तो पशुओं को काफी कष्ट उठाना पड़ता है और मण्डी तक माल ले जाने में व्यय भी अधिक होना है। अनुमान है कि माल ढोने का खर्चा किसान को मिले मूल्य का २०% तक होता है। उपज की उचित बिक्री के लिए अच्छी सड़कें अत्यावश्यक हैं। भारतवर्ष के गावों में ऐसे मार्गों का नितान्त अभाव है, जिन्हें सड़क कहा जा सके। भारत में औसतन ०·२२ मील सड़कें प्रति वर्ग मील हैं। यह औसत अमेरिका के मरुस्थल औसत (०·३० मील) से भी कम है।*

इसके अतिरिक्त जानवर और बैलगाडी बहुत ही मन्द गति से चलते हैं तथा एक फेरी में अधिक माल नहीं ले जा सकते।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं की दुर्लभता—भारतीय किसानों को भिन्न भिन्न वस्तुओं के भावों की दरें पूर्णतया ज्ञात नहीं रहती, जबकि महाजनों और मण्डी के व्यापारियों को बड़े-बड़े बाजारों की दरें समय-समय पर ज्ञात होती रहती हैं। ऐसी दशा में किसानों को सदैव महाजनों द्वारा बताई गई दरों पर विश्वास करना पड़ता है। कई बार तो वास्तविक भाव मालूम होने पर भी भिन्न-भिन्न बाजारों के दरों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि सभी क्षेत्रों में कृषि उपज के लिए कोई एक निश्चित श्रेणी नियत नहीं है। साथ ही, जो भाव स्थानीय सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं वे विश्वसनीय नहीं होते और राजकीय पत्रों में प्रकाशित होने वाले भाव समझना अशिक्षित कृषक के लिए सम्भव नहीं होता, अतः महाजन किसानों के अज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

(७) फसल को सुरक्षित रखने के साधनों का अभाव—गाँवों में फसल को संग्रह करने के लिए भूमि में गड्ढे या मिट्टी की कोठियाँ (खत्तियाँ) काम में लाई जाती हैं। इसलिए सील अथवा कीड़े मकोड़ों से बहुत सी फसल नष्ट हो जाती है। अनुमान है कि सील अथवा कीड़ों द्वारा भारत में प्रति वर्ष ३ लाख टन गेहूँ गाँव में ही नष्ट हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण गाँवों अथवा मण्डियों में अनाज भरने के लिए गोदामों की कमी है।

(८) अन्य कारण—अन्य कारणों में कृषक की अशिक्षा, निर्धनता, ऋण-ग्रस्तता, विवशता, अनार्थिक जोतें आदि कारणों का समावेश होता है, जो कृषि के दोषपूर्ण सगठन के परिचायक हैं।

* Report of the Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, Vol. II 1954.

कृषि उपज की विकय प्रणाली में सुधार की दशा—

स्पष्ट है कि भारतीय किसानो को अपनी फसल की बिक्री से उचित मूल्य नही मिलता। श्री वाडिया और मर्चेन्ट के अनुसार किसानो को फसल की १ रुपये की बिक्री मे अलसी मे १० आने, गेहूँ मे ९। आने, चावल में ८। आने, आलू मे ८ आने और मूँगफली मे केवल ७।। आने मिलते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कृषि पदार्थों की बिक्री की पद्धति मे सुधार हो। इस हेतु निम्न दिशा मे सुधार आवश्यक हैं—

(१) नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना—भारत मे नियन्त्रित मण्डियो की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि भारतीय कृषक सभी जगह व्यापारियो द्वारा ठगे जाते हैं। नियन्त्रित बाजारो की स्थापना सबसे पहले सन् १८९७ मे बरार में की गई थी। किन्तु इसकी कार्य-प्रणाली मे बहुत से दोष आ गये। बरार के बाद मध्य-प्रदेश में सन् १९३२ मे, मद्रास मे सन् १९३३ मे और हैदराबाद मे सन् १९३९ मे तथा मैसूर, बड़ौदा आदि राज्यो मे भी नियमित मण्डियो की स्थापना की गई है।

मध्य-प्रदेश में रुई के लिए नियन्त्रित मण्डियाँ पाई जाती हैं। सन् १९४८ में रुई की ३९ और अन्य कृषि वस्तुओ की नियन्त्रित मण्डियाँ ९ थी। ये मण्डियां मध्य-प्रदेश म्युनिसिपिल विधान और मध्य-प्रदेश रुई मण्डी विधान सन् १९३२ (C. P. Cotton Market Act) द्वारा सचालित होती है। पहिले प्रकार की मण्डियाँ मुख्यतः रायपुर, दुर्ग और नागपुर मे है। यहाँ कृषि पदार्थों के सग्रह और सरक्षण का भी प्रबन्ध होता है। प्रत्येक मध्यस्थ को लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। तौलने का व्यय, चुङ्गी की दर तथा बाजार की अन्य दरें मण्डी समिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

बरार में रुई की मण्डियां, सी० पी० कॉटन मार्केट एक्ट सन् १९३२ से नियन्त्रित होती है, जिनमे कपास का ही व्यापार होता है। अमरावती और अकोला मे इस प्रकार की मण्डियाँ है, जिनका प्रबन्ध इस विधान के अन्तर्गत स्थापित की गई मण्डी समितियो द्वारा होता है। ये समितियाँ आपसी झगड़े मिटाने, खेतों का निरीक्षण तथा तौल और नाप का प्रबन्ध करने का कार्य करती है। यहाँ भी सभी प्रकार के व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है।

बम्बई में सन् १९२७ में, बम्बई रुई मण्डी विधान (Bombay Cotton Market Act) लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत मण्डी समिति मण्डियों का प्रबन्ध करती है। यहाँ भी व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है। मद्रास राज्य मे मद्रास-व्यापारिक फसल बिक्री विधान सन् १९३३ द्वारा, रुई (त्रिपुर, अदोनी और नन्दलाल), मूँगफली (कडालोर) तथा तम्बाकू (गन्तूर जिला) के बाजारों का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस समय पूर्वी पजाब में ५९, हैदराबाद मे ३२ और ग्वालियर मे ३६ नियन्त्रित मन्डियाँ हैं। इन सभी मंडियों की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:—

(अ) प्रत्येक मण्डी में क्रेता और विक्रेताओं के प्रतिनिधियों की एक समिति होती है, जिसका कार्य बाजार में वस्तुओं के विक्रय का इस प्रकार सतत् निरीक्षण करना होता है, ताकि किसी प्रकार की, बेईमानी न हो सके। इसी हेतु ये समितियाँ तौल, माप तथा कटौतियों पर कड़ी दृष्टि रखती हैं और कृषकों को सभी प्रकार की सुविधायें देकर दलालों से बचाती हैं।

(ब) प्रत्येक मण्डी में कार्य करने वाले दलालों, तुलावटियों तथा अन्य मध्यस्थों को समिति द्वारा अपना पंजीयन (Registration) कराना आवश्यक होता है, ताकि उन्हें उनकी किसी प्रकार की अनुचित कार्य-वाही पर दण्ड दिया जा सके।

(स) समिति क्रेता और विक्रेता के बीच होने वाले सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा करती है।

राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न मंडियों एवं बाजारों के नियमन का आयोजन है। इस अधिनियम के अनुसार मंडियों एवं बाजारों का नियमन मंडी समितियों द्वारा होता है, जिसमें कृषि उत्पादक, व्यापारी, स्थानीय संस्थायें तथा राज्य सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये इस प्रकार के नियमन भी बाजार अथवा मण्डी दरें समिति निश्चित करती हैं। इसके अलावा अनाधिकृत कटौती, जैसे—नमूना, धर्मादा आदि काटने की अनुमति नहीं है। यह अधिनियम इस समय आन्ध्र, बम्बई, दिल्ली, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और मध्य-प्रदेश में लागू है और शेष राज्यों में विधेयक बनाये जा रहे हैं।[1] मण्डियों की व्यवस्था में ये नये परिवर्तन हैं, जिससे कृषकों को अनेक लाभ होते हैं। इस समय देश के सब राज्यों में ५५० नियमित मण्डियों की स्थापना हो चुकी है।[2]

किन्तु अभी तक भारत में नियन्त्रित मण्डियों से पूरा पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सका। क्योंकि जहाँ-जहाँ मण्डियों के नियमन करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ बड़े-बड़े व्यापारियों और मध्यस्थों ने प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करने के प्रयत्न किये। इसके अतिरिक्त विशेषक समिति के सिफारिश करने पर भी राज्य और जनता ने अभी तक नियन्त्रित मण्डियों की आवश्यकता और उपयोगिता को नहीं समझा है।

(२) तौल और बाँटों में सुधार करना—अभी तक किसानों को शुद्ध सही बाँटों का पूरा लाभ नहीं मिल पाया है। अस्तु इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि मण्डियों में उपयुक्त होने वाले बाँटों के वजन में समानता हो। इसलिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय और राजकीय सरकारें कानून द्वारा प्रमाणित

1. India 1958, pp 264
2. India 1959,

(Standard) तोलों का उपयोग अनिवार्य करें। इसके साथ ही एक ऐसी संस्था भी स्थापित की जाय, जो समय-समय पर मण्डियों में प्रयुक्त बाँटों का निरीक्षण करती रहे। मण्डियों में भारतीय पद्धति के बाट, अर्थात् मन, सेर, छटाँक आदि ही काम में लाये जायें। इन्हीं बातों की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने सन् १६३६ में प्रमाणित तोल विधान (Standards Weight Act) स्वीकृत किया। यह विधान १ जुलाई सन् १६४२ से सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया तथा बम्बई के मिन्ट मास्टर द्वारा प्रमाणित तोल के बाँट सभी राज्य सरकारों को दिए गए। बम्बई, बिहार, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और पटियाला राज्य में कानून द्वारा प्रमाणित तोलों का उपयोग अनिवार्य कर दिया गया। योजना आयोग का सुझाव है कि शेष सभी राज्यों में इस दिशा में उचित कार्यवाही होनी चाहिए।

नाप तोल की पद्धति में समानता लाने के लिए १ अक्टूबर १६५८ से देश में नाप तोल की मेट्रिक प्रणाली कुछ चुने हुए क्षेत्रों में लागू की गई है। फिर भी इनमें से कुछ चुने हुए क्षेत्रों में वर्तमान बाँटों का चलन दो वर्ष अर्थात् ३० सितम्बर सन् १६६० तक होने दिया जायगा। यह प्रणाली क्रमशः और क्षेत्रों में भी लागू होती जाएगी और वहाँ भी दो-तीन वर्ष दोनों प्रकार के बाट चलाने की सुविधा दी जायगी।

इस प्रणाली के पूर्ण रूप में लागू होने पर बाट तोलों की विविधता नष्ट हो जाएगी तथा कृषक को कम से कम एक असुविधा से मुक्ति मिल जायगी।*

(३) कृषि-उत्पादन का श्रेणीयन—भारतीय बाजारों में कृषि वस्तुओं के श्रेणीयन का कोई साधन नहीं है। इस कारण शुद्ध फसल की बिक्री करने वाले कृषक को भी उतना ही मूल्य मिलता है, जितना कि ५% अशुद्ध फसल की बिक्री वाले किसान को। अतः यह आवश्यक है कि वस्तुओं का उचित श्रेणीयन किया जाय। इसी हेतु सरकार ने भिन्न भिन्न उपजों के सम्बन्ध में अनुसंधान करके यह अनुभव किया कि यदि विश्व के बाजार में भारतीय उपज का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना है तो भारतीय उपजों का प्रमाणित श्रेणीयन करना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। अतः सन् १६३७ में कृषि वस्तु श्रेणीयन और बिक्री विधान (Agricultural Produce & Marketing Act) स्वीकृत किया गया, जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के श्रेणीयन सम्बन्धी नियम लागू किये गये। सन् १६४२-४३ में इस विधान में कुछ परिवर्तन किये गये। इस प्रकार अब इस कानून द्वारा फल, सब्जियाँ, चमड़ा, दूध, दही, घी, तम्बाकू, काफी, आटा, तिलहन, वनस्पति, तेल, रुई, चावल, गेहूँ, लाख, गुड़, हरं, बहेड़ा, बूरा, ऊन आदि वस्तुओं का श्रेणीयन किया जाता है। प्रत्येक श्रेणीकृत वस्तु पर आगमार्क मुहर लगा दी जाती है। इस प्रकार भारत में प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन के ३८० केन्द्र हैं। प्रमापीकरण होने के कारण विदेशी बाजारों में इनकी माँग बढ़ रही है। सन् १६५७-५८ में इन वस्तुओं का निर्यात २७·५२ करोड़ रु० का तथा सन्

---

* नवभारत टाइम्स : १ अक्टूबर सन् १६५८।

१६५८-५६ के पांच मास में १२·६५ करोड़ रु० का हुआ। अंशोधन का जो कार्य अभी तक किया गया है, वह हमारे कृषि संगठन की व्यापकता को देखते हुए नगण्य ही है। अतः इस दिशा में अधिक कार्य की आवश्यकता है।

(४) बाजार भावों की सूचना सम्बन्धी सुविधा—रॉयल कृषि कमीशन और केन्द्रीय बिक्री विभाग के भिन्न भिन्न अनुसन्धानों में यह अनुभव किया गया कि सभी मण्डियों में भावों की दरों में सामंजस्य नहीं है, जिससे किसानों को हानि उठानी पड़ती है। आजकल कलकत्ता रेडियो द्वारा भावों सम्बन्धी सूचना प्रसारित की जाती है। बम्बई से सोना, चांदी, गेहूँ, अलसी, रेंडी, मूंगफली आदि के भाव दिल्ली से अनाज आदि, हापुड़ से गेहूँ, चना, जौ आदि के भाव भी प्रसारित किये जाते हैं। इन भावों का प्रसारित करना केन्द्रीय सरकार के बिक्री विभाग द्वारा होता है। पिछले कुछ समय से जनता के लाभार्थ समाचार-पत्रों, बड़े-बड़े इश्तहारों तथा कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों द्वारा यह विभाग अपना कार्य-विवरण प्रस्तुत करता रहा है। परन्तु गांवों में भी ये सूचनाएँ कितने लोगों को मालूम होती हैं, इस सम्बन्ध में शंका ही है, क्योंकि अभी तक भारत के गांवों में रेडियो नहीं हैं और दूसरे इन रेडियो का उपयोग किस लिए होता है, इस सम्बन्ध में भी कोई जांच नहीं होती है।

(५) गोदामों की सुविधाएँ—गेहूँ की बिक्री के सम्बन्ध में की गई जांचों द्वारा ज्ञात हुआ है कि फसल के पकने के बहुत ही थोड़े समय के भीतर संग्रह की सुविधाओं के अभाव में ६०-७०% तक उपज बिक्री के लिए मण्डियों में चली आती है, जिससे भावों में काफी उतार हो जाता है। अतः किसानों को अपनी फसल जल्दी न बेचनी पड़े, इसलिए ऐसे गोदामों की आवश्यकता है। शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुएँ जैसे—फल, सब्जियाँ, मछली, दूध, मक्खन, अन्डे आदि के लिए शीत भण्डारों की सुविधाएँ होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने सन् १६४४ से गोदाम संचालक विभाग की स्थापना की है, जिसका कार्य संग्रह करने की वर्तमान अवस्थाओं और भविष्य के लिए सुझाव देने; संग्रह करने की पद्धतियों की सूचना देने एवं राज्य संग्रह अधिकारियों को शिक्षा आदि देने का है। इसी विभाग के अन्तर्गत लगभग कई लाख टन अनाज संग्रह करने के लिए बम्बई, विजगापट्टम, कोयम्बटूर तथा मध्य-प्रदेश और उड़ीसा में बड़े-बड़े गोदाम बनवाए गए हैं, परन्तु इससे कृषक को लाभ नहीं होता। इसलिए ग्रामीण साख सर्वे समिति ने गोदाम आदि की व्यवस्था के लिए एक विशेष कोष बनाने की सिफारिश की, जिसके अनुसार 'नेशनल कोऑपरेटिव डेवलपमेन्ट एण्ड वेयर हाउसिंग बोर्ड' तथा सैन्ट्रल वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई है। इस कॉर्पोरेशन ने अमरावती, गोंदिया, सांगली दावानगेरे में गोदाम सुविधाएँ प्रदान की हैं। इसी के आधीन सात राज्यों में स्टेट वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशनों की स्थापना की गई है। बिहार, बम्बई मैसूर, राजस्थान, मद्रास, बंगाल और उड़ीसा में इस योजना के अन्तर्गत १·५६ करोड़ रु० की लागत से सन् १६५८-५६ में १,०६० गोदाम बनाए गए हैं।

(६) यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास—फसल को मण्डियों तक ले जाने के लिए यातायात साधनो की उन्नति करना बहुत आवश्यक है । इस सम्बन्ध मे राज्य और केन्द्रीय सरकारो को गाँव से मण्डियो तक पक्की सडको का निर्माण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त किसानो को गाडियो मे रबर के पहिये लगाने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिए । इसी प्रकार रेल और जहाजी कम्पनियो द्वारा लिए जाने वाले भाडे में समानता होनी चाहिए तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के यातायात के लिए रेलों में विशेष प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए ।

(७) सहकारी समितियों द्वारा वस्तु विक्रय—कृषि उपज विक्रय दोषों को दूर करने के लिए सन् १६१२ के सहकारी समिति विधान के अन्तर्गत सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित की गईं । इस प्रकार की समितियाँ विशेषकर बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश में पाई जाती हैं । विक्रय समितियाँ अपने उद्देश्य के अनुसार चार भागों में बाँटी जा सकती हैं :—

(अ) कृषि उपज को खरीदने और वेचने वाली समितियाँ ।
(ब) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ ।
(स) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियाँ ।
(द) कृषि उपज करने वाली समितिया ।

ये समितियाँ या तो माल सीधे उत्पादनकर्ताओ से खरीद कर अथवा उत्पादकों के एजेन्ट की भाँति उपभोक्ताओ को बेच देती हैं । ये समितियाँ एक या अनेक वस्तुओ का क्रय-विक्रय कर सकती हैं । भारत मे एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाली समितिया बहुत अधिक है, जिनमे उत्तर-प्रदेश और बिहार की गन्ना क्रय-विक्रय और विकास समितियाँ तथा बम्बई की कपास ओटने और उसकी सफाई करने वाली समितियाँ मुख्य हैं ।

सहकारी विपणन समितियो का विकास बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश मे उल्लेखनीय है, किन्तु मैसूर, कुर्ग, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा पंजाब में भी ये समितियाँ पाई जाती है ।

सहकारी विक्रय समितियों के कार्य—

(१) सदस्यो से कृषि वस्तुएँ और कुटीर उद्योगों का माल लेकर उनका वर्गीकरण और प्रमापीकरण कर सहकारी संघो को विक्रय के लिए देना ।
(२) सदस्यो को उनके उत्पादन के बदले मे ऋण देना ।
(३) सदस्यो का माल बेचने के लिए उनके प्रतिनिधि का कार्य करना ।
(४) कुछ समितियाँ, विशेषकर मद्रास में, विक्रय के साथ-साथ ऋण और अन्य सुविधायें देने की व्यवस्था करती हैं ।

(५) स्कूल, अस्पताल तथा सड़कों आदि का निर्माण कर समाज सेवा का काम करना।

जिन राज्यों में इन समितियों का विकास हुआ है, उनमें सदस्यों को कई लाभ हुए हैं :—

(अ) इनकी स्थापना से उत्पादक और उपभोक्ताओं के बीच दलालों की लम्बी शृंखला समाप्त हो गई है, क्योंकि माल सीधा किसानों से खरीद कर उपभोक्ताओं को बेच दिया जाता है।

(ब) ये समितियाँ छोटे-छोटे उत्पादकों को न केवल आर्थिक सहायता ही देती हैं, बल्कि उन्हें समय समय पर उचित सलाह देकर व्यापारियों की दूषित प्रवृत्तियों से बचाती हैं।

(स) माल बेचने में किसान की शक्ति और समय में भी काफी बचत होती है।

(द) उपभोक्ताओं को भी पहले की अपेक्षा अब अच्छे किस्म का माल मिलने लगा है, क्योंकि समितियाँ उसका उचित रीति से वर्गीकरण करके परख लेती हैं। इसके अतिरिक्त माल में मिलावट की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

सरैया (सहकारी) समिति के सुझाव—

श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता में नियुक्त एक सहकारी योजना समिति सन् १९४६ ने सहकारी विक्रय के सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—

(अ) १० वर्ष के भीतर सभी कृषि पदार्थों का २५% भाग सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा खरीदा और बेचा जाय। इस हेतु २,००० विक्रय समितियाँ, ११ प्रान्तीय विक्रय संघ तथा एक केन्द्रीय विक्रय संघ की स्थापना की जाय। इन संगठनों द्वारा कृषि वस्तुओं का संग्रह, आवश्यक प्रबन्ध, श्रेणीयन, यातायात और विक्रय हो।

(आ) वस्तुओं के विक्रय और कृषि साख में परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए, इसलिए इस प्रकार की समितियाँ स्थापित करनी चाहिए, जिनके सदस्य अनिवार्य रूप से अपना उत्पादन इन समितियों द्वारा ही बेचें। प्राथमिक समितियों द्वारा कृषि वस्तुओं का संग्रह और यातायात किया जाना चाहिए। ये समितियाँ माल इकट्ठा करके विक्रय समितियों को बेचें।

(इ) प्रत्येक २,००० मण्डियों अथवा २० गाँवों के लिये एक विक्रय समिति होनी चाहिए। यह समिति अपने सदस्यों की वस्तुओं को बेचने तथा उस पर ऋण प्राप्त करने का कार्य करे। साथ ही, प्रत्येक समिति खाद, बीज आदि का भी प्रबन्ध करे।

(ई) प्रत्येक राज्य में विक्रय संस्थाओं के संगठन, बाजार भावों के प्रकाशन

एवं अन्तर्राज्य व्यापार के लिये एक राज्य विक्रय समिति की स्थापना हो। इस हेतु राज्य सरकार २ वर्ष के लिये कुल व्यय का ५०% भाग दें।

(उ) राज्य समितियों में सामजस्य के लिए अखिल भारतीय विक्रय संगठन की स्थापना की जाय, जिसका मुख्य कार्य विदेशी विक्रय संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करना तथा बाजार भावों के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रकाशित करना हो।

भारत सरकार और कृषि उपज विक्रय सम्बन्धी कार्य—

सन् १९२८ में शाही कृषि आयोग ने कृषि विक्रय संगठन के सम्बन्ध में सुझाव रखे और इस बात पर जोर दिया था कि कृषि विभाग के अन्तर्गत एक विक्रय अधिकारी की नियुक्ति की जाय तथा विक्रय उप-विभाग संगठित किया जाय। सन् १९३० में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी विक्रय सम्बन्धी सुझाव दिये, किन्तु आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण राज्य सरकारें इन सुझावों को कार्यान्वित न कर सकीं। सन् १९३४ में सबसे पहले केन्द्रीय सरकार ने एक विक्रय अधिकारी नियुक्त किया और इसी वर्ष केन्द्रीय सरकार ने एक प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन भी बुलवाया। इस सम्मेलन ने विक्रय सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिये निम्न मौलिक सुझाव रखे :—

(१) विदेशी उपभोक्ताओं और भारतीय उत्पादकों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिये देश और विदेश में कृषि पदार्थों सम्बन्धी प्रकाशन और प्रचार का कार्य किया जाय।

(२) भारतीय कृषि उत्पादन क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्न किये जायें कि जिससे कृषि पदार्थों की किस्म अधिक शुद्ध हो सके।

(३) केन्द्रीय सरकार और सहकारी समितियां कृषि उत्पादन के संकलन और श्रेणीयन के लिये प्रबन्ध करें।

(४) सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार के माप-तौल प्रचलित किये जायें।

(५) कृषि उत्पादन की मुख्य-मुख्य वस्तुओं के परीक्षण का आयोजन किया जाय।

(६) गाँव में सहकारी समितियों द्वारा ग्रामीणों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु सहकारी भण्डार खोले जायें।

इन सुझावों के आधार पर केन्द्र में एक कृषि विक्रय विभाग की स्थापना की गई। इसमें एक कृषि विक्रय सलाहकार, ६ विक्रय अधिकारी और ११ सहायक विक्रय अधिकारी रखे गये। इस विभाग का कार्य कृषि वस्तुओं का परीक्षण करना, उनके सम्बन्ध में प्रयोगशालाओं में जाँच करना और उनका श्रेणीयन करना था। केन्द्र के

अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल, हैदराबाद, मैसूर, बम्बई, मध्यप्रदेश और पूर्वी पंजाब में भी इसी प्रकार के विभाग खोले जायें।

केन्द्रीय सरकार के इस विभाग के अन्तर्गत अभी तक गेहूँ, चावल, आलू, चना, जौ, अंगूर, केले, रसायन, फल, अलसी, मूँगफली, चमड़ा, सुपारी, लाख, ऊन, शक्कर, दूध, घी, मछलियाँ, नारियल, अंडे, कॉफी, इलायची, सरसों, राई और पशु आदि के सम्बन्ध में विस्तृत परीक्षण किया गया तथा कई रिपोर्टें प्रकाशित की गईं। इन रिपोर्टों में इन वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली, उत्पादन की मात्रा, उत्पादन क्षेत्र, उत्पादकों की संख्या, उत्पादित वस्तुओं की क्रय-विक्रय प्रणाली तथा उनके मूल्य सम्बन्धी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है।

योजना अवधि में—

पंच-वर्षीय योजना काल में कृषि उपज के विक्रय के लिए सहकारी समितियों के विकास पर बहुत जोर दिया गया था। नियन्त्रित मण्डियों के विकास, मण्डियों में कृषक सहकारी समितियों के अधिक प्रतिनिधित्व तथा प्रमाणित तौल अधिनियम को उचित रूप से लागू करने की योजना भी बनाई गई। तदनुसार मण्डी व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया और इस नई व्यवस्था के अनुसार ५२३ से अधिक मण्डियों का पुनर्गठन हुआ है। दूसरी योजना में ५०० और मण्डियों का पुनर्गठन होगा, जिससे कृषकों को लाभ पहुँचेगा।

दूसरी योजना में भी सहकारी विक्रय पद्धति एवं सहकारिता विकास का कार्य बढ़ा दिया है। इस योजना में ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिशों के अनुसार सहकारी आन्दोलन का विकास एवं संगठन किया जायगा। कृषि विपणन क्षेत्र में सन् १९५४ में राज्य विपणन समितियों की संख्या १९, सहकारी विक्रय संघ और फेडरेशनों की संख्या २,१२५ तथा १,००० प्राथमिक विक्रय सहकारी समितियाँ थीं, जिन्होंने सन् १९५३-५४ में लगभग ५२ करोड़ रु० का क्रय-विक्रय किया। दूसरी योजना के अनुसार १ केन्द्रीय वेयर हाउसिंग कॉरपोरेशन और १६ स्टेट वेयर हाउसिंग कॉरपोरेशनों की स्थापना का लक्ष्य है, जो देश के विभिन्न केन्द्रों में १० लाख टन संग्रह क्षमता के २५० गोदामों का तथा सेन्ट्रल वेयर हाउसिंग कॉरपोरेशन १०० महत्वपूर्ण केन्द्रों पर बड़े गोदामों का निर्माण करेगा। इन गोदामों की रसीदों को बेचान साध्य माना जायगा, जिनकी जमानत पर कृषकों को बैंकों से ऋण सुविधाएँ मिल सकेंगी। योजना की अवधि में विपणन सहकारी समितियाँ एवं गोदामों के निर्माण का निम्न लक्ष्य है :—

(१) विपणन और क्रिया कलाप (Processing) करने वाली समितियाँ :

प्राथमिक विपणन समितियाँ	१,८००
सहकारी शक्कर कारखाने	३५
सहकारी कॉटन जिन (Gins)	४८
अन्य सहकारी प्रोसेसिंग समितियाँ	११८

(२) गोदाम और संग्रह :—

केन्द्र और राज्य कार्पोरेशनो के गोदाम	३५०
विपणन समितियों के गोदाम	१,५००
वृहत सहकारी समितियो के गोदाम	४,०००

इस योजना के अनुसार नेशनल कोआँपरेटिव एण्ड डेवलपमेंट बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसने योजना के प्रथम दो वर्षों मे राज्य सरकारो को विपणन सहकारी समितियो में भाग लेने के लिए २·०३ करोड रु० स्वीकृत किए। इसके अलावा २५१ नई विपणन समितियों की रजिस्ट्री की गई। साथ ही, जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके है, केन्द्रीय गोदाम कॉर्पोरेशन ने ६ बडे गोदामो की व्यवस्था चालू की है और बिहार, मैसूर, बम्बई, राजस्थान, प० बंगाल, मद्रास एवं उडीसा में राज्य वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशनो की स्थापना हो गई है।

सन् १९६०-६१ की योजना में हाट व्यवस्था में सहकारी समितियो के लिए २९३ गोदाम और गांवो मे ७१३ गोदाम निर्माण की व्यवस्था है। इस समय इनकी संख्या क्रमशः १,३६६ और ३,३४९ है। सन् १९६०-६१ के अन्त तक केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगम भी ३३७ गोदामो मे माल रखने का प्रबन्ध करेंगे।[१] इस समय इनके क्रमशः १९ और १४५ गोदाम हैं।[२]

निष्कर्ष—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि उपज के विपणन की समुचित व्यवस्था के लिए मण्डियों का पुनर्गठन, नाप-तौल मे समानता के लिए मैट्रिक प्रणाली का प्रारम्भ, श्रेणीयन एवं प्रमाणीकरण की प्रगति, गोदामों का निर्माण और सहकारी विक्रय समितियो के विस्तार मे मूलभूत और सराहनीय कार्य हो रहा है। इससे निश्चय ही कृषक को अपनी उपज का पूरा लाभ मिल सकेगा और वह अपनी आर्थिक उन्नति कर सकेगा।

इसके साथ ही वर्तमान सहकारी आन्दोलन के दोषो को दूर कर उनको कृषि के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए अखिल भारतीय सहकारी गोष्ठी ने निम्न महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं :—[3]

(१) कृषकों को विपणन समितियों का पूर्ण लाभ होने के लिए इन समितियो की सदस्यता केवल कृषकों को ही दी जावेगी तथा व्यापारियों को सदस्य न बनाया जाय। परन्तु अपवादात्मक रूप मे व्यापारियो को निम्न शर्तों पर सदस्यता दी जा सकती है :—

(अ) वे सचालक सभा के लिए योग्य नही होंगे।

१. भारतीय समाचार १५ अप्रेल सन् १९६०।

२ भारतीय समाचार १५ मई सन् १९६०।

3 "All India Co-operative Seminar" Lucknow, September 27, 1958

(ब) उनको समिति से ऋण लेने का अधिकार नहीं रहेगा ।

(स) उनकी संख्या समिति की कुल सदस्य संख्या के एक निश्चित प्रतिशत से अधिक न हो ।

(२) सहकारी विपणन समितियों को निर्यात कोटा से पूर्ण लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय । इस हेतु निम्न सुझावों पर कार्यवाही हो :—

(अ) इन समितियों को निर्यात कोटा की अग्रिम सूचना दी जाय ।

(ब) शीर्ष संस्थाएँ (Apex Institutions) व्यापारिक निर्यात कोटा के हेतु उपज एवं वस्तुओं का संग्रह करें तथा इन समितियों को विदेशी बाजारों की सूचनाएँ संग्रहित कर उपलब्ध करें ।

(३) राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय सहकारी विपणन सङ्गठन की स्थापना की जाय, जो :—(१) सहकारिता के माध्यम से अन्तर्राज्य और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन दे एवं (२) विपणन एवं व्यापार करने वाली सहकारी समितियों को सुदृढ़ बनाने में तथा निजी व्यापारिक हितों की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए उनको सहायता दे ।

(४) राज्य सरकारों द्वारा भू-प्राप्ति अधिनियम के सङ्कटकालीन प्रायोजन सहकारी समितियों के पक्ष में उन क्षेत्रों में लागू किए जाएँ जहाँ उनको गोदामों के लिए समुचित स्थान नहीं मिलता । साथ ही, गोदामों के निर्माण के लिए लोह एवं सीमेंट आदि निर्माण सामग्री उनको शीघ्र एवं सुलभता से मिल सके । इस हेतु विभिन्न राज्यों के सहकारिता रजिस्ट्रार के पास वितरण के हेतु निश्चित कोटा दिया जाय ।

(५) साख एवं विपणन सहकारिता को सम्बन्धित करने के लिए बड़ी समितियाँ गाँवों में विपणन पंचायतदारों को नियुक्त करें, जो सदस्यों को उपज को संग्रह एवं परिवहन की सुविधाएँ दें । इन पंचायतदारों को विपणन समितियाँ अपने प्राप्त कमीशन का कुछ अंश पारिश्रमिक के रूप में दें ।

(६) विपणन समितियों (जोकि कच्चे आढ़तियों का कार्य करती हैं) के हितों की सुरक्षा के लिए समितियों की संचालक सभा द्वारा :—

(अ) मान्य पक्के आढ़तियों की एक सूची रखी जाय ।

(ब) मान्य पक्के आढ़तियों की साख सीमा निश्चित की जाय, जिस सीमा में ही उनसे व्यवहार हो ।

(स) विक्रयशील माल के मूल्य का कुछ भाग बोली लगाने वालों (Biddens) से विपणन समितियाँ जमा करावें तथा उनसे अपनी बोली को पूरा करने के सम्बन्ध में अपने पक्ष में एक समझौता कर लिया करें ।

(द) समितियों के गोदाम से पक्के आढ़तियों को माल ले जाने की अनुमति माल के पूर्ण मूल्य का भुगतान होने पर ही दी जाय ।*

इन सुझावों से निश्चित ही सहकारी विपणन पद्धति का सङ्गठन सुदृढ़ आधार पर होकर वे कृषकों को अपनी उपयोगिता का परिचय दे सकेंगी ।

---

* All India Co operative Seminar Lucknow—Sept. 27, 1958.

अध्याय १२

भारत में अकाल

(Famines in India)

"भारत में दुर्भिक्ष प्रत्यक्ष रूप से वर्षा न होने के कारण पड़ते हैं, किन्तु इनकी भीषणता का कारण भारतीयों की निर्धनता है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

साधारण रूप में हम दुर्भिक्ष से अभिप्राय विस्तृत भू भाग में खाद्यान्न के अभाव से लेते हैं। सन् १८६७ के दुर्भिक्ष-आयोग के अनुसार—"दुर्भिक्ष से तात्पर्य बहुत बड़ी जन-संख्या का क्षुधानल से पीड़ित होना है।" यद्यपि ऊँची कीमतें, अर्द्ध-भुखापन और अस्वास्थ्यकर भोजन की स्थिति तो यहाँ के लाखों व्यक्तियों के भाग्य में लिखी हुई है फिर भी दुर्भिक्ष का अर्थ देश के एक बड़े-भू-भाग में खाद्यान्न का अभाव होना है। प्राचीन काल में दुर्भिक्ष से तात्पर्य दुःख और मृत्यु समझा जाता था, किन्तु आज उसका अर्थ वस्तुओं की महगाई और बेकारी है। वर्तमान दुर्भिक्ष धन के अभाव का सूचक है, न कि खाद्यान्न के अभाव का, क्योंकि खाद्यान्न की कमी अन्न के आयात से पूरी की जा सकती है।

हिन्दू-काल में दुर्भिक्ष—

भारत में दुर्भिक्ष का आगमन कोई नई स्थिति नहीं है; दुर्भिक्ष हिन्दू-मुस्लिम और ब्रिटिश शासन-काल में बराबर पड़ते रहे हैं। हिन्दू-काल में भारत में कभी देश-व्यापी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। दुर्भिक्ष अपवाद माना जाता था। जब-जब दुर्भिक्ष होता था तब बहुत से समाधानकारी उपाय कार्य में लाये जाते थे। चाणक्य अर्थशास्त्र में दुर्भिक्ष-निवारण के निम्न उपाय बतलाये गये हैं :—

(१) कर न लेना, (२) देश छोड़ना, (३) राज्य द्वारा अन्न और धन से सहायता, (४) राज्य द्वारा झीलों, तालाबों और कुँओं का निर्माण, (५) अन्य भागों से अन्न का आयात और सहायता।

दसवीं शताब्दी में सन् ९९१७-१८ के आस-पास जैसा कि कल्हण की राज-तरंगिणी के वर्णन से ज्ञात होता है, काश्मीर में इस दुर्भिक्ष का रूप देखा गया। वर्णन इस प्रकार है :—"झेलम में पानी दृष्टिगोचर नहीं होता था, बल्कि उसमें तो अनावश्यक वस्तुएँ भरी हुई थीं। भूमि हड्डियों से ढँकी हुई थी, जोकि श्मशान का कार्य कर रही थी। उसमें एक पीड़ा-जनक दृश्य दिखाई देता था। राजा, मन्त्री और रक्षक धनाढ्य बन गये, जिसका एक मात्र कारण ऊँची कीमतों पर माल बेचना था। राजा

ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाता था जो इस प्रकार का कार्य करके धन प्राप्त कर सका हो।"

मुसलमान-काल के इतिहासकारों ने भी कई अकालों का वर्णन किया है, जिनमें चार बहुत ही भयानक थे। पहिला अकाल सन् १३४३ में पड़ा, जब मुहम्मद तुगलक भारत का सम्राट था। उसने हुक्म दिया कि देहली की जनता को ६ माह तक अन्न वितरण किया जाय। उसने भूमि आबाद करने और कुँए खोदने के लिए भी रुपया दिया।[१] अकबर के शासन-काल में "सारे भारत में सूखा पड़ा था तथा लगातार तीन-चार वर्ष तक अकाल पड़ा था। सम्राट ने हुक्म दिया कि जनता को अन्न दिया जाय तथा बड़े-बड़े शहरों में अन्न वितरण किया जाय। नवाब शेखफरीद बौहरी इस कार्य के मुखिया नियुक्त हुये, जिन्होंने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि जनता को आराम मिले।[२] शाहजहाँ के शासन-काल के पांचवें वर्ष में भी एक अकाल पड़ा, जो सबसे भयङ्कर था और जिसका प्रभाव सारे भारत पर पड़ा। इसके निवारण के लिए बड़े बड़े उपाय काम में लाये गये :—५,०००) रुपया प्रति सोमवार दिल्ली के गरीबों में तथा ५०,०००) रुपया अहमदाबाद में वितरित किये जाते थे जहाँ कि अकाल की गहरी छाया पड़ी थी। इसके अतिरिक्त अन्न वितरित किया गया तथा ७० लाख रुपये का कर माफ कर दिया गया। ऐसा ही अकाल औरंगजेब के शासन-काल में भी पड़ा था, जिसका वर्णन जेम्स मिल ने किया है :—"औरंगजेब ने अपनी चतुराई से अकाल को रोकने का प्रयत्न किया तथा राज्य-कोष खोल दिया था। राज्य ने जिस प्रान्त में अधिक अन्न था वहाँ से खरीद कर अभावपूर्ण भागों में वितरण किया तथा किसानों के लगान माफ कर दिए गए।"

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में दुर्भिक्ष—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में "सारे भारतवर्ष में छोटे-मोटे १२ अकाल तथा ४ बड़े अकाल पड़े।"[३] पहिला अकाल सन् १६३० का था, जिसमें गुजरात की लगभग ⅓ जन-संख्या नष्ट हुई तथा कई शहर व जिले उजड़ गए। सर डब्ल्यू० हण्टर ने इस अकाल का वर्णन इस प्रकार किया है :—"जीवित व्यक्तियों को देखा नहीं जा सकता, किन्तु हड्डियों का ढेर देखा जा सकता था। ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों का ढेर देखा जा सकता था कि जिन्हें जलाने वाला कोई नहीं था। अकेले सूरत नगर में ही ३० हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई तथा उसके साथ ही रोगों का प्रकोप हुआ, जिससे वहाँ के निवासियों ने पशुओं को साथ लेकर उन भागों को छोड़ दिया, परन्तु वे रास्ते में ही कालकवल हो गये। बहुतों ने तो अपने आपको गुलामों के रूप में बेचा तथा मनुष्य मांस का भक्षण भी किया। एक रोटी के टुकड़े के लिए जीवन अर्पित किया

१. इलियट : "भारत का इतिहास"
२. डॉसन : "भारत का इतिहास"
३. अकाल : -आयोग रिपोर्ट सन् १९०१।

जाता था, किन्तु कोई खरीदार न था। हमेशा दाता के रूप मे रहने वाला व्यक्ति आज टुकड़े टुकड़े के लिए तरसता था। उन पैरो को जो हमेशा सन्तोषपूर्ण पर्यटन करते थे, आज मरने के लिए प्रस्थान कर रहे थे।"

इस काल का सबसे बड़ा अकाल सन् १७७० में पड़ा था, जिसके बारे मे सर हन्टर इस प्रकार वर्णन करते है :—"सन् १७७० की धधकती ग्रीष्म ऋतु में लोग मर रहे थे। किसानो ने अपने पशुओ को बेच दिया था तथा इसके साथ ही साथ उन्होंने अपने औजार, अपना अन्न, अपने पुत्र पुत्रियो को भी बेचा और तब तक बेचना चालू रखा जब तक उनका खरीदना बन्द न हुआ। मनुष्यो ने वृक्षो की पत्तियो और मैदान के चारे को अपना भोजन बनाया। सन् १७७० के जून माह मे दरबार के रेजीडेण्ट ने इस तथ्य को प्रगट किया कि लोग भोजन के अभाव मे मृत्यु के ग्रास बनते चले जा रहे हैं तथा बड़े बड़े शहरो मे रोग के प्रभाव से भी मरते चले जा रहे हैं और जिनका जीवन कुत्तो एवं गीदड़ो के समान हो गया था। जन सेवक और राज्य-कर्मचारी भी उनके जीवन को बचाने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। इस प्रकार लाखो व्यक्तियो का जीवन सङ्कट मे था। यद्यपि सन् १७६९ मे अकाल के सभी चिन्ह दृष्टिगोचर हो गये थे, किन्तु फिर भी उसके रोकने के लिए कुछ भी नही किया गया। साथ ही जब अकाल का ताडव नृत्य हो रहा था उसके निवारण के लिए कोई उपाय नही किया गया, जिससे सकट दूर हो।†

सन् १७८१ और सन् १७८२ के वर्ष मद्रास में अकाल के थे। सन् १७८४ में उत्तरी भारत मे अकाल पड़ा। मद्रास और हैदराबाद में सन् १७९१ मे सूखा पड़ा, परिणाम-स्वरूप सन् १७९२ मे भयङ्कर अकाल पड़ा। यह प्रथम अवसर था जब मद्रास सरकार ने राहत कार्य चालू किये। सन् १८०२-३ मे बम्बई और मद्रास मे अन्न का सकट था तथा उसके अगले वर्ष ही उत्तर-भारत मे अकाल पड़ा, जिसमे उत्तरी पश्चिमी भाग और अवध का भाग था। इस समय जो राहत-कार्य (Relief Work) चालू किये गए उनमें लगान माफ करना, भूमिधरो को तकावी देना तथा बनारस आदि शहरों मे अन्न का आयात किया गया। सन् १८०६ मे मद्रास के कई भागो में अन्न सकट था।

दूसरा बड़ा दुर्भिक्ष सन् १८३३ का था, जिसे 'गन्तूर दुर्भिक्ष' के नाम से जाना जा सकता है। इसमे मद्रास प्रान्त के उत्तरी जिले और महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग तथा मैसूर और हैदराबाद के क्षेत्र प्रभावित हुए थे। सरकार द्वारा स्थिति की गम्भीरता उस समय तक नही आंकी गई जब तक कि ५,००,००० की आबादी वाले गन्तूर में २,००,००० व्यक्ति काल कवलित हो गए।' सन् १८३९ में उत्तरी भारत में अकाल पड़ा, जिसमे अनुमान है कि ८,००,००० व्यक्ति मरे। यद्यपि सरकार द्वारा सहायता कार्य चालू किया गया था, जिसका खर्च सन् १८३८ में ३८ लाख रुपया था, किन्तु

† लार्ड-मॅकाले.—"ऐतिहासिक निबन्ध"।

करोड़ और सन् १९७१ मे ४५ करोड़ हो जायगी। योजना आयोग ने १४ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से सन् १९५६ मे ५२०·२ लाख टन की मांग का अनुमान लगाया गया था। अशोक मेहता समिति का अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी मांग सन् १९६०-६१ मे ७६० लाख टन हो जायगी।

इसलिए समिति का सुझाव है कि "खाद्य समस्या के प्रभावी हल के लिए केवल उत्पादन बढ़ाने के लिए निश्चयपूर्ण एव चहुँमुखी प्रयत्न ही आवश्यक नही हैं अपितु जन सख्या की वृद्धि की ऊँची दर को अवरोध लगाना होगा। इसलिए हम सिफारिश करते है कि राष्ट्रव्यापी परिवार नियोजन आन्दोलन चलाया जाय।"*

(२) मुद्रा स्फीति—युद्ध के कारण जो औद्योगिक विकास हुआ और मौद्रिक आय मे वृद्धि हुई उससे वस्तुओ की मांग बहुत बढ गई। खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्देशाक जो अगस्त सन् १९४५ में २९८ था, बढकर सन् १९५० मे ४०२·२ हो गया। अगस्त सन् १९५३ मे यह ४१०·३ तक पहुँच गया था, यद्यपि सन् १९५४ मे घट कर यह ३८२·३ हो गया। ऐसी आशा व्यक्त की गई थी कि बढते हुए मूल्यो से खाद्य उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। भूमि का लगान आदि स्थायी व्यय चुकाने के पश्चात् जो बचा उसका उपयोग किसानो ने पुराने ऋणों को चुकाने मे किया। साथ ही, उनके उपभोग स्तर मे भी वृद्धि हुई, अतः स्वभावतः खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव की जाने लगी।

(३) कृषि उत्पादन मे कमी—जहाँ एक ओर जन सख्या बढती जा रही है, खाद्य क्षेत्रफल मे वृद्धि की गति बहुत कम है। गत वर्षों मे खाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल की स्थिति इस प्रकार रही।

१९५२–५३	२५·२ करोड़ एकड़
१९५३–५४	२६·९ करोड़ एकड़
१९५४–५५	२६·७ करोड़ एकड़
१९५५–५६	२७·१ करोड़ एकड़
१९५६–५७	२७·२ करोड़ एकड़

वास्तव मे प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल घट गया है। योजना आयोग के अनुसार बोया जाने वाला क्षेत्रफल सन् १९११-१२ मे ०·९९ एकड़ था, सन् १९२१ मे ०·८३ एकड़ और सन् १९३१ में ०·७२ एकड़ था। यह घटकर सन् १९५१ मे ०·७५ एकड़

* For an effective solution of the food problem, not only determined and all out efforts to step up production have to be made but the high rate of increase of population has to be checked. We, therefore, urge thats a nation-wide compaign for family planning enlisting the efforts and energies of social workers particularly women, medical men, scientists, economists, administrators and political leaders be launched."

—Ashok Mehata Samiti Report.

		करोड़ व्यक्ति प्रभावित एवं ७५० हजार की मृत्यु।	सहायता तथा १½ करोड़ रु० का लगान माफ किया गया।
१८९९-१९००	बम्बई, मध्यभारत, प० बंगाल, बरार, मध्यप्रदेश।	४७५ हजार वर्गमील क्षेत्र तथा ५९५ लाख व्यक्ति प्रभावित।	१० करोड़ रु० की सहायता, फिर भी १,२३६ हजार व्यक्तियों की मृत्यु।

१९०० के बाद—

अकालों की अधिकता ने ब्रिटिश सरकार को कृषि विकास एवं सिंचाई साधनों में सुधार करने के लिए बाध्य किया। इससे अकाल के स्वरूप में परिवर्तन हो गया अर्थात् अकाल में खाद्यान्न का अभाव नहीं होता था अपितु जनता के पास क्रयशक्ति की कमी हो जाती थी। साथ ही, अकाल सम्बन्धी सहायता कार्य ने भी भीषणता कम कर दी।

सन् १९०० के पश्चात् कई छोटे-छोटे अकाल पड़े, किन्तु वे सब स्थानीय थे, परन्तु सन् १९०६-७ और सन् १९०७-८ के *अधिक प्रसिद्ध हैं। पहला अकाल* उत्तर-प्रदेश में वर्षा की कमी और बुन्देलखण्ड में फसल के खराब हो जाने से पड़ा। सन् १९०७ में मानसून के असफल होने से दूसरा अकाल पड़ा और तब तक चालू रहा जब तक वर्षा में फसलें ठीक नहीं हो गयीं। सन् १९१३-१४ में उत्तर-प्रदेश, बुन्देलखण्ड, झाँसी, आगरा और इलाहाबाद क्षेत्र में अकाल पड़ा, क्योंकि इसका एकमात्र कारण था उस समय वर्षा का अभाव। जनता-आन्दोलन का बल इतना अधिक था कि लगभग ६० लाख व्यक्तियों को बराबर सहायता मिलती रही तथा तकावी बाँटी गई *औद्योगिक तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने लोगों को काम दिया।* फलतः मजदूरी भी बढ़ा दी गई। परन्तु जनता का आन्दोलन बल पकड़ता ही रहा। बहुत बड़ी संख्या में लोग आसाम, सीलोन, मलाया, पश्चिमी भाग, वेस्ट-इण्डीज, फिजी, नैटाल और मारीशस टापुओं में जाकर बस गये।

सन् १९२०-२१ में मद्रास, मध्य प्रदेश, पंजाब, मध्य-भारत और बंगाल में अकाल पड़ा, किन्तु सहायता कार्य कुल प्रभावित जन संख्या का ३ प्रतिशत ही था (प्रभावित जन-संख्या ४ करोड़ ५० लाख थी), अतः जैसा कि नोल्स का कहना है :—"जब तक जन-संख्या गतिशील न हो, उसे उद्योग धन्धों और कारखानों में कार्य न मिले, रेलवे और सिंचाई की व्यवस्था न हो, अकाल से उसे राहत मिलेगी, यह आशा नहीं की जा सकती।"*

सन् १९४३ में बंगाल का भीषण दुर्भिक्ष—

सन् १९४३ में बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष ने हमारा आशावाद मिट्टी में मिला

* Economic Development of British Empire—Knowles.

दिया, क्योंकि यह ग्रकाल बीसवीं शताब्दी का सबसे भीषण अकाल था। सन् १९४२ में ब्रह्मा के जापान को आत्म समर्पण के कारण वहाँ से अनेक शरणार्थी बंगाल एवं उड़ीसा में आये और साथ ही वहाँ से भारत में चावल का जो आयात होता था वह भी बन्द हो गया। इस कारण बंगाल और उड़ीसा के सीमित साधनों में अभाव हो गया हो तो आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार युद्ध के खतरे के प्रदेश से अन्न का हटाया जाना, नावों का नष्ट होना और हटाने के कार्य ने १५ लाख व्यक्तियों और १ लाख पशुओं की जीवन लीला ही समाप्त कर दी। ब्रह्मा के विमुक्त होने से जो चावल की कमी हो गई थी उस स्थिति पर काबू पाने के लिए चारागाहों को कृषि भूमि में परिणित किया गया, जिससे स्थिति में सुधार हो सके। सन् १९४३ के आरम्भ में अन्न अभाव के चिन्ह स्पष्ट होने लगे थे, क्योंकि चावल की कीमतें व्यापारियों द्वारा असीमित संग्रह एवं सटोरियों की क्रियाओं के कारण आकाश को छू रही थी और दिसम्बर सन् १९४२ के फसल के कुछ सप्ताहों बाद ही कीमतें काफी ऊँची हो गईं।[1] अनेक स्थानों पर नियन्त्रण आदि के कारण अनाज का प्रदाय होना ही बन्द हो गया। इसके अलावा युद्ध कार्य में रेल यातायात संलग्न होने के कारण अन्न के आवागमन में अनेक अड़चनें थीं। इन कारणों से बंगाल में अकाल के लक्षण प्रतीत होने लगे तथा समाचार पत्रों ने भी स्थानीय सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। बंगाल दुर्भिक्ष के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं:—

(१) सन १९४२ में ब्रह्मा का जापान को आत्म समर्पण।
(२) भावी मुद्रा स्फीति के कारण मूल्य-स्तर बढ़ना।
(३) भारत के ऊपर हमला होने के डर के कारण सैनिक अधिकारियों की नकारात्मक नीति (Denial Policy)। इस नीति के कारण खाद्यान्न का संग्रह बंगाल से हटाना, नावों पर सैनिक अधिकार होना, जिससे यातायात के थोड़े से साधन भी दुर्लभ हो गये।
(४) भारी तूफान के कारण मिदनापुर, बारीसाल, चौबीस परगना और और दीनाजपुर जिलों के चावल की फसलों को हानि।
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा लंका को चावल का निर्यात करना।
(६) तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए व्यापारियों की संग्रह नीति तथा काले बाजार की प्रवृत्ति।
(७) युद्ध के कारण यातायात साधनों का उपयोग युद्ध कार्य के लिये किया जा रहा था, इसलिए अन्न का यातायात दुर्लभ हो गया।
(८) सरकार के वितरण संगठन का असफल कार्य।[2]

---

१. थोक कीमतें—चावल (रुपयों में प्रति मन) उच्चांक

१९३९-४०	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	उच्चांक
४।-)॥	४॥)	६।)	१७॥।-)॥	३४)

२. वुडहेड आयोग के वृत्त लेख से।

इन कारणों से बंगाल में अकाल का भीषण नृत्य हुआ, जो जन एवं पशु जीवन की हानि से स्पष्ट है। इस स्थिति के लिए तत्कालीन शासन पर ही जिम्मेवारी आती है। लार्ड एमरी के शब्दों में लगभग १० लाख व्यक्ति मृत्यु के गाल में गये, किन्तु अन्य आधारों के अनुसार साप्ताहिक मृत्यु संख्या ५०,००० थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रोपोलॉजी विभाग की खोज के अनुसार लगभग ३२½ लाख व्यक्ति काल कवलित हुए। इससे अकाल की भूख एवं रोग पीड़ित मानवों की संख्या भयावह थी। अकाल के प्रवाह में आत्महत्या की ही बाढ़ नहीं आई अपितु हैजा, मलेरिया, प्लेग और अनैतिकता ने भी अपना हाथ फैलाया। जनरल स्टुअर्ट के अनुसार—"अस्वास्थ्यकर भोजन, दाम के बढ़ने का प्रभाव, कपड़ों एवं कम्बलों के अभाव ने गरीब जनता को मलेरिया, हैजा, प्लेग आदि का शिकार बना दिया और निमोनिया साधारण हो गया। ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास के गाँवों में भयानक स्थिति थी।" जे० के० मिश्रा, अध्यक्ष बङ्गाल नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अनुसार "ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा और दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नंगे लोगों का शिकारगाह बन रहा है। कलकत्ते से भी अधिक दयनीय दशा आस-पास के गाँवों में थी, जहाँ गरीबों के कारण लोग अपने प्रियजनों की अन्तिम क्रिया भी नहीं कर सकते थे, इसलिये लाशों को नदी या नालों में फेंका जाता था। बङ्गाल की कई सुन्दर नदियाँ और नाले अपने अन्तस्तल में भूखे और नङ्गों को लिए चल रहे थे। गीदड़ों के लिए भोजन था, इसलिए कई सुन्दर चेहरे रगड़ जाने एवं नोचे जाने के कारण पहचाने भी नहीं जाते थे।" केवल इतना ही पर्याप्त न था, किन्तु बालक और बड़ों को भी बेचा गया था। यूनाइटेड प्रेस के अनुसार नावाकोला से ३ से १३ वर्ष की आयु की लड़कियों को वेश्यालयों में अनैतिक रीति से बेचा जाता था, जिनकी खरीद की दर (।।) रुपया थी। क्षुधानल ने महिलाओं को एक समय भोजन के लिए शरीर-विक्रय के लिए भी बाध्य कर दिया था और यह हालत इतनी खराब थी कि बङ्गाल की जनता की क्रय शक्ति ही समाप्त हो गई। इस अकाल में असंख्य विधवायें, लड़कियाँ और अनाथ लाचार से घूम रहे थे। आर्थिक एवं भोज्य स्थिति ने युवा, वृद्ध स्त्रियों को शील-विक्रय के लिए बाध्य कर मातृत्व शक्ति के लिए एक सङ्कट उपस्थित कर दिया। इस सङ्कट ने देश को यह चेतावनी दी कि यदि समय पर काम न किया गया तो सम्पूर्ण भारत को अन्न सकट का सामना करना पड़ेगा।

अकाल निवारण के प्रयत्न (Remedial Measures)—

बङ्गाल में अकाल निवारण के लिए प्रारम्भ में सरकार की ओर से कोई भी कार्यवाही नहीं की गई, परन्तु अकाल की भीषणता व जनता की आवाज से सरकार को भी अकाल निवारण के लिए प्रयत्न करने पड़े। इस प्रकार के समय समय पर आने वाले सकट दो बातें सूचित करते हैं: (१) यह कि अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में शीघ्र एवं समुचित सहायता कार्य (Relief Work) किया जाय तथा (२) इस प्रकार के सङ्कटों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए दीर्घकालीन योजना बनाकर कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार किए जाएँ। बङ्गाल में तत्कालीन स्थिति को सुलझाने के लिए अनेक भोजनालय चालू

किये गये। सरकारी आँकड़ों के अनुसार ५,४४१ भोजनालय थे, जिनमें से ३,१२१ सरकार, १,२४७ सरकारी सहायता प्राप्त तथा ५४७ निजी व्यक्तियों के थे। परन्तु भोजनालयों की यह संख्या कम ही थी, क्योंकि उनमें भी भूख से पीड़ितों को उनके दैनिक जीवन का आधा भोजन ही मिलता था। सारांश में, "सहायतार्थ भोजनालय आदमियों को बेचने वाली संस्थाएँ न होते हुए उन्होंने मरने वाले व्यक्तियों को कुछ दिन और अधिक ठहराया। इस तरह यह चिता के पहले का पत्थर था।"[1]

इस अकाल में सहायता के लिए बंगाल सरकार ने लगभग १,१५० लाख रुपया खर्च किया, जिसमें से ५ करोड़ रुपया अन्न एवं वस्त्र वितरण तथा भोजनालयों की स्थापना में खर्च हुआ। ३ करोड़ से अधिक रुपया पीड़ित व्यक्तियों को ऋण देने में खर्च हुआ और लगभग ५० लाख रुपया रोग निवारण कार्य में खर्च हुआ। साथ ही, सरकार को सस्ता अनाज बेचने में ५ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी।

सन् १६४३ में बम्बई, ट्रावनकोर-कोचीन में भी खाद्य परिस्थिति गम्भीर थी, परन्तु ट्रावनकोर-कोचीन सरकार ने चावल और पैडी के संग्रह पर अधिकार ले लिया और स्थिति पर काबू पा लिया। इसी प्रकार बम्बई प्रान्त ने भी २ मई सन् १६४३ से खाद्य नियन्त्रण लागू कर दिया। इस कारण बंगाल की तरह स्थिति इन प्रदेशों में नहीं हुई। इसके पश्चात् भारत में खाद्य अभाव बराबर बना रहा, जिसने कहीं-कहीं अकाल का सूक्ष्म रूप—जैसे सन् १६४६ में बम्बई और मद्रास में—धारण किया। परन्तु सरकार की सतर्कता एवं सामयिक सहायता कार्य के कारण उसका शीघ्र निवारण हो गया। गत वर्षों से भारत बराबर खाद्य संकट से गुजर रहा है, जिसके लिए अवर्षा, जन संख्या की वृद्धि, नदियों की बाढ़ आदि नैसर्गिक कारण तथा खाद्य सम्बन्धी दोषपूर्ण नीति जिम्मेवार हैं, जिस कारण अकाल की आशंका उपस्थित हो जाती है।[2] उदाहरणार्थ आंध्र प्रदेश में अगस्त सन् १६६० में अकाल की आशंका।

इस स्थिति से अपवाद केवल सन् १६५४ का वर्ष था, जब भारत इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहा, जैसा कि तत्कालीन खाद्य मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई के शब्दों से स्पष्ट है कि "यदि आज की भाँति हमारी खाद्य स्थिति सन्तोष-प्रद रहती है तो अनाज पर जो नियन्त्रण है उन्हें भी उठा दिया जायगा।"[3] परन्तु खेद है कि श्री रफी अहमद किदवई के बाद इस महत्वपूर्ण भार को सम्भालने में हमारे खाद्य मन्त्री असफल रहे। फलस्वरूप सन् १६५८ में खाद्य स्थिति शोचनीय हो गई, विशेषतः बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल में। इसकी पुष्टि खाद्य मन्त्री के लोक सभा के इस कथन से भी होती है कि "आगामी ६ से ८ सप्ताह भारत के लिए अत्यन्त कठिन हैं। कारण, खाद्यान्न उत्पादन की गम्भीर कमी और खाद्यान्न के भावों में वृद्धि इस वर्ष अन्य वर्षों की अपेक्षा

1. Bombay Chronical.
2. नवभारत टाइम्स : २६-८-१६६०, पृ० ४।
3. Amrit Bazar Patrika, 16-4-54,

अधिक रही है।''[1] "सन् १९५० से सन् १९५७ के वर्षों में कृषि उत्पादन में वार्षिक वृद्धि २ से २·५% रही, जो आर्थिक विकास की वृहत् योजना के लिए उत्साहवर्द्धक नहीं है, इसलिए देश में 'कृषक उत्पादन परिषद्' की आवश्यकता है, जो प्रत्येक ग्राम के कृषि उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करे एवं उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक संगठन निर्माण करे।''[2] तभी भारत की भावी दुर्भिक्षों से रक्षा हो सकेगी।

अकाल एक सर्वकालिक संकट है—

विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में अकाल एक सर्वकालीन संकट है, जो देश को बार-बार ग्रस लेता है। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग के अनुसार "सात अच्छी फसलों के बाद दो फसलें खराब होती हैं और जन संख्या का लगभग ⅟₁₂ भाग अकाल द्वारा नष्ट हो जाता है।" कुछ प्रान्तों में यह आफत और अधिक मात्रा में है और कुछ में कम, किन्तु वर्ष में यह निश्चित है कि देश के किसी न किसी भाग में इस प्रकार खाद्य-अभाव होना एक स्वाभाविक बात है। बड़े अकाल अनियमित रूप से आते हैं, परन्तु उनकी चेतावनी पहिले से ही मिल जाती है। फिर भी देश की विशालता और विभिन्नता के कारण सम्पूर्ण देश में अकाल का भीषण नृत्य नहीं होता। "इतिहास इस बात का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं करता, जब सम्पूर्ण देश में अवर्षा हुई हो। समुद्र शास्त्री भी इस प्रकार की घटना असम्भव मानते हैं।" अतः ऐसे सर्वकालिक संकट से बचने के लिए देशव्यापी दीर्घकालीन योजना से ही सफलता मिल सकती है—अल्पकालीन उपायों से अल्पकालीन कार्य की ही पूर्ति होगी।

अकाल के लक्षण—

अकाल के पूर्व चिन्हों में अवर्षण यह पहला चिन्ह है। इसके साथ ही किन्हीं नैसर्गिक कारणों से अथवा कीड़े-मकोड़ों, टिड्डी दलों द्वारा फसलों का नष्ट होना यह दूसरा चिन्ह है। इसके अलावा अन्न धान्य की कीमतें चढ़ना, रोजगारी के अवसर न्यूनतम होना और भिखमङ्गों की संख्या में वृद्धि होना तथा ऋण प्रदायक राशि का अभाव ये अकाल का आगमन सूचित करते हैं। ऐसे ही समय में धर्मार्थ कार्यों में चोरी एवं डाकेजनी में वृद्धि होती है, जो देश में अथवा सम्बन्धित भाग में असन्तोष, बेकारी एवं अन्न की कमी की ओर संकेत करती है। जनता का स्वास्थ्य खराब होना और रोगों की भरमार, रोग-ग्रस्त व्यक्तियों की अधिकता, व्यापारियों द्वारा अन्न संग्रह (Hoarding) तथा जनता का एक क्षेत्र छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाना ये अकाल के आगमन के स्पष्ट लक्षण होते हैं। यदि इन लक्षणों से सावधान होकर यथासमय उचित कार्यवाही न की गई तो ऐसे व्यक्तियों को ही अकाल का शिकार पहले होना पड़ता है, क्योंकि उनके साधन अपर्याप्त ही नहीं अपितु नहीं के बराबर होते हैं। इसलिए इन लक्षणों के आते ही सहायता कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए।

---

1. Lok Sabha Debate dated 20th Aug. 1958.
2. The Modern Review Aug. 1958, p 93.

इसी आधार पर समिति ने अपनी सिफारिशो में कहा :—इन बाधाओ का निवारण गहरी खेती, अधिक खाद एव अच्छे बीजो की सहायता तथा असिंचित भूमि की आवश्यक सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करके कर सकते है। समिति ने कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुटीर उद्योगो की स्थापना की सिफारिश की, ताकि कृषको को सहायक आय के साधन प्राप्त हो। इसके अलावा समिति ने निम्न सिफारिशें की.—

(१) अन्न का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन' के लिए नई नीति अपनाना।

(२) गहरी खेती के साथ अच्छी खाद, बीज, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था द्वारा उत्पादन बढ़ाना।

(३) बंजर भूमि को कृषि के लिए उपयोगी बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक आर्थिक सहायता दिया जाना तथा इस कार्य पर स्वयं केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होना। केन्द्रीय एवं राज्य कृषि नीति मे सहयोग स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय कृषि नियोजन सभा (Central Board of Agricultural Planning) की स्थापना करना तथा इसी प्रकार की कृषि-सभाएँ राज्यो मे भी स्थापित करना। राज्य कृषि-सभाएँ केन्द्रीय सभा को कौनसी भूमि कृषि के उपयोग में लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध मे तथा अन्य समस्याओ पर एव वार्षिक कार्य प्रगति के सम्बन्ध मे रिपोर्ट देना।

(४) अन्न धान्य आयात पर सरकारी एकाधिकार।

(५) ५ वर्ष के लिए १० लाख टन की केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्न-निधि रखना।

(६) पंच वर्षीय खाद्यान्न योजना बनाकर प्रति वर्ष १ करोड टन अधिक अन्न उत्पादन बढ़ा कर देश को आत्म निर्भर बनाना, ताकि इस अवधि के बाद अन्न आयात बन्द कर दिया जाय।

(७) बंजर अथवा काँसयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भू पुनर्ग्रहण सगठन (Central Land Reclamation Organisation) बनाया जाय, जिसको केन्द्रीय सरकार ५० करोड रुपया दे।

खाद्यान्न-योजना सन् १९४७-५२—

खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशो के अनुसार एक पंचवर्षीय खाद्यान्न योजना बन ई गई। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष ३० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन बढाना था, ताकि इस अवधि के अन्त में देश के अन्न आयात बिल्कुल बन्द कर दिए जायें। अन्न उपज बढाने का प्रत्येक राज्य का कोटा निश्चित किया गया। योजना की अवधि में ६० लाख एकड पडती भूमि को हल के नीचे लाने का उद्देश्य था, जिससे अन्न उपज में २० लाख टन वृद्धि होने की आशा थी। इस कार्य के लिये केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ की स्थापना की गई। जहाँ पर पूरे वर्ष पानी की सुविधाएँ प्राप्त थी, ऐसी कृषि-

(५) भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास—भारतीय भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होना ही अकालों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। भारत की प्रति एकड़ उपज प्रति वर्ष गिरती जा रही है, किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि "भारतीय भूमि अन्य देशों से किसी तरह निकृष्ट नहीं है।"[१] सिर्फ आवश्यकता समुचित कृषि पद्धति अपनाने की एवं पर्याप्त खाद देने की है।

इन नैसर्गिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए सिंचाई सुविधाओं एवं बाढ़ नियन्त्रण कार्य में काफी प्रगति हुई और हो रही है।[2]

आर्थिक (सर्वकालिक) कारण—

(१) परिवहन सुविधाओं का अभाव—सन् १८०० तक के अकालों में अधिकतर परिवहन साधनों की कमी के कारण भीषणता रही, क्योंकि अधिक अन्न वाले भागों से कम अन्न वाले क्षेत्रों में अनाज नहीं पहुँचाया जा सकता था। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के अकाल में (सन् १८३३ में) आगरे में १३½ सेर प्रति रु० गेहूँ था, जबकि खानदेश में ३१ सेर प्रति रुपया था। आज भी भारत में अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अकाल की स्थिति में शीघ्रता से अनाज नहीं पहुँचाया जा सकता। ऐसे क्षेत्रों में अनाज की समस्या हल करने के लिए भारत सरकार ने सितम्बर सन् १९५८ में एक आयोग की नियुक्ति की थी,[3] जो परिवहन सुविधाएँ बढ़ाने की आवश्यकता की ओर संकेत है।

(२) दरिद्रता—सन् १८६० के बाद अकाल के प्राथमिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ। जहाँ पहिले अन्न की कमी से जनता भूख से तड़प कर मरती थी वहाँ आधुनिक अकालों में क्रय शक्ति की कमी से अन्न नहीं खरीद पाती। अनाज की कमी तो विदेशी आयात द्वारा आज भी पूरी हो जाती है, परन्तु जन सख्या का अधिक संख्या में भूख से मरना यह उसकी 'संग्रह और क्रय शक्ति की कमी' की ओर संकेत करता है। इसकी पुष्टि सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने भी की है—"यद्यपि देश में इतना पर्याप्त अन्न था जिसमें सम्पूर्ण जन संख्या का पालन होता, किन्तु जनता के पास क्रय शक्ति की कमी थी।" इस प्रकार हमारी धारणा है कि "भारत का अतिरिक्त उत्पादन विदेशों को भेज दिया जाता है, फिर भी इतना बच रहता है जो वहाँ के लिए पर्याप्त है, अतः भारत में अन्न का नहीं अपितु धन का अकाल है।"[४] फलस्वरूप अच्छे वर्षों में "कृषक के पास निर्वाह योग्य सामग्री होती है, किन्तु खराब वर्षों में उसे दूसरों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है।"[५]

१. देखिये सम्बन्धित अध्याय।
2. Modern Review, Page 106, August 1958,
3. नवभारत टाइम्स Commission for Inaccessible areas.
4. Report of the Famine Commission 1898.
5. Famine Commission 1901.

(३) सहायक कुटीर धन्धों की अवनति—भारत की विशाल एवं बढ़ती हुई जन संख्या कृषि पर निर्भर है। भारत के कुटीर एवं सहायक धन्धों की अवनति होने से जन संख्या का प्रभार कृषि पर और अधिक हो गया। साथ ही, उनके अवकाश के समय अथवा मानसून आदि न आने पर वैकल्पिक धन्धे भी न रहे। फलतः कृषक को अपनी आय बढ़ाने या कृषि के अलावा अन्य साधन न रहा। साथ ही, कृषि पर जन संख्या का प्रभार बढ़ने से कृषि संगठन में अनेक दोष आ गये।

(४) दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था—भूमि व्यवस्था का प्राथमिक उद्देश्य कृषि की उन्नति होता है उसका हमारी दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था में सर्वथा अभाव रहा। विशेषतः स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली को भी अकाल का एक कारण बताया गया है, क्योंकि भारत में जो भूमि व्यवस्था थी उस व्यवस्था के अन्तर्गत 'कृषकों के साथ 'असमानता एवं अन्याय' का व्यवहार होता था।[1] इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक को न तो काल की निश्चितता थी और न लगान ही उचित होता था। इस कारण उसे अपनी ओर से भूमि सुधार में कोई रुचि नहीं थी।

(५) ऋणग्रस्तता—एक ओर कृषि उद्योग का असाभकर होना, दूसरी ओर सामाजिक प्रथाओं के कारण व्यय बढ़ना तथा शासन के बढ़ते हुए खर्चों के कारण कर भार में वृद्धि। इन कारणों से कृषक ऋण में जन्मता है और ऋण में ही मरता है। फलतः वह चाहते हुए भी कृषि सुधार द्वारा अपनी उन्नति नहीं कर सकता और इसे नैसर्गिक आपत्तियों का शिकार होना पड़ता है।

(६) दोषपूर्ण खाद्यान्न नीति—सरकार की खाद्यान्न सम्बन्धी नीति भी दोषपूर्ण है तथा इस नीति में निश्चितता का अभाव है। इसी प्रकार खाद्य समस्या के हल के लिए अन्य क्षेत्रों का निर्माण हुआ है, "लेकिन इन क्षेत्रों की व्यवस्था ठीक तरह से नहीं चल रही है।" उदाहरणार्थ, जो आन्ध्र-प्रदेश दूसरे राज्यों को चावल देता है उसके किसी भाग में खाद्यान्न की इतनी कमी होना कि अकाल की आशंका व्यक्त हो, यह आश्चर्यजनक है।[2] यह एक ऐसा दोष है जिससे बिना किसी सबल कारण के अकाल की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

दुर्भिक्ष के आर्थिक प्रभाव—

प्रत्येक कृषि प्रधान देश में अकाल एक स्वाभाविक बात है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में उसकी भीषणता अधिक होती है। अकालों के परिणाम केवल तत्कालीन न होते हुए अकाल के बाद भी देखने को मिलते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रोपॉलाजी विभाग ने सन् १९४३ के दुर्भिक्ष के परिणामों को देखने के लिये ७०० परिवारों की जांच की थी। उनके अनुसारः—"दुर्भिक्ष के आर्थिक

1. Health & Nutrition in India—D. N. Gangulee Quoted from Dynamism of Indian Agriculture by Dr. Bansil, p 23.

२. नवभारत टाइम्स, सम्पादकीय, २६ अगस्त सन् १९६०।

एवं सामाजिक परिणामों का मूल्यांकन तो इस बात से किया जा सकता है कि लगभग २४·७ प्रतिशत परिवार ग्रस्त-व्यस्त हो गए हैं। पति पत्नियों को छोड़ने और पत्नियां अनैतिक कार्य करने के लिए प्रेरित हुई हैं। माता-पिता अपने बेटा-बेटियों को छोड़ने, बेचने और भाई बहियों को छोड़ने में सहायक हुए हैं। वे विधवा बहिनें जो *अपने भाइयों द्वारा सहायता पाती थीं, अकाल की ग्रास बन गईं। ये मानवी कुकर्म* हमारी सभ्यता पर कलंक रूप में हैं। सबसे अधिक मृतकों में अछूत और परिगणित जातियाँ थी, जिनका प्रतिशत ५२·७७ था तथा मुसलमानों का ३६%। हिन्दू १५·५% भारतीय ईसाई १%। अविवाहित रूप में यह प्रतिशत ५४·६% तथा विवाहितों का ४१·२% था।"

(२) *अकाल निश्चित रूप से मजदूरों को बेकार करता है तथा* खाद्यान्न की अपर्याप्तता के कारण उनकी कार्य-क्षमता भी कम हो जाती है। अकाल में पर्याप्त खाद्य न मिलने अथवा भूख के कारण संक्रामक रोग फैलते हैं, जिससे जन सम्पत्ति की असीमित हानि होती है।

(३) अकाल के आगमन से कृषि-उद्योग में अनिश्चितता आती है तथा कृषि-क्रियाएँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, जिससे किसान और उसकी अर्थ व्यवस्था पर भीषण परिणाम होते हैं। इसलिए उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जिससे अन्य वस्तुओं *की मांग कम हो कर देश का औद्योगिक उत्पादन कम हो जाता है।*

(४) अन्न के अकाल के साथ ही चारा और भूसे (Fodder) का भी अकाल पड़ जाता है, जिससे पशु सम्पत्ति भी प्रभावित होती है।

(५) कृषि एवं उद्योग पर ऐसे परिणाम होते हैं कि जिससे कृषि उत्पादन एवं अन्य वस्तुओं के आयात में कमी हो कर रेलों की आय कम हो जाती है तथा सरकार की लगान की आय भी कम हो जाती है। इसके विपरीत सहायता कार्य के लिए सरकारी व्यय बढ़ता है। इस प्रकार समाज, सरकार, कृषि एवं उद्योग सभी पर *अकाल का प्रभाव पड़ता है। "असीमित आर्थिक सहायता के अभाव में अकाल के कारण* अनेक जुलाहों को अपना व्यवसाय छोड़ना पड़ा, लेकिन उसमें से पर्याप्त संख्या में जुलाहे इस व्यवसाय में नहीं आये, किन्तु सामान्य श्रमिकों की संख्या को बढ़ाया।*" अतः अकाल के इन भीषण परिणामों से बचने के लिए कृषि-संगठन के महत्वपूर्ण दोषों का निवारण तथा कृषक एवं जनता की आर्थिक शक्ति में वृद्धि होना आवश्यक है।

अकाल निवारण के उपाय—

अकाल के कारणों को देखने से स्पष्ट होगा कि अकाल के निवारण के लिए सर्वप्रथम प्रतिबन्धक उपायों की आवश्यकता है। क्योंकि जिन कारणों से अकाल होते हैं उन कारणों को दूर करने से अकाल निवारण स्वाभाविक रीति से हो जायगा, क्योंकि "भारतीय अकाल की समस्या उन भयानक परिस्थितियों से सम्बन्धित है जिसमें

* Famine Commission 1896.

वर्षा का अभाव, आर्थिक साधनों की कमी, अपव्यय, भूमि-व्यवस्था, दुर्बल आर्थिक संगठन है। इसलिए कोई भी एक कारण अकाल के लिए जिम्मेवार नहीं है। ये सब सामूहिक रूप से अकाल का आगमन करते हैं।"*

इसलिए वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि की उन्नति तथा कृषि सहायक कुटीर एवं लघु उद्योगों को आयोजन करना होगा। भूमि-सुधार के अन्तर्गत जो परिवर्तन होते हैं वे ठोस एवं कृषि की आर्थिक उन्नति में सहायक होने चाहिए। सहकारी-विकास की शासकीयता एवं औपचारिकता कम होकर सहकारी आन्दोलन को कृषि के सर्वाङ्गीण विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे कृषकों के शारीरिक, आर्थिक एवं नैतिक बल में वृद्धि होगी। अपव्यय को रोकने के लिए सामाजिक परम्परागत प्रथाओं को सामाजिक सुधार आन्दोलनों से समाप्त करना होगा। साथ ही, कृषकों का अज्ञान एवं अशिक्षा दूर करने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत उन पर विशेष जिम्मेवारी लादनी होगी। क्योंकि इस समय इस दिशा में कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है। हमारे कृषि-महाविद्यालयों के स्नातक एवं शिक्षक केवल सैद्धान्तिक शिक्षा क्षेत्र में ही हैं। उनको व्यवहारिक शिक्षा क्षेत्र में अनिवार्य रूप से लाना चाहिए जिससे वे देश के महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत उद्योग में अपने सक्रिय सहयोग से उन्नति का मार्ग-प्रदर्शन करें। इन प्रयत्नों से दुर्भिक्ष की बारम्बारता ही केवल कम न होगी, अपितु दुर्भिक्ष का आगमन अपवाद रूप हो जायगा।

प्रतिरक्षात्मक उपाय —

अकाल आने पर अकाल-ग्रस्त क्षेत्र के व्यक्तियों की मुख्य समस्या भोजन प्राप्त करने तथा पशुओं को दाना-पानी देकर जीवित रखने की होती है। अतः ऐसे समय उपलब्ध अन्न सामग्री का वितरण, अन्न का सुलभ क्षेत्रों से दुर्लभ क्षेत्रों में स्थानान्तरण या विदेशों से आयात, अन्न-व्यापार पर नियन्त्रण, पशुओं के लिए दाना-पानी की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे, अकाल में रोग फैलते हैं, इसलिए स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं का आयोजन करना आवश्यक होता है। तीसरे, कृषक एवं जनता की क्रय-शक्ति की पूर्ति के लिए कृषकों को तकावी ऋण एवं लगान की छूट देना, आम जनता की आर्थिक सहायता के हेतु जन उपयोगी कार्य जैसे, नहरें, कुँए, तालाबों एवं सड़कों का निर्माण एवं मरम्मत करना, किसानों को उत्तम बीज, खाद, औजार आदि का प्रबन्ध तथा गरीब, भिखारी एवं आश्रित लोगों के लिए गरीब गृहों, सदावत आदि की व्यवस्था करना—इन कार्यों का समावेश प्रतिरक्षात्मक उपायों में होता है। परन्तु ये उपाय तत्कालीन होते हैं।

अतः प्रतिबन्धक उपायों से युक्त सर्वाङ्गपूर्ण ग्राम सुधार की विशाल योजना ही अकाल के भीषण ताडंव नृत्य से भारत के जन-धन की रक्षा कर सकती है।

---

* Dr. Radha Kamal Mukherji.

अकाल निवारण नीति—

मध्य-कालीन युग में हिन्दू एवं मुसलमान शासक दुर्भिक्ष निवारण के लिए नहरें एवं तालाब खुदवाते थे तथा राज्य-कोष से राशि एवं अन्न का वितरण करते थे, ताकि जनता की अकाल से रक्षा हो और अन्न का अन्य क्षेत्रों से आयात होने तक अन्न-वितरण की व्यवस्था करते थे। इस हेतु राज्य का अन्न-संग्रहालय भी होता था। सदावर्त, लगान में छूट, तकावी ऋण आदि का उपयोग भी मुक्त हस्त से होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासन-काल में अन्न का वितरण तो चालू रखा तथा अन्न-निर्यात एवं अन्न संग्रह पर रोक लगा दी। फिर भी आवागमन की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में लाखों व्यक्ति काल-कवलित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन् १७८३ के अकालों के बाद अवश्य लगान में छूट देना आरम्भ किया।

ब्रिटिश शासन-काल और आधुनिक अकाल निवारण-नीति—

सन् १८५७ के असफल स्वतन्त्रता संग्राम के बाद भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश शासन ने सभाली। ब्रिटिश शासन काल में सन् १८६० का अकाल ही पहिला था, जिसने शासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसलिए आधुनिक अकाल निवारण-नीति का आरम्भ वास्तव में यहीं से होता है, क्योंकि इसी अकाल में आधुनिक अकाल निवारण-नीति (Famine Code) के बीज निहित थे। इस नई नीति के अनुसार :—

(१) जन-संख्या का विभाजन तीन श्रेणियों में किया गया : (अ) शारीरिक श्रम योग्य, (ब) निर्धन एवं श्रम करने योग्य, (स) श्रम के लिए अयोग्य।

(२) ग्राम सहायता देना।

(३) जनता का जीवन-स्तर उन्नत कर उनमें आत्मनिर्भरता की भावना का निर्माण करना।

इसी नीति का अनुसरण उड़ीसा अकाल (सन् १८६५-६७) में किया गया, परन्तु वह असफल रही। इस अकाल में १·४० करोड़ रु० सहायता कार्य में खर्च हुए। फलतः सन् १८६७ में सर जार्ज कैम्पबेल की अध्यक्षता में अकाल जाँच आयोग नियुक्त किया गया।

कैम्पबेल अकाल जाँच समिति (१८६७)—

यह सबसे पहिला अकाल जाँच आयोग था। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार अकाल-निवारण-नीति में आवश्यक परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों में अकाल निवारण कार्य जिलाधीश को सौंपना तथा कृषि-कार्य चालू रखने के लिए उदारतापूर्वक तकावी ऋण देना ये प्रमुख थे। इसके साथ ही पुण्यार्थ कार्यों में वृद्धि की गई। इस समिति ने खाद्यान्न वितरण की भी सिफारिश की थी। इन्हीं आधारों पर अकाल निवारण-नीति बनाई गई।

किन्तु सन् १८७३-७४ के भीषण अकाल से सरकार को यह समझ आई कि अकाल एक आकस्मिक न घटना होते हुए सर्वकालिक संकट है जिसकी सुरक्षा के लिए पहिले से ही पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए और सन् १८७६-७७ के अकालों ने इसकी अनिवार्यता प्रमाणित की। फलस्वरूप सन् १८७८ में केन्द्रीय सरकार ने १½ करोड़ रुपये से अकाल-बीमा कोष का निर्माण किया, जिससे अकाल के समय सहायता कार्य हो सके। कोष में केन्द्रीय सरकार ने वार्षिक १·५० करोड़ रुपये जमा करना आरम्भ किया। इसी निधि को स्थायी बनाने के लिए जयपुर महाराज ने सन् १९०० में १५ लाख रु० के विनियोग द्वारा स्थायी निधि के लिए ट्रस्ट बनाया। इसी निधि में उत्तर प्रदेश का अकाल-अनाथ-कोष भी मिलाया गया तथा इसमें राज्य सरकारें कुछ वार्षिक राशि जमा करती थीं। इस कोष पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है। इस निधि का नाम "भारतीय अकाल ट्रस्ट" है।

सर जॉन स्ट्रैचे आयोग (१८८०) एवं अकाल-निवारण नियम—

सन् १८७६ के अकालों की जाँच के लिए सन् १८८० में सर जॉन स्ट्रैचे आयोग की नियुक्ति हुई। इसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १८८३ में प्रान्तीय अकाल कानूनों का निर्माण हुआ। ये कानून अनेक बातों में भिन्न होते हुए भी मूलभूत सिद्धांतों में समान हैं। इनका उद्देश्य साधारण समय में सहायता कार्यों का नियमन तो था ही, परन्तु अकाल की सूचना प्राप्त होते ही अधिकारियों के उचित कदम उठाने पर जोर देना था। विभिन्न अधिकारियों के कर्त्तव्य, कार्य करने की प्रणाली तथा कार्यों की सीमा का वर्णन भी इन नियमों में किया गया है। इस आयोग ने अकाल सहायता कार्य की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों पर डाल दी तथा अकालों से सुरक्षित रहने के लिए सिंचाई, रेल मार्ग आदि बनाने की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। जैसे ही स्थानीय सरकारों को (जिला बोर्ड, पंचायत आदि) अकाल का संकेत मिलता है, उसका सामना करना उनका कर्त्तव्य हो जाता है। अकाल आयोग द्वारा प्रस्तावित योजना के प्रमुख भाग ये हैं :—

अकाल की प्राथमिक स्थिति में—

(१) अकाल की प्राथमिक स्थिति में स्थायी और अस्थायी कुँओं को खोदने और सिंचाई के साधनों की दुरुस्ती एवं उन्नति के लिए अग्रिम राशि (Advance) दी जाए। (२) गैर सरकारी रूप में जनता को पुण्य-कार्यों के लिए बढ़ावा दिया जाये। (३) बीज आदि की कृषि वस्तुएँ खरीदने के लिए आर्थिक तथा अन्य सहायता दी जावे। (४) उधर-उधर भटकने वाली अकाल पीड़ित जनता को अन्न वितरण करने के लिए पुलिस को अन्न दिया जाये। (५) अकाल के आँकड़े आदि एकत्रित करने के लिए एवं उसकी समुचित जांच करने के लिए जांच कार्य चालू किया जाए तथा निर्धन जनता की सहायतार्थ दरिद्राश्रमों की स्थापना की जाए। (६) कृषि भूमि वाले किसानों को आर्थिक सहायता दी जाए तथा फसल की खराबी के अनु-

पात में लगान में छूट दी जाये। (७) सहायता केन्द्र चालू किए जायें तथा उन पर समुचित नियन्त्रण हो। (८) प्राथमिक अवस्था में ऐसे व्यक्तियों की सूची बनाई जाये जो सहायता दिये जाने योग्य हो। (६) यदि अन्न और चारे की कमी हो तो उसे दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जाए।

जांच कार्य का अर्थ 'दुर्भिक्ष को कम करना नहीं, वरन् उसकी उपस्थिति को जानना है। भूखों को सहायता देना नहीं, अपितु क्या लोग भूखे हैं? यह जानना है।" प्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इन कार्यों से सहायता की अनिवार्यता सिद्ध होती है। ऐसे ही जांच कार्यों को सहायता कार्यों में परिणित किया जा सकता है। अकाल में जिन व्यक्तियों को काम दिया जाता है, उनकी मजदूरी कार्यक्षमता के अनुसार ही निश्चित की जाती है। अकाल के समय मजदूरी निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार "अकाल भृत्ति वह राशि है, जिससे उस परिस्थिति में मजदूर अपना स्वास्थ्य बनाए रख सके। सरकार का कर्त्तव्य जनता की जीवन रक्षा है, न कि श्रमिकों को उनके स्तर की सुविधाएं देना।"

सहायता कार्य दो प्रकार के हो सकते हैं :—पहिला पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट के आधीन होगा, जिसमें अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं। दूसरा कार्य रेवेन्यू ऑफिसर्स के आधीन होगा, जो किसी विशेष गाँव अथवा ग्राम समूह के लिए होगा। दान रूप में सहायता कार्य तभी चालू होता है, जब जाँच कार्य सहायता कार्य में बदल दिया जाता है। साथ ही, इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि 'कोड' के अन्तर्गत आने वाले सभी व्यक्तियों को सहायता मिल रही है या नहीं। ऐसे व्यक्ति वे हैं, जो शारीरिक श्रम नहीं कर सकते तथा उनके कोई सम्बन्धी न हो अथवा उनकी उपस्थिति घर के रोग ग्रस्त व्यक्तियों की देख-भाल के लिए घर पर आवश्यक हो। दरिद्राश्रम उन सुविधाजनक स्थानों पर चालू किए जाते हैं, जहाँ पर ऐसे गरीब एवं निधन लोगों की अधिकता हो, जो काम करने में अयोग्य है। छोटे-छोटे सहायता कार्यों में हम भोजनालयों का खोलना, वस्त्र, दूध, आदि का वितरण, पर्दानशीन औरतें तथा कुशल कारीगरों के लिए सहायता, इन कार्यों का समावेश करते हैं।

सर जेम्स लॉयल अकाल आयोग (१८६८)—

उक्त अकाल निवारण नियमों का परीक्षण सन् १८६६-६७ व सन् १८६६-१६०० के अकालों में हुआ। सन् १८६६-६७ के अकाल की जाँच लॉयल-आयोग ने सन् १८६८ में की, जिसमें उक्त नियमों की सफलता का परिचय मिला। इस आयोग ने यह भी कहा कि सामयिक एवं उदारता से अकाल में सहायता देने के कारण जनता की अकाल निवारण शक्ति एवं साधन दृढ़ हो गए हैं, इसलिए आयोग ने (१) भविष्य में कुँओं की दुरुस्ती के लिए अनुदान स्वीकृत करने की सिफारिश की। (२) जुलाहों तथा कुछ विशेष जातियों की सहायता के लिए निर्धनों को नियुक्त सहायता देने के लिए

क्षेत्रीकरण की व्यवस्था तब लागू की गई थी जब देश मे ग्रन्न की कमी और महंगाई थी। सन्देह है कि देश ग्राज भी ग्रन्न के विषय मे ग्रात्म-निर्भर नही हो पाया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पूर्वापेक्षा-स्थिति ग्रधिक ग्रनुकूल हुई है। यह ठीक है कि सन् १९५९-६० के वर्ष मे उतना ग्रन्नोत्पादन नही हो सका जितना सन् १९५८-५९ मे (७ करोड ३५ लाख टन) हुग्रा था, किन्तु सन् १९६० मे ग्रन्न के उज्ज्वल भविष्य की ग्राशा तथा विदेशी सहायता से ग्रन्न विषयक ग्रनुकूल स्थिति बनने में बहुत सहायता मिली है। खाद्य तथा कृषि उपमन्त्री श्री थोमस के ग्रनुसार चावल तथा खरीफ की ग्रन्य फसलो के मूल्य मे भले ही वृद्धि हुई हो, किन्तु गेहूँ का जो मूल्य सूचक ग्रंक ग्रप्रैल में ९१ था वह मई मे ८७ पर ग्रा गया और जून में भी वहीं रहा है। गेहूँ के सम्बन्ध मे यह सुधरती स्थिति ग्रब क्षेत्रीकरण की ग्रावश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर रही है।

चावल के विषय मे ग्रभी ६-७ मास पूर्व पश्चिमी बंगाल ग्रौर उडीसा का एक क्षेत्र बनाया गया था ग्रौर ग्रभी गुजरात, महाराष्ट्र ग्रौर मध्य-प्रदेश को भी एक ग्रन्न क्षेत्र बनाये जाने पर विचार किया जा रहा है, किन्तु जहाँ तक गेहूँ का प्रश्न है, देश में उसकी ऐसी कोई कमी नही है जिससे उसके विषय मे भी क्षेत्रीकरण की ग्रावश्यकता हो। ग्रभी कुछ समय पूर्व भारत ग्रौर ग्रमरीका के बीच जो गेहूँ समझौता हुग्रा है उसके ग्रनुसार भारत को ग्रमरीका से चार वर्षों के भीतर १ करोड़ ७० लाख टन ग्रन्न मिलने वाला है। इस ग्रन्न में चावल की मात्रा ग्रवश्य बहुत कम है, किन्तु गेहूँ का जो भाग है वह न केवल ग्रन्न की महंगाई ग्रौर कमी को दूर करने मे सहायक होगा, ग्रपितु उससे ग्रन्न विषयक किसी संकटकाल का भी मुकाबला किया जा सकेगा।

श्री पाटिल का कथन है कि समस्त देश एक ही ग्रन्न क्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धान्ततः उचित भी है। जब सारा देश एक है तो उसके सब हिस्सो के सुख दुख भी बटने चाहिए। एक प्रदेश के लोग खूब खा-पीकर चैन करें ग्रौर दूसरे ग्रन्नाभाव के कारण घास फूस खाकर जीवन व्यतीत करते हों, यह ग्रपने को एक एवं ग्रखड कहने वाले देश के लिए किसी भी प्रकार क्षम्य नही। इसलिए सबके लिए समान रूप से ग्रन्न वितरण की व्यवस्था करके क्षेत्रीकरण को जितनी भी जल्दी विदा दी जाय उतना ही ग्रच्छा है। ग्राज ग्रन्न का जो ग्रनुचित संग्रह तथा चोरी छिपे यातायात चल रहा है वह भी इससे समाप्त हो जायगा।

गेहूँ की ग्रनुकूल स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उसके क्षेत्रीकरण की समाप्ति तो उचित है, परन्तु उसके साथ ही ऐसी निर्दोष व्यवस्था की भी ग्रावश्यकता है कि इसके पुनः जारी करने की नौबत न ग्राये। वह तभी सम्भव है जब देश मे ग्रन्नोत्पादन की गति को तीव्र से तीव्रतर किया जाय ग्रौर वितरण से मुनाफाखोरी ग्रौर भ्रष्टाचार को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय।

ये सुझाव परस्पर सम्बन्धित है, क्योंकि जब तक बाजार में अन्न नही आता तब तक केवल अन्न की उपज बढाने से कोई काम नही हो सकेगा।*

इन सुझावो को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा अपनी खाद्यान्न नीति का निर्माण किया।

अकाल निवारण की वर्तमान नीति—

अकाल समस्या का निवारण करने के लिए आज सरकार के पास सभी साधन उपलब्ध हैं और जब कभी अकाल के चिन्ह दृष्टिगोचर होने भी है तो सरकार उसको दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है तथा अन्न आदि का सग्रह एवं आयात करना प्रारम्भ कर देती है। लेकिन जब अकाल के चिन्ह दूर होने लगते हैं, तब सरकार क्रमशः अपनी सहायता कम करती जाती है। इस प्रकार वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो प्रधान अङ्ग है :—(१) अकाल पीडितो को तत्कालीन सहायता तथा (२) अकाल की पुनरावृत्ति रोकने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न, जैसे—यातायात, सिंचाई, बीज, खाद का वितरण। अकाल सहायता कार्य को तीन श्रेणियो मे बाटा जाता है:—प्रथम, चेतावनी कार्य, दूसरे, सुविधानुसार सहायता तथा तीसरे, जीवन रक्षा, जैसे—वैद्यकीय सहायता, दरिद्राश्रम आदि की सुविधाएं देना। इस प्रकार वर्तमान अकाल निवारण नीति मे सरकार को सफलता मिली है।

संकटकालीन सहायता संगठन (Emergency Relief Organisation)—

गत दस वर्षों मे देश के कृषि उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई है और परिवहन साधनो के विकास के कारण अकाल की सम्भावनाएं न्यूनतम हो गई है। फिर भी अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ एवं भूकम्पो के खतरे बने ही रहते है। जिस कारण स्थानीय अकाल के चिन्ह दिखाई देते है जैसे-अगस्त सन् १६६० में आन्ध्र, उडीसा, उत्तर-प्रदेश और बिहार के कुछ भाग। इसलिए भारत सरकार ने अकाल, बाढ, भूकम्प आदि सकटकालीन सहायता कार्य के लिए 'सकटकालीन सहायता सगठन' स्थापित किया है। इसके निम्न उद्देश्य है:—

(१) सकटकालीन सहायता पूर्व नियोजित योजना के अनुसार दी जा रही है, यह देखना। ऐसी योजनाएं विशेषज्ञो द्वारा यथासम्भव सकट के पूर्व ही बनाई जायेंगी।

---

* These measures are all ultimately linked with one another It is useless to increase the food-supplies unless it can be brought *to the market—and this involves better* procurement machinery. It is not possible to secure fair distribution without a limitation of the individual's right to purchase, and that involves rationing But rationing involves assuring the necessary supplies and that implies proper procurement machinery · Report of the *Woodhead Commission.*

(२) स्वयं सहायता के सिद्धान्त पर बल दिया है, जिसमे संकट-ग्रस्त क्षेत्र गहरी क्षेत्रों की सहायता पर न्यूनतम निर्भर रहे।

(३) रुचि रखने वाली प्रत्येक समाज कल्याण सस्था को एक निश्चित कार्य करने के लिये दिया है।

(४) भारत सरकार, राज्य सरकारें, जिला एवं स्थानीय अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में इन क्रियाओं के समुचित सामजस्य के लिये जिम्मेदार रहेंगे।

यह सगठन पूर्णता प्राप्त करने पर केन्द्र, राज्य एवं जिला स्तर पर कार्य करेगा। केन्द्रीय संगठन सरकार की सकटकालीन सहायता नीति को क्रियान्वित करेगा, राज्य के प्रयत्नों में सामंजस्य लायेगा तथा ऐसी सहायता सेवाएं देगा जो केवल भारत सरकार ही दे सकती है। ये सगठन लगभग सभी राज्यों में बनाए गए हैं। इसलिये आवश्यक कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये नागपुर में 'केन्द्रीय सकटकालीन सहायता प्रशिक्षणालय' खोला गया है, जहाँ विभिन्न सहायता कार्यों के सात पाठ्य-क्रमों की शिक्षा पूर्ण हो गई है।

प्रधान-मन्त्री राष्ट्रीय सहायता कोष*—

नवम्बर सन् १९४७ में इस कोष का निर्माण किया गया था, जिसमें से १·८२ करोड़ रु० की सहायता विभिन्न सकटों के समय (जैसे, भूकम्प, बाढ़ अकाल आदि) वितरित की गई है। इस कोष से सन् १९५७ मे विभिन्न राज्यों को ६,८६,०९६ रु० का वितरण हुआ तथा कोष मे लगभग ५,१६,२९२ रु० शेष हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार ने संकटकालीन सहायता का विशेष आयोजन किया है, जिससे जन, धन की हानि न हो तथा अकाल से जनता की सुरक्षा हो सके।



* India 1959. p. 161.

अध्याय १३

हमारी खाद्य समस्या

(Our Food Problem)

"भारत में अन्न उत्पादन तथा जन्म दर का सीधा-सम्बन्ध है, परन्तु अन्न उत्पादन और मृत्यु दर में विपरीत सम्बन्ध है।

राधाकमल मुकर्जी

जन संख्या की समस्या खाद्य समस्या से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है और खाद्य समस्या की वर्तमान गभीरता इस तथ्य की ओर सकेत करती है। वास्तव में खाद्य समस्या आज कोई नवीन समस्या नहीं है, अपितु वह गत ६० वर्षों से है, परन्तु उसकी गम्भीरता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। श्री दुबे के अनुसार "हमारे अन्न निर्यात में समावेश के साथ यह कमी सन् १८२० में लगभग ६·१० मिलियन टन वार्षिक थी।" जन संख्या के प्रकाशित आंकड़ो से स्पष्ट है कि जन-वृद्धि के साथ देश की खाद्यान्न उपज नहीं बढ़ी। सन् १६१३-१४ से सन् १६३५ ३६ की अवधि में जन संख्या वार्षिक १% बढ़ा है, जो खाद्य उपज में केवल ०·६५% की वृद्धि हुई है।[1] डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार देश में ११% जन-संख्या के लिए खाद्यान्न की कमी थी।[2] इसकी पुष्टि योजना-आयोग ने भी की है—' द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व भारत मे १५ लाख टन अन्न आयात होता था। विभाजन और जन संख्या की वृद्धि से खाद्य समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई है, जिसे तत्कालीन उपायों से हल नहीं किया जा सकता। इस समस्या के हल के लिए सावधानी के साथ दीर्घकालीन प्रयत्न करने पड़ेंगे। खाद्य समस्या का अर्थ केवल अन्न धान्य की कमी ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक पौष्टिक भोजन का अभाव भी है।

खाद्य समस्या की पृष्ठभूमि—

अकाल जाँच समिति सन् १८८० के आंकड़ो से स्पष्ट है कि उस काल में भारत खाद्यान्न में आत्मनिर्भर था, क्योंकि उत्पादन ५·२० करोड़ टन और माँग केवल ४·७० टन ही थी। इसके बाद सन् १८६० से सन् १६१२ तक के वर्षों में मूल्य जाँच समिति के अनुसार:-' भारत में एक ओर तो जन संख्या बढ़ती गई, परन्तु उसी अनुपात में कृषि-भूमि में वृद्धि नहीं हुई, फलस्वरूप खाद्यान्न में कमी आ गई। इसी प्रकार सन् १६०१

1. Famine Enquiry Commission 1944, p. 73.
2 Food Planning for four hundred millions, 1938 Edn.

से १६३१ तक के तीस वर्षों में जन-संख्या १९·२% बढ़ी, जब कि अन्न उपजाने वाली भूमि १·५% ही बढ़ी, परन्तु फिर भी अन्न-उपज ४% से कम रही।" इस प्रकार कृषि-उपज का क्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ अन्न-उत्पादन की कमी के मुख्य कारणों में (१) 'कृषि में क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम का लागू होना, (२) कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति कम होना, तथा (३) जन-संख्या में वृद्धि का समावेश किया जा सकता है। इस प्रकार जन-संख्या और खाद्यान्न की वृद्धि में विषमता आती गई।

सन् १६३७ में भारत से बर्मा पृथक हो गया, जिससे भारत में अन्न की कमी प्रतीत होने लगी। फलस्वरूप बर्मा, जापान तथा अन्य देशों के आयात से अन्नाभाव पूरा किया जाने लगा। सन् १६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया, जिससे हमारे अन्न आयात को धक्का लगा और भारत को मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को अन्न देने की जिम्मेदारी आ गई। इसके अलावा सेना में भारतीय नौजवानों की भर्ती तथा औद्योगिक मजदूरों की संख्या बढ़ने के कारण अन्न की माग बढ़ गई। परन्तु दूसरी ओर अन्न का उत्पादन कम हो गया। इसी समय सन् १६४३ में बङ्गाल का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा।

इस प्रकार अन्न समस्या की भीषणता की ओर सरकार का ध्यान सन् १६४३ के बंगाल अकाल के कारण आकर्षित हुआ और इसी कारण यहीं से खाद्य-समस्या का प्रादुर्भाव हुआ यह आम धारणा है।

खाद्य समस्या के कारण—

(१) जन-संख्या में वृद्धि—गत वर्षों में हमारी जन संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १६०१ में जन-संख्या २३·५५ करोड़ थी। इसे आधार वर्ष मान कर सन् १६३१ में जन-संख्या निर्देशांक ११७ हो गया, जबकि खाद्य क्षेत्रफल का निर्देशांक केवल ११६ ही रहा। इस प्रकार जन-संख्या ने खाद्य उत्पादन को पीछे छोड़ दिया। सन् १६३१-४१ के बीच तो परिस्थिति और भी खराब हो गई। जहाँ खाद्य पदार्थों का क्षेत्रफल १·५ प्रतिशत बढ़ा, जन-संख्या में १५ प्रतिशत वृद्धि हुई।* सन् १६५१ में हमारी जन-संख्या ३५·६६ करोड़ थी। सरकारी अनुमान के अनुसार गत वर्षों में हमारी जन-संख्या में इस प्रकार वृद्धि हुई :—

वर्ष	जन संख्या
१६५२	३६·७५ करोड़
१६५३	३७·२३ ,,
१६५४	३७·७६ ,,
१६५५	३८·२४ ,,
१६५६	३८·७४ ,,
१६५७	३६·२४ ,,

ऐसा अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी जन-संख्या सन् १८६१ में ४१

* Indian Rural Problems by Nanavati & Anjaria, p. 53.

करोड और सन् १९७१ में ४५ करोड हो जायगी। योजना आयोग ने १४ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से सन् १९५६ मे ५२०·२ लाख टन की माँग का अनुमान लगाया गया था। अशोक मेहता समिति का अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी माँग सन् १९६०-६१ में ७६० लाख टन हो जायगी।

इसलिए समिति का सुझाव है कि "खाद्य समस्या के प्रभावी हल के लिए केवल उत्पादन बढाने के लिए निश्चयपूर्ण एवं चहुँमुखी प्रयत्न ही आवश्यक नहीं हैं अपितु जन संख्या की वृद्धि की ऊँची दर को अवरोध लगाना होगा। इसलिए हम सिफारिश करते हैं कि राष्ट्रव्यापी परिवार नियोजन आन्दोलन चलाया जाय।"*

(२) मुद्रा स्फीति—युद्ध के कारण जो औद्योगिक विकास हुआ और मौद्रिक आय में वृद्धि हुई उससे वस्तुओं की माँग बहुत बढ गई। खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्देशांक जो अगस्त सन् १९४५ में २६८ था, बढकर सन् १९५० में ४०२·२ हो गया। अगस्त सन् १९५३ मे यह ४१०·३ तक पहुँच गया था, यद्यपि सन् १९५४ मे घट कर यह ३८२·३ हो गया। ऐसी आशा व्यक्त की गई थी कि बढते हुए मूल्यो से खाद्य उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। भूमि का लगान आदि स्थायी व्यय चुकाने के पश्चात् जो बचा उसका उपयोग किसानों ने पुराने ऋणों को चुकाने मे किया। साथ ही, उनके उपभोग स्तर मे भी वृद्धि हुई, अतः स्वभावतः खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव की जाने लगी।

(३) कृषि उत्पादन मे कमी—जहाँ एक ओर जन संख्या बढती जा रही है, खाद्य क्षेत्रफल मे वृद्धि की गति बहुत कम है। गत वर्षों मे खाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल की स्थिति इस प्रकार रही।

१९५२–५३	२५·२ करोड एकड
१९५३–५४	२६·६ करोड एकड
१९५४–५५	२६·७ करोड एकड
१९५५–५६	२७·१ करोड एकड
१९५६–५७	२७·२ करोड एकड

वास्तव मे प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल घट गया है। योजना आयोग के अनुसार बोया जाने वाला क्षेत्रफल सन् १९११-१२ मे ०·९६ एकड था, सन् १९२१ मे ०·८३ एकड और सन् १९३१ में ०·७२ एकड था। यह घटकर सन् १९५१ में ०·७५ एकड़

* For an effective solution of the food problem, not only determined and all out efforts to step up production have to be made but the high rate of increase of population has to be checked. We, therefore, urge thats a nation-wide compaign for family planning enlisting the efforts and energies of social workers particularly women, medical men, scientists, economists, administrators and political leaders be launched."

—Ashok Mehata Samiti Report.

प्रति व्यक्ति रह गया।* इस प्रकार गत वर्षों में प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल, कृषि उत्पादन और सिंचित क्षेत्र में भी कमी हुई है।

(४) **व्यापारिक फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि**—कृषि के व्यापारीकरण के परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थों के क्षेत्रों को व्यापारिक क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया गया, *अतः खाद्य-पदार्थों के क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई, परन्तु आनुपातिक दृष्टि से वह* पिछड़ गया। सन् १९१३-१४ के आधार पर फसलों में क्या परिवर्तन हुए, यह नीचे की सारिणी में स्पष्ट है :—

सन् १९१३-१४ के आधार पर क्षेत्रफल में वृद्धि के निर्देशांक

वर्ष	खाद्य फसलें	जूट और कपास
१९१३–१४	१००	१००
१९२ –२८	१०१	९५
१९३९–४०	१०४	१३२
१९४०–४१	१०४	१५३

इस प्रकार उपर्युक्त तीस वर्षों में जहाँ खाद्य फसलों में ४ प्रतिशत वृद्धि हुई, व्यापारिक फसलों में ५३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, क्योंकि ब्रिटिश काल में कोई राष्ट्रीय नीति नहीं अपनाई गई। हमारा उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए किया जाने लगा और हमें खाद्य पदार्थों का महत्त्व द्वितीय महायुद्ध काल में अनुभव हुआ, जबकि बङ्गाल में भीषण अकाल पड़ा।

(५) **भारत का विभाजन**—विभाजन के परिणामस्वरूप अविभाजित *भारत की ८०·५ प्रतिशत जन-संख्या हमारे हिस्से में आई, जबकि पाकिस्तान के हिस्से* में केवल १९·५% जन-संख्या आयी। इसके विपरीत कृषि क्षेत्रफल का केवल ७७% हिस्सा ही हमें प्राप्त हुआ। पञ्जाब और सिन्ध के अत्यधिक उपजाऊ और सिंचित क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। चावल के क्षेत्रफल का केवल ५९·६ और गेहूँ के क्षेत्रफल का ६६% हमें प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमारी जन-संख्या और खाद्य उत्पादन का अनुपात बिगड़ गया तथा देश में ९७ मि० टन खाद्यान्न की कमी हो गई।

इसके अलावा शरणार्थियों के आगमन से समस्या और गम्भीर हो गई। इतना ही नहीं, अपितु एशियाई राजनैतिक परिस्थिति के कारण आज भी तिब्बत के शरणार्थी भारत में ही आ रहे हैं।

(६) **व्यापारियों के हथकण्डे**—प्राकृतिक, अभाव के साथ-साथ कृत्रिम अभाव की स्थिति भी उत्पन्न कर दी गई। खाद्य पदार्थों की कमी के कारण बाजार क्रेता के हाथ से निकल कर विक्रेता के हाथ में चला गया और उन्होंने मनमाने मूल्य लेना प्रारम्भ कर दिया। मण्डियों में सट्टा होने लगा तथा अन्न संग्रह, चोर बाजारी और

* Draft Outline of the First Five Year Plan (1951), p. 14.

मिलावट रोज की घटनाएँ हो गई । सर्वत्र व्यापारिक नैतिक पतन हो गया और पूर्ति को रोक कर खाद्य पदार्थों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया गया।

इससे उत्पादन वृद्धि के बावजूद खाद्यान्न की कीमतें बढी। सन् १६५२-५३ को आधार मान कर सन् १६५६ से सन् १६५६ के चार वर्षों मे खाद्यान्न के मूल्य सूचनांक क्रमशः ६६·०, १०२·८, ११२·०, ११८·२ रहे।*

(७) सामाजिक कारण—इनमे कृषकों का अज्ञान एवं निरक्षरता तथा प्रत्येक सुधार के लिए सरकार की ओर देखने की प्रवृत्ति का समावेश होता है।

(८) राजनैतिक प्रभाव—राजनैतिक प्रभाव के अन्तर्गत वे सब कारण आते हैं जिनमे सरकार (कांग्रेसी) प्रभावित होकर न्यायोचित कार्य न करते हुए अव्यवहारिक कदम उठाती है। उदाहरणार्थ, केरल मे सस्ते अनाज के विक्रय हेतु जहाँ ७,००० दुकानें हैं वहाँ उत्तर-प्रदेश जैसे विशाल क्षेत्र मे केवल ३,८०० दुकानें हैं। इससे स्पष्ट है कि राजनैतिक विवेकात्मक नीति भी खाद्य संकट के लिए उत्तरदायी है।

(६) केन्द्र एवं राज्यों की नीति में सामंजस्य का अभाव—भारतीय संविधान के अनुसार खाद्य उत्पादन का मूलभूत दायित्व राज्य सरकारों का है, परन्तु खाद्य-वितरण का दायित्व केन्द्र सरकार का है। ऐसी स्थिति में दोनों ही अपनी-अपनी जिम्मेवारी के प्रति जागरूक नही रहते, अपितु एक की निष्क्रियता का परिणाम दूसरे पर होता है। इससे अन्न संकट के निवारण मे बाधा होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध मे निर्णयात्मक नीति का अवलम्ब कर संविधान में आवश्यक परिवर्तन किए जायें।

(१०) कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण—हमारे योजनाकारों का कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण भी खाद्य समस्या के लिए जिम्मेवार है। जब हम प्रति वर्ष अन्न का विदेशों मे आयात कर रहे हैं; (देखिए निम्न तालिका) तो क्या कारण है दूसरी पंच-वर्षीय योजना में कृषि एवं खाद्यान्न उत्पादन को प्राथमिक स्थान न देने का।

अन्न का आयात—

(हजार टनों मे)

वर्ष	चावल	गेहूँ आटा	अन्य	योग	मूल्य (करोड़ रु०)
१६४८	८६७	१,३११	६६३	२,८४१	१२६·७२
१६४६	७६७	२,२००	७३६	३,७०६	१४४·६०
१६५०	३१३	१,४०७	४६५	२,१२५	८०·६०
१६५१	७४६	३,०१५	६६१	४,७२५	२१६·७६
१६५२	७२२	२,५११	६३१	३,८६४	२०६·०७

* सम्पदा—अप्रैल सन् १६६०]

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पंजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक स्मट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १९४७ में विभाजन के कारण पंजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए और हमारे आयातों की मात्रा बढ़ती गई। गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	२,८८० ,,
१९५८	२,९७४

सरकार ने गेहूँ की खेती में सुधार हेतु कुछ क्षेत्रों को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रों का प्रयोग, सिंचाई में विकास, उत्तम बीज एवं रसायनिक खादों का प्रयोग करके उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत में गेहूँ के साथ-साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियों द्वारा खाने में प्रयुक्त होता है। जौ पशुओं को भी खिलाया जाता है। सन् १९५७-५८ में ७५.३१ लाख एकड़ भूमि पर २१.७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पंजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने में किया जाता है। भारत में विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश में प्रति एकड़ उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जबकि डेनमार्क में २,६५६, जर्मनी में १,६३२, इङ्गलैंड और जापान में प्रति एकड़ उत्पादन १,९१६ पौंड होता है। भारत में विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत में होता है, परन्तु गर्म सूखे भागों में इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण में बहुत होता है। सन् १९५६-५७ में ज्वार ४१२.१४ लाख एकड़ पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४.२७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र में होता है। कुछ उत्पादन पंजाब और राजस्थान में भी होता है।

1. India 1959.
2. The Second Five Year Plan. p. 257.

भाग नहीं मिलता, क्योंकि "अप्रत्यक्ष करो का प्रत्यक्ष प्रभाव मंहगाई बढ जाने मे होता है। मूल्य वृद्धि के साथ बाजार मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव होता है। अभाव होने पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण लगना है और अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि नियन्त्रण होते ही वस्तुओ की प्राप्ति और भी कठिन हो जाती है। इसका परिणाम फिर मँहगाई बढने मे होता है।"* इस प्रकार इस कुचक्र मे साधारण आदमी सकट मे पड जाता है और खाद्य समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है।

असन्तुलित आहार—

असन्तुलित आहार से तात्पर्य है खाद्यान्न में पोषक द्रव्यो की कमी होना। भारत मे केवल खाद्यान्न की ही कमी नहीं है, अपितु उनका आहार भी असन्तुलित है। इससे एनीमिया, बेरी-बेरी आदि बीमारियाँ होती हैं, जो जनता को कमजोर एव अक्षम बना देती है। इस दृष्टि से अर्धपोषित रहने की अपेक्षा क्षुधा से मृत्यु होना अधिक अच्छा है।

पौष्टिक सलाहकार समिति के अनुसार "सतुलित भोजन के लिये प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक १४ औंस अन्न की आवश्यकता है, जिसमे ३ औंस दाल होनी चाहिए। सर जॉन मैग की रिपोर्ट के अनुसार "उस समय (१९३३ मे) लगभग ४०% गाँवो की जन-सख्या अन्न-उत्पादन की दृष्टि से अधिक थी और उस समय ३९% जन-सख्या को पूरा भोजन, ४१% को अपूर्ण भोजन तथा शेष जन सख्या के लिए भोजन मिलना या न मिलना बराबर था।

ऐसा क्यों ?—

भारतीय अन्न उपज में पोषक तत्वों की कमी के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं :—

(१) भूमि की उर्वराशक्ति का ह्रास तथा उत्तम बीजो का पर्याप्त मात्रा मे न मिलना,

(२) धार्मिक भावना के कारण मांस, मछली, अडों आदि का भोजन मे प्रयोग न होना,

(३) जनता की निरक्षरता एव अज्ञान के कारण भोजन में पोषक तत्वो की उपयोगिता पर ध्यान न देना,

(४) निर्धनता के कारण भोजन मे पर्याप्त मात्रा मे दूध, फल एवं अन्य आवश्यक जीवन तत्वों का समावेश करने की आर्थिक क्षमता न होना।

इस हेतु सरकार ने क्या किया ?—

सन् १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही कृषि उपज के मूल्य बढने लगे, लेकिन दूसरी ओर अन्न एव कृषि जन्य औद्योगिक कच्चे माल की माँग बढती गई, जिससे कृषकों की क्रय-शक्ति बढने लगी और उन्होने उपभोगों की मात्रा बढाना आरम्भ

* नवभारत टाइम्स—२७ अगस्त,१९६०।

किया। सरकार ने सर्व प्रथम कीमतों की वृद्धि रोकने के लिए सन् १९४२ में मूल्य-नियन्त्रण लगाया तथा अन्न धान्य के अन्तर्राज्य यातायात पर भी रोक लगा दी। इसका हेतु किसी भी राज्य में अन्न की कमी न होने देना और साथ ही जनता को उचित कीमतों पर अन्न प्रदाय करना था। इस कार्य को कुशलता से करने के लिए दिसम्बर सन् १९४२ में खाद्य-विभाग की स्थापना की गई। यह विभाग देश की खाद्य उत्पादन सम्बन्धी नीति को नियन्त्रित करने के लिए जिम्मेवार था। साथ ही, यह भी जिम्मेवारी थी कि वह अधिक अनाज वाले क्षेत्रों से कम अनाज वाले क्षेत्रों में अन्न-धान्य की पूर्ति समयानुकूल करता रहे। लेकिन इस परिस्थिति को सन् १९४३ के बङ्गाल के भीषण दुर्भिक्ष ने और भी गम्भीर बना दिया।

सरकार यह चाहती थी कि बंगाल दुर्भिक्ष के साथ-साथ सम्पूर्ण खाद्य समस्या का अध्ययन कर एक नई खाद्य नीति का निर्माण किया जाय। अतः जुलाई सन् १९४३ में एक खाद्यान्न नीति समिति (Foodgrains Policy Committee) की नियुक्ति की गई। इसके अध्यक्ष डा० ग्रेगरी थे। समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) देश के खाद्यान्नों का निर्यात बन्द किया जाय।

(२) एक केन्द्रीय खाद्यान्न कोष का निर्माण किया जाय, जिसमें कम से कम ५ लाख टन खाद्यान्न हो। यदि आवश्यक हो तो विदेशों से खाद्यान्न का आयात किया जाय।

(३) अन्न की प्राप्ति और वितरण पर पूर्ण नियन्त्रण।

(४) जिनकी जन-संख्या एक लाख से अधिक है, ऐसे सम्पूर्ण नगरों में राशनिंग प्रारम्भ की जाय।

(५) उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए रसायनिक खादों का प्रयोग बढ़ाया जाय और एक खाद के कारखाने का निर्माण किया जाय, जहां प्रति वर्ष ३,५०,००० टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन किया जाय (यह कारखाना स्थापित हो गया है : सिंद्री में)।

(६) अनावश्यक अन्न संग्रह दण्डनीय अपराध घोषित किया जाय और व्यापारिक अनाचारों के विरुद्ध कठोर कदम उठाये जायें।

(७) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow more Food Compaign) प्रारम्भ किया जाय और उसे क्रियात्मक रूप दिया जाय।

सरकार की खाद्यान्न नीति—

सरकारी खाद्यान्न नीति के तीन मुख्य पहलू थे :—

(१) देश में समस्या को हल करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न करना। इसके अनुसार देश में "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन सन् १९४३ में प्रारम्भ किया गया। इसके बाद इसी नीति का दूसरा भाग पंच-वर्षीय खाद्यान्न योजना (१९४७ से १९५१) थी।

(२) देश की तत्कालीन समस्या को दूर करने के लिए तत्कालीन उपायों को काम में लाना। इस नीति के अनुसार विदेशों से खाद्यान्न का आयात* करना, देश में व्यापारियों की संग्रह प्रवृत्ति तथा काले बाजार को रोकना आदि सरकारी उद्देश्य थे। इसलिए सरकार ने सन् १९४३ में भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त किये।

(३) तत्कालीन खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए सरकार खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिश के अनुसार १½ मिलियन टन खाद्यान्न का संग्रह रखने लगी।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Compaign)—

यह आन्दोलन सन् १९४३ से प्रारम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश में कृषि उपयोग में अधिक भूमि लाकर तथा वर्तमान भूमि को सुधार कर देश में अन्न उत्पादन बढ़ाना था। इस आन्दोलन की मुख्य बातें निम्न थीं :—

(१) खाद्यान्न के उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि—इस कार्य के लिए यह व्यवस्था की गई कि मुद्रा फसलों (Money Crops) के स्थान पर खाद्यान्न फसलों की खेती की जाय तथा मिश्रित खेती (Mixed Farming) द्वारा खाद्यान्न की उपज बढ़ाई जाय। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक सहायता दी तथा कृषकों को ऋण देने का प्रबन्ध किया गया।

(२) सिंचाई का प्रबन्ध—इसके अन्तर्गत वर्तमान सिंचाई के साधनों की मरम्मत तथा नई नहरें, कुँए आदि खुदवाने की व्यवस्था करने का भार राज्य सरकारों को सौंपा गया।

(३) अच्छे खाद की व्यवस्था करना तथा इसके उपयोग को बढ़ाना।

(४) फसल बढ़ाने के लिये अच्छे बीजों का अधिक मात्रा में वितरण करना।

(५) इसके अलावा पशु सम्पत्ति की सुरक्षा एवं विकास, कृषि यन्त्रों का आयात, कृषि की वैज्ञानिक पद्धति को प्रोत्साहन देना।

केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को उनके खर्च के बराबर आर्थिक सहायता दी गई। सन् १९४३ से सन् १९४७ की अवधि में राज्यों को केन्द्रीय सरकार द्वारा ६ करोड़ रुपये ऋण तथा ७ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी गई। ६,००० टन उत्तम बीजों का वितरण किया गया। इसी प्रकार सिंचाई की व्यवस्था के लिये ६४,००० कुँए, ५०० नल-कूप तथा ३,००० तालाब खुदवाए गये।

फलस्वरूप देश की अन्न उपजाने वाली कृषि भूमि में लगभग १ लाख एकड़ *भूमि की तथा २१ लाख टन अन्न धान्य की वृद्धि हुई, परन्तु फिर भी इस आन्दोलन से* सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उत्पादन में जो वृद्धि हुई उससे कहीं अधिक व्यय हुआ। सन् १९४५ में बंगाल अकाल जाँच समिति ने भी इस आन्दोलन की असफलता

* आयात के आँकड़े पहले दिये गये हैं।

ग्रौर मैसूर मे होता है । कपास का ग्राधा क्षेत्रफल केवल बम्बई ग्रौर मध्य-प्रदेश में है । गत वर्षों मे कपास का उत्पादन एव क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है[1]:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख गाँठ
१९५४-५५	१८७	४२·२७
१९५५-५६	१९९	४०·२०
१९५६-५७	१९८	४७·३५
१९५७-५८	२०२	४७·३९
१९५८-५९	—	४७·०५

इस प्रकार गत वर्ष की तुलना मे क्षेत्रफल मे १·३% तथा उत्पादन मे ०·४% की वृद्धि हुई । क्षेत्रफल मे वृद्धि मुख्यतः बम्बई, पजाब ग्रौर मध्य-प्रदेश में हुई तथा उत्पादन वृद्धि मे प्रमुख योग राजस्थान, मद्रास ग्रौर पजाब का रहा । इस वर्ष ४५ लाख गाँठो का उत्पादन होगा, ऐसा ग्रनुमान है ।

भारतीय रुई की किस्म ग्रौर उत्पादन मे सुधार हेतु सन् १९१७ में भारतीय कपास समिति की स्थापना की गई ग्रौर सन् १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की स्थापना की गई । रुई में मिलावट रोकने के लिए सन १९२३ में कपास यातायात ग्रधिनियम भी पास किया गया तथा विक्रय की दशाग्रो में सुधार करने हेतु बम्बई, मध्य-प्रदेश ग्रौर मद्रास में कपास विपणि ग्रधिनियम पास किये गये ।

विभाजन के परिणामस्वरूप लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाले पजाब ग्रौर सिन्ध के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये । ग्रतः भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने यह सिफारिश की कि कपास के क्षेत्रफल में यथाशीघ्र ४० लाख एकड की वृद्धि की जाय ग्रौर उसे सन् १९४६-४७ में ११५ लाख से बढा कर १५५ लाख कर दिया जाय । सन् १९४८-४९ में हमारे उत्पादन का केवल १७·५% भाग लम्बे रेशे का होता था । सन् १९५६-५७ में लम्बे रेशे का उत्पादन बढ कर ४२·५% हो गया । गत वर्षों में किस्म के ग्रनुसार कपास का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :—[2]

किस्म	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९
A	३६%	३९%	४२·५०%	३७%	३५%
B	४५%	४४%	४१·२५%	४५%	४९%
C	१९%	१७%	१६·२५%	१८%	१६%

1. India 1954.
2. Commerce Annual Number Dec. 1959, page 205.

इसी आधार पर समिति ने अपनी सिफारिशों में कहा :—इन बाधाओं का निवारण गहरी खेती, अधिक खाद एवं अच्छे बीजों की सहायता तथा असिंचित भूमि को आवश्यक सिंचाई की सुविधाएं प्रदान करके कर सकते हैं। समिति ने कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुटीर उद्योगों की स्थापना की सिफारिश की, ताकि कृषकों को सहायक आय के साधन प्राप्त हों। इसके अलावा समिति ने निम्न सिफारिशें कीं.—

(१) अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए 'अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन' के लिए नई नीति अपनाना।

(२) गहरी खेती के साथ अच्छी खाद, बीज, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था द्वारा उत्पादन बढ़ाना।

(३) बंजर भूमि को कृषि के लिए उपयोगी बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक आर्थिक सहायता दिया जाना तथा इस कार्य पर स्वयं केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होना। केन्द्रीय एवं राज्य कृषि नीति में सहयोग स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय कृषि नियोजन सभा (Central Board of Agricultural Planning) की स्थापना करना तथा इसी प्रकार की कृषि-सभाएं राज्यों में भी स्थापित करना। राज्य कृषि-सभाएं केन्द्रीय सभा को कौनसी भूमि कृषि के उपयोग में लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध में तथा अन्य समस्याओं पर एक वार्षिक कार्य प्रगति के सम्बन्ध में रिपोर्ट देना।

(४) अन्न धान्य आयात पर सरकारी एकाधिकार।

(५) ५ वर्ष के लिए १० लाख टन को केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्न-निधि रखना।

(६) पंच वर्षीय खाद्यान्न योजना बनाकर प्रति वर्ष १ करोड़ टन अधिक अन्न उत्पादन बढ़ा कर देश को आत्म निर्भर बनाना, ताकि इस अवधि के बाद अन्न आयात बन्द कर दिया जाय।

(७) बंजर अथवा कांसयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भू पुनर्ग्रहण सगठन (Central Land Reclamation Organisation) बनाया जाय, जिसको केन्द्रीय सरकार ५० करोड़ रुपया दे।

खाद्यान्न-योजना सन् १९४७-५२—

खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशों के अनुसार एक पंचवर्षीय खाद्यान्न योजना बन ई गई। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष ३० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना था, ताकि इस अवधि के अन्त में देश के अन्न आयात बिल्कुल बन्द कर दिए जायें। अन्न उपज बढ़ाने का प्रत्येक राज्य का कोटा निश्चित किया गया। योजना की अवधि में ६० लाख एकड़ पड़ती भूमि को हल के नीचे लाने का उद्देश्य था, जिससे अन्न उपज में २० लाख टन वृद्धि होने की आशा थी। इस कार्य के लिये केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ की स्थापना की गई। जहां पर पूरे वर्ष पानी की सुविधाएं प्राप्त थीं, ऐसी कृषि-

भूमि पर गहरी खेती करने पर जोर दिया गया। इसके अलावा सिंचाई के साधनों का विकास एवं सुधार, भूमि कटाव रोकने के प्रयत्न, नैसर्गिक एवं रसायनिक खाद, अच्छे औजार एवं कृषि के यंत्रीकरण से अन्न-उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया गया तथा मूंगफली, आलू आदि सहायक खाद्य फसलों के उपजाने पर भी जोर दिया गया। इस योजना का अनुमानित व्यय २८२ करोड़ रुपये था।

इसके अलावा सरकार ने विज्ञापन आदि प्रचार साधनों से खाद्यान्न की सुरक्षा के लिए तथा उपलब्ध अन्न का अधिकतम् उपयोग करने के लिए जनता से सहयोग की मांग की। साथ ही, रईसों, बड़े-बड़े पदाधिकारियों के बंगलों के आस पास की भूमि में साग, फल इत्यादि की उपज द्वारा सहायक खाद्य पदार्थों को उपज करने का प्रस्ताव रखा। भूमि कटाव को रोकने लिए अगस्त सन् १९५० से वन-महोत्सव कार्यक्रम शुरू किया गया, परन्तु लगाए गए पौधों की समुचित देखभाल के अभाव में वन महोत्सव आशातीत सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के पूर्ण प्रयत्न किये। जनता को उपवास करने, एक समय के भोजन में अन्न का उपयोग न करने तथा सब्जियों के अधिक उपयोग करने सम्बन्धी अनेक क्रियात्मक सुझाव दिये गये। परन्तु सन् १९५१ तक खाद्य स्थिति लगातार खराब होती गई। विभाजन के परिणामस्वरूप बहुत सी कृषि भूमि पर लूट की खेती प्रारम्भ कर दी गई थी। शरणार्थियों का आगमन भी हो रहा था, साथ ही राजनैतिक परिस्थितियाँ भी विपक्ष में हो गईं। कोरिया में युद्ध प्रारम्भ हो गया और तृतीय विश्व युद्ध की आशङ्का की जाने लगी। जहाजों के मिलने में भी कठिनाई उपस्थित हुई, अतः १२ औंस राशन देना सरकार की शक्ति के बाहर हो गया और १९ जनवरी सन् १९५१ से प्रति व्यक्ति राशन की मात्रा घटाकर ९ औंस कर दी गई।

खाद्य संकट से मोर्चा लेने के लिए अगस्त सन् १९५० में एक खाद्य मन्त्री सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें निम्न निर्णय लिया गया:—

(१) केन्द्र तथा प्रान्तों की खाद्य नीति में समानता होना।
(२) आयात बन्द करने की तिथि मार्च सन् १९५१ तक अन्न धान्य में आत्म निर्भर होने के लिए खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना।
(३) खाद्य-समस्या को युद्ध-कालीन स्तर पर रख कर उसके लिए आवश्यक कार्यवाही करना।
(४) सभी प्रान्तों में नियन्त्रित खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने पर जोर देना तथा प्रयत्नशील होना।
(५) चोर बाजारी, लाभखोरी रोकने के लिये प्रयत्न करना एवं दोषी व्यक्ति को कड़ा दण्ड देना।
(६) प्रान्तीय अन्न धान्यों के मूल्य में समानता रखने के लिये प्रयत्न करना।
(७) खाद्य स्थिति की समय समय पर छानबीन करना।

परन्तु इतना करते हुए भी भारत खाद्यान्न में आत्म निर्भर न हो सका। इस-लिए आत्म निर्भर होने की लक्ष्य तिथि बढ़ाकर मार्च सन् १९५२ कर दी गई थी।

अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति (सन् १९५२)—

पंच वर्षीय खाद्यान्न योजना के अन्तर्गत क्या कार्य हुआ, इसकी जाँच करने तथा भविष्य में देश को अन्न में स्वावलम्बी बनाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति' (Grow More Food Enquiry Committee) की नियुक्ति फरवरी सन् १९५२ में की गई। इस समिति ने १ जुलाई सन् १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने रखी।

समिति ने खाद्य समस्या के सम्बन्ध में निम्न बातें स्पष्ट कीं:—

(१) सन् १९३७ में भारत से बर्मा पृथक हो जाने के कारण १५ से २० लाख टन चावल के आयात पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(२) सन् १९४७ में भारत के विभाजन से ७० से ८० लाख टन खाद्यान्न की वार्षिक हानि हुई।

(३) जन संख्या में अविरत वृद्धि होती रहने के कारण भारत के खाद्यान्न की वार्षिक मांग ४५ लाख टन से बढ़ रही है।

(४) आजकल कृषकों के जीवन-स्तर में सुधार हो जाने से अन्न धान्य के उपभोग की मात्रा में भी वृद्धि हो गई है।

(५) इण्डियन कौंसिल ऑफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च के अनुसार भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज में उल्लेखनीय वृद्धि अथवा कमी नहीं हुई है,

(६) यह समस्या ऐसी नहीं है कि जिसे केवल अन्न आयातों से ही सुलझाया जा सकता हो, अपितु इस समस्या का हल इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे कृषि क्षेत्र एवं उपज में इतना विस्तार हो कि हमारी वृद्धिगत जन-संख्या को वृद्धिगत परिमाण में पोषक अन्न मिल सके।

समिति ने 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत जो विभिन्न योजनायें चालू थीं उनका मूल्यांकन किया तथा वह निम्न निर्णय पर पहुँची :—

(अ) *ग्राम विकास की सब योजनाओं में स्थायी योजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।* (ब) विविध स्थायी योजनाओं में भी छोटी मोटी सिंचाई की योजनाओं को महत्त्व देना चाहिए। इसमें भी वर्तमान सिंचाई के साधनों की दुरुस्ती तथा बहाव सिंचाई (Flow Irrigation) की छोटी योजनाओं को प्राथमिकता देना चाहिए। (स) *भूमि सुधार तथा भूमि-संरक्षक योजनाओं तथा* (द) अच्छे बीजों के प्रदाय की योजनाओं पर समुचित ध्यान देना चाहिए।

समिति ने अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन की असफलता के दो प्रमुख कारण बतलाये :—

(१) योजना की व्याप्ति (Scope) सीमित एवं संकीर्ण (Narrow) है तथा इसके मूल उद्देश्य में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में खाद्यान्न आत्म निर्भरता उद्देश्य था। किन्तु कुछ ही महीनों बाद जैसे ही औद्योगिक कच्चे माल की समस्या उपस्थित हुई, वैसे ही इस योजना की खाद्यान्न, रुई तथा पटसन की एकत्रित-उत्पादन योजना बनाई गयी। इसके बाद भूमि परिवर्तन की पंचमुखी योजना सामने आई, जिसके अन्तर्गत पशु सम्पत्ति में सुधार, मच्छीमारी का विकास, भूमि-परिवर्तन आदि पहलुओं पर जोर दिया गया। परन्तु योजना में परिवर्तन के साथ-साथ उसकी कार्य पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया और न यही सोचा गया कि ग्राम जीवन के सब पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं, जिनको विभिन्न योजनाओं से पूरा नहीं किया जा सकता। इसके अन्तर्गत खाद, अच्छे बीज आदि का प्रदाय और आर्थिक नियोजन भी विस्तृत योजना की दृष्टि से कम था, जिसका फैलाव छोटे क्षेत्र पर केन्द्रित नहीं हुआ।

(२) यह आन्दोलन अस्थाई था, क्योंकि देश को निश्चित् तिथि तक खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाना इसका मूलभूत उद्देश्य था। अतः इसकी पूर्ति के लिए अस्थाई कर्मचारियों को जिम्मेदारी थी, जिन्होंने इस कार्य को लगन से पूरा नहीं किया। इस कारण यह आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में कार्यान्वित न हो सका।

इसलिए समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीः—(१) वर्तमान समय में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को इतना विस्तृत बनाया जाय कि जिसमें ग्राम-जीवन के सभी पहलुओं का समावेश हो। (२) सरकार के शासन यन्त्र का पुनर्गठन इस हेतु किया जाय कि जिसमें वह अपना कार्य भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने की दृष्टि से करे। (३) गाँवों के ६ करोड़ कुटुम्बों को अपने प्रयत्नों द्वारा सुधारने के लिए अशासकीय नेतृत्व को गतिशील बनाकर उसका उपयोग किया जाय। (४) समिति ने अपनी सिफारिशों में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं की भी सिफारिश की, ताकि ग्रामीण कार्य में व्यापकता लाई जाय। इस तरह पंच-वर्षीय योजना की अवधि में १,२०,००० गाँव इस सेवा का लाभ उठा सकेंगे।

'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के परिणाम-स्वरूप खाद्य स्थिति में सुधार हुआ। सन् १९५३ की फसल पर्याप्त अच्छी रही और सन् १९५४ की फसल और भी अधिक अच्छी रही। सन् १९५२-५३ में कुल उत्पादन ५.८ करोड़ टन था, जो सन् १९५३-५४ में ६.८७ करोड़ टन हो गया।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में खाद्य उत्पादन को सर्वोच्च प्राथमिकता थी और उत्पादन का लक्ष्य ६.१६ करोड़ टन निश्चित किया गया। खाद्य उत्पादन की दृष्टि से हमारी प्रथम योजना सफल रही और सन् १९५१-५२ में होने वाला उत्पादन ५.१२ करोड़ टन से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ६.५६ करोड़ टन हो गया। सन् १९५६-५७ में १४ लाख टन की वृद्धि हुई और हमारा खाद्य उत्पादन ६.६३ करोड़ टन रहा।

का उत्पादन बढ़ाने के लिए रबर उत्पादन विकास समिति के अन्तर्गत २० वर्षों में रबर का उत्पादन तीन गुना कर दिया जायगा। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रबर के उत्पादन में ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में रबर के बगीचे बहुत छोटे हैं और प्रबन्ध भी अकुशल है। औसत भारतीय उत्पादन ३०० पौण्ड प्रति एकड़ है। कोचीन में ३१७ पौण्ड, मद्रास में २५३ पौण्ड और ट्रावनकोर एवं कुर्ग में क्रमशः २५२ तथा २५० पौण्ड प्रति एकड़ है। रबर बोर्ड ने ७०,००० एकड़ पुराने रबर सेंचकन के पुनर्स्थापन का एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार ७,००० एकड़ भूमि पर पुराने पौधों के स्थान पर नये पौधे लगाये जायेंगे।

नील—१८ वीं और १६ वीं शताब्दी में भारत में नील पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया जाता था, परन्तु १६ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी की रङ्ग की प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी खेती कम कर दी गई। सन् १८६६-६७ में १७ लाख एकड़ भूमि पर नील की खेती होती थी, जो सन् १६४० में घटकर केवल ६५,००० एकड़ रह गई। इसका उत्पादन क्रमशः घटता जा रहा है, क्योंकि अन्य रंग सस्ते पड़ते हैं, अतः इसका भविष्य अन्धकारमय है। इसका उत्पादन मुख्यतः मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश में होता है। यह बिहार और पंजाब में भी होता है।

नारियल—नारियल के उत्पादन में भारत का नम्बर दूसरा है। सन् १६५५-५६ में नारियल १,५६७ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न किया जाता था और उस वर्ष ४,०६७ लाख नारियल उत्पन्न किये गये। तेल की माँग को देखते हुए अभी हमारे देश में नारियल की बहुत कमी है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तेल का उत्पादन लक्ष्य २,१०,००० टन रखा है। योजना के अनुसार हर पेड़ से ३० नारियल के स्थान पर ४५ नारियल प्राप्त किए जायेंगे। नारियल का उत्पादन छोटे-छोटे द्वीपों और समुद्र तट पर उत्पन्न किया जाता है। भारत में नारियल और नारियल का तेल मुख्यतः सीलोन से आयात किया जाता है।

मसाले—भारत में अनेक प्रकार के मसाले उत्पन्न किये जाते हैं। काली मिर्च का उत्पादन २३४ हजार एकड़ भूमि पर किया जाता है और सन् १६५६-५७ में इसका उत्पादन २२,००० टन रहा। लाल मिर्च उत्तर-प्रदेश, बङ्गाल और मद्रास में उत्पन्न होती है तथा धनियाँ ट्रावनकोर-कोचीन, मैसूर, कोयम्बटूर, मलाबार और तिन्नीवेल्ली में होता है। सुपारी का उत्पादन सन् १६५५-५६ में ८१,००० टन था। सन् १६६०-६१ तक सुपारी का उत्पादन ६६,००० टन तक बढ़ने की आशा है। काजू का उत्पादन ६०,००० टन सालाना है और अधिकांश भाग निर्यात कर दिया जाता है। इलायची की खेती भी दक्षिण में नीलगिरि क्षेत्र में ऊँचाई पर की जाती है।

इन क्षेत्रों के निर्माण का उद्देश्य, सम्बन्धित क्षेत्रों में गेहूँ के अबाधित स्थानांतरण की सुविधा उपलब्ध करना, बिना राज्य सरकारों की अनुमति के क्षेत्रों में आयात तथा निर्यात पर रोक लगाना है। आन्ध्र-प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल को मिलाकर एक चावल क्षेत्र का भी निर्माण किया गया है।

खाद्यान्न जाँच समिति सन १९५७—

सरकार यह जानना चाहती थी कि उत्पादन और आयातों में वृद्धि होने पर भी खाद्य पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि क्यों हुई तथा सट्टा, अनावश्यक अन्न संग्रह, आदि को किस प्रकार रोका जा सकता है। अतः २४ जून सन् १९५७ को एक खाद्यान्न जाँच समिति नियुक्त की गई, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे। समिति की रिपोर्ट १९ नवम्बर सन् १९५७ को प्रकाशित हुई। समिति ने गत वर्षों की खाद्यान्न स्थिति, सरकारी नीति, खाद्य वितरण व्यवस्था, उत्पादन तथा मूल्यों का अध्ययन कर निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) अगले कुछ वर्षों में खाद्यान्नों का मूल्य अस्थायी रहेगा और उसमें उतार-चढ़ाव होंगे, अतः सरकार को मूल्यों में सुधार हेतु विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

(२) सरकार द्वारा एक मूल्य स्थिरीकरण (Stabilization) बोर्ड की स्थापना की जाय, जो खाद्यान्नों से सम्बन्धित मूल्य नीति निर्धारित करे और उसे कार्यान्वित करने हेतु योजनायें बनाये।

(३) एक खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन का निर्माण किया जाय, जो मूल्य स्थायित्व बोर्ड द्वारा निर्धारित नीति एवं कार्यक्रमों को कार्यान्वित करे।

(४) खाद्य वितरण से सम्बन्धित अल्पकालीन नीति के विषय में समिति ने कहा कि यह कार्य सस्ते अनाज की दूकानों, सहकारी समितियों तथा ऐसे ही अन्य संगठनों द्वारा किया जाय।

(५) बम्बई, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, बिहार तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश, जहाँ अक्सर खाद्य अभाव की स्थिति बनी रहती है, के विषय में समिति ने कहा है कि वहाँ मुख्यतः क्रय-शक्ति का अभाव है। अतः ग्रामोद्योग प्रारम्भ करके, बेकारी में कमी करके, सिंचाई के साधन उपलब्ध करके वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन में सुधार करना चाहिये।

(६) अन्न आयात किए बिना अन्न का भण्डार रखना या कमी के क्षेत्रों में अन्न प्रदाय करना सम्भव नहीं होगा। समिति का अनुमान है कि २० से ३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना होगा। इस हेतु समिति ने सुझाव दिया है कि अमेरिका से गेहूँ के तथा बर्मा से चावल के आयात के सम्बन्ध में दीर्घकालीन समझौता किया जाय।

इसके अलावा समिति ने परिवार नियोजन खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि आदि बातों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की थीं।

सरकार ने क्षेत्रीय प्रतिबन्ध और सस्ती दुकानों सम्बन्धी लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली है, परन्तु मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड एवं खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन की स्थापना सम्बन्धी सिफारिशें स्वीकार नहीं की गई ।[1]

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे १ करोड़ टन अतिरिक्त खाद्य उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इसे बढ़ाकर अब १'५५ करोड़ टन कर दिया गया है ।[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन् १९६०-६१ मे ८०५ करोड टन खाद्य उत्पादन की आशा व्यक्त की गई है, परन्तु अर्थशास्त्रियो ने इसकी सफलता पर आशका व्यक्त की है। अशोक मेहता समिति का यह अनुमान है कि सन् १९६० ६१ मे हम. I *खाद्य उत्पादन ७'७५ करोड़ टन होगा, जब कि उस समय हमारी माँग ७'९० करोड़* टन रहेगी। इस प्रकार १५ लाख टन की कमी उस समय भी बनी रहेगी। मेहता समिति का यह अनुमान गत खाद्यान्न उत्पादन के आँकड़ो को देखते हुए वास्तविकता के समीप ही प्रतीत होता है ।[3]

तीसरी पच-वर्षीय योजना मे वर्तमान अन्न सकट को देखते हुए कृषि को प्राथमिकता दी गई है तथा कृषि के हेतु ६२५ करोड रु० का आयोजन है। परंतु अभी योजना आयोग इस राशि के सम्बन्ध में विचार कर रहा है। तीसरी योजना मे उत्पादन २'५० करोड़ टन से बढ़ाने का लक्ष्य है, जिससे देश की कुल पैदावार १० करोड़ टन हो सके। किन्तु लक्ष्य १०'५० करोड टन के बीच रखा गया है, जिसका अर्थ है कि उत्पादन ५० लाख टन कम होगा।

आयोग के सूत्रो का कथन है कि यदि तकनीकी साधनो का प्रयोग किया गया तो लक्ष्य की पूर्ति ही नहीं अपितु और अधिक उत्पादन हो सकता है।

लक्ष्य को घटने बढने वाला रखने का प्रमुख कारण यह है कि इसकी पूर्ति मे मानसून का काफी हाथ रहेगा। पैदावार मे वृद्धि केवल प्रोत्साहन पर नहीं अपितु कृषकों के परिणाम पर निर्भर करती है। आयोग के अनुसार तीसरी योजना मे अन्त तक १० लाख टन उर्वरक का पूरी तरह प्रयोग होने लगेगा। किन्तु विशेषज्ञो के अनुसार वस्तुतः तब तक उत्पादन नहीं हो सकेगा ।[4]

कृषि मंत्री सम्मेलन (अगस्त सन् १९६०)—

इस सम्मेलन का हेतु निम्न दो प्रश्नों पर विचार करने का था :—(१) तीसरी योजना के प्रारूप में कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित राशि पर्याप्त है या नहीं, (२) देश को खाद्यान्न में आत्म-निर्भर बनाने के लिए कौन से कदम उठाए जाने चाहिये ।[5]

---

1. Fresh Thinking on Food Needed. Commerce dated 9th August 1958.

2. Indian Information. Sept. 15, 1958.

३ देखिए इसी अध्याय में।

४ नवभारत टाइम्स—अगस्त २०, १९६०।

५ नवभारत टाइम्स—अगस्त २२, १९६०।

सम्मेलन में केन्द्रीय खाद्य-मंत्री श्री० एस० के० पाटिल ने कहा कि आगामी ५ वर्षों में देश को अनाज की दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने के लिए केन्द्र तथा राज्य-सरकारों की ओर से विशेष प्रयास होना चाहिये। उन्होंने कहा कि भारत-अमरीकी अन्न आयात समझौते से जो अनाज हमें मिलेगा उससे कुछ दिनों के लिए राहत मिलेगी। इस बीच हम देश में अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयास कर सकेंगे।

' भारत अमरीकी अन्न आयात समझौते से जो अनाज हमें मिलेगा उससे हमें कुछ दिन के लिए राहत मिलेगी। इस बीच में हम देश में अनाज की उपज बढ़ाने का प्रयास कर सकेंगे।

श्री पाटिल ने कहा कि कम उत्पादन और उत्पादन बढ़ने की सम्भावना को देखते हुए देश को आत्मनिर्भर बनाने का कार्य कोई कठिन नहीं है

उन्होंने कहा कि मुझे विश्वास है कि यदि सभी राज्य प्रयास करें तो तीसरी पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि में देश को आत्म-निर्भर बनाने का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है।

श्री पाटिल ने कहा कि जब तक वास्तविक कृषक को समाज में उचित महत्त्व नहीं प्राप्त होता, कोई भी कृषि विकास योजना सफल नहीं हो सकती।

उन्होंने कहा कि कृषकों में यह विश्वास पैदा किया जाना चाहिए कि उनके साथ उचित व्यवहार हो रहा है। यह निश्चित है कि जब तक किसान यह महसूस नहीं करेंगे कि कृषि विकास में उनका सक्रिय सहयोग जरूरी है तब तक कृषि विकास में सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए प्रस्तावित कृषि वस्तु सलाहकार समिति की स्थापना का विचार किया जा रहा है। यह समिति सरकार को न केवल कृषि वस्तुओं की मूल्य नीति के सिलसिले में बल्कि कृषि उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर सलाह देगी।

कृषि मन्त्री श्री पंजाबराव देशमुख ने कहा कि चालू मौसम में खरीफ आन्दोलन विशेष फसल उत्पादनों में चौथा है। रबी उत्पादन के मौसम में भी उक्त प्रकार का आन्दोलन शुरू करने का विचार है। जिला स्तर पर जो कृषि कार्यक्रम किसी प्रतिष्ठान के सहयोग से चालू किया जाने वाला है उससे कृषि विकास में और अधिक प्रगति होगी।

उन्होंने कहा कि विभिन्न व्यापारिक फसलों जैसे कपास, जूट, गन्ना और तिलहन के लिए भी विशेष आन्दोलन चालू है।

श्री पाटिल ने कहा कि अनाजों, तिलहन, गन्ना, कपास तथा अन्य कृषि वस्तुओं के उत्पादन का तीसरी योजना के निर्धारित लक्ष्य पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन में प्रति वर्ष औसतन ६ प्रतिशत की वृद्धि जरूरी है। उन्होंने कहा कि तीसरी योजना की अवधि में कृषि उत्पादन में ३० से ३३ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य है। इस अवधि में अन्न उत्पादन बढ़ा कर १० करोड़ ५० लाख टन करने का लक्ष्य है।

तीसरी योजना में कृषि के लिए निर्धारित ६ अरब २५ करोड रु० से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों में अधिक से अधिक समन्वय पैदा होना चाहिए।

कृषि क्षेत्र में अब तक जो प्रगति हुई है वह उत्साहवर्धक है, लेकिन उसमें भी अधिक प्रगति की जरूरत है। कई मामलों में सफलतायें निर्धारित लक्ष्य से कम हैं। उन्होंने कहा कि बढ़ती जन-संख्या को भोजन देने के लिए कृषि उत्पादन में तेजी से वृद्धि जरूरी है।[1]

निष्कर्ष—

पिछले वर्षों के इतिहास से ज्ञात होता है कि खाद्य सामग्री की कमी का कारण अनावृष्टि ही थी। सिंचाई योजनाओं से सिंचाई की सुविधायें बढ़ी हैं, लेकिन उनसे जितनी जमीन सींची जा सकती है उतनी नहीं सींची जा रही है। रसायनिक खादों की भी देश में कमी है। हमारी वर्तमान नाइट्रोजन खाद की आवश्यकता १५·५ लाख टन है, जबकि इसको केवल ५५ प्रतिशत माँग ही पूरी हो रही है। इस हेतु तीसरी योजना में नागल (८०,००० टन), रूरकेला (८०,००० टन), नेवेली कारखानों (७०,०००) से सन् १९६१-६२ तक खाद का प्रदाय आरम्भ हो जायगा, ऐसा अनुमान है।[2]

अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसलें बोने के विषय में सरकार ने यह मत व्यक्त किया है कि अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसलें न बोई जाएं। साथ ही, हम यह भी चाहते हैं कि *व्यावसायिक फसलों के वर्तमान क्षेत्रफल में घटा बढ़ी* हो। जो भी उत्पादन बढ़े वह गहन खेती के माध्य से बढ़े। अनेक अर्थशास्त्रियों तथा श्री सी० डी० देशमुख ने कृषि नीति के पूर्ण आवर्तन (Thorough Re orientation) की माँग की है। श्री देशमुख ने एक राष्ट्रीय खाद्य उत्पादन समिति (National Food Production Council) की स्थापना की माँग की है,[3] जो ग्रामीण स्तर पर खाद्य उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करे तथा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उचित संगठन की रचना करे। उन्होंने इस समस्या को हल करने के लिए राजनीति-रहित प्रयत्न (Non-political approach) की माँग की है। अन्त में, यह ध्यान रखना चाहिए कि खाद्य उत्पादन की कोई भी योजना बिना लाखों किसानों के सहयोग के प्राप्त नहीं की जा सकती। सरकार द्वारा कृषक और कृषि में सुधार, जैसे—कुँए खोदने और उनकी मरम्मत करने, नल कूप लगाने, किसानों को रसायनिक खादों एवं अन्य खाद तथा अच्छे बीजों का वितरण, मछली पालन योजनायें, मेड बाँधने, बेकार जमीन को साफ करने और उसे खेती योग्य बनाने, पौधों की रक्षा और उन्हें रोगों से

1. नवभारत टाइम्स - अगस्त, २७, १९६०।
2. Eastern Economist, August 12, 1960
3. Commerce dated 9th August, 1958.

मर्थ होता है, इसलिए वह फसल को शीघ्र ही बेच देता है। तीसरे, जैसा अन्यत्र देख चुके हैं, भारतीय किसान के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए होने से उसकी आय भी बहुत थोडी है, जो उसकी दैनिक आवश्यकताओं के लिए भी पूरी नही होती।

कृषि साख के स्रोत—

किसान को अपने कृषि कार्य के लिए ऋण पर ही निर्भर रहना पडता है तो प्रश्न यह उठता है। कि यह ऋण किन किन स्रोतो से प्राप्त होता है। जहा तक बैंकों का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओं के लिए वह उन पर निर्भर नही रह सकता, क्योंकि बैंक जो भी कर्ज देते हैं वह ऋणी की वैयक्तिक साख तथा अन्य वस्तुओं की रहन पर देते है। किन्तु भारतीय कृषक के पास रहन रखने के लिए केवल थोडी सी भूमि, पशु तथा खेती के औजार होते हैं, जिनको वह किसी भी दशा मे बेच नही सकता। फिर भूमि रहन रखने मे अनेक सामाजिक व कानूनी कठिनाइयाँ हैं तथा उसका मूल्य निकालने के लिए विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि खेती की भूमि का मूल्य अनेक बातो पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगाया हुआ धन एक प्रकार से बध सा जाता है, अतः साधारणतया व्यापारिक बैंक इस सम्पत्ति की जमानत पर कर्ज भी नही देते। वैयक्तिक साख उनके आर्थिक साधनों एव स्थायी पूँजी पर निर्भर होती है, जो नही के बराबर है, अतः व्यापारिक बैंक की दृष्टि से किसानो की वैयक्तिक साख नगण्य है। इस कारण किसान को व्यापारिक बैंको से आर्थिक सहायता नही मिलती।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के प्रस्ताव के अनुसार संयुक्त स्कन्ध बैंक भू रहन बैंकों का कार्य भी अपने दीर्घ कालीन ऋण-पत्र निकाल कर कर सकते हैं तथा किसानो को कर्ज दे सकते है। इस सम्बन्ध मे समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार को चाहिए कि वे उनकी पूँजी का कुछ भाग दें तथा लाभांश एव पूँजी की वापसी के विषय मे अपनी जमानत देकर जनता में विश्वास उत्पन्न करें। इससे ऐसे व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हो सके, परन्तु इस दिशा मे सरकार की ओर से कोई कार्यवाही नही की गई।

अन्य संस्थाएँ—

(१) स्वदेशी बैंकर एव महाजन—आज भी कृषि की अर्थपूर्ति करने मे स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये कृषक की कुल आर्थिक आवश्यकताओं के लगभग ९४% अर्थ की पूर्ति करते है, क्योंकि व्यापारिक बैंक जो भी कुल अल्पकालीन ऋण देते है, उनका लाभ केवल गाँव के बडे-बडे जमींदारो को ही मिलता है, जिनकी सख्या बहुत कम है। सहकारी साख समितियो की स्थापना से भी बडी-बडी आशायें थी, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उनकी कार्य पद्धति में औपचारिकता का भाग अधिक होने एव ऋण लेने मे असुविधा होने के कारण कृषक उनमे पूर्णतया लाभ नही उठा पाता। इतना ही नही, अपितु भारत की ग्रामीण

क्षेत्रीकरण की व्यवस्था तब लागू की गई थी जब देश मे अन्न की कमी और महंगाई थी। सन्देह है कि देश आज भी अन्न के विषय मे आत्म-निर्भर नही हो पाया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पूर्वापेक्षा-स्थिति अधिक अनुकूल हुई है। यह ठीक है कि सन् १९५९-६० के वर्ष मे उतना अन्नोत्पादन नही हो सका जितना सन् १९५८-५९ मे (७ करोड ३५ लाख टन) हुआ था, किन्तु सन् १९६० मे अन्न के उज्ज्वल भविष्य की आशा तथा विदेशी सहायता से अन्न विषयक अनुकूल स्थिति बनने में बहुत सहायता मिली है। खाद्य तथा कृषि उपमन्त्री श्री थोमस के अनुसार चावल तथा खरीफ की अन्य फसलो के मूल्य मे भले ही वृद्धि हुई हो, किन्तु गेहूँ का जो मूल्य सूचक अंक अप्रैल में ९१ था वह मई मे ८७ पर आ गया और जून में भी वहीं रहा है। गेहूँ के सम्बन्ध मे यह सुधरती स्थिति अब क्षेत्रीकरण की आवश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर रही है।

चावल के विषय मे अभी ६-७ मास पूर्व पश्चिमी बंगाल और उडीसा का एक क्षेत्र बनाया गया था और अभी गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश को भी एक अन्न क्षेत्र बनाये जाने पर विचार किया जा रहा है, किन्तु जहाँ तक गेहूँ का प्रश्न है, देश में उसकी ऐसी कोई कमी नही है जिससे उसके विषय मे भी क्षेत्रीकरण की आवश्यकता हो। अभी कुछ समय पूर्व भारत और अमरीका के बीच जो गेहूँ समझौता हुआ है उसके अनुसार भारत को अमरीका से चार वर्षों के भीतर १ करोड़ ७० लाख टन अन्न मिलने वाला है। इस अन्न में चावल की मात्रा अवश्य बहुत कम है, किन्तु गेहूँ का जो भाग है वह न केवल अन्न की महंगाई और कमी को दूर करने मे सहायक होगा, अपितु उससे अन्न विषयक किसी सकटकाल का भी मुकाबला किया जा सकेगा।

श्री पाटिल का कथन है कि समस्त देश एक ही अन्न क्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धान्ततः उचित भी है। जब सारा देश एक है तो उसके सब हिस्सो के सुख दुख भी बटने चाहिए। एक प्रदेश के लोग खूब खा-पीकर चैन करें और दूसरे अन्नाभाव के कारण घास फूस खाकर जीवन व्यतीत करते हों, यह अपने को एक एव अखड कहने वाले देश के लिए किसी भी प्रकार क्षम्य नही। इसलिए सबके लिए समान रूप से अन्न वितरण की व्यवस्था करके क्षेत्रीकरण को जितनी भी जल्दी विदा दी जाय उतना ही अच्छा है। आज अन्न का जो अनुचित सग्रह तथा चोरी छिपे यातायात चल रहा है वह भी इससे समाप्त हो जायगा।

गेहूँ की अनुकूल स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उसके क्षेत्रीकरण की समाप्ति तो उचित है, परन्तु उसके साथ ही ऐसी निर्दोष व्यवस्था की भी आवश्यकता है कि इसके पुनः जारी करने की नौबत न आये। यह तभी सम्भव है जब देश मे अन्नोत्पादन की गति को तीव्र से तीव्रतर किया जाय और वितरण से मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय।

अध्याय १४

भारत में कृषि उत्पादन

(Crops in India)

कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार है। हमारी ७२ प्रतिशत जन-संख्या भूमि पर निर्भर है और हमारी ५० प्रतिशत राष्ट्रीय आय कृषि एवं उससे सम्बन्धित क्रियाओं से प्राप्त होती है। कृषि उत्पादन पर्याप्त मात्रा मे निर्यात होता है, जिससे हमें विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। शक्कर और वस्त्र उद्योग जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर ही आधारित हैं। लाख के उत्पादन में तो भारत को लगभग एकाधिकार है तथा चाय और मूंगफली के उत्पादन मे विश्व में सर्व प्रथम है। संसार के चावल, जूट, कच्ची शक्कर, आदि के उत्पादन मे भारत का स्थान दूसरा है।

भारत का सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्रफल ८०·९३ करोड़ एकड़ है, जिसमें से *८·९८ करोड़ एकड़ भूमि के विषय मे जानकारी प्राप्त नहीं होती। केवल ७१·९५* करोड़ एकड़ अथवा ८९ प्रतिशत भूमि के उपयोग के आंकड़े उपलब्ध हैं। सन् १९५०-५१ तथा सन् १९५५-५६ मे भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार था :—

	१९५०–५१ करोड़ एकड़	१९५५–५६ करोड़ एकड़
वन प्रदेश	१०·००	१२·५४
भूमि जो कृषि के लिए उपलब्ध नही है	११·७४	११·८२
परती भूमि को छोड़ कर वह भूमि जिस पर कृषि नही होती	१२·२२	९·६४
परती भूमि (अ) वर्तमान	२·६४	३·०३
(ब) अन्य	४·३१	२·९४
वह क्षेत्र जिस पर बोआई होती है	२९·३४	३१·९८
कुल भूमि जिस पर फसल काटी गई	३२·५९	३६·३३
एक बार से अधिक बोया हुआ क्षेत्रफल	३·२५	५·३५

उक्त आंकड़ो से पता चलता है कि वन प्रदेश और परती भूमि को मिलाकर लगभग ५० प्रतिशत भूमि कृषि के लिए उपलब्ध नही है। बोये जाने वाले क्षेत्रफल मे वृद्धि हुई है। लगभग १५ प्रतिशत भूमि ऐसी है जो परती है, किन्तु जिस पर सुधार

करके कृषि की जा सकती है। यद्यपि बोये गये क्षेत्रफल मे वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु गत तीस वर्षों में प्रति व्यक्ति बोये गये क्षेत्रफल मे कमी हुई है, क्योंकि क्षेत्रफल के अनुपात में जन-संख्या तीव्र गति से बढ रही है।

फसलों का सापेक्षिक महत्त्व—

भारत मे उत्पादित कृषि पदार्थों की दो प्रमुख विशेषताएँ है :—

(अ) फसलो की विविधता।

(ब) अखाद्य फसलो की अपेक्षा खाद्य फसलो की अधिकता।

सन् १९५५-५६ में ८२ प्रतिशत भूमि पर खाद्य पदार्थ उत्पन्न किये जाते थे, जबकि व्यापारिक फसलें केवल १८ प्रतिशत भूमि पर उत्पन्न होती थी। ऐसा अनुमान है कि प्रथम योजना के अन्त में २७'४ करोड एकड भूमि पर खाद्य पदार्थ, गन्ना, तम्बाकू, दालें आदि उत्पन्न की जाती थीं और अखाद्य फसलें तेल के बीज, चाय आदि का उत्पादन केवल ६'४ करोड एकड भूमि पर होता था।

सन् १९५५-५६*

	क्षेत्रफल लाख एकड
चावल	७६३
गेहूँ	२९२
ज्वार, बाजरा आदि	१,०५५
दालें	५५०
मूँगफली	१२६
गन्ना	४५
कपास	२०२
जूट	२२

उक्त सारिणी से स्पष्ट है कि खाद्य पदार्थ विशेषकर गेहूँ और चावल का अत्यधिक महत्त्व है और देश की अर्थव्यवस्था में उचित सन्तुलन का अभाव है। यह एक अत्यन्त दुखद बात है कि खाद्य उत्पादन में देश की तीन चौथाई जन संख्या और ⅘ भूमि से लगे रहने पर भी खाद्य पदार्थों का अभाव है और आयातो की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है।

देश के अधिकांश भाग में दो फसलें पैदा होती हैं—खरीफ और रबी। खरीफ की फसलो में चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना, उर्द, मूँग और मूँगफली हैं। यह बरसात की फसल है। रबी की फसल में मुख्यतः गेहूँ, चना, जो, मटर, सरसों को सम्मिलित किया जाता है। रबी जाडे की फसल है। चावल विभिन्न राज्यों में

* Indian Agriculture in brief 1956.

गर्मी, शीत और शरद तीनों ऋतुओं में उत्पन्न किया जाता है। भारतीय फसलों को सरलता से निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

(अ) खाद्य फसलें—गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, बाजरा, दालें आदि।

(ब) तिलहन—मूँगफली, तिल, सरसों, अलसी, राई आदि।

(स) रेशेदार पदार्थ (Fibres)—कपास, जूट।

(द) पेय (Beverages)—चाय, कहवा।

(इ) अन्य—सिनकोना, रबर, मसाले, तम्बाकू, सुपारी आदि।

खाद्य फसलें—

(१) चावल—यह भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसल है। यह निचले, अधिक वर्षा वाले तथा गर्म प्रान्त में बोया जाता है। यह ठंड की फसल है और साधारणतः दिसम्बर-जनवरी में काटी जाती है, परन्तु बंगाल की पहाड़ी और काश्मीर की घाटी जैसे ठंडे स्थानों में यह गर्मी में उत्पन्न किया जाता है। देश में चावल ७·८२ करोड़ एकड़ भूमि पर बोया जाता है, जो कुल जोई जाने वाली भूमि का लगभग एक-चौथाई है। यह दक्षिण एवं पूर्वी प्रदेशों में अधिक होता है, क्योंकि वहाँ इसके अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। चावल उत्पादन करने वाले प्रमुख प्रदेश बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर-प्रदेश, मद्रास, आसाम, उड़ीसा, केरल और मध्य-प्रदेश हैं।

गत वर्षों में चावल का उत्पादन एवं क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है :—[1]

वर्ष	लाख एकड़	लाख टन
१९४७-४८	६४७	२१७
१९५३-५४	७७३	२७८
१९५४-५५	७५९	२४५
१९५५-५६	७६९	२६८
१९५६-५७	७८२	२८१
१९५७-५८	७९०	२४९
१९५८-५९	—	२९७[2]

भारत में चावल की स्थिति सन् १९३६ तक सतोषप्रद थी, परन्तु सन् १९३७ में बर्मा के पृथक होने के कारण हमारे आन्तरिक उत्पादन में १३ लाख टन की कमी हो गई। द्वितीय युद्ध आरम्भ होने के समय सन् १९३९-४० में हम १८ लाख टन चावल का आयात करते थे, जो मुख्यतः बर्मा से होता था।

सन् १९४९ में दक्षिण-पूर्वी एशिया में चावल का उत्पादन बढ़ाने और वितरण व्यवस्था में सुधार करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय चावल आयोग ने सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया और निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :—

1. *India 1958 & 59.*
२. सम्पदा—अप्रैल सन् १९६०।

(अ) उत्तम प्रकार के बीजों का प्रयोग किया जाय।

(ब) फसलों और बीजो के रोगो पर नियन्त्रण रखा जाय।

(स) कृषि का यन्त्रीकरण हो।

(द) भूमि, जलवायु, खाद के प्रयोग एवं सिंचाई सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्र की जायें।

(इ) चावल का प्रमापीकरण किया जाय एवं उत्तम भंडार गृहों की व्यवस्था की जाय।

(फ) उप उत्पादनों का उपयोग किया जाय एवं अनुसन्धानशालाओं की स्थापना की जाय।

यद्यपि भारत का स्थान विश्व के चावल उत्पादकों मे चीन के पश्चात् द्वितीय है, किन्तु हमारा प्रति एकड़ उत्पादन अत्यन्त कम है। हमारे यहाँ प्रति एकड़ उत्पादन ६१८ पौंड है, जबकि जापान मे प्रति एकड़ उत्पादन २,३५० पौंड एवं इटली मे २,९४० पौंड है। प्रति एकड़ उपज मे कमी के निम्न प्रमुख कारण हैं :—

(१) निश्चित जल पूर्ति का अभाव।

(२) भूमि कम उपजाऊ होना।

(३) उत्तम बीजो का अभाव।

(४) फसली बीमारियाँ।

हमारे यहाँ चावल को बिखेर कर अथवा पौधा लगाकर बोया जाता है, परन्तु गत वर्षों में जापानी पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है। जबकि भारतीय पद्धति से प्रति एकड उत्पादन ९ मन होता है, जापानी पद्धति से प्रति एकड १४० मन तक प्राप्त किया जा सकता है। सन् १९५५ में १३ लाख एकड भूमि पर जापानी पद्धति से कृषि की गई, परिणामस्वरूप ६ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन हुआ।

गत वर्षों मे चावल का आयात इस प्रकार रहा है* :—

१९५४	६०३	हजार टन
१९५५	२६५	,,
१९५६	३२५	,,
१९५७	७३१	,,
१९५८	३९०	,,

सन् १९५७ मे उत्पादन की कमी और परिणामस्वरूप आयात मे वृद्धि का प्रमुख कारण मध्य एवं उत्तरी-पूर्वी भारत मे मानसून का फेल होना है। इस वर्ष बिहार का उत्पादन १५ लाख टन, मध्य-प्रदेश १२ लाख, उड़ीसा ५ लाख

* India 1960.

भौर पश्चिमी बंगाल का उत्पादन ४ लाख टन कम रहा।[1] सन् १९५८-५९ की फसल के विषय में प्राप्त सूचनाओं के अनुसार स्थिति में सुधार की आशा है।

(१) गेहूँ—क्षेत्रफल और उत्पादन की दृष्टि से इसका स्थान चावल के बाद आता है। इसका उत्पादन २०-३० इञ्च वर्षा एवं दुमट मिट्टी वाले क्षेत्रों में अच्छी तरह होता है। यदि सिंचाई के साधन उपलब्ध हों तो यह इससे कम वर्षा वाले प्रदेशों में भी उत्पन्न किया जा सकता है। इसके उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, बम्बई, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश हैं। केवल उत्तर-प्रदेश और पंजाब में सम्पूर्ण भारत का तीन-चौथाई गेहूँ उत्पन्न होता है। गत वर्षों में गेहूँ का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—[2]

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड़	उत्पादन लाख टन
१९४७-४८	२०८	५६
१९५२-५३	२४२	७४
१९५३-५४	२६३	७९
१९५४-५५	२७५	८८
१९५५-५६	३०३	८९
१९५६-५७	३२८	९३
१९५७-५८	२९७	७६·५४

उक्त आँकड़ों से पता चलता कि गेहूँ की खेती में विकास हो रहा है, परन्तु अन्य देशों की तुलना में हमारी स्थिति निश्चित ही असन्तोषप्रद है। विदेशों में प्रति एकड़ उत्पादन इस प्रकार है :—

भारत	३४० पौंड
कनाडा	९७५ ,,
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	८५० ,,
आस्ट्रेलिया	७१० ,,
अर्जेन्टाइना	७८० ,,

भारतीय उपज कम होने का प्रमुख कारण यन्त्रीकरण का अभाव, उत्तम बीज की कमी, आर्थिक कठिनाईयाँ एवं कृषकों का अशिक्षित होना है। डा० वर्न्स ने अनुमान लगाया है कि प्रति वर्ष ५% गेहूँ रतुआ (Rust) लग जाने से नष्ट हो जाता है और रोग ग्रस्त क्षेत्रों में तो यह हानि १००% तक पहुँच जाती है। स्मट (Smut) नामक

1. Journal of Industry & Trade July 1958.
2. India—1960.

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक स्पष्ट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ का निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १९४७ मे विभाजन के कारण पंजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए और हमारे आयातो की मात्रा बढती गई। गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	२,८४० ,,
१९५८	२,९७४

सरकार ने गेहूँ की खेती मे सुधार हेतु कुछ क्षेत्रों को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रो का प्रयोग, सिंचाई मे विकास, उत्तम बीज एव रसायनिक खादो का प्रयोग करके उत्पादन बढाया जा रहा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत मे गेहूँ के साथ साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियों द्वारा खाने मे प्रयुक्त होता है। जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है। सन् १९५७-५८ मे ७५·३१ लाख एकड भूमि पर २१·७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने मे किया जाता है। भारत मे विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश मे प्रति एकड उत्पादन केवल ८०२ पौड है, जबकि डेनमार्क मे २,६५६, जर्मनी मे १,९३२, इङ्गलैड और जापान में प्रति एकड उत्पादन १,९१६ पौड होता है। भारत मे विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत मे होता है, परन्तु गर्म सूखे भागो मे इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण मे बहुत होता है। सन् १९५६–५७ में ज्वार ४१३·१४ लाख एकड पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४·२७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र मे होता है। कुछ उत्पादन पजाब और राजस्थान में भी होता है।

---

1 India 1959.

2. The Second Five Year Plan, p. 257.

बाजरा मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश और पंजाब में होता है। सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २७५४ लाख एकड़ पर २९.२६ लाख टन रहा। नागपुर, इन्दौर और कोयम्बटूर में किये गए अनुसन्धानों के फलस्वरूप अब इसकी किस्म में सुधार हो रहा है।

ज्वार, बाजरा, रागी और मक्का के सन् १९५७-५८ के अन्तिम अनुमान (Final Estimates) इस प्रकार हैं* :—

	उत्पादन क्षेत्र	क्षेत्रफल
	हजार टन	हजार एकड़
ज्वार	८,०५६	४१,४११
बाजरा	३,५६५	२७,४५३
मक्का	३,०६४	९,७६२
रागी	१,७१६	५,८९७

मक्का उत्तर भारत के निर्धन व्यक्तियों का प्रमुख भोजन है और उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं। इसका उपयोग पशुओं को खिलाने में भी किया जाता है।

(५) दालें (Pulses)—भारतीय भोजन में चना, उड़द, मसूर, मूँग और अरहर की दालें एक अत्यन्त आवश्यक अंग है तथा प्रोटीन के प्रमुख साधन हैं। ये इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि चावल में, जो भारत की एक महत्त्वपूर्ण भोज्य सामग्री है, प्रोटीन नहीं होता। फसलों के हेर फेर की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये वायुमण्डल से नाइट्रोजन संकलित करती और भूमि को उपयोगी तत्त्व प्रदान करती हैं। दालों को चारे और हरी खाद के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है।

दालों में चना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उत्तर-प्रदेश में बहुतायत से होता है। चना बिहार, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र और मैसूर में भी उत्पन्न किया जाता है। अधिकांश चने का उपयोग देश में ही हो जाता है, अतः इसका निर्यात महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अरहर का उत्पादन मध्य-प्रदेश में प्रमुख है, यद्यपि अन्य प्रान्तों में इसका उत्पादन होता है। साधारणतः इसका उत्पादन अन्य फसलों के साथ किया जाता है।

सन् १९४० में राजकीय कृषि अनुसन्धान संस्था ने दालों की किस्म में सुधार करने और संयुक्त कृषि (Mixed Cropping) का विकास करने हेतु एक विशेष समिति गठित की थी। गत वर्षों में दालों का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

*India, 1959.

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पंजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक रमट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १६४७ में विभाजन के कारण पंजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए और हमारे आयातों की मात्रा बढ़ती गई। गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१६५३	१,६८४ हजार टन
१६५४	१६७ ,,
१६५५	४३५ ,,
१६५६	१,०६५ ,,
१६५७	२,८४० ,,
१६५८	२,६७४

सरकार ने गेहूँ की खेती में सुधार हेतु कुछ क्षेत्रों को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रों का प्रयोग, सिंचाई में विकास, उत्तम बीज एवं रसायनिक खादों का प्रयोग करके उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत में गेहूँ के साथ-साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियों द्वारा खाने में प्रयुक्त होता है। जौ पशुओं को भी खिलाया जाता है। सन् १६५७-५८ में ७५·३१ लाख एकड़ भूमि पर २१·७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पंजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने में किया जाता है। भारत में विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश में प्रति एकड़ उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जबकि डेनमार्क में २,६५६, जर्मनी में १,६३२, इङ्गलैंड और जापान में प्रति एकड़ उत्पादन १,६१६ पौंड होता है। भारत में विभाजन के पश्चात् इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत में होता है, परन्तु गर्म सूखे भागों में इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण में बहुत होता है। सन् १६५६–५७ में ज्वार ४१३·१४ लाख एकड़ पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४·२७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र में होता है। कुछ उत्पादन पंजाब और राजस्थान में भी होता है।

1. India 1959.
2. The Second Five Year Plan. p. 257.

बाजरा मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश और पंजाब में होता है। सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २७५'४ लाख एकड़ पर २९'२६ लाख टन रहा। नागपुर, इन्दौर और कोयम्बटूर में किये गए अनुसन्धानों के फलस्वरूप अब इसकी किस्म में सुधार हो रहा है।

ज्वार, बाजरा, रागी और मक्का के सन् १९५७-५८ के अन्तिम अनुमान (Final Estimates) इस प्रकार हैं* :—

	उत्पादन क्षेत्र	क्षेत्रफल
	हजार टन	हजार एकड़
ज्वार	८,०५६	४१,४११
बाजरा	३,५६५	२७,४५३
मक्का	३,०६४	९,७६२
रागी	१,७१६	५,८९७

मक्का उत्तर भारत के निर्धन व्यक्तियों का प्रमुख भोजन है और उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र है। इसका उपयोग पशुओं को खिलाने में भी किया जाता है।

(५) दालें (Pulses)—भारतीय भोजन में चना, उड़द, मसूर, मूँग और अरहर की दालें एक अत्यन्त आवश्यक अंग है तथा प्रोटीन के प्रमुख साधन हैं। ये इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि चावल में, जो भारत की एक महत्त्वपूर्ण भोजन सामग्री है, प्रोटीन नहीं होता। फसलों के हेर फेर की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये वायुमण्डल से नाइट्रोजन् सकलित करती और भूमि को उपयोगी तत्त्व प्रदान करती हैं। दालों को चारे और हरी खाद के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है।

दालों में चना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उत्तर-प्रदेश में बहुतायत से होता है। चना बिहार, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र और मैसूर में भी उत्पन्न किया जाता है। अधिकांश चने का उपयोग देश में ही हो जाता है, अतः इसका निर्यात महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अरहर का उत्पादन मध्य-प्रदेश में प्रमुख है, यद्यपि अन्य प्रान्तों में इसका उत्पादन होता है। साधारणतः इसका उत्पादन अन्य फसलों के साथ किया जाता है।

सन् १९४० में राजकीय कृषि अनुसन्धान संस्था ने दालों की किस्म में सुधार करने और संयुक्त कृषि (Mixed Cropping) का विकास करने हेतु एक विशेष समिति गठित की थी। गत वर्षों में दालों का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

*India, 1959.

(हजार टन)

वर्ष	चना	अरहर	अन्य दालें
१६५३–५४	४,७५६	१,८३४	३,८६०
१६५४–५५	५,५३२	१,६६२	३,५५३
१६५५–५६	५,३३२	१,८३२	३,७०७
१६५६–५७	६,२६४	१,६५४	३,२८१
१६५७–५८	४,७५४	१,३६६	३,०६६

गत वर्षों में हमारे कुल उत्पादन के साथ-साथ प्रति एकड़ उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। सन् १६५०-५१ में हमारा प्रति एकड़ उत्पादन २६१ पौंड था। सन् १६५५ ५६ में यह बढ़कर ४६० पौंड प्रति एकड़ हो गया है।

(६) गन्ना (Sugar Cane)—भारत में गन्ने का क्षेत्रफल संसार में सबसे अधिक है, यद्यपि इसका उत्पादन सम्पूर्ण भारत में होता है, किन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, पंजाब और बम्बई इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं। केवल उत्तर-प्रदेश में भारत का ५० प्रतिशत गन्ना उत्पन्न होता है। सन् १६३० तक हम मुख्यतः आयात की हुई शक्कर का उपयोग करते थे, परन्तु सरकार द्वारा शक्कर उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया, जिसके फलस्वरूप गन्ने के उत्पादन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सन् १६३० में गन्ना केवल २७·८ लाख एकड़ भूमि पर उत्पन्न होता था। सन् १६३६-३७ में यह बढ़कर ४०·५ लाख एकड़ हो गया तथा सन् १६५६-५७ में गन्ने का क्षेत्रफल ५०·११ लाख एकड़ था। गत वर्षों में गन्ने का उत्पादन और क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है*:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड़	उत्पादन लाख टन
१६५३–५४	३४·८५	४३७·०६
१६५४–५५	३६·६६	५७८·११
१६५५–५६	४५·६४	५६५·८७
१६५६–५७	५०·६७	६६१·६८
१६५७–५८	५०·२१	६४१·४२

यद्यपि गन्ने का क्षेत्रफल भारत में बहुत अधिक है, प्रति एकड़ उत्पादन अन्य देशों की तुलना में कम है। भारत की तुलना अन्य देशों से इस प्रकार की जा सकती है :—

* India 1959.

भारत	१३·५ टन प्रति एकड़
क्यूबा	१७·०
जावा	५६·०
आस्ट्रेलिया	२१·०
हवाई द्वीप	६२·०

प्रति एकड़ उत्पादन में कमी का कारण अवैज्ञानिक कृषि, भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होना, यन्त्रीकरण का अभाव एवं खाद की कमी है। उत्पादन की किस्म में सुधार करने हेतु कोयम्बटूर में एक गन्ना उत्पादन केन्द्र खोला गया है तथा राज्य कृषि विभाग भी सुधार के प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही हम गन्ने के उत्पादन में आत्मनिर्भर हो जायेंगे। लखनऊ में एक अनुसन्धानशाला प्रारम्भ की गई है, जिस पर ७ लाख रुपये व्यय किये गए हैं। यह एशिया में सबसे बड़ा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में १० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर गन्ने की खेती की जायगी।

(७) आलू (Potato)—गत कुछ वर्षों में आलू का उत्पादन भी महत्व प्राप्त करने लगा है। सन् १९४८-४९ में केवल १५ लाख टन आलू भारत में उत्पन्न होता था। सन् १९५६-५७ में आलू का उत्पादन[1] १६·७४ लाख टन था। प्राप्त अनुमानों के अनुसार[2] सन् १९५७-५८ में ७·६६ लाख एकड़ भूमि पर आलू की खेती की गई।

अखाद्य फसलें—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भारत के उत्पादन में खाद्य पदार्थों की बहुलता है। सन् १९५५-५६ में केवल २,६६० लाख एकड़ भूमि अथवा कृषि क्षेत्रफल के केवल १९ प्रतिशत पर व्यापारिक फसलें उत्पन्न की जाती थीं। गत वर्षों में व्यापारिक फसलों के क्षेत्रफल एवं अन्य फसलों के साथ उनके अनुपात में भी वृद्धि हुई है। प्रमुख व्यापारिक फसलों की स्थिति इस प्रकार है:—

(१) कपास—कपास उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का स्थान विश्व में दूसरा है, परन्तु हम संसार के कुल उत्पादन का केवल २० प्रतिशत ही उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा भारतीय कपास प्रायः छोटे रेशे की होती है और साधारण कपड़ों के उत्पादन में प्रयुक्त होती है। कपास के उत्पादन पर जलवायु का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसके लिए काली मिट्टी, साधारण वर्षा एवं अधिक तापमान की आवश्यकता होती है। पकने के समय बादल एवं कुहरा इसको अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। कपास का उत्पादन मुख्यतः बम्बई विशेषकर बरार, मध्य-प्रदेश, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, आन्ध्र, राजस्थान

1. Commeree dated 23rd August 1958.
2. Indian Information 1st Oct. 1958.

और मैसूर मे होता है। कपास का आधा क्षेत्रफल केवल बम्बई और मध्य-प्रदेश में है। गत वर्षों मे कपास का उत्पादन एवं क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है[1]:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख गाँठ
१९५४-५५	१८७	४५.२७
१९५५-५६	१९९	४०.२०
१९५६-५७	१९८	४७.३५
१९५७-५८	२०२	४७.३९
१९५८-५९	—	४७.०५

इस प्रकार गत वर्ष की तुलना मे क्षेत्रफल मे १.३% तथा उत्पादन मे ०.४% की वृद्धि हुई। क्षेत्रफल मे वृद्धि मुख्यतः बम्बई, पजाब और मध्य-प्रदेश में हुई तथा उत्पादन वृद्धि मे प्रमुख योग राजस्थान, मद्रास और पजाब का रहा। इस वर्ष ४५ लाख गाँठो का उत्पादन होगा, ऐसा अनुमान है।

भारतीय रुई की किस्म और उत्पादन मे सुधार हेतु सन् १९१७ में भारतीय कपास समिति की स्थापना की गई और सन् १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की स्थापना की गई। रुई में मिलावट रोकने के लिए सन १९२३ में कपास यातायात अधिनियम भी पास किया गया तथा विक्रय की दशाओं में सुधार करने हेतु बम्बई, मध्य-प्रदेश और मद्रास में कपास विपणि अधिनियम पास किये गये।

विभाजन के परिणामस्वरूप लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाले पजाब और सिन्ध के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। अतः भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने यह सिफारिश की कि कपास के क्षेत्रफल में यथाशीघ्र ४० लाख एकड की वृद्धि की जाय और उसे सन् १९४६-४७ में ११५ लाख से बढा कर १५५ लाख कर दिया जाय। सन् १९४८-४९ में हमारे उत्पादन का केवल १७.५% भाग लम्बे रेशे का होता था। सन् १९५६-५७ में लम्बे रेशे का उत्पादन बढ कर ४२.५% हो गया। गत वर्षों में किस्म के अनुसार कपास का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :—[2]

किस्म	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९
A	३६%	३९%	४२.५०%	३७%	३५%
B	४५%	४४%	४१.२५%	४५%	४६%
C	१९%	१७%	१६.२५%	१८%	१९%

1. India 1954.
2. Commerce Annual Number Dec. 1959, page 205.

सितम्बर सन् १९५७ से अप्रैल सन् १९५८ तक आठ महीनों में भारतीय मिलों द्वारा ३३.८३ लाख गाँठ कपास का उपयोग किया गया, जिसमे लगभग ४ लाख गाँठ विदेशी कपास था। गत वर्ष मे हमारे देश में कपास के आयात-निर्यात की स्थिति इस प्रकार रही है :—†

(हजार गाँठ)

आयात	मि० गाँठें
१९५४-५५	०.९२
१९५५-५६	०.६०
१९५६-५७	०.५७
१९५७-५८	०.५६
१९५८-५९	०.४५

निर्यात की स्थिति भी अच्छी रही, क्योंकि सन् १९५७-५८ में जहाँ केवल १,९२,००० गाँठो का निर्यात हुआ था वहाँ सन् १९५८-५९ मे ३,९५,००० गाँठों का निर्यात हुआ।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना मे सन् १९५५-५६ मे होने वाले ४० लाख गाँठ उत्पादन को बढा कर सन् १९६०-६१ में ५५ लाख गांठ करना निश्चित किया गया था। परन्तु गत वर्षों मे हमारे घरेलू उपयोग में अत्यधिक वृद्धि हुई है, अतः जून सन् १९५६ मे मंसूरी में प्रान्तीय कृषि मंत्रियों की बैठक मे इस लक्ष्य को बढाकर ६१ लाख गाँठ कर दिया गया। नवम्बर सन् १९५७ मे केन्द्रीय कपास समिति की माँग पर योजना आयोग द्वारा यह लक्ष्य बढाकर अब ६५ लाख गाँठ कर दिया गया है। परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने मे यदि प्रकृति सहानुभूतिपूर्ण रही तभी लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि सन् १९५९-६० मे ५.२ से ५.४ मि० गांठो का उत्पादन अपेक्षित था। परन्तु जल वायु की क्रूरता के कारण रुई का उत्पादन केवल ४.५ मि० गाठें होने का अनुमान है।

(२) जूट—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से जूट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बंगाल और आसाम प्रान्त में गंगा और ब्रह्मपुत्र के डेल्टा मे तथा बिहार और उड़ीसा मे नदियों द्वारा बहाकर लाई हुई उपजाऊ भूमि मे होता है। यह खरीफ की फसल है और इसका पौधा लगभग १२ फुट ऊँचा होता है। इसके लिए अधिक गर्मी और अधिक पानी की आवश्यकता होती है।

विभाजन से पहले जूट उत्पादन में भारत को एकाधिकार था, परन्तु विभाजन के फलस्वरूप जूट का तीन-चौथाई क्षेत्रफल पाकिस्तान में चला गया और हमें लगभग ५० लाख गाठ जूट के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ा। भारतीय रुपये के अवमूल्यन

† Commerce annual number, December 1959.

से पाकिस्तानी जूट और भी महँगा पड़ने लगा, अतः भारतीय जूट उत्पादन में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। सरकार ने जूट उत्पादन में वृद्धि करने हेतु रासायनिक खादों का वितरण, उत्तम बीजों की व्यवस्था, जूट धोने और भिगोने के लिए तालाबों के निर्माण एवं दुहरी फसल बोने को प्रोत्साहन दिया। गत वर्षों में जूट का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

वर्ष	लाख गाँठ
१९५३-५४	३०.९
१९५४-५५	२९.२
१९५५-५६	४१.९
१९५६-५७	४२.२
१९५७-५८	४०.५ [1]
१९५८-५९	५१.८ [1]
१९५९-६०	४३.०२ [2]

१२ जनवरी सन् १९५७ को प्रान्तीय कृषि विभाग के सचिवों का एक सम्मेलन हुआ, जिसने उत्तम बीज, कृषि पद्धति के आधुनिकीकरण एवं खाद के प्रयोग सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये तथा जूट सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन हेतु गठित सेन समिति ने जूट उत्पादन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये और अनुमान लगाया कि यदि द्वितीय योजना में निर्धारित ५५.४ लाख गाँठ का लक्ष्य प्राप्त भी हो जाय तो भी बढ़ती हुई देशी माँग को देखते हुए सन् १९६०-६१ में हमारे यहाँ ६,४०,००० गाँठ जूट की कमी रहेगी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि योजना आयोग ने भारत में उत्पन्न होने वाले निम्न कोटि के मेस्टा (Mesta) का कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया है। सेन समिति का अनुमान है कि सन् १९६०-६१ में जूट और मेस्टा की संयुक्त माँग भारत में लगभग ८१.८ लाख गाँठ होगी। अतः समिति ने द्वितीय योजना में निश्चित लक्ष्य को वार्षिक कार्यक्रमों में इस प्रकार बाँट दिया :—[3]

वर्ष	कच्चा जूट	लाख गाँठ मेस्टा
१९५७-५८	४४	१६
१९५८-५९	४८	१८
१९५९-६०	५१	१९
१९६०-६१	५५	२०

पटसन की केन्द्रीय निरीक्षण समिति ने अनुमान लगाया है कि सन् १९६०-६१ में देश में लगभग ४७.१० लाख गाँठ पटसन तथा १५.५ लाख गाँठें मेस्टा का उत्पादन

1. Commerce, annual number Dec. 1959.
2. Estimated.
3. Ibid.

होगा।[1] इससे स्पष्ट है कि अभी भी कुछ अंश तक हमारी निर्भरता पाकिस्तानी जूट के आयात पर निर्भर रहेगी। यद्यपि सन् १९४८-४९ की अपेक्षा हमारा पटसन की खेती का क्षेत्रफल ७·३ लाख एकड़ से १८·३२ लाख एकड़ हो गया है, फिर भी पाकिस्तानी पटसन का आयात करना पड़ेगा।

(३) चाय—भारत चीन के बाद विश्व में सबसे अधिक चाय का उत्पादन करता है। भारत में चाय का उत्पादन मुख्यतः बङ्गाल व आसाम में होता है, किन्तु देहरादून, कांगड़ा और नीलगिरि की पहाड़ियों पर भी चाय उत्पन्न की जाती है। कुल उत्पादन का ७७ प्रतिशत आसाम और बङ्गाल में ही होती है। भारत में समस्त चाय के बगीचों का क्षेत्रफल ७७९ हजार एकड़ है। गत वर्षों में चाय का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

वर्ष	करोड़ पौंड
१९५३	६०·८
१९५४	६४·४
१९५५	६६·८
१९५६	६६·७
१९५७	६६·६

३० जून सन् १९५८ को समाप्त होने वाले प्रथम ६ माह में चाय का उत्पादन १६·२६ करोड़ पौंड रहा।[2]

चाय अमेरिका तथा अन्य देशों में भी लोक-प्रिय हो रही है। भारतीय चाय संघ ने विज्ञापन करके इसके उपयोग बढ़ाने में पर्याप्त प्रयत्न किए हैं। चाय का निर्यात मुख्यतः इङ्गलैंड, अमेरिका, कनाडा और आयरलैंड को किया जाता है। पिछले वर्षों में हमारे निर्यातों में कमी हुई है। मई सन् १९५८ में भारतीय चाय संघ के वार्षिक अधिवेशन में चाय संघ के अध्यक्ष श्री डी० सी० घोष ने बतलाया[3] कि सन् १९५७ में भारत द्वारा केवल ४४·० करोड़ पौंड चाय का निर्यात हुआ, जबकि सन् १९५६ में हमारे निर्यात् की मात्रा ५२·३६ करोड़ पौंड थी। विदेशी विनिमय की दृष्टि से चाय के निर्यात सन् १९५६ में १४३ करोड़ रुपये से घटकर केवल १०७ करोड़ के रह गये। श्री घोष ने निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात करों और चुङ्गी में कमी करने, उत्पादन घटाने और अधिक विज्ञापन करने सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए हैं। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में चाय का उत्पादन ७० करोड़ पौंड कर दिया जायगा, जिसमें से लगभग ५० करोड़ पौंड चाय का निर्यात किया जायगा।

(४) कॉफी—भारत में कॉफी २३४ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न की

१. उद्योग-व्यापार पत्रिका, अगस्त १९६०।
2. Commerce 26th July 1958.
3. Commerce 3rd May 1958.

जाती है। इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र मैसूर, मद्रास और कुर्ग है। गत वर्षों में चाय के उपभोग मे वृद्धि होने और ब्राजील की सस्ती कॉफी की प्रतिस्पर्धा के कारण कॉफी उद्योग को पर्याप्त हानि पहुँची है। चाय बोर्ड की भाँति कॉफी बोर्ड भी कॉफी के उपभोग मे वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। कॉफी के उत्पादन की स्थिति इस प्रकार है :—[1]

वर्ष	हजार टन
१९५४	२९·४
१९५५	२४·६
१९५६	३४·४
१९५७	४०·६

३० मई सन् १९५८ को कॉफी बोर्ड की अर्द्ध वार्षिक बैठक मे सन् १९५७-५८ मे कॉफी का उत्पादन ४२,३८० टन आँका गया।[2] बोर्ड के अनुसार सन् १९५८-५९ मे ४४,२३५ टन कॉफी उत्पन्न होने की सम्भावना है, परन्तु बोर्ड के सभापति का कहना है कि उत्पादन ५० हजार टन तक जा सकता है। सन् १९५६ ५७ मे १५,२२८ टन कॉफी का निर्यात किया गया। १९५७ ५८ मे १२,६३० टन कॉफी का निर्यात हुआ। भारतीय कॉफी को ब्राजील से प्रतिस्पर्धा करनी पड रही है। कॉफी बोर्ड और सरकार इसके उत्पादन मे वृद्धि हेतु प्रयत्न कर रहे हैं। सन् १९५७ ५८ में कॉफी के निर्यात से ७·७ करोड रुपये के *विदेशी विनिमय की प्राप्ति हुई।*

(५) तम्बाकू—अमेरिका और चीन के पश्चात् भारत का स्थान तम्बाकू के उत्पादन मे तीसरा है। मद्रास के गुन्टूर, गोदावरी और किस्ना जिलो मे सिगरेटो की सर्वोत्तम *तम्बाकू उत्पन्न होती है। उत्तरी बगाल और बिहार मे हुक्के की तम्बाकू,* बम्बई मे बीडी की तम्बाकू तथा दक्षिण मे सिगार के लिए उत्तम तम्बाकू उत्पन्न होती है।

उत्पादन का अधिकांश भाग देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति करता है, किन्तु कुछ उत्तम तम्बाकू यूरोप और इङ्गलैंड को निर्यात की जाती है। तम्बाकू के निर्यात बढाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९५६ ५७ में तम्बाकू १०·२२ लाख एकड़ *भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ३·०६ रहा।* सन् १९५५-५६ में १३·३ करोड रुपये की तम्बाकू का निर्यात किया गया।

(६) रबर—सैनिक और औद्योगिक दृष्टिकोण से रबर बड़े महत्व की उपज है। भारत मे रबर उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र मद्रास, मैसूर और कुर्ग है। सन् १९५५-५६ मे रबर १७४ हजार एकड भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ५० लाख पोंड रहा। रबर का उत्पादन हमारी आवश्यकता से बहुत कम है और हम प्रति वर्ष लगभग डेढ करोड पोंड रबर का विदेशो से आयात करते है। रबर

[1] Journal of Industry & Trade, November 1958,
[2] Coffee Board's Monthly New Letter. June 1958.

का उत्पादन बढ़ाने के लिए रबर उत्पादन विकास समिति के अन्तर्गत २० वर्षों में रबर का उत्पादन तीन गुना कर दिया जायगा। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रबर के उत्पादन में ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में रबर के बगीचे बहुत छोटे हैं और प्रबन्ध भी अकुशल है। औसत भारतीय उत्पादन ३०० पौण्ड प्रति एकड़ है। कोचीन में ३१७ पौण्ड, मद्रास में २५३ पौण्ड और त्रावनकोर एवं कुर्ग में क्रमशः २५२ तथा २५० पौण्ड प्रति एकड़ है। रबर बोर्ड ने ७०,००० एकड़ पुराने रबर क्षेत्रफल के पुनर्स्थापन का एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार ७,००० एकड़ भूमि पर पुराने पौधों के स्थान पर नये पौधे लगाये जायेंगे।

नील—१८ वीं और १९ वीं शताब्दी में भारत में नील पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया जाता था, परन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी की रङ्ग की प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी खेती कम कर दी गई। सन् १८९६-९७ में १७ लाख एकड़ भूमि पर नील की खेती होती थी, जो सन् १९४० में घटकर केवल ६५,००० एकड़ रह गई। इसका उत्पादन क्रमशः घटता जा रहा है, क्योंकि अन्य रंग सस्ते पड़ते हैं, अतः इसका भविष्य अन्धकारमय है। इसका उत्पादन मुख्यतः मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश में होता है। यह बिहार और पंजाब में भी होता है।

नारियल—नारियल के उत्पादन में भारत का नम्बर दूसरा है। सन् १९५५-५६ में नारियल १,५६७ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न किया जाता था और उस वर्ष ४,०९७ लाख नारियल उत्पन्न किये गये। तेल की माँग को देखते हुए अभी हमारे देश में नारियल की बहुत कमी है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तेल का उत्पादन लक्ष्य २,१०,००० टन रखा है। योजना के अनुसार हर पेड़ से ३० नारियल के स्थान पर ४५ नारियल प्राप्त किए जायेंगे। नारियल का उत्पादन छोटे-छोटे द्वीपों और समुद्र तट पर उत्पन्न किया जाता है। भारत में नारियल और नारियल का तेल मुख्यतः सीलोन से आयात किया जाता है।

मसाले—भारत में अनेक प्रकार के मसाले उत्पन्न किये जाते हैं। काली मिर्च का उत्पादन २३४ हजार एकड़ भूमि पर किया जाता है और सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २२,००० टन रहा। लाल मिर्च उत्तर-प्रदेश, बङ्गाल और मद्रास में उत्पन्न होती है तथा धनियाँ त्रावनकोर-कोचीन, मैसूर, कोयम्बटूर, मलाबार और तिन्नीवेली में होता है। सुपारी का उत्पादन सन् १९५५-५६ में ८१,००० टन था। सन् १९६०-६१ तक सुपारी का उत्पादन ९९,००० टन तक बढ़ने की आशा है। काजू का उत्पादन ६०,००० टन सालाना है और अधिकांश भाग निर्यात कर दिया जाता है। इलायची की खेती भी दक्षिण में नीलगिरि क्षेत्र में ऊँचाई पर की जाती है।

फल और तरकारियाँ—

भारतीय भूमि और जलवायु की विविधता के परिणामस्वरूप भारत में अनेक प्रकार के फल और सब्जियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। डा० बर्न्स के अनुमान के अनुसार लगभग २५ लाख एकड़ भूमि पर फल और ७ लाख एकड़ भूमि पर सब्जियाँ उत्पन्न होती है। ऐसा अनुमान है कि उत्पादित फलों की मात्रा ६० लाख टन और सब्जियों की मात्रा ४० लाख टन है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति प्रति दिन फलों के उपभोग की मात्रा १·५ औंस आती है। फल उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र कांगड़ा और कुलू की घाटियाँ, दक्षिणी काश्मीर, असम, बम्बई का कोकण प्रदेश तथा मद्रास के नीलगिरि की पहाड़ियाँ हैं। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ८ करोड़ रुपये के फल और सब्जियों के उत्पादन में विकास हेतु व्यय किये जायेंगे। डिब्बों में बन्द फलों का उत्पादन २०,००० टन से बढ़ा कर ५०,००० टन करने का प्रस्ताव है।

कृषि उत्पादन के अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि कृषि में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ है, फिर भी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ कृषि में भी महत्वपूर्ण क्रान्ति हो रही है। द्वितीय युद्ध काल में और उसके पश्चात् कृषि का अधिकाधिक वाणिज्यीकरण हुआ है और नवीन फसलें देश के उत्पादन तथा व्यापार में महत्व प्राप्त कर रही हैं। योजना में जो औद्योगीकरण हो रहा है, उसका प्रभाव भी हमारे कृषि उत्पादन पर पड़ा है, जिसमें भौगोलिक एवं क्षेत्रीय विशेषीकरण किया जा रहा है। विभाजन में कृषि उत्पादन पर जो प्रभाव पड़े थे उन्हें अब लगभग दूर कर दिया गया है। परन्तु अनेक प्रयत्नों के पश्चात् भी खाद्य समस्या बनी हुई है एवं भूमि सुधार, कृषि का यन्त्रीकरण तथा कृषक के सामान्य जीवन में सुधार करने सम्बन्धी अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि उपज वृद्धि का परिचय निम्न तालिका से मिलता है :—

कृषि उपज के सूचनाङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमानित)
सभी जिन्स	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
अनाज की फसलें	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य फसलें	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०

तृतीय पंच-वर्षीय योजना—

तीसरी योजना में कृषि को पहिला स्थान दिया गया है। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता और उद्योगों तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढ़ाना तीसरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना में कृषि एवं सामुदायिक विकास के लिए १,०२५ करोड़ रु० तथा सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रु० रखे गये

हैं। इसके अलावा अनुमान है कि इन कार्यों में निजी व्यय ८०० रु० होगा। यदि भविष्य में ऐसा प्रतीत हुआ कि गाँवों मे और तेजी से प्रगति के लिए एवं जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के लिए अधिक रुपये लगाने आवश्यक हैं तो उसका भी प्रबन्ध किया जायगा। कृषि की पैदावार मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलों के उत्पादन-लक्ष्य निम्न हैं :—[1]

		१९६०-६१ (अनुमानित)	१९६१-६५ - लक्ष्य
(१) खाद्यान्न	(लाख टन)	७५०	१,००० से १,०५०
(२) तिलहन	"	७२	९२ से ९५
(३) गन्ना	(गुड़ के रूप मे)	७२	९० से ९२
(४) रुई	(लाख गाँठों में)	५४	७२२
(५) पटसन	"	५५	६५
(६) चाय	(करोड़ पौंड)	७२	८५ [2]
(७) कॉफी	(हजार टन)	४५	८० [2]

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योजना आयोग ने चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रमों का सुझाव दिया है :—

(१) सिंचाई, (२) भूमि-सरंक्षण, अधिकतर खेती और परती भूमि को कृषि योग्य बनाना, (३) खाद और रसायनिक खाद पहुँचाना तथा (४) अच्छे किस्म के हलों एवं औजारों का प्रयोग। इन कार्यक्रमों के अनुसार यदि कार्य हुआ तो निश्चय ही कृषि उत्पादन मे वृद्धि होगी, ऐसा विश्वास है।[3]

---

१. उद्योग व्यापार-पत्रिका अगस्त सन् १९६०।
२. नवभारत टाइम्स—५ अगस्त सन् १९६०।
३. तीसरी योजना के विस्तृत विवेचन के लिए "भारत सरकार एवं कृषि नियोजन" अध्याय देखिये।

अध्याय १५

कृषि साख एवं अर्थ-व्यवस्था

(Agricultural Credit & Finance)

"रोम से स्कॉटलैंड तक कृषि का इतिहास, यह पाठ सिखाता है कि साख कृषि के लिए अनिवार्य है।"

—निकलसन

भारतीय कृषि की विशेषता—

भारतीय कृषि की अपनी ही निम्न विशेषताएं हैं:—

(१) भारत की खेती का सम्पूर्ण संगठन केवल एक व्यक्ति पर निर्भर है और यहां के खेत भी छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए हैं, अतः उत्पादन अल्प मात्रा में होता है।

(२) अन्य उद्योग धन्धों की तुलना मे कृषि उत्पादन की एक विशेषता यह भी है कि फसल बोने से काटने तक की अवधि काफी लम्बी एवं निश्चित होती है। कृषक अपना उत्पादन बेचे बिना पूंजी नही जुटा सकता।

(३) कृषि नैसर्गिक आपत्तियों (जैसे अवर्षण अति वर्षा) की शिकार होती रहती है। इनसे किसी भी दशा मे किसान अपना बचाव नही कर सकता।

(४) कृषि उत्पादन का समायोजन माग के अनुसार करना सम्भव नही होता। क्योंकि कृषि उद्योग का सगठन ही ऐसा विचित्र है कि जमीन परती रखी नहीं जा सकती और न घर के आदमियो को ही बेकार बैठाया जा सकता है।

(५) कृषि वस्तुओ के मूल्यो मे कमी अथवा अधिकता होने पर किसान को उसका सामना करना पडता है। इन्ही सब कारणो से उसकी पूंजी अथवा लागत होती है, वह स्थिर नही रहती, बल्कि उसमें कमी-बेशी होती रहती है। यही नही, जब तक वह अपनी फसल काट कर बेच नही लेता तब तक उसको लगाई हुई पूंजी वापिस नहीं मिल सकती।

(६) अतः अपने घर खर्च, मजदूरो को मजदूरी देने, बीज, खाद आदि खरीदने अथवा फसल को बाजार मे बिक्री के लिये पहुँचाने के लिए उसे पूंजी की आवश्यकता होती है। इन कार्यों के लिये अर्थ नियोजन करने के हेतु यूरोपीय देशो में तो कृषि अर्थ व्यवस्था को एक विशेष विषय माना जाता है। वहां उसके लिए विशेष सगठन एव विधान का नियोजन होता है। परन्तु भारत कृषि प्रधान देश होने हुए भी यहां

कृषि-अर्थ व्यवस्था का कोई विशेष आयोजन नहीं है, यह खेद की बात है। कृषि उन्नति के लिए इस ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है।

किसान की आर्थिक आवश्यकताएँ—

विभिन्न कृषि क्रियायें यथाविधि करने के लिए किसान को तीन प्रकार की आर्थिक आवश्यकताएँ होती हैं—

(१) अल्प-कालीन ऋण—यह ऋण लेकर किसान बीज, खाद आदि खरीदता है तथा खेतों में लगाए हुए मजदूरों को मजदूरी, लगान आदि का भुगतान करता है। इस प्रकार के ऋण की अवधि साधारणतः ६ से १८ मास की होती है। इस ऋण का भुगतान वह केवल आगामी फसल पर ही कर सकता है, अतः इसे किसान की कार्यशील पूँजी कह सकते हैं। किसान को कितनी कार्यशील पूँजी इस उद्योग के लिये आवश्यक है, इसका अभी तक ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। विदेशी कृषि जाँच से यह मालूम होता है कि इस उद्योग में भूमि मूल्य के ⅓ के बराबर कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इस आधार पर भारतीय कृषि उद्योग की कार्यशील पूँजी का अनुमान लगभग ६०० करोड़ रुपये लगाया गया है।[1]

(२) मध्य-कालीन ऋण[2]—यह ऋण कृषक को खेती के लिए आवश्यक साधन, जैसे—कृषि के औजार, बैल इत्यादि जुटाने के हेतु लेना पड़ता है। इसकी अवधि साधारणतः २ वर्ष से ६ वर्ष तक होती है, जिसका भुगतान वह सामयिक किश्तों में करता है।

(३) दीर्घ-कालीन ऋण—यह ऋण वह स्थायी सम्पत्ति, जैसे—कृषि योग्य भूमि आदि खरीदने तथा कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार करने, जैसे—कुँए की मरम्मत अथवा नये कुँए के बनवाने आदि के लिये लेता है। इन सुधारों द्वारा किसान अपनी आय में थोड़ी-बहुत वृद्धि कर सकता है। यह ऋण साधारणतः ३० से ४० वर्षों के लिए होता है, क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था इतनी कमजोर होती है कि वह इससे कम अवधि में भुगतान नहीं कर सकता।

सन् १९२८ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दीर्घ कालीन ऋण का अनुमान ५०० करोड़ रुपये आँका था। परन्तु कृषि की वर्तमान अवस्था को देखते हुए दीर्घ-कालीन ऋण के लिए कम से कम १,००० करोड़ रुपये आवश्यक होंगे।

इन आवश्यकताओं के हेतु उसे ऋण के लिए किसी न किसी पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि इसके आर्थिक साधन एवं आय इतनी सीमित होती है कि वह कार्यशील पूँजी के लिए भी पर्याप्त नहीं होती। दूसरे, इस आर्थिक कमजोरी के कारण वह बिक्री की अनुकूल कीमत आने तक अपनी फसल को अपने पास ही रखने में अस-

1. Whither Agriculture in India—By Dr. Baljit Singh. p 222.

2. M. L. Darling: Punjab Peasants in Prosperity and debt. p. 32.

मर्थ होता है, इसलिए वह फसल को शीघ्र ही बेच देता है। तीसरे, जैसा अन्यत्र देख चुके है, भारतीय किसान के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए होने से उसकी आय भी बहुत थोडी है, जो उसकी दैनिक आवश्यकताओ के लिए भी पूरी नही होती।

कृषि साख के स्रोत—

किसान को अपने कृषि कार्य के लिए ऋण पर ही निर्भर रहना पडता है तो प्रश्न यह उठता है। कि यह ऋण किन किन स्रोतो से प्राप्त होता है। जहा तक बैंकों का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओं के लिए वह उन पर निर्भर नही रह सकता, क्योकि बैंक जो भी कर्ज देते हैं वह ऋणी की वैयक्तिक साख तथा अन्य वस्तुओं की रहन पर देते है। किन्तु भारतीय कृषक के पास रहन रखने के लिए केवल थोडी सी भूमि, पशु तथा खेती के औजार होते हैं, जिनको वह किसी भी दशा मे बेच नही सकता। फिर भूमि रहन रखने में अनेक सामाजिक व कानूनी कठिनाइयाँ हैं तथा उसका मूल्य निकालने के लिए विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, क्योकि खेती की भूमि का मूल्य अनेक बातो पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगाया हुआ धन एक प्रकार से बध सा जाता है, अतः साधारणतया व्यापारिक बैंक इस सम्पत्ति की जमानत पर कर्ज भी नही देते। वैयक्तिक साख उनके आर्थिक साधनों एव स्थायी पूँजी पर निर्भर होती है, जो नही के बराबर है, अतः व्यापारिक बैंक की दृष्टि से किसानो की वैयक्तिक साख नगण्य है। इस कारण किसान को व्यापारिक बैंको से आर्थिक सहायता नही मिलती।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के प्रस्ताव के अनुसार सयुक्त स्कध बैंक भू रहन बैंकों का कार्य भी अपने दीर्घ कालीन ऋण-पत्र निकाल कर कर सकते हैं तथा किसानो को कर्ज दे सकते है। इस सम्बन्ध मे समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार को चाहिए कि वे उनकी पूँजी का कुछ भाग दें तथा लाभांश एव पूँजी की वापसी के विषय मे अपनी जमानत देकर जनता में विश्वास उत्पन्न करें। इससे ऐसे व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हो सके, परन्तु इस दिशा मे सरकार की ओर से कोई कार्यवाही नही की गई।

अन्य संस्थायें—

(१) स्वदेशी बैंकर एव महाजन—आज भी कृषि की अर्थपूर्ति करने मे स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये कृषक की कुल आर्थिक आवश्यकताओ के लगभग ६४% अर्थ की पूर्ति करते है, क्योकि व्यापारिक बैंक जो भी कुल अल्पकालीन ऋण देते है, उनका लाभ केवल गाँव के बड़े-बडे जमीदारो को ही मिलता है, जिनकी सख्या बहुत कम है। सहकारी साख समितियों की स्थापना से भी बडी-बडी आशायें थी, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उनकी कार्य पद्धति में औपचारिकता का भाग अधिक होने एव ऋण लेने मे असुविधा होने के कारण कृषक उनसे पूर्णतया लाभ नही उठा पाता। इतना ही नही, अपितु भारत की ग्रामीण

आवश्यकताओं के अनुसार सहकारी साख समितियों का अभी उतना विकास नहीं हुआ है, जितना होना चाहिए। परिणामतः अनेक गाँवों में आज भी सहकारी साख समितियों का अभाव है, इसलिए संख्या तथा ऋण राशि की दृष्टि से आज भी महाजन कृषि अर्थ व्यवस्था में अपना स्थान बनाये हुए हैं :—

साख संस्थाएं*	ऋण में प्रतिशत अनुपात
सरकार	३·३
सहकारी संस्थाएं	३·१
व्यापारिक बैंक	०·६
सम्बन्धी	१०·२
जमींदार	१·५
कृषक ऋणदाता	२४·६
महाजन	४४·८
व्यापारी और कमीशन एजेन्ट	५·५
अन्य	१·८
योग	१००·०

महाजन एवं देशी बैंकरों की कार्य पद्धति सरल होती है। ग्रामीण जनता से सम्पर्क होने के कारण इनको ग्रामीण परिस्थिति का इतना अगाध ज्ञान होता है कि बिना किसी विशेष जानकारी के ये किसानों को सरलता से ऋण दे सकते हैं। महाजनों में गाँव के बनिये का भी समावेश किया जा सकता है, क्योंकि वह अपने व्यापार के साथ ही लेन-देन का व्यवहार भी करता है। महाजनों द्वारा किसानों को जो ऋण दिये जाते हैं, वे भी साधारणतः गाँव के बनिये द्वारा ही दिये जाते हैं। कभी-कभी ये किसानों से रुक्का भी लिखवाते हैं, जिसमें ऋण की राशि, अवधि, ब्याज की दर तथा ऋण देने की शर्तें लिखी रहती हैं अथवा वे कभी-कभी अपनी बही में ही ऋण-कर्ता के हस्ताक्षर करा लेते हैं। हाँ, ऋण की राशि अधिक होने पर वे जमीन इत्यादि की जमानत लेते हैं। युद्ध पूर्व गाँवों में अर्थ पूर्ति के कार्य में पठान, रोहिले आदि भी थे, परन्तु आजकल उनका विशेष अस्तित्व दिखाई नहीं देता। स्वदेशी बैंकर और महाजन दोनों ही ऋण पर अधिक ब्याज लेते हैं। इनकी ब्याज की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सुरक्षित ऋणों पर ६ से १७ प्रतिशत तथा असुरक्षित ऋणों पर १७ से ३६ प्रतिशत तक होती है। महाजनों का कृषकों से साधारणतः प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, परन्तु देशी बैंकर कृषकों से सीधा सम्बन्ध न रखते हुए महाजनों अथवा गाँव के व्यापारियों के माध्यम से उन्हें ऋण देते हैं।

देशी बैंकरों का कृषि अर्थ-व्यवस्था में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनकी ऋण देने की पद्धति में निम्न दोष हैं, जैसे :—

* Report of the All India Rural Credit Servey Committee, Vol. II.

(१) ऋण देने के पूर्व नजराने के रूप मे किसानो से गिरह खुलाई लेना।
(२) ऋण देते समय ही उसमे से ब्याज की रकम काट लेना।
(३) ऋण लेने वाले को धोखा देने के हेतु उससे कोरे कागज पर हस्ताक्षर करवा लेना तथा हिसाब-किताब मे अदला बदली करना।
(४) रुक्के पर लिखी हुई मूल ऋण राशि को बढाना।
(५) ऋणी से जमानत दी हुई सम्पत्ति को बेचने सम्बन्धी शर्त लिखवा लेना।

इन बुराइयो* के होते हुए भी महाजन अपनी ऋण देने की सरल पद्धति के कारण कृषि अर्थ व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इतना ही नही, अपितु ग्रामीण परिस्थिति एव कृषको के वैयक्तिक सम्पर्क मे रहने के कारण वह अपनी ऋण राशि पूर्ण रूप से वसूल कर लेता है। इन त्रुटियो के निवारण तथा साहूकार, महाजन एव देशी बैंकरो पर अपना नियन्त्रण रखने के लिए रिजर्व बैंक ने कई प्रयत्न किये, परन्तु असफल रहे।

इसलिए गाडगिल समिति ने महाजनो का अनिवार्य पञ्जीयन लाइसेंस देने, हिसाब की बहियो का परीक्षण, ब्याज दर का निर्धारण, ऋणी के पास समय-समय पर उनके लेखे की प्रति पहुँचाना, प्रबंध खर्चों पर रोक, महाजनो द्वारा प्रबंध कार्यवाही पर उनको दण्डित करना आदि अनेक सिफारिशें की थीं। परन्तु ये सिफारिशें व्यावहारिक नही है, क्योकि कोई भी महाजन अपनी खाता बहियो को किसी बाहरी व्यक्ति से परीक्षण करवाने के लिए अनिच्छुक है। अतः इन सिफारिशो पर अभी तक कोई कार्यवाही नही हुई और न हो सकती है, जब तक कि अन्य साधनो से कृषि साख सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था न हो जाय।

(२) सहकारी समितियाँ—भारत मे सहकारी आन्दोलन का श्रेय मद्रास के श्री फ्रेडरिक निकोलसन को मिलता है। क्रमशः सन् १९०४ मे सहकारी साख समिति विधान स्वीकृत किया गया। सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए टाउन्सहैड समिति ने भी सहकारी साख समितियो को ही आधारभूत बतलाया, क्योकि उनकी राय थी कि जब तक किसानो को महाजनो के चगुल से न छुडाया जायगा, तब तक कृषको की आर्थिक उन्नति न हो सकेगी। इस प्रकार सहकारी आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य ही किसानो को एव ग्रामीण जनता को महाजनो के चगुल से छुडाने का था, परन्तु वे मूल उद्देश्य को पूरा न कर सकी।

द्वितीय युद्ध के पूर्व सहकारी साख समितियो को उन सहकारी समितियों से जो साख सुविधायें नही देती थी, अलग रखा जा सकता था। परन्तु सन् १९३९-४६ की अवधि मे साख देने वाली एव साख न देने वाली समितियो मे कोई विशेष अन्तर नही

* Report of the Central Banking Enquiry Committee.

के २५% से अधिक नही हो सकेगा। ऐसा अधिकतम लगान सिंचित भूमि में ६ मन प्रति एकड और असिंचित भूमि में ४ मन प्रति एकड होगा।

इसी प्रकार राज्य के कुछ भागो मे जहाँ भूमि रजिस्टर्ड पट्टे पर ली गई है वहाँ नकद लगान जमीदारो द्वारा दिए जाने वाले लगान के ५०% तथा अन्य दशा मे २५% से अधिक नही होगा।

राज्य ने भू सुधार के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए समिति नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है, जो अभी विचाराधीन है।†

मद्रास—

इस राज्य में जमींदारी और रैयतवारी प्रथा थी। इसलिए जमीदारी क्षेत्र के लिए भू सम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम तथा भू सम्पत्ति उन्मूलन एवं रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम क्रमशः सन् १९४७ और सन् १९४८ में बनाये गये। इन दोनों का उद्देश्य लगान में कमी करना तथा जमीदारी एवं इनाम भू सम्पत्ति को प्राप्त कर उसे रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत रखना था। मद्रास राज्य में २,८०० जमीदारी तथा २,५०० इनाम जागीरो को १,२०५ करोड रुपये के मुआवजे मे प्राप्त किया गया। इस प्रकार कुल मिला कर सरकार ने १४० लाख एकड भूमि पर अधिकार किया। मुआवजा सभी राज्यो की तुलना में बहुत कम दिया गया, क्योंकि इसकी दर केवल ६ रुपये प्रति एकड होती है। उपयुक्त दोनो अधिनियमो को कार्यान्वित किया गया है, जिनकी प्रमुख व्यवस्था निम्नवत् है:—

(१) जिलाधीशो के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे प्राप्त की हुई जागीरो के लिए व्यवस्थापक नियुक्त किये गये।

(२) रैयतवारी पट्टो द्वारा किसानो को भूमि दी गई।

(३) ऐसे सब किसानो को जो ५ वर्ष अथवा उससे अधिक काल तक खेती कर चुके है, भोग-अधिकार (Occupancy Rights) दिये गये।

बम्बई—

बम्बई मे सन् १९४८ मे बम्बई भूधारण तथा कृषि भूमि अधिनियम बनाया गया, जिसको १६ मार्च सन् १९५६ को संशोधित किया गया। यह संशोधित अधिनियम १ अगस्त सन् १९५६ से लागू हुआ। संशोधित अधिनियम के अनुसार :—

(१) स्थाई भाटकियो (Tenants) को उनके काश्त की पूर्ण सुरक्षा दी गई है तथा वे लगान के ६ गुनी राशि का भुगतान करने पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अन्य आसामियो के काश्तकारी अधिकारो को सुरक्षा दी गई है, परन्तु जमीदार खुदकाश्त के लिए १२ से ४८ एकड तक भूमि रख सकेगा, जो भूमि आदि

† Amrit Bazar Patrika, Sept. 58

भी, जैसे—उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, अजमेर, उडीसा तथा बंगाल मे, भूमि बन्धक बैंकों का कार्य सन्तोषप्रद नही रहा । केवल मद्रास मे ही इन बैंको ने कुछ उन्नति की है ।"*

भूमि बन्धक बैंको ने जो ऋण दिए, वे केवल पुराने ऋणो के भुगतान के लिए ही दिए । उन्होने भूमि-सुधार के लिए ऋण देने की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया । किसानो के ऋण को कम करने मे जो सहायता की, वह सराहनीय है, परन्तु यह प्रश्न द्वितीय महायुद्ध काल से तीव्रतर नही रहा, अतः अब इनको स्थायी भूमि सुधार के लिए कृषकों को ऋण देकर उनकी उन्नति के प्रयत्न करना चाहिए ।

(६) रिजर्व बैंक तथा कृषि साख—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे रिजर्व बैंक के निर्माण के समय ही यह आयोजन किया गया था कि वह ग्रामीण एवं कृषि साख देने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यों का समुचित सगठन एवं एकीकरण करे । इस हेतु की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक में 'कृषि साख विभाग' खोला गया, जिसके निम्न कार्य हैं :—

(अ) कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारो को प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो तथा अन्य अधिकोषण संस्थाओं को सलाह देना तथा उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करना ।

(ब) *अपनी क्रियाओं को कृषि-साख से सम्बन्धित रखना तथा उन क्रियाओं* द्वारा प्रान्तीय सहकारी अधिकोषो एवं अन्य अधिकोषो तथा संस्थाओं को, जो कृषि-साख से सम्बन्धित हो, सगठित करना ।

परन्तु रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होते हुए भी देश के इस महत्वपूर्ण उद्योग (कृषि) की प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता नही कर सकता और न वह दीर्घकालीन ऋण ही दे सकता है । वह केवल सूचीबद्ध एवं राज्य सहकारी बैंको के द्वारा केवल निश्चित कार्यों के लिए रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १० के अनुसार ऋण दे सकता है । इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली कृषि-साख का क्षेत्र सीमित है । यह केवल उन्ही कृषि बिलो का बट्टा करता है अथवा खरीद सकता है, जो केवल मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा फसल को बेचने के लिए लिखे जाएँ । ऐसे बिलो की अवधि ९ मास से अधिक नही होनी चाहिए । इस कारण रिजर्व बैंक कृषि कार्यों के लिए पर्याप्त साख सुविधाएँ देने में विशेष सफल न हो सका । अब यह अवधि १५ मास कर दी गई है ।

रिजर्व बैंक ने सरकार के सामने अपनी रिपोर्ट द्वारा कृषि साख देने के लिए स्वदेशी बैंको, महाजनो एवं सहकारिता आन्दोलन के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए और अपने सीमित कार्य क्षेत्र मे, जहाँ तक सम्भव था, कृषि साख सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएँ दी ।

---

* Review of the Co-operative Movement in India, 1937-46.

स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने कृषि को अधिक साख सुविधाएँ* देने के लिए अनेक समितियाँ नियुक्त कीं; जैसे ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति, ग्रामीण साख सर्वे समिति आदि। इन समितियों की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन किए गए। इन संशोधनों के अनुसार जहाँ पहिले रिजर्व बैंक केवल ६ मास के लिए ही ऋण देता था, वह अवधि अब १५ मास कर दी गई है, परन्तु साधारणतः ऋण १२ मास के लिए ही दिये जाते हैं। यही नहीं, जो राज्य सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से बिलों की जमानत पर साख लेते हैं वे भी १५ मास तक की अवधि के लिए ले सकते हैं और इनसे ब्याज भी कम लिया जाता है। तीसरे, अभी तक केवल सूचीबद्ध बैंक ही रिजर्व बैंक से व्यापारिक हुण्डियाँ भुना सकते थे, परन्तु अब सहकारी बैंकों को भी यह सुविधा दे दी गई है। इन सुविधाओं के अन्तर्गत राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कोई भी सहकारी अधिकोष रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है, यदि उसकी सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में सहकारी समितियों का रजिस्ट्रार प्रमाण-पत्र दे दे।

कृषि की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कृषि फसलों के विक्रय के हेतु रिजर्व बैंक ने १७ राज्य सहकारी बैंकों को सन् १९५६-५७, सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में क्रमशः ३१·२१, ५०·३८ तथा ७०·८१ करोड़ रु० के अल्पकालीन ऋण स्वीकृत किये। इनमें से बैंकों ने सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में क्रमशः ५०·२३ और ६७·५६ करोड़ रु० की राशि का उपयोग किया। ये ऋण अभी तक स्वीकृत ऋणों में सबसे अधिक हैं।

इसी प्रकार मध्यकालीन कृषि साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए [धारा १७ (४ A) के अन्तर्गत] रिजर्व बैंक ने ६ राज्य सहकारी बैंकों को १·६७ करोड़ रु०, सन् १९५७-५८ में १४ राज्य सहकारी बैंकों को ५·८२ करोड़ रु० तथा सन् १९५८-५९ में राज्य सहकारी बैंकों को ५·८८ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किए। परन्तु सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में बैंकों ने क्रमशः केवल २·६६ और २·६८ करोड़ रु० लिये। ये ऋण बैंक दर से 2% कम की ब्याज दर से दिये जाते हैं, जिससे राज्य सहकारी बैंक अन्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कृषकों को सस्ते ब्याज दर पर मध्यकालीन साख सुविधायें दे सकें।

रिजर्व बैंक दीर्घकालीन ऋण सुविधायें देने के हेतु केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीद सकता है तथा इसने निम्न केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदे हैं :—

आन्ध्र केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक के	२० लाख रु० के ऋण पत्र*		
सौराष्ट्र ,, ,, ,,	५०	,,	,,
उड़ीसा ,, ,, ,,	०५	,,	,,

* Report on Currency and Finance. 1958-59 (R. B. I.)

रिजर्व बैंक अधिक कृषि सुविधाएं दे सके, इसलिए रिजर्व बैंक एक्ट में सन् १९५३ में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार कुटीर तथा लघु उद्योगों को साख सुविधाएं देने के लिए रिजर्व बैंक प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डल तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ऋण सुविधायें देगा। इन संस्थाओं के माध्यम से लघु एवं कुटीर उद्योगों को भविष्य में रिजर्व बैंक से साख सुविधाएं मिल सकेंगी। दूसरे, रिजर्व बैंक कृषि कार्यों को मध्यकालीन ऋण द्वारा सहायता दे सकेगा, परन्तु ये साख सुविधाएं प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से ५ वर्ष की अवधि के लिये ही मिल सकेंगी।

इसके अलावा सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ नींव पर आधारित करने के लिये रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों की आर्थिक स्थिति एवं कार्य-प्रणाली की जाँच का कार्यक्रम भी बनाया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९५६-५७ में ९४ केन्द्रीय सहकारी बैंक, ६ राज्य सहकारी बैंक तथा १ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक का तथा सन् १९५७-५८ में २४० सहकारी बैंकों का परीक्षण किया गया। इस प्रकार ३० जून सन् १९५८ तक कुल ४३६ बैंकों का परीक्षण हुआ।

(७) कृषि अर्थ एवं सरकार—कृषि कार्यों के हेतु ऋण देने के लिए सरकार भी प्रयत्नशील है और अनेक तरीकों से वह कृषि साख की पूर्ति कर रही है। इतना ही नहीं, अपितु कृषि-सुधार हेतु आर्थिक सहायता देने के लिये सरकार द्वारा भूमि-सुधार अधिनियम (Land Improvement Act) सन् १८७१, सन् १८७३ एवं कृषक ऋण अधिनियम सन् १८८४ (Agriculturist Loan Act) स्वीकृत किये गये हैं। इनके अन्तर्गत बैल, बीज, चारा आदि खरीदने के लिए तथा भूमि सुधार करने के लिए तकावी ऋण दिया जाता है। उन ऋणों की ब्याज की दर तथा भुगतान करने की किश्तों में परिस्थिति के अनुसार समय समय पर परिवर्तन भी किए जाते हैं। सरकार ने विभिन्न प्रान्तों को गत ६ वर्षों में 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के अन्तर्गत भी अधिक ऋण दिए हैं। केवल बम्बई प्रान्त में ही इस योजना में सन् १९४७ से सन् १९५२ तक ७।। करोड़ रुपये खर्च हुये तथा भारत सरकार का कुल व्यय ६६ करोड़ रुपए के लगभग हुआ।

भूमि सुधार अधिनियम के अन्तर्गत सरकार २० से २५ वर्ष तक की अवधि के लिए दीर्घकालीन ऋण देती है तथा कृषक ऋण विधान के अनुसार बीज, खाद आदि खरीदने के लिये अल्पकालीन ऋण देती है, जिनकी अवधि सामान्यतः १ से २ वर्ष तक होती है। इन सुविधाओं का लाभ सामान्य कृषक नहीं वरन् अधिकतर समृद्ध जमींदार अथवा कृषक ही उठाते हैं, क्योंकि बड़े बड़े जमींदार अपनी जमीन गिरवी रख सकते हैं, परन्तु छोटे-छोटे किसानों के पास जमीन ही इतनी कम होती है कि गिरवी रखने पर भी ऋण की राशि से उनका काम पूरा नहीं हो सकता। अतः वे इन ऋणों का उपयोग साधारणतः संकट[illegible]ल में ही करते हैं। इसके अतिरिक्त तकावी ऋणों की राशि भी बहुत कम होती है, क्योंकि इस प्रकार के ऋणों का सम्पूर्ण भारत का वार्षिक औसत ६५ करोड़ रुपये है, जिसमें से ३५ करोड़ रुपये भूमि सुधार विधान के

अन्तर्गत दिये जाते हैं।[1] इतना ही नहीं, अपितु तकावी ऋणों की वितरण पद्धति में अनेक दोष हैं, जिससे किसान सरकार से ऋण लेने की अपेक्षा महाजनों के दरवाजे जाना अधिक पसन्द करता है। यही मत सिंचाई-समिति, मालगुजारी समिति तथा मैक्लेगन समिति ने प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में सिंचाई समिति एवं पंजाब लगान समिति ने ऋणों की वितरण पद्धति के दोषों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा दुर्भिक्ष कमीशन ने तो यहाँ तक कहा है कि इन ऋणों का वितरण रेवेन्यू डिपार्टमेंट द्वारा न होते हुये कृषि विभाग द्वारा हो एवं वितरण करने की क्रियाएँ शीघ्रगामी हों। सरकारी ऋणों में निम्न दोष हैं :—

(१) सरकारी ऋणों की ब्याज की दर भी ६½% से कम नहीं होती और ऋण को वसूल करने की पद्धति भी कठोर होती है। (२) ऋण स्वीकार कराने के लिये कृषक को अनेक अधिकारियों के पास जाना पड़ता है तथा जमानत, रहन आदि के सम्बन्ध में अनेक शर्तें पूरी करनी होती हैं, जो एक निर्धन किसान के लिये सम्भव नहीं होता। (३) कृषक को आवेदन-पत्र देने की काफी अवधि के बाद ऋण मिलता है, जबकि वह अपनी तत्कालीन आवश्यकता को अन्य साधनों से पूरी करता है। फलतः वह इस ऋण का धन उस कार्य में जिसके लिए ऋण लिया गया है, उपयोग न करते हुये इधर-उधर के कामों में व्यय हो खर्च कर देता है। इन त्रुटियों का निवारण करने में तथा आवश्यकतानुसार यथासमय ऋण वितरण करने के कार्य में मद्रास एवं बम्बई राज्यों ने ही उल्लेखनीय प्रगति की है।

कृषि अर्थ व्यवस्था में सुधार के लिये कुछ सुझाव—

अभी तक यह देखा गया है कि साधारणतः प्रत्यक्ष कृषि अर्थ पूर्ति में महाजन अथवा साहूकार, देशी बैंकर तथा सहकारी समितियाँ ही विशेष कार्य कर रही हैं। इनमें साधारणतया ६०% ऋण का प्रदाय महाजन एवं देशी बैंकर करते हैं। परिणामतः किसान आज भी महाजनों के चंगुल में फँसे हुये हैं। उनको महाजनों के चंगुल से बचाने के लिये कृषि अर्थ-व्यवस्था का ऐसा पुनर्गठन होना अत्यन्त आवश्यक है कि जिसके अनुसार एक तो महाजनों की कृषि साख सम्बन्धी क्रियाएँ कानून द्वारा नियन्त्रित की जायें तथा दूसरी ओर किसानों को पर्याप्त मात्रा में ऋण देने के लिए प्रयत्न किये जायें। अभी तक महाजनों की क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में जो भी प्रयत्न किये गये वे असफल तो हुये ही, परन्तु इसके साथ ही कृषकों को जो ऋण वे देते थे, उसकी मात्रा भी कम हो गई।[2] महाजनों की क्रियाओं का *वैधानिक नियन्त्रण तभी सफलता से हो सकता है, जबकि इनको अपनी क्रियाएँ करने* के लिये अनुज्ञा-पत्र (Licences) दिये जायें तथा इनके हिसाबों की सामयिक जाँच

1. Indian Rural Problem—by Nanawati & Anjaria.

2. Observations of Nanawati Committee on Agricultural Credit Organisation.

के लिये समुचित आयोजन किया जाय, जिससे वे निरक्षर किसानों के साथ धोखा न कर सकें। दूसरे, ब्याज की दरों को सीमित कर दिया जाय तथा प्रत्येक किश्त के भुगतान की रसीद देने के लिये इन्हें बाध्य किया जाय। यह तभी सम्भव है, जब किसानों द्वारा किश्तों का भुगतान न्यायालय के माध्यम से अथवा गाँवों में तहसीलदार के माध्यम से हुआ करे। इससे महाजनों की क्रियाएँ नियन्त्रित हो सकती हैं। इसी प्रकार सूचीबद्ध बैंकों को चाहिये कि वे भी गाँवों में साख-व्यवहार करने के लिए इनको अपना प्रतिनिधि नियुक्त करें।

कृषि साख-प्रमण्डल (Agricultural Credit Corporation)—

गाडगिल कृषि अर्थ उप समिति (सन् १९४७) ने कृषि अर्थ पूर्ति के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना का सुझाव दिया है। इसी प्रकार अब मध्य-प्रदेश सरकार भी विचार कर रही है कि कृषकों को तकावी ऋणों के वितरण के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना की जाय, परन्तु तकावी ऋणों का वितरण सहकारी समितियों के माध्यम से भली भाँति एवं अधिक उपयोगी हो सकता है, क्योंकि ये समितियाँ कृषकों के निकट सम्पर्क में होती हैं। इसलिए कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार सहकारिता आयोजन समिति ने व्यक्त किया है। फिर भी कृषि अर्थ पूर्ति के लिए अखिल भारतीय ढङ्ग पर कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना करने का प्रस्ताव भारत सरकार ने किया है।

भारत में भी यदि किसी प्रकार अल्पकालीन एवं मध्य-कालीन साख को दीर्घकालीन साख से कृषि अर्थ प्रमण्डल की स्थापना द्वारा समन्वित कर दिया जाय तो भारतीय कृषि अर्थ व्यवस्था सन्तोषप्रद हो सकती है। इस हेतु कृषि अर्थ प्रमण्डल का संगठन सावधानी से होना आवश्यक है कि जिससे उसकी क्रियायें सहकारी बैंकों की क्रियाओं में बाधक न रहते हुए सहायक रहें।[1] भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ के किसान असंगठित एवं साधनहीन हैं, कृषि अर्थ प्रमण्डल और राज्य सहकारी बैंकों में सहकार्य होना चाहिए। इसके लिए भारत के उन प्रान्तों में जहाँ अभी तक प्रान्तीय सहकारी बैंक नहीं हैं, उनकी स्थापना शीघ्र की जाय।

अखिल भारतीय कृषि साख सर्वे समिति—

कृषि-अर्थ-व्यवस्था ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण ग्रामीण-अर्थ व्यवस्था के सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी के सुझाव प्रशंसनीय हैं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को संगठित करने के लिए इस कमेटी ने 'ग्रामीण साख समग्रीकरण योजना' प्रस्तुत की, जिसका मूल स्रोत राज्य की सूची वित्तीय, प्रशासन सम्बन्धी तथा यांत्रिक सहायता है। कमेटी के अनुसार इसका सर्व प्रथम उद्देश्य यह है कि ऐसी स्थिति आयोजित की जाय, जिसमें सहकारी संस्थायें तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली अन्य संस्थायें अपने व्यक्तिगत संकुचित दृष्टिकोण एवं लाभ

[1] Commerce 1954, p 366.

को छोड़कर कृषक की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में संलग्न हों। इस योजना के अन्तर्गत सरकार का कार्य केवल नियन्त्रण करना, सलाह देना अथवा प्रशासन करने के अतिरिक्त उक्त त्रि-सूत्री सहायता प्रदान करना होगा। इस कारण योजना में प्रत्येक स्तर पर तथा प्रत्येक क्षेत्र में राज्य को विभिन्न संस्थाओं के साझे में कार्य करने का सुझाव है। ऐसा साझा चार-सूत्री होगा :—(१) सहकारी साख के क्षेत्र में, (२) कृषि सम्बन्धी संग्रह, सकलन तथा विपणन के कार्यों में, (३) गोदामों की सुविधायें देने में तथा (४) व्यापारिक बैंकों के कार्य क्षेत्र में सहयोग देना।

बैंकों को सुधारने तथा उनके समुचित विकास के लिए कमेटी ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) केन्द्रीय क्षेत्र में वित्त, प्रशासन तथा तकनीकी सहायता को सुसंगठित करना।

(२) विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक प्रगति के अनुसार ऐसा ही संगठन जिलों में होना चाहिए, जहाँ या तो नये राज्य द्वारा सहकारी बैंक खोले जायँ अथवा पुराने बैंकों को सुसंगठित किया जाय।

(३) जिन बैंकों की शाखायें गाँवों में खोली जायँ, उनको प्रत्येक स्तर पर भूमि बन्धक बैंकों से पूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

(४) नये भूमि बन्धक बैंक तथा ग्राम्य सहकारी समितियों का वृहद् रूप में पुनर्गठन।

इन चारों सूत्रों के आधार पर संगठित होने से ये संस्थायें न केवल कृषि-अर्थ-व्यवस्था को वरन् ग्रामीण औद्योगिक व्यवस्था को भी सुधार सकेंगी, ऐसी आशा है।

इस चतुष्पदी योजना के अतिरिक्त कमेटी के अन्य सुझाव निम्न हैं :—

(१) राज्य द्वारा आयोजित तथा साझे में कृषि सम्बन्धी सकलन, संग्रह तथा विपणन के कार्यों में प्रत्येक स्तर पर भाग लेना चाहिए तथा गोदामों का विकास करना चाहिये।

(२) राज्य द्वारा त्रि-सूत्री सहायता से सहकारिता के आधार पर अन्य आर्थिक कार्यों (जैसे— खेती, सिंचाई, यातायात, पशुओं की नस्ल सुधारने, कुटीर-उद्योग धन्धों को संगठित करने आदि) में भाग लेना चाहिए।

(३) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य राज्य बैंकों को मिश्रित करके एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करना और इस प्रकार नव निर्मित संस्था में राज्य को भाग लेना चाहिए।

(४) प्रत्येक स्तर पर तथा विभिन्न राज्यों में एक केन्द्रीय समिति द्वारा सहकारी-प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, जो सहकारी-विभाग तथा सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों को उचित शिक्षा प्रदान करे।

(५) राज्य सरकारों की जिम्मेदारी के सम्बन्ध में सुझाव है कि "राज्य

सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में सहकारिता के विकास तथा कार्यक्रम के अनुसार अन्य कृषि सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए जिम्मेदार हैं।"

योजना को सफल बनाने तथा पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए कमेटी ने अनेक कोषों के बनाने की सलाह दी। ये कोष इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक के आधीन :—
(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष।
(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।
(२) भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय के आधीन :—
(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्व) कोष।
(३) राष्ट्रीय सहकारिता एवं कोठागार विकास बोर्ड (नव-निर्मित संस्था) के आधीन :—
(अ) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष।
(ब) राष्ट्रीय संग्रहालय विकास कोष।
(४) स्टेट बैंक के आधीन (नव-निर्मित संस्था) :—
(अ) समग्रीकरण तथा विकास कोष।
(५) प्रत्येक राज्य सरकार के आधीन :—
(अ) राज्य कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्व) कोष।
(ब) राज्य सहकारिता विकास कोष।
(६) *प्रत्येक प्रान्तीय राज्य-सहकारी तथा केन्द्रीय बैंक के आधीन :—*
(अ) कृषि साख स्थिरीकरण कोष।

कार्यवाही—

भारत सरकार ने उक्त सुझाव मान कर कार्यवाही प्रारम्भ कर दी है :—

(१) स्टेट बैंक—१ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक के नियन्त्रण द्वारा 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' बना दिया है। स्टेट बैंक पर राष्ट्रीयकरण तिथि से ५ वर्ष में ४०० शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने की जिम्मेदारी है। इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने रिजर्व बैंक द्वारा निर्वाचित क्षेत्रों में नवम्बर सन् १९५८ तक २४४ शाखायें खोली हैं।

(२) (क) *राष्ट्रीय कृषि साख दीर्घकालीन कोष*—इस कोष का निर्माण फरवरी सन् १९५६ में १० करोड़ रुपये से किया गया तथा इसमें सन् १९५६-५७ से सन् १९५८-५९ के वर्षों में वार्षिक ५ करोड़ रुपये का अभिदान दिया गया। पहले कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए होगा :—

(अ) राज्य सरकारों को सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी में हिस्सेदार बनने के लिए दीर्घकालीन ऋण देना,
(आ) मध्यकालीन कृषि ऋण देना,

केन्द्रीय सरकार ने अपने कृषि-विभाग का पुनर्गठन किया। दोनों ने दान के रूप में एक धन-राशि भारत सरकार को दी। साथ ही, लङ्काशायर के कपड़े के मिल मालिकों की भी माँग हुई कि भारत में रुई की खेती में कुछ उन्नति की जाये, जिससे उन्हें आवश्यक परिमाण में रुई मिल सके।

सन् १६०१ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि के लिए एक इन्सपेक्टर जनरल की नियुक्ति की, परन्तु धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार की कृषि नीति में शिथिलता आती गई। सन् १६०३ में शाही कृषि अनुसन्धान संस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) स्थापित की गई। सन् १६०५ में लार्ड कर्जन के काल में कृषि नीति में कुछ परिवर्तन हुए, क्योंकि लार्ड कर्जन भारतीय कृषि में विशेष रुचि रखते थे। उनके प्रयत्नों के कारण लायलपुर, कानपुर, रङ्गून, नागपुर, पूना और कोयम्बटूर में कृषि महाविद्यालय खोले गये। सन् १६१६ में वैधानिक सुधारों के फलस्वरूप कृषि सुधार का कार्य प्रान्तीय विषय हो गया। इसमें कृषि विभागों का, प्रान्तीय जलवायु और भूमि के अनुसार सगठन हुआ। प्रत्येक प्रान्त के वार्षिक आय व्यय में कुछ राशि कृषि-सुधार के लिए नियोजित होने लगी। इसी अवधि में केन्द्रीय सरकार की ओर से देश के विभिन्न भागों में कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष संस्थाएँ स्थापित हुई।

सबसे पहिले सन् १६२६ में पूना शाही कृषि अनुसन्धान संस्था का पुनर्गठन हुआ, जो सन् १६३. में दिल्ली में लायी गई तथा मुक्तेश्वर में इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ वेटरनरी सायंस एवं करनाल में सेन्ट्रल ब्रीडिंग फार्म की स्थापना की गई। इसी प्रकार केन डेवलपमेंट सेन्टर की कोयम्बटूर में तथा आनन्द में क्रीमरी (Creamery) तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना हुई, जैसे— सुगर टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर, आदि। इसके बाद सन् १६३४ में कृषि विपणन सलाहकार की केन्द्र में नियुक्ति हुई। इस प्रकार कृषि के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमशः विकास होता गया।

सरकार के पास कोई स्थायी योजना नहीं थी, इसलिए कृषि में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी तथा महत्वपूर्ण कार्य अथवा सुधार नहीं हो सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी कृषि की अवस्था के सुधार के लिए थोड़ा सा ही प्रयत्न किया। कृषि से सम्बन्धित खोजों और अनुसन्धान आदि का प्रभाव खेती पर नहीं पड़ा, क्योंकि कृषि के वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा कृषक एक दूसरे से सदैव दूर रहे। सर जान रसल के अनुसार—"भारत में वैज्ञानिक खोजों को संग्रह न करके उनका प्रत्यक्ष उपभोग आवश्यक है।"

कृषि विभाग के कार्य—

प्रत्येक विभाग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान करता था। भूमि की उर्वरता एवं नमी, नाइट्रोजन का संरक्षण, विभिन्न फसलों की खेती का भूमि पर प्रभाव, भूमि को कटाव से बचाने के उपाय, क्षारयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के साधन, विभिन्न फसलों के कीड़े और रोगों को रोकने के उपाय, प्राकृतिक

कृषि के लिए अल्पकालीन १५० करोड रु०, मध्यकालीन ५० करोड रु० और दीर्घ-कालीन २५ करोड रु० की साख सुविधाएँ सहकारी संस्थाओं के माध्यम से ही दी जावेंगी।

तीसरी योजना—

आयोग के अनुसार सहकारिता क्षेत्र का आवश्यक लक्ष्य जनता में मितव्ययिता तथा बचत की आदत डालना है। प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिताओं के कार्यक्रम के अनुसार सदस्यों की ऋण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं।

तीसरी योजना के लिए आरम्भिक रूप से निम्न लक्ष्य निर्धारित किये हैं :—

प्रारम्भिक ग्राम समितियाँ (सेवा-सहकारिताएँ) २५ हजार

सदस्य संख्या	४ करोड
ग्रामीण जन-संख्या का समावेश	५५%
कृषि जनसंख्या का समावेश	७४%
अल्पावधि ऋण	४०० करोड रु०
मध्यावधि ऋण	१६० ,,
दीर्घावधि ऋण	११५ ,,
अनुपातिक सदस्यता	१६०
,, ऋण प्रति सदस्य (अल्प तथा मध्यावधि)	१२० रुपये
प्रत्येक समिति की अनुपातिक शेयर पूँजी	४,८०० रु०
,, *का व्यवस्थापित एवं अन्य* सुरक्षित कोष	१,६०० रु०[1]

प्राथमिक समितियों द्वारा रखा जाने वाला कुल डिपाजिट ३० करोड रु०

इस प्रकार कृषि अर्थ व्यवस्था के सुधार के प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे निश्चय ही कृषकों को महाजनों के पास जाने की आवश्यकता न रहेगी।

———

[1] नवभारत टाइम्स अगस्त ५, सन् १९६०

अध्याय १६

भूमि व्यवस्था, कानून और जमींदारी उन्मूलन

(Land Systems, Tenancies & Abolition of Zamindari System)

"खेती के तरीकों में सुधार निःसन्देह अनिवार्य हैं लेकिन जोकों द्वारा चूसे गए दरिद्र खेतिहरों को इसके लिए शिक्षा देना निरर्थक है, क्योंकि उनके पास इसके लिए साधनों का अभाव है। १८ वीं शताब्दि के यूरोप में भू-व्यवस्था के कानून में परिवर्तन उत्पादन-विधियों और कृषि विपणन के आधुनिकीकरण के पूर्व ही हो चुका था। पहिली बातों के अभाव में अन्तिम दो बातें सम्भव नहीं थीं।"

—आर० एम० टॉनी।

भूमि व्यवस्था मे हम उन 'अधिकारों और जिम्मेदारियों' का अध्ययन करते हैं, जिनका सम्बन्ध भूमि के स्वामित्व और भूमि उपयोग से है। दूसरे शब्दों में :—"भूमि व्यवस्था का सम्बन्ध उन शर्तों एवं अवस्थाओं से है, जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसकी जोत का अधिकार निर्भर करता है।" चूँकि भूमि का मालिक मौलिक रूप से देश की सरकार होती है, इसलिए भूमि व्यवस्था में दो बातों का विवेचन होता है :—

(१) भू-स्वामित्व (Proprietory Rights)—इसमे किन बातों पर भूमिपतियों का भूमि पर स्वामित्व निर्भर रहता है और सरकार के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, यह देखते हैं।

(२) जोत का अधिकार या काश्तकारी (Cultivation Tenures)–इसमे भूमि का जोतने वाला या कृषक कुछ शर्तों पर भूमि स्वामी (जमींदार या राज्य) से जोत के लिए जमीन लेता है। भूमि का 'मालिक होना' और 'उसकी काश्त या जोत', [redacted] दो भिन्न बातें हैं। कृषकों को अंग्रेजी मे टेनेंटस अथवा 'भाटकी' कहते हैं, क्योंकि जिस भूमि पर ये कृषि करते हैं, उस पर उनका निजी स्वामित्व नहीं होता। जिस पद्धति से भूमि किसानों को दी जाती है, उसे 'भाटकी' पद्धति (Tenancy System) कहते हैं।

भू-स्वामित्व (Proprietory Tenure)—

भू-स्वामित्व की भारत मे तीन प्रमुख प्रणालियाँ है :—जमींदारी प्रथा, महालवारी प्रथा और रैयतवारी प्रथा :—

(१) जमींदारी प्रथा—इस प्रथा में भूमि का स्वामी जमींदार होता है, जो सरकार के प्रति जमीन के लगान के लिए उत्तरदायी होता है। जब तक वह लगान

सरकार को चुकाता है, तब तक भूमि का पूर्ण स्वामित्व उसी का रहता है। सरकार को जमींदारों द्वारा दिये जाने वाले लगान का निश्चय दो प्रकार से होता है :—

(क) स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement)—जिसमें लगान की राशि सदैव के लिए एक बार निश्चित हो जाती है। यह बंगाल, बिहार, उड़ीसा में थी। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में रिचार्ड टैम्पल का कथन है—"इङ्गलैण्ड की भाँति भारत में जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव सर्व प्रथम बङ्गाल में हुआ। इस प्रकार जमींदार, जो पहिले नम्बरदार, राजा, ठेकेदार और सरकार के प्रतिनिधि थे, उनको सरकार के तत्त्वावधान में उस जमीन के लिए मौरूसी अधिकार दे दिया गया, जहाँ तक कि भूमि का विस्तार था। मालगुजारी का निर्धारण भूमि के लगान का १⁰⁄₁₁ वाँ भाग निश्चित किया, जो जमींदार कृषकों से लेते थे। शेष १⁄₁₁ वाँ हिस्सा जमींदारों के लिए रखा जाता था। *मालगुजारी के उत्तरदायित्व का निर्धारण साधारणतः* भूमि के अधिकार के ज्ञान बिना और भूमि की उर्वरा शक्ति को देखे बिना किया गया। कृषक की रक्षा की इच्छा रखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते थे। जमींदार लोग इस प्रथा में अकमण्य बन गये और किसानों से जितना ज्यादा लगान वसूल कर सकते थे, उतना वसूल करने का यथासम्भव प्रयत्न करते थे। लार्ड कॉर्नवालिस का यह स्वप्न कि लाभदायक पूँजीपति जमींदार जो कृषकों के सन्तोष पर निर्भर रहे, ऐसा अपवाद अपूर्ण ही रहा।"[1]

डा० बी० आर० मिश्रा के शब्दों में—"सरकार ने केवल राजनैतिक कारणों से लाखों कृषकों के अधिकार कुछ लोगों के हाथ में सौंप दिये, जिस कारण जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। जो भूमि के रखने वाले थे, उन्हें स्वामित्व का अधिकार दिया गया और कुछ को उनके अन्तर्गत स्वामित्व का अधिकार दिया गया। श्रेष्ठ क्षेत्रपति और अन्तर्गत क्षेत्रपति के भेद पर विशेष जोर दिया गया, जिस कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति का ह्रास हुआ और उन दोनों के बीच भूमि कर या लगान वसूल करने वाली पूँजीपति जाति का जन्म हुआ।"[2]

(ख) अस्थाई प्रबन्ध (Temporary Settlement)—जिसमें लगान की राशि समय-समय पर (विशेषतः ४० वर्ष के लिए) निश्चित होती है, जिसके बाद पुनः परिवर्तन किया जाता है।

जमींदारी प्रथा बङ्गाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम, मद्रास में प्रचलित थी।

(२) महालवारी प्रथा—यहाँ महाल का अर्थ है गाँव, जिसमें गाँव के कुछ लोग मिलकर सरकार से जमीन का स्वामित्व प्राप्त करते हैं और सम्मिलित रूप से सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार होते हैं। इस कारण महालवारी प्रथा का दूसरा नाम सम्मिलित ग्राम स्वामित्व (Joint Village Tenure) है। इस सम्मिलित दल के प्रत्येक स्वामी को 'सहभागी' कहते हैं।

1. Quoted by a Hauge in "*Man Behind the Plough*". Page 235.
2. B R Mishra - Land Revenue Policy in U. P. Page 197.

वैधानिक रीति से मालगुजारी के भुगतान के लिए ये सभी सहभागी सम्मिलित रूप से सरकार के प्रति उत्तरदायी है। यदि एक सहभागी मालगुजारी नही देता तो सरकार अन्य सहभागियो से वसूल कर सकती है। किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही है, अपितु प्रत्येक सहभागी स्वतन्त्र रूप से अपनी जमीन का स्वामी हो गया है। उसकी व्यवस्था पर उसका अपना ही अधिकार होता है और केवल अपने भूमि की मालगुजारी के भुगतान के लिए ही सरकार के प्रति जिम्मेदार है। यह प्रथा उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा मध्य-प्रदेश मे थी।

(३) रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—इसमें किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है, इसलिए मालगुजारी सरकार को ही देता है। मालगुजारी लगभग हर ३०-४० वर्ष बाद निश्चित होती है। इसमे किसान वैधानिक रीति से भूमि का पूर्ण स्वामी नही होता, किन्तु व्यवहार में वह स्वामी ही रहता है। यह प्रथा मद्रास, बम्बई और बरार मे प्रचलित है।

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)—

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त बंगाल में सर्व प्रथम लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा सन् १७६३ में किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्वावधान मे इस प्रथा का अधिक विकास हुआ। इस कारण कम्पनी को बङ्गाल से स्थायी कर मिल जाता था, जिसको कम्पनी बहुत अच्छा समझती थी। अतएव यह प्रथा बनारस, उत्तरी मद्रास, मध्य-प्रान्त और दक्षिणी मद्रास मे भी लागू की गई। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त को आगे बढाने का प्रश्न कम्पनी का शासन समाप्त होने पर वाद-विवाद के लिए आया। सरकार ने अपने पूर्व अनुभव से इसके दोष जान लिये थे, अतः इस प्रथा को आगे बढाने के प्रश्न को मजबूती से दबा दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली पूरे बङ्गाल, बिहार के ⅘ भाग, असम के ⅕ भाग और उत्तर-प्रदेश के $\frac{1}{10}$ भाग में पाई जाती है। अर्थात् देश की ४२% कृषि भूमि पर यह प्रथा लागू होती है।

स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में—

भूमि की स्थायी व्यवस्था के पक्ष मे निम्न दलीलें दी जाती हैं :—

(१) आर्थिक दृष्टि से सरकार को एक निश्चित धन लगान के रूप में मिल जाता था तथा राज्य को समय-समय पर लगान निर्धारण व वसूली के लिए अधिक व्यय नही करना पड़ता था।

(२) राजनैतिक दृष्टि से जमीदारों की स्वामि-भक्ति अंग्रेजों को प्राप्त हो गई, जिससे वे अपने राज्य की नींव दृढ कर सके।

(३) सामाजिक दृष्टि से जमींदार कृषकों के स्वाभाविक नेता बन गये, जो अपनी शक्ति जन-साधारण को साक्षर बनाने एवं स्वच्छता के सम्बन्ध मे जानकारी देने मे व्यतीत करते थे।

(४) कृषकों की दृष्टि से इस प्रथा ने कृषि को सुरक्षित, उन्नत और उद्यमशील बना दिया।

(५) अन्त में, अस्थायी बन्दोबस्त में उत्पन्न होने वाले जो दोष हैं, उनसे इस प्रथा ने छुटकारा दिलाया, जैसे—मालगुजारी के पुनः निर्धारण के समय कृषक को कष्ट देना और पुनर्व्यवस्था के लिए धन का अपव्यय आदि।

जमींदारी प्रथा के दोष—

ये सब लाभ बहुत बड़ी कीमत देकर प्राप्त हुए। सन् १९३८ में बंगाल की भूमि व्यवस्था की जाँच करने के लिए सर फ्लाउड की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई। इसकी यह मान्यता है कि जमींदारी प्रथा के कारण बहुत सी कुरीतियों का बोलबाला हो गया, अतः यह प्रथा किसी भी रूप में राष्ट्र के लिए लाभकर नहीं हो सकती। फ्लाउड समिति के अनुसार इस प्रथा में निम्न दोष हैं :—

(१) स्थायी व्यापार वाले प्रान्तों में सरकार ने सदा के लिए भूमि-कर निश्चित किया। फलस्वरूप भविष्य में कृषि-उत्पादन की वृद्धि में हिस्सा बँटाने में सरकार वंचित रही और इन प्रान्तों में सरकारी भूमि-कर की दर बहुत कम रह गई। समाज में आर्थिक असमानता का बीजारोपण हुआ। जन-संख्या की वृद्धि अथवा कृषि की उन्नति के फलस्वरूप अनुपार्जित आय में सरकार का कोई भाग न रहा। सरकारी भूमि कर का सम्बन्ध भूमि की उर्वरता से न रहा और यह एक जिले से दूसरे जिले में परिवर्तित होता गया तथा भविष्य में और भी अधिक असमानता होने की आशा है। इस कारण सरकार को बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ी, क्योंकि जमींदारी के अन्तर्गत खानों, नदियों, तालाबों आदि की आमदनी में उसका कोई भाग नहीं है।

(२) जमींदारों से ही भूमि कर प्राप्त करने के कारण सरकार किसानों के प्रति उदासीन हो गई और उनके साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने अथवा उनके सम्बन्ध में पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त करने में असमर्थ रही। अतः सरकार और कृषक के बीच एक अभेद्य दीवाल खड़ी हो गई, जिससे कृषकों का हित सरकार की आँखों से ओझल हो गया।

(३) इस व्यवस्था से समाज के कुछ वर्गों की क्षमता तथा कर्मण्यता नष्ट हो गई। प्रारम्भ में जमींदारों से ऐसी आशा थी कि वे इङ्गलैंड की भाँति यहाँ भी एक ऐसा वर्ग तैयार करेंगे, जो किसानों की सुरक्षा कर उन्हें भूमि की उन्नति तथा कृषि विकास के लिए आर्थिक सहायता देगा तथा जमींदारों और किसानों का सम्बन्ध घनिष्ट हो सकेगा। परन्तु ये सभी आशाएँ व्यर्थ रहीं।

(४) अनुपस्थित जमींदारों की भूमि का प्रबन्ध ऐसे लोगों के हाथ में आ गया जिनको किसानों के प्रति कोई भी सहानुभूति नहीं थी, अतः

आपस का सम्बन्ध दिन प्रति दिन बिगड़ता गया। इस प्रकार जमींदारों और किसानों के बीच भू-उपस्वत्वधारी (Sub tenants) मध्यस्थों की संख्या बढ़ती गई और कहीं कहीं तो उनकी संख्या ५० से भी अधिक हो गई। फलस्वरूप भूमि के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के लिए कोई भी उत्तरदायी न रहा। वास्तव में इस मध्यस्थ वर्ग से कृषि को कोई भी सहायता नहीं मिलती। अतः इनका बना रहना कृषि की उन्नति के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है।

(५) बंगाल में तथा जमींदारी व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भूमि व्यवस्था जटिल होने तथा किसानों द्वारा मौरूसी अधिकार खोने के कारण मुकद्दमेबाजी बहुत अधिक बढ़ गई। इसमें सरकारी कचहरियों का अधिकांश समय भूस्वत्व सम्बन्धी झगड़ों के निर्णय करने में जाता है। इन मुकद्दमों में दोनों पक्षों को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, जो सर्वथा असहनीय है।

(६) वर्षा की अधिकता, बाढ़, अकाल या अन्य प्रकार के संकट काल में स्थायी व्यवस्था वाले क्षेत्रों के किसानों को लगान की छूट दिलाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि यह जमींदारों के हित में नहीं होता कि वे सरकारी भूमि कर में से सौ रुपये की छूट लेकर किसानों के लगान में हजार रुपये की छूट दें।

(७) मौरूसी अधिकार घटने के साथ-साथ बँटाई की प्रथा तीव्रता से बढ़ रही है, जिससे स्पष्ट है कि कृषकों के रहन-सहन का स्तर नीचा होता जा रहा है। किसानों की रक्षा के लिए समय समय पर काश्तकारी कानून पास किये गये, फिर भी अधिकांश भूमि जोतने वाले कृषकों का भूमि पर अपना कोई स्वत्व नहीं है। असहनीय लगान के भार से कृषकों की रक्षा तथा भूमि अधिकार की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई विशेष आयोजन नहीं हुआ है।

(८) देश के बहुत से भागों में नजराने की प्रथा इस समय भी चालू है। भूमि की माँग बढ़ जाने का जब भी अवसर मिलता है, जमींदार किसानों को अधिकार से वंचित करके, ऊँचे नजराने पर दूसरों को भूमि दे देते हैं। कभी-कभी तो ऐसी भूमि को उपजशील बना कर अच्छी उपज पैदा करना ही किसानों के लिए अभिशाप हो जाता है। क्योंकि जमींदार उनसे ऊँचे लगान माँगने लगते हैं और इन्कार करने पर उनसे भूमि छीन कर दूसरों को दे देते हैं। इसके अतिरिक्त वे बहुत काल तक किसानों से अनेक प्रकार के धन वसूल करते हैं। अभी इन बेगारों के चिन्ह किसी न किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसी

दशा में जब किसानो के पास जीवन-यापन के लिए पर्याप्त भूमि नही है तो बेगार की मार से उनकी कमर और भी टूट जाती है ।

इन कठिन परिस्थितियो के कारण किसान लगान देने में असमर्थ हो जाता है । द्वितीय महायुद्ध के पहले बकाया लगान बहुत बढ गया था, जिसके कारण जमीदारो को अत्यन्त कठिन समस्याओ का सामना करना पडा । कचहरियो की सहायता से भी वे लगान की वसूली मे असफल रहे । फ्लाउड कमीशन के अनुसार इस समस्या का सन्तोषपूर्ण हल तब तक नही हो सकता, जब तक जमीदारी उन्मूलन तथा स्थायी व्यवस्था का विघटन नही होता ।

काश्तकारी सम्बन्धी अधिनियम (Tenancy Legislation)—

हमने देखा कि भूमि प्रथा से अनेक भयङ्कर दोष उत्पन्न हुए हैं । इस कारण जमीदार से लगाकर काश्तकारो के बीच अनेक स्वार्थी मध्यस्थो का प्रादुर्भाव हुआ । साथ ही अनुपस्थित जमीदारी प्रथा ने जोर पकडा, जो केवल नियम विरुद्ध धन का ध्यान रखती है, भूमि की उन्नति का नही । इससे प्रायः काश्तकारो को लगान की वृद्धि *का शिकार या भूमि से निकाले जाने का सामना करना पडता है । इस प्रथा ने कृषि* सम्बन्धी बहुत से असन्तोष को उत्पन्न किया । इस कारण सरकार को कृषकों के अधिकारो की सुरक्षा के लिए बीच मे आना पडा । सरकार की मध्यस्थता बगाल के सन् १८५९ के लगान कानून से आरम्भ हुई ।

इस कानून ने व्यवस्थित काश्तकारो को तीन वर्गों मे विभक्त किया :—(१) जो काश्तकार सन् १७९३ के बाद से उसी लगान पर भूमि जोत रहे हैं उनके लगान *में हमेशा के लिये कोई प्रयत्न नही किया गया । (२) वे लोग जिनको कि एक ही* लगान में भूमि को जोतते हुये २० वर्ष हो गये है, उनके लिये भी यह मान लिया गया कि सन् १७९३ के बाद वे इसी लगान पर भूमि जोत रहे है, यदि इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नही हो । (३) वे काश्तकार जिनको कि १२ वर्ष के लिए भूमि की आवश्यकता थी, उन्हें मौरूसी हक दे दिया गया । नियम के अनुसार अगर कोई कारण हो तो उनके लगान मे वृद्धि की जा सकती है, *अन्यथा नही ।*

किन्तु यह कानून असफल सिद्ध हुआ । जमीदार ने यथाशक्ति किसी भी काश्तकार को १२ वर्ष से ज्यादा समय के लिए एक साथ काश्त नही करने दी, जिस कारण उसे मौरूसी हक प्राप्त नही हो सके । उन्होने लगान को बढाने, पुराने काश्तकारो को अधिकारच्युत करने और उनको परेशान करने के लिये अनेक हथकन्डो को काम में लिया। *कृषि के प्रति लोगो में असन्तोष उत्पन्न हो गया और साथ में विद्रोह भी, अतः दूसरा* काश्तकारी नियम स्वीकार किया गया, जो बगाल का सन् १८८५ का काश्तकारी नियम के नाम से प्रसिद्ध है । इस नियम का उद्देश्य उन काश्तकारो को जिनके पास भूमि थी, उस पर उन्हें मौरूसी हक देना था ।* ऐसा करने पर भी कीमतो के साथ लगान

* R. C. Dutta · Economic History of India in the Victorian Age, P. 146.

में औसत दर से वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त भूमि के विनिमय को नियम युक्त सिद्ध करने के लिये जमींदार ने कुछ रुपया भी लिया। सन् १६२८ में एक और अधिनियम बनाया, जिसके कारण मौरूसी हक वाले कुछ परिस्थितियों में भूमि का विनिमय कर सकते थे। जमींदार भी हकशफे के अनुसार विनिमय की कीमत से १०% ज्यादा देकर उस भूमि को खरीद सकता था। इससे हकशफे का अधिकार पुनः जमींदार को प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि किसी बात पर भूमि स्वामी और जनता के समझौते के लिए कोई मनाय हो तो जमींदार अपनी इच्छानुसार करता था।*

इस बीच अन्य प्रान्तों ने भी बंगाल के काश्तकारी नियम के अनुसार जमींदार ताल्लुकेदार और खेतों के लिए नियम बनाये। आगरा के लगान एक्ट में सन् १६२१ और सन् १६२६ के काश्तकारी कानून के अनुसार संशोधन हुए। जो भूमि के स्वामी नहीं है, उन्हें इस कानून के अन्तर्गत जीवन भर भूमि रखने का अधिकार मिल गया और कानूनी काश्तकार को अन्य ५ वर्षों के लिए अपनी भूमि पर इस कानून के अन्तर्गत रहने का अधिकार मिला। जमींदार कानूनी काश्तकार के लगान में २० वर्षों के बाद वृद्धि कर सकता था। इस काश्तकारी कानून के कुछ अंशों तक सब काश्तकारों का संरक्षण हुआ, केवल जमींदारों के यहाँ कार्य करने वाले खेतिहर मजदूरों का नहीं। इस कानून के अन्तर्गत जीवन के लिए कानूनी काश्तकार के वारिस को दूसरे ५ वर्षों के लिए उसी भूमि पर रहने का अधिकार मिल गया। ऐसी सुविधा अनेक काश्तकारों को मिली। जमींदार कानूनी काश्तकार के लगान में वृद्धि १० वर्ष पश्चात् ही कर सकता था, पहिले नहीं।

मद्रास में जमींदार की भूमि पर काश्त करने वाले किसानों का कानूनी संरक्षण सर्वप्रथम मद्रास के सन् १६०८ के भूमि कानून द्वारा दिया गया। इस कानून के अनुसार जमींदारी क्षेत्र के काश्तकार को मौरूसी हक कानून द्वारा निश्चित लगान देते रहने के कारण दिया गया और उसमें यह गुञ्जायश रखी कि अगर जमींदार भूमि के लगान में वृद्धि करना चाहे तो उसे कुछ मुख्य कारणों सहित, जैसे फसल की कीमत का बढ़ जाना आदि, एक प्रमाण-पत्र राजस्व न्यायालय में देना चाहिये। मध्य-प्रान्त में सन् १६३० में एक काश्तकारी कानून पास किया गया, जिसमें मालगुजार और काश्तकार के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण था। यद्यपि एक प्रान्त में विभिन्नताएँ हैं तो भी इन कानूनों के अनुसार मौरूसी काश्तकारों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसको स्वच्छन्दता से बढ़ाये जाने वाले कर से संरक्षण मिला। काश्तकारी की स्थिरता हो गई और उन्हें अपनी भूमि का विनिमय करने का अधिकार मिला। इन कानूनों का परिणाम सर्वत्र एक ही था। भूमि व्यवस्था में जो कुरीतियाँ थीं, वे इन कानूनों से नष्ट कर दी गईं। फ्लाउड जाँच समिति के अनुसार "यह सत्य है कि इन कानूनों के अन्तर्गत काश्तकारों का भूमि पर अधिकार हो गया है, किन्तु ज्यादा संख्या

* *Hague, P. 270.*

मे ऐसे भी काश्तकार है, जिन्हे कुछ भागो मे भी भूमि पर स्वामित्व नही मिला है। उन्हे लगान के बढ़ने और काश्तकारी से हटाये जाने के लिये संरक्षण नही मिला।"

नये काश्तकारी नियम—

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही सब जगह जनता के मन्त्रि-मण्डलो ने राज्य सत्ता हस्तगत की। उनका पहला कार्य काश्तकारी नियमो मे सुधार करना था।

काश्तकारी कानूनो के मुख्य उद्देश्य निम्न थे :—

(१) कानून द्वारा लगान में वृद्धि करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना।
(२) स्वतन्त्रता से काश्तकारो को भूमि से अलग करने की प्रणाली पर रोक लगाना।
(३) काश्तकारो को मौरूसी हक देना, जिसमें एक भूमि परम्परागत हस्तान्तरित की जा सके।
(४) *बकाया लगान के सम्बन्ध मे कुर्की के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना* और साथ में जानवरो, बीज और औजारो को कुर्की से मुक्त करना।
(५) लगान मे कुछ समय के लिये जो रोक लगा दी जाती है, उससे कृषको को भी रोक द्वारा या लगान मे कमी से लाभ पहुँचाना।
(६) काश्तकार द्वारा भूमि पर किए जाने वाले सुधार के लिये उसे हर्जाना देने की व्यवस्था करना।

जमींदारी उन्मूलन—

भारतीय भूमि व्यवस्था के विवेचन मे यह स्पष्ट है कि उसमे अनेक दोष है, आर्थिक दृष्टि से जमीदारी उन्मूलन का विशेष महत्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञो की अनेक समितियो ने समय समय पर जमीदारी प्रथा का अन्त करने की सिफारिश की।

सन् १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने भूमि-सुधार कार्यक्रम को अपने आर्थिक कार्यक्रम मे महत्वपूर्ण स्थान दिया। इस कार्यक्रम की निम्न प्रमुखताएँ है :—

(१) मध्यस्थो का उन्मूलन तथा काश्तकारी सुधार करना, जिससे काश्तकारो *के भूमि की सुरक्षा हो, उपज के ⅕ से ⅙ भाग तक समुचित लगान* निश्चित करना तथा अन्त मे काश्तकारो को भू-स्वामित्व दिलाना।,
(२) भूमि-धारण की सीमा निर्धारण करना,
(३) *भूमि की चकबन्दी करना एवं भूमि का विभाजन एवं अपखण्डन* रोकना, तथा
(४) सरकारी कृषि का विकास।

प्रकार प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या सन् १९५८-५९ में १८३ हजार हो गई थी, जबकि सन् १९५१ में कुल १०५ हजार प्राथमिक कृषि समितियाँ थी। सिंचित क्षेत्र योजना के अन्त तक ७०० लाख एकड़ हो जायगा, ऐसी आशा है। दूसरी योजना में सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र में अच्छे बीजों का वितरण करने के लिए ४,००० बीज फार्म हो जायेंगे। अन्य प्रगतियों में ३६ लाख मि० एकड़ भूमि का रिक्लेमेशन, २२० लाख एकड़ भूमि को हरी खाद की पूर्ति, २७ लाख एकड़ भूमि में भूमि संरक्षण कार्यक्रमों का प्रसार हो जायगा। साथ ही, सन् १९६०-६१ तक नेत्रजनीय खाद की खपत ५५,००० टन (१९५०-५१) से ३,६०,००० टन हो जायगी। इसके अलावा अन्य उपलब्धियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलोचना—

इस प्रगति के होते हुए भी हमारे कृषि विकास कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनकी ओर विश्व बैंक के अध्ययन दल ने सकेत किया है कि "प्रयत्नों का बिखराव कुछ प्रमुख बातों पर केन्द्रित न करते हुये अति विस्तृत क्षेत्र में हुआ है। यदि इस ढाँचे को समुचित बनाकर विश्वास और प्रलोभन के साथ पर्याप्त सुविधाएँ दी जायें तो उपलब्ध स्रोतों में ही उल्लेखनीय परिणाम मिल सकते हैं। यदि रसायनिक खाद की पूरी माँग की पूर्ति की जा सके तो केवल इसी से खाद्यान्न के मूल लक्ष्य और सशोधित लक्ष्य के अन्तर को पूरा किया जा सकता है।"[1]

तृतीय पंच वर्षीय योजना—

विकास की योजना में आवश्यक रूप से कृषि को प्रथम प्राथमिकता देनी होगी। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का महत्व तथा निर्यात एवं उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही तृतीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य है।"[2] इसी दृष्टि से तीसरी योजना में व्यय का आयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है:—[3]

(करोड़ रुपयों में)

	दूसरी योजना में	तीसरी योजना में	प्रतिशत दूसरी योजना	प्रतिशत तीसरी योजना
(१) कृषि एवं सिंचाई की छोटी योजनाएँ	३२०	६२५	६'६	८'६
(२) सामुदायिक विकास एवं सहकारिता	२१०	४००	४'६	५'५
(३) सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनायें	४५०	६५०	९'८	९'०

1 Commerce, 20 Sept. 1958, page 461-62.

2 A Draft Outline of Third Five Year Plan, p. 23.

3. — Do — p. 27 Table 3 p. 23. & pages 147-151.

राज्य*	जमींदारी का क्षेत्रफल (एकड़ लाखों में)	कुल रुपया (करोड़ में)	मुआवजा औसत प्रति एकड़ (रुपयों में)
(१) मद्रास	१७४·६	१५·५	६
(२) उत्तर-प्रदेश	५२५·००	१४०·०	२७
(३) बिहार	३६६·६४	१५०·०	३८
(४) मध्यप्रदेश (विलय क्षेत्रों को निकाल कर)	३६४·४०	६८·५	१७
(५) पश्चिमी बंगाल	१२७·००	२५·०	२०
(६) उड़ीसा	१००·००	१०·०	१०
(७) आसाम	१६·७२	५·०	३०
कुल	१,७३४·२२	४१४·०	२४

इस तालिका के अनुसार कथित ७ राज्यों का जमींदारी उन्मूलन का कुल क्षेत्र १७ करोड़ ३४ लाख एकड़ से अधिक है और प्रान्तीय सरकार को इसके लिए जमींदारों को कुल ४ अरब १४ करोड़ रुपये मुआवजे के रूप में देना है। यदि हम उन सभी राज्यों की समस्या पर विचार करें, जिनके विषय में अभी सूचना नहीं मिल सकी है तो मालूम होगा कि जमींदारी उन्मूलन के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र की वृद्धि के साथ ही मुआवजे की रकम बढ़ेगी। इस तालिका से स्पष्ट है कि मुआवजे की रकम में प्रति एकड़ काफी भिन्नता है। एक ओर बिहार में प्रति एकड़ मुआवजे की रकम ३८ रुपया है, जहाँ मद्रास में सिर्फ ६ रुपया ही है।

साधारणतः सभी राज्यों में थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ समान योजना लागू की गई, जिसके अनुसार जमींदारों, जागीरदारों इत्यादि की जमीन संरक्षक बोर्ड (Trust) या कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन राज्य सरकारों ने अपने हाथ में ले लीं और भू स्वामियों को बेचे न जा सकने वाले बोंड (Non-negotiable Bonds) में मुआवजा दिया गया। जमींदार इन बोंडों को ४० वर्ष के अन्दर भुनाकर नगद राशि प्राप्त कर सकते हैं। *जमींदारों से उनकी खुदकाश्त अथवा सीर भूमि नहीं ली गई,* जिसका वे उपयोग कर सकते हैं तथा बंजर जमीन, चरागाह और जंगल इत्यादि गाँव की जनता के लाभ के लिए ग्राम पंचायत के अधीन किए गये। कुछ कानूनों में, भविष्य में एक आदमी कितनी जमीन रख सकता है अथवा खुदकाश्त करने के लिए अधिकतम *कितनी जमीन होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ,* उत्तर-प्रदेश में एक व्यक्ति केवल ३० एकड़ जमीन रख सकता है और जहाँ जमीन पर मशीनी कृषि होती है, वहाँ भूमि का स्वामी अपनी काश्त के लिए एक निर्धारित मात्रा

* Reserve Bank of India Bulletin, June 1950

ही रख सकता है। बम्बई में यह मात्रा ५० एकड़, पंजाब में ५० 'स्टैण्डर्ड' एकड़ और हैदराबाद में आर्थिक दृष्टि से प्रति व्यक्ति के पास कम से कम जितनी जमीन होनी चाहिए, उसकी पाँच गुनी अधिक निर्धारित की गई है। उत्तर-प्रदेश में भाटकी (Tenancy) समस्या कानून रय्यतवारी प्रथा वाले क्षेत्रों से भिन्न है, इसलिए यहाँ यह मात्रा कम है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए जमीन की न्यूनतम और अधिकतम मात्रा निर्धारित करना आवश्यक है, जिससे जमीन के छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाने या कुछ व्यक्तियों के कब्जे में अधिक मात्रा में आ जाने से जमींदारी उन्मूलन का उद्देश्य नष्ट होने से बच जाय और उसका लाभ उठाया जा सके। इस सीमा को निर्धारित करने के लिए :— (१) भू-राजस्व, (२) भूमि की कुल उपज का मूल्य, (३) उत्पादन में से उत्पादन व्यय इत्यादि अलग करके शेष का मूल्य, (४) जमीन पर प्राप्त होने वाली अनुमानित कीमत तथा (५) पट्टे के मूल्य (Lease Value) को आधार बनाया जा सकता है।

प्रतिफल (हानिपूर्ति) का आधार—

विभिन्न जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी विधानों में प्रतिफल के विभिन्न आधार दिए गये हैं। असम, बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश में मुआवजे का आधार जमीन से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (Net Income) में है। उत्तर-प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' तथा मद्रास में 'आधारभूत वार्षिक आय' से है। वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति के आधार लगभग समान ही हैं। जमींदारी की कुल आय में से भू-राजस्व कर (Cess), प्रबन्ध का व्यय, रैयत के लाभ के लिए किये गये कार्य में व्यय और कृषि आय-कर इत्यादि घटाकर ही वास्तविक आय मालूम की जाती है। प्रबन्ध और रैयत के लाभ के लिए किये गये कार्य में जो राशि व्यय की जाती है, वह सभी राज्यों में समान नहीं है। वास्तविक आय निश्चित करने के बाद इसी आधार पर मुआवजा निर्धारित किया गया है। मद्रास में 'मूल-भूत वार्षिक आय' निकालने के लिए रैयतवारी से प्राप्त वार्षिक आय के एक-तिहाई भाग का ५% कर्मचारियों पर व्यय करने और वसूली न हो सकने के लिए अलग कर दिया जाता है और ३½% सिंचाई व्यवस्था के व्यय के लिए काट लिया जाता है। इसके बाद जो आय शेष रहती है, वही 'मूल-भूत वार्षिक आय' कहलाती है। यह पद्धति अन्य राज्यों से भिन्न है, क्योंकि हानिपूर्ति जमींदारी से प्राप्त होने वाली वर्तमान वास्तविक आय पर आधारित न होकर रय्यतवारी प्रथा लागू होने के बाद भू-राजस्व के २५% पर आधारित होगी।

उत्तर-प्रदेश में हानिपूर्ति की दर वास्तविक सम्पत्ति की आठ गुनी है। इसके साथ ही जो जमींदार १०,००० रुपये से अधिक भू राजस्व नहीं देते, उनको जमींदारी उन्मूलन के पश्चात वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर एक गुना तक पुनर्वास अनुदान दिया जायगा। ये अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिए अधिक गुने होंगे

और अधिक आय वालो के लिए क्रमशः कम होते जावेंगे। हानिपूर्ति बेचे न जा सकने वाले बौन्डो (Non Negotiable Bonds) में दी जायगी। हानिपूर्ति की रकम यदि २० रुपये के सबसे छोटे बौन्ड से कम हो या भुगतान की रकम ५० रुपये से अधिक न हो तो हानिपूर्ति नकद दी जायगी। बौण्ड की अवधि ४० वर्ष होगी और प्रति वर्ष २½ रु० प्रतिशत की दर से इन पर वाजिब ब्याज मे से अर्द्ध-वार्षिक किश्तो में रुपया दिया जायगा। जमीदारो के स्वत्वो की जाँच करने मे और हानिपूर्ति देने मे काफी समय लगेगा, इसलिए जमीदारो को कठिनाई से सुरक्षा के लिए अन्तरिम अवधि मे अस्थाई मुआवजे की व्यवस्था की गई है, जो नकद दी जावेगी। स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रो से इस अन्तरिम अवधि मे जितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, उसका १½ गुना प्रतिफल दिया जायगा। अन्य बातो मे प्रतिफल की रकम भू-राजस्व के बराबर होगी। जहाँ भू-राजस्व नही दिया जाता, वहा अस्थाई हानिपूर्ति अनुमानित भू-राजस्व की रकम के आधार पर दी जायगी।

हानिपूर्ति के भुगतान मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हानिपूर्ति या तो नकद दी जाय या बेचे न जा सकने वाले बौंडो में। जमीदारो के दृष्टिकोण से यदि हानिपूर्ति नकद दी जाती तो सर्वोत्तम होता। क्योकि इससे वह कोई नया कारोबार खोलते या उद्योगो मे रुपया लगाते, जिससे उन्हें बराबर आय मिलती रहती। परन्तु हानिपूर्ति की राशि का नकद भुगतान सम्भव नही है, क्योकि राज्य सरकारें एक साथ ही इतनी अधिक रकम देने की व्यवस्था नही कर सकती। उत्तर प्रदेश में जमीदारी उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है। किसानो को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। जमीदारो को हानिपूर्ति की रकम नकद देने के लिए राज्य सरकारें जनता से ऋण या भारत सरकार से वित्तीय सहायता ले सकती थी। परन्तु मुद्रा मण्डी की स्थिति ऐसी नही है कि राज्य सरकारें हानिपूर्ति के लिये इतनी बडी रकम प्राप्त कर सकें। भारत सरकार ने भी इस कार्य के लिए राज्य सरकारो को सहायता देने मे असमर्थता प्रकट की। यदि जमीदारो को नकद रुपयो मे हानिपूर्ति न देकर बेचे जा सकने वाले बौंडो मे दी जाती तो यह सम्भव था कि जमीदार इन बौंडो को बाजार मे बेच देते, जिससे सरकारी प्रतिभूतियो के बाजार मे मन्दी आ जाती। ऐसा होने से पूँजी बाजार के साधन सकुचित हो जाते। इन्ही सब बातो को ध्यान मे रख कर यह निश्चय किया गया कि हानिपूर्ति बेचे न जा सकने वालो बौण्डो मे दी जाय, परन्तु इसमे जमीदारो के प्रति पूरा-पूरा न्याय नही होता है, क्योकि जमीदारो को उनकी हानिपूर्ति की रकम और उस ब्याज का भुगतान काफी लम्बे समय बाद किया जायगा, जिसमे इस बीच अपना वर्तमान व्यय चलाने मे या कोई नया कारोबार स्थापित करने मे जमीदारो को बहुत कठिनाई होगी।

राज्य सरकारो को बौंडो का मूलधन और ब्याज का भुगतान करने में विशेष कठिनाई नही होगी, क्योकि इस बीच भू राजस्व से राज्य सरकारो की आय बढेगी,

जो कि इस आय से क्षतिपूर्ति दे सकेंगी। जैसा कि निम्न तालिका में यह स्पष्ट है कि जमींदारी उन्मूलन से राज्य की आय में प्रति वर्ष कुल मुआवजे की ४·७% वृद्धि होगी, जिसमें से प्रति वर्ष भुगतान किया जा सकता है :—

तालिका[1]

राज्य	मुआवजे की रकम (करोड़ रुपयों में)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व (करोड़ रुपयों में)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व कुल रकम का प्रतिशत
मद्रास	१५·२	१ (अ)	६·४५
उत्तर-प्रदेश	१४०	७	५
बिहार	१५०	६·५	४·३३
मध्य-प्रदेश (विलय क्षेत्र निकाल कर)	६८·५	२·७५ (अ)	४
पश्चिमी बंगाल	३५	१·८ (अ)	५·६
उड़ीसा	१०	०·६७ (अ)	६ ७
असम	५	०·२० (अ)	४
कुल	४१४·०	१६·४२	४·७१

जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार का व्यावहारिक रूप[2]—

उत्तर-प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन—

उत्तर प्रदेशीय धारा-सभा ने १० जनवरी सन् १६५१ को उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन बिल पास किया। बिल को २६ जनवरी सन् १६५१ से लागू करने का विचार था। परन्तु कुछ जमींदारों की प्रार्थना पर उच्चतम् न्यायालय ने उत्तर-प्रदेश सरकार को इसे कार्यान्वित न करने का आदेश दिया, जिससे बिल को कार्यान्वित न किया जा सका। इसके बाद भारतीय संविधान में आवश्यक संशोधन होने के बाद उच्चतम् न्यायालय ने इसे वैध घोषित किया, अतएव २६ जनवरी सन् १६५२ से इस नियम को लागू कर दिया गया। सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश में लगान वसूल करने का काम अब राज्य सरकार करती है। जमीदारों के पास मुआवजे के कागज भेज दिए गये हैं और व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी प्रकार से इस प्रथा को भंग कर दिया गया है।

इस नियम की प्रमुख व्यवस्था निम्न प्रकार हैं :—

(१) २६ जनवरी सन् १६५२ से मध्यजनों के सभी हित, जिसमे उनके

1. Reserve Bank of India Bulletin, June 1950.
(अ) = अनुमान
2. Based on H. D. Malviya's : Land Reforms in India (1954).

कृषि की भूमि के अधिकार, रास्तो और सडको के अधिकार, आबादी, ऊसर-भूमि, जंगलो, नाव पुलो, कुंओ, तालाबो, पानी के बम्बे, खानो और खनिज पदार्थों तथा अन्य भू गर्भ अधिकार सम्मिलित हैं, सरकार को प्राप्त हो गये, परन्तु मध्यजनो का उनकी सीर, खुदकाश्त, बगीचो, निजी कुंओ, सीर अथवा खुदकाश्त भूमि के पेडो और आबादी के वृक्षो पर अधिकार रहा।

(२) जमीदारों को जो हानिपूर्ति दी गई उसकी दर वास्तविक सम्पत्ति के आठ गुनी रखी गई, परन्तु साथ ही यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक ऐसे जमीदार को जो १०,००० रुपया प्रति वर्ष से अधिक मालगुजारी नही देता है, पुनर्वास अनुदान दिये गये, जिनकी दर १ गुनी से लेकर २० गुनी तक है। जितनी जमीदारी बडी थी, उतनी ही इस अनुदान की दर कम रखी गई। हानिपूर्ति उसी दिन से देय हो गई जिस दिन से जमीदारी ली गई। ५० रु० तक की हानिपूर्ति नकद दी गई। इससे अधिक के लिए ४० वर्ष तक की अवधि के बांड दिये गये, जिन पर ब्याज की दर २½% रखी गई। ऐसा अनुमान है कि उत्तर-प्रदेशीय सरकार को हानिपूर्ति के रूप मे कुल १४० करोड रुपये देने पडे गे।

(३) हानिपूर्ति की रकम को प्राप्त करने के लिए एक जमीदारी उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया। सन् १९४९ मे एक एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसा किसान जो अपने वार्षिक लगान का १० गुना सरकार के पास जमा कर देगा, भूमिधर बन जायेगा। अर्थात् उसे अपनी भूमि मे स्थायी उत्तराधिकारी तथा हस्तान्तरण अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। ऐसे किसान को भूमि च्युत नही किया जा सकता। वह अपनी भूमि का किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है। ऐसा अनुमान लगाया गया कि इस प्रकार १७४ करोड रुपये की रकम सरकार को प्राप्त हो जायेगी, परन्तु अगस्त सन् १९५० तक केवल २७ करोड रुपये ही मिले थे और तत्पश्चात् एकत्रण गति और भी शिथिल हो गई। बाद को यह रकम बदा कर दस गुने के स्थान पर ११ गुना कर दी गई। स्मरण रहे कि भूमिधर को केवल आधा ही लगान देना होता है।

(४) किसान मुख्यतः दो प्रकार के हो, भूमिधर और सीरधर। वे सब किसान जो जमीदारी उन्मूलन कोष मे अपने लगान का दस गुना जमा करा देते हैं, सभी जमीदारी, सीर, खुद काश्त तथा बगीचो के सम्बन्ध मे भूमिधर बन जायेंगे और उन्हें पूर्व वर्णित अधिकार प्राप्त होगे। अन्य सभी किसान साधारणतया सीरधर बन जायेंगे और उन्हें यह अधिकार होगा कि उन्मूलन कोष मे दस गुना जमा करके भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर लें। केवल किसानो के दो छोटे-छोटे ऐसे वर्ग रहेंगे, जिन्हे यह अधिकार नही मिलेगा—आसामी और अधिवासी। आसामी अधिकार बगीचों (Grove land) के किसानों, किसान के आधिमानो (Mortgagees) तथा कुछ अन्य प्रकार के किसानो को दिये गये हैं। सीर भूमि के किसान तथा उप-किसान

अधिवासी बना दिये हैं। इन दोनो वर्गों को यह अधिकार दिया गया है कि वे पाँच वर्ष तक भूमि पर कब्जा रख सकते हैं। सीरदर किसानो को अपनी भूमि के सम्बन्ध में स्थायी तथा उत्तराधिकारी अधिकार प्राप्त होंगे, परन्तु वे अपनी भूमि का केवल कृषि, बाग, फुलवारी अथवा पशु-पालन के लिए ही उपयोग कर सकते हैं।

(५) जमींदारी उन्मूलन के समय वाले किसान अपनी काश्त में कितनी ही भूमि रख सकते हैं। परन्तु भविष्य में कोई भी एक व्यक्ति ५० एकड़ से अधिक भूमि नहीं रख सकता और यदि एक व्यक्ति के पास भूमि की मात्रा ६¼ एकड़ से कम हो जाने की सम्भावना है तो भूमि के विभाजन की आज्ञा नहीं दी जावेगी।

(६) भूमिधरों तथा सीरदारों पर भूमि-कर चुकाने का सम्मिलित उत्तरदायित्व होगा, परन्तु यदि एक व्यक्ति दूसरे की ओर से कर चुकाता है तो उसे वसूली का अधिकार होगा। सरकार का विचार है कि करों को एकत्रित करने के लिए ग्राम-सभाओं का उपयोग किया जावे। सभी प्रकार की सामूहिक भूमि, चरागाह, ऊसर अथवा मरुभूमि जंगल आदि पर गाँव सभा का अधिकार स्थापित किया गया। जैसा कि विदित है कि ग्राम हुकूमत एक्ट द्वारा सभी ग्रामों में सभाएँ और पंचायतें स्थापित की गईं।

इस प्रकार जो उपाय किये गये हैं वे लगभग क्रान्तिकारी हैं और यह आशा की जाती है कि उपर्युक्त सुधारों से ग्रामीण क्षेत्रों में सुख और सम्पन्नता के नये युग का आरम्भ हो गया है। भुगतान की हानिपूर्ति समस्या थोड़ी जटिल है। केन्द्रीय सरकार ने अपनी मुद्रा स्फीति विरोधी नीति के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की सहायता देने से इन्कार कर दिया। परन्तु किसानों से जो रकम वसूल हुई, उससे हानिपूर्ति का एक अंश नकदी में दे दिया गया और शेष का भुगतान बॉडों में दिया गया।

पश्चिमी-बङ्गाल—

अविभाजित बंगाल में सन् १९३८ में एक भू-राजस्व आयोग नियुक्त किया गया, जिसे फ्लाउड कमीशन भी कहा जाता है। इस कमीशन की स्थापना का उद्देश्य प्रान्त की भू राजस्व प्रणाली की जाँच करना था। इस कमीशन ने यह सुझाव दिया कि प्रान्त में सभी प्रकार के मध्यजनों का अन्त होना चाहिए और रैयतवारी प्रथा को अपनाया जावे, जिससे किसानों तथा सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो सके। इस हेतु सन् १९५३ में पश्चिमी बंगाल भू-सम्पत्ति प्राप्त अधिनियम पास किया गया। यह बिल धारा-सभा की एक सम्मिलित निर्वाचित समिति को सौंप दिया गया था, जिसने इसमें कुछ संशोधन किये। इसमें प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न हैं :—

(१) कोई भी मध्यजन (Intermediary) खास जागीर के रूप में घर तथा अकृषि कार्य के लिए अधिक से अधिक २० एकड़ भूमि रख सकता है।

(२) मध्यजन को घर में लगी हुई भूमि को छोड़ कर शेष खास भूमि पर लगान देना होगा।

(३) मुआवजे की दर इस प्रकार निर्धारित की गई है कि कम आय वाले वर्गों को अधिक हानिपूर्ति मिल सके।

(४) जिनकी भूमि में खान है, ऐसे भूमि-पतियों की हानिपूर्ति निश्चित करते समय विशेषज्ञों से राय ले लेनी चाहिए।

(५) मुआवजे की दरें शुद्ध आय पर निर्भर रहते हुए निम्न प्रकार से होनी चाहिए :—

शुद्ध आय Net Income	मुआवजा Compensation
५०० अथवा ५०० रु० से कम	२० गुना
५०१ से १,००० रु० तक	१८ गुना
१,००१ से २,००० रु० तक	१७ गुना
२,००१ से ४,००० रु० तक	१२ गुना
४,००१ से ५,००० रु० तक	१० गुना
५,००१ से २०,००० रु० तक	६ गुना
२०,००१ से १,००,००० रु० तक	३ गुना
१,००,००१ रुपये एवं इससे अधिक	२ गुना

(६) कोई भी भूमिपति कृषि के लिए अपने पास खास भूमि में से २५ एकड़ भूमि रख सकता है। यह उस भूमि के अतिरिक्त होगा जो गृह य कार्यों के लिए रखी गई है।

(७) खेती का उद्देश्य चकबन्दी तथा सहकारी खेती है।

पश्चिमी बङ्गाल में मध्यजनों का पूर्ण अन्त अप्रैल सन् १९५५ तक कर दिया गया। इस हेतु दिये जाने वाले हानिपूर्ति की राशि ७० करोड़ रु० है। अप्रैल सन् १९५६ में भूमि धारण की सीमा २५ एकड़ निश्चित कर दी गई है।

इस राज्य में लगभग भूमि के सब अधिकार राज्य सरकार ने ले लिए हैं तथा दर रैयत और उन भाटकियों का राज्य से सीधा सम्बन्ध हो गया है। भूमि सुधार कानून सन् १९५५ के अन्तर्गत यदि जमींदार कृषि की लागत देता है तो बर्गादार (Crop-sharer) से कृषि उपज का ५०% अन्यथा ४०% से अधिक भाग न ले सकेगा। रैयत को दर-रैयत की भूमि पर अधिकार प्राप्त करने का अधिकार समाप्त किया गया। इस अधिनियम में जनवरी सन् १९५८ में संशोधन किया गया, जिससे अवैध तरीके से निकाले गये बर्गादारों को पुनः उनकी भूमि दिलाई जा सके। उपज के सह भागियों (Co-sharers) के सम्बन्ध में यदि रैयत के पास ८½ एकड़ या इससे कम भूमि हो तो उस सम्पूर्ण भूमि पर अधिकार मिलेगा और अन्य दशाओं में ½ भूमि पर। दर रैयत द्वारा रैयत को दिये जाने वाली मुआवजे की राशि के निर्धारण का आधार वही है जो मध्यजनों का था अर्थात् शुद्ध आय के दो गुने से २० गुने तक

अभी सरकार को उचित मूल्य के निश्चय करने तथा उसे स्थिर करने का कोई अनुभव नहीं है, यह कार्य करने के लिए सरकार किसी समिति या आयोग की नियुक्ति करे, जो वस्तुओं के उचित मूल्य निर्धारण करने तथा उन्हें लागू करने के लिए जिम्मेवार हो।

मूल्य स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :—

(१) उन देशों में जहां साख का समुचित विकास है, प्रायः सरकार की मौद्रिक तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी नीतियाँ स्थिरीकरण में सम्पन्न हो जाती हैं। किन्तु भारत अभी तक एक अविकसित राष्ट्र माना जाता है, जहाँ साख एवं बैंकिंग व्यवस्था सुसंगठित नहीं है, अतः भारत सरकार की ये नीतियाँ व्यापार-चक्र को रोकने में अधिक सफल नहीं हो सकती। स्थिति को देखते हुए देश में निम्न कार्य अधिक सफल हो सकते हैं :—

(अ) सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित करना—अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण कमेटी के अनुसार इस ओर कार्य होना आरम्भ हो गया है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते—इसके द्वारा सदैव वस्तुओं के आयात-निर्यात एवं व्यापारिक लेन-देनों द्वारा स्थिति काबू में रह सके और कृषि-मूल्यों में उच्चावचन न हो।

(स) कृषकों की कृषि सम्बन्धी समस्याओं को दूर करना और उन्हें अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना।

(२) अधिकतम् तथा न्यूनतम् मूल्य निश्चित करना।

(३) सम्पूर्ण देश में राज्यों के आधार पर एक केन्द्रीय संस्था स्थापित की जाय, जो उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण रखे और खाद्यान्नों का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, जिससे कृषकों और उपभोक्ताओं को लाभ हो। इस सुझाव से संकट के समय, जबकि कृषकों को कम दाम मिलता है, उन्हें निश्चित मूल्य द्वारा सहायता मिलती है और ऊँचे भाव चढ़ जाने पर उन्हें एक प्रकार का टैक्स देना होता है। यह सुझाव केवल उन खाद्यान्नों के लिए ही जो बहुत आवश्यक हैं, जैसे—गेहूँ, चावल आदि।

गिरते हुए मूल्यों को थोड़ा सा सहारा हीनार्थ वित्त प्रबन्ध (Deficit Financing) द्वारा भी मिल सकता है, किन्तु यह अभी विवादास्पद ही है। भारत की द्वितीय पंच वर्षीय योजना ने कृषि मूल्यों को गिरने से रोका है, किन्तु उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने से यह स्थिति बदल सकती है।

कृषि वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी सरकारी नीति की सफलता के लिए सरकार निम्न कार्य करे :—

(१) खेती में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की बिक्री का उचित प्रबन्ध तथा संगठित बाजारों की व्यवस्था होनी चाहिए।

के २५% से अधिक नहीं हो सकेगा। ऐसा अधिकतम लगान सिंचित भूमि में ६ मन प्रति एकड़ और असिंचित भूमि में ४ मन प्रति एकड़ होगा।

इसी प्रकार राज्य के कुछ भागों में जहाँ भूमि रजिस्टर्ड पट्टे पर ली गई है वहाँ नकद लगान जमींदारों द्वारा दिए जाने वाले लगान के ५०% तथा अन्य दशा में २५% से अधिक नहीं होगा।

राज्य ने भू सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समिति नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है, जो अभी विचाराधीन है।†

मद्रास—

इस राज्य में जमींदारी और रैयतवारी प्रथा थी। इसलिए जमींदारी क्षेत्र के लिए भू सम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम तथा भू सम्पत्ति उन्मूलन एवं रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम क्रमशः सन् १९४७ और सन् १९४८ में बनाये गये। इन दोनों का उद्देश्य लगान में कमी करना तथा जमींदारी एवं इनाम भू सम्पत्ति को प्राप्त कर उसे रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत रखना था। मद्रास राज्य में २,८०० जमींदारी तथा २,५०० इनाम जागीरों को १,२०५ करोड़ रुपये के मुआवजे में प्राप्त किया गया। इस प्रकार कुल मिला कर सरकार ने १४० लाख एकड़ भूमि पर अधिकार किया। मुआवजा सभी राज्यों की तुलना में बहुत कम दिया गया, क्योंकि इसकी दर केवल ६ रुपये प्रति एकड़ होती है। उपर्युक्त दोनों अधिनियमों को कार्यान्वित किया गया है, जिनकी प्रमुख व्यवस्था निम्नवत् है:—

(१) जिलाधीशों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में प्राप्त की हुई जागीरों के लिए व्यवस्थापक नियुक्त किये गये।

(२) रैयतवारी पट्टों द्वारा किसानों को भूमि दी गई।

(३) ऐसे सब किसानों को जो ५ वर्ष अथवा उससे अधिक काल तक खेती कर चुके हैं, आभोग-अधिकार (Occupancy Rights) दिये गये।

बम्बई—

बम्बई में सन् १९४८ में बम्बई भूधारण तथा कृषि भूमि अधिनियम बनाया गया, जिसको १६ मार्च सन् १९५६ को संशोधित किया गया। यह संशोधित अधिनियम १ अगस्त सन् १९५६ से लागू हुआ। संशोधित अधिनियम के अनुसार :—

(१) स्थाई भाटकियों (Tenants) को उनके काश्त की पूर्ण सुरक्षा दी गई है तथा वे लगान के ६ गुनी राशि का भुगतान करने पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अन्य आसामियों के काश्तकारी अधिकारों को सुरक्षा दी गई है, परन्तु जमींदार खुदकाश्त के लिए १२ से ४८ एकड़ तक भूमि रख सकेगा, जो भूमि आदि

† Amrit Bazar Patrika, Sept. 58

अन्य सुविधाओं पर निर्भर रहेगी। आसामी को अपनी भूमि का आधा भाग रखने का अधिकार है।

१ अप्रैल सन् १९५७ से गैर पुनः प्राप्ति क्षेत्रों (Non resumeable) के आसामियों को भूमि स्वामित्व दिया गया तथा वे लगान के २० से २०० गुना तक हानिपूर्ति देने के लिए तथा सुधार की लागत देने के लिए जिम्मेवार हैं। ऐसी हानिपूर्ति की राशि का भुगतान ४½% ब्याज पर अधिकतम १२ किश्तों में देय है। स्थायी आसामियों को हानिपूर्ति की राशि एक मुश्त में देनी होगी।

अधिकतम् लगान कर निर्धारण के २ से ५ गुने से अधिक नहीं होगा। इसके अलावा आसामी को भूमिकर और अन्य कर (Cess) देना होगा, परन्तु किसी दशा में कुल उपज के छठवें भाग से कुल भुगतान की राशि अधिक नहीं होगी।

भविष्य में भूमि की श्रेणी के अनुसार भू-धारण अधिकारों को १२ से ४८ एकड़ तक सीमित किया गया है, परन्तु यह नियम शुद्ध काश्त की वर्तमान जोतों पर लागू नहीं होगा।

राजस्थान—

राजस्थान में जागीर उन्मूलन के लिए सन् १९५२ में अधिनियम बनाया गया, जिस पर कार्यवाही हो रही है। जमींदारी और बिस्वेदारी भाटकी पद्धति को समाप्त करने के सन्नियम विचाराधीन हैं।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी जागीरों की पुनः प्राप्ति के अधिकार राज्य सरकार को मिले हैं। धार्मिक एवं सहायतार्थ संस्थाओं की जागीरों को भी उनकी वार्षिक आय के बराबर स्थाई वार्षिक वृत्ति देकर पुनः प्राप्त करने का अधिकार भी राज्य ने उक्त अधिनियम के संशोधन से ले लिया है।

प्रत्येक आसामी और उप-आसामी (Sub tenant) को १,२०० रु० वार्षिक शुद्ध आय देने वाली (इसमें आसामी एवं उसके कुटुम्बियों के श्रम का समावेश नहीं है) भूमि रखने का अधिकार है। इससे अधिक भूमि होने पर भू-स्वामी उसे खुदकाश्त के लिए दो वर्ष में ले सकता है। लगान कुल उपज के ⅙ भाग से अधिक नहीं होगा। अजमेर क्षेत्र में भी मध्यवर्गों के उन्मूलन सम्बन्धी कानून सन् १९५५ में बनाया गया था। इसके अन्तर्गत जनवरी सन् १९५० तक २'६ करोड़ रु० आय की जागीरों पर राज्य ने अधिकार कर लिया है, जिनकी भाटक आय ३'२४ करोड़ रु० और कुल मुआवजे की राशि ३६ करोड़ रु० है।

मध्य-प्रदेश—

राज्य सरकार ने ऐसे कानून बना दिए, ताकि मालगुजारी भू धारण प्रणाली तथा मध्य वर्गों के अधिकारों को समाप्त किया जा सके। मुआवजे की दर शुद्ध आय की दस गुनी रखी गई, परन्तु छोटे-छोटे जमींदारों (मालगुजारों) को इसके अतिरिक्त पुनर्वास अनुदान भी दिये जायेंगे।

मध्य प्रदेश के मध्य-भारत क्षेत्र में भी राज्य के विलीनीकरण के पूर्व मध्य-भारत-जागीर उन्मूलन-विधेयक पास किया। इसमे यह व्यवस्था की गई कि जागीरदारी को सरकार द्वारा प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपनी सभी प्रकार की ऐसी भूमि पर, जिसमे वे स्वय खेती करते हो, जागीरदार को पक्के भू-धारी के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और ऐसी भूमि पर गाव की दर के हिसाब से लगान बैठा दिया जायगा। साथ ही, प्रत्येक किसान, जो जागीरदारी अथवा जमीदारी भूमि पर खेती करता है तथा शिकमी काश्तकार उस भूमि मे, जिस पर वह स्वय खेती करता है, पक्के भू धारी अधिकार प्राप्त कर लेगा। इस क्षेत्र की माफी और इनाम की पद्धतियो के उन्मूलन के लिए सन् १९५९ मे एक विधेयक बनाया गया है,* जिससे सभी प्रकार के मध्यस्थो का अन्त हो सके।

मैसूर—

पुनर्गठित मैसूर राज्य मे मैसूर, कुर्ग और पुनर्गठन पूर्व के बम्बई, हैदराबाद और मद्रास के कुछ भाग है। यहाँ पर भूमि सुधार सन्नियमो एव भू व्यवस्था मे समानता पाने के प्रश्नो पर राज्य द्वारा विचार किया जा रहा है। आसामियो की बेदखली से सुरक्षा करने तथा यथावत स्थिति बनाए रखने के लिए अधिनियम बनाये गये हैं। इसके अनुसार आसामियो की बेदखली अथवा आसामियो द्वारा स्वामित्व की प्राप्ति पर रोक लगाई गई है। कुर्ग मे, जहाँ आसामियो के नियमन के लिए कोई सन्नियम नही थे, अधिनियम से कुल उपज की ¼ अधिकतम् लगान निर्धारित किया है। ऐच्छिक समर्पण को निरुत्साहित करने के लिये ऐसे समर्पण तब तक अवैध रहेंगे जब तक कि उनकी रजिस्ट्री रेवेन्यू अधिकारियो के यहा न कराई जाय तथा ऐसी समर्पित भूमि-पर जमीदार को उसी सीमा तक अधिकार लेने की अनुमति है जहाँ तक उसे अधिनियम में पुनः प्राप्ति (Resumption) के अधिकार है। इसमे अधिक भूमि होने पर अथवा जिस क्षेत्र म भूमि की पुनः प्राप्ति का अधिकार न होने पर सम्पूर्ण समर्पित भूमि राज्य के प्रबन्ध मे आ जावेगी।

प्रारम्भिक अवस्था मे इस हेतु अध्यादेश जारी किए गये थे, जिनका विस्थापन अप्रैल सन् १९५७ मे अधिनियम द्वारा किया गया। मैसूर राज्य ने काश्तकारी (Tenancy) सुधार तथा अधिकतम् भू-धारण निश्चित करने के लिये एक समिति बनाई थी। समिति सिफारिशो के अनुरूप सन्नियम राज्य सरकार के विचाराधीन है।

इसी प्रकार जम्मू-काश्मीर और पजाब, दिल्ली आदि अन्य राज्यो मे भी जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार के व्यापक विधान बनाये गये है। इन सुझावो के फलस्वरूप कृषक सदियो की आर्थिक दासता से मुक्त होकर स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता हो गया है, जो कृषि की उन्नति के लिए एक आवश्यक कदम है।

सहकारी कृषि ही क्यों ?—

भारत में जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि-व्यवस्था का क्या रूप होगा, यह

* India—1960.

देखना आवश्यक है। संसार में इस समय अनेक प्रकार के कृषि संगठन पाये जाते हैं, इसमें से निम्न प्रमुख हैं :—*

(१) पूँजीवादी खेती (Capitalistic Farming)—इस प्रकार का कृषि-संगठन अधिकतर इङ्गलैंड और अमेरिका में प्रचलित है। भारत में भी चाय, कहवा और रबड के बगीचो में इसी प्रकार की खेती होती है। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम के बाद अंग्रेज अफसरो ने चाय, कहवा और रबर की खेती हिमालय और नीलगिरी पर्वतों पर आरम्भ की। इसके बाद भारतियो ने भी इसी प्रकार की खेती के लिए पंजाब, सिन्ध और उत्तर-प्रदेश में बड़े-बड़े फार्म खोले। समाजवादी ढंग की समाजरचना का उद्देश्य जब भारत ने अपनाया है, ऐसी स्थिति में इस पद्धति का अवलम्ब हमारे यहाँ नही किया जा सकता। क्योंकि इससे पूँजीवादी प्रवृति को बल मिलता है।

(२) सरकारी फार्म (State Farming)—इस प्रथा में फार्मों का प्रबन्ध सरकारी अधिकारियो के हाथ मे रहता है और अन्य सभी कर्मचारी मजदूरों की श्रेणी मे आते हैं। इस प्रकार के फार्म रूस मे बहुत बड़े पैमाने पर हैं, परन्तु सरकारी अधिकारियो की अयोग्यता और मजदूरो में उत्साह की कमी के कारण विशेष सफलता प्राप्त न कर सके। इसमे व्यक्तिगत रुचि का अभाव होता है, जो किसी भी व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है। भारत मे भी सरकारी फार्मों के सफल होने की अधिक आशा नही है।

अनुसंधान तथा खोज के लिए सरकारी फार्म निश्चित ही उपयुक्त है। सरकारी फार्मों से अच्छे औजारो के वितरण तथा अच्छे बीजो के उत्पादन में अवश्य ही सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रयोगात्मक आधार पर जगलो को साफ कर कृषि योग्य बनाने के बाद कुछ दिनो तक उन पर सरकारी फार्म खोले जा सकते हैं।

(३) सामूहिक खेती (Collective Farming)—इस पद्धति में भूमि, पशु तथा पूँजी पर समाज का अधिकार होता है। भूमि न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है और न व्यक्तिगत खाते ही रहते हैं। कहीं-कहीं व्यक्तियो को उनके घर के पशु रखने तथा तरकारी पैदा करने के लिए थोड़ी भूमि दे दी जाती है, जैसा रूस में है।

सभी भूमि की खेती एक निर्वाचित समिति की देख-रेख मे होती है। प्रति दिन के काम का निश्चय, खेती के काम की देखभाल, धन का प्रबन्ध, उत्पादन की बिक्री, मजदूरो की शिक्षा, बीमारी में सहायता इत्यादि सभी कार्य समिति को करने पड़ते हैं। फार्म के लाभ का वितरण अनेक प्रकार से किया जाता है। रूस में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अर्जित वेतन के अनुपात पर ही इसका वितरण होता है। सभी प्रकार की

* "Report of the Congress Agrarian Committee" (1950), p. 17-21.

मजदूरी समान नहीं मानी जाती, अपितु क्षमता और योग्यता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटी जाती है। कार्यक्षमता वृद्धि के लिये बोनस का विशेष प्रबन्ध रहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक लाभ का प्रलोभन रहता है, किन्तु फार्म पर पूरे समाज का अधिकार होता है।

भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में यह प्रणाली उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसान अपना भूमि अधिकार नहीं छोड़ना चाहते। साथ ही, भारत में कृषक स्वामित्व प्रथा अधिक सफल हुई है।

(४) कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship)—यह प्रथा रैयतवारी क्षेत्रों में, जैसे—बम्बई, मद्रास आदि में साधारणतया पाई जाती है। इसमें रैयत का भूमि पर मौरूसी अधिकार होता है और वह भूमि हस्तान्तरित हो सकती है। अपने खाते की मालगुजारी के भुगतान के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है तथा सरकारी कर भी अधिकांशतः उसके खाते के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है। पंजाब में पूरे गाँव के ऊपर ही मालगुजारी निर्धारित की जाती है और फिर इसका बँटवारा रैयत में किया जाता है।

रैयत का भूमि पर पूरा अधिकार होता है, इसलिए स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि हस्तान्तरित हो सकती है अथवा उसे लगान पर उठा सकती है। अनेक बार तो यह देखा गया है कि वह भूमि को स्वयं न जोत कर उसे लगान पर गैर दखीलकार किसानों को उठा देते हैं, लेकिन अल्पकाल के बाद फिर वापस भी ले लेते हैं। लगान नकद या वस्तुओं के रूप में वसूल किया जाता है। ऐसी दशा में गैर-दखीलकार किसानों की दशा उन किसानों से भी अधिक शोचनीय होती है, जो जमींदारी क्षेत्रों में मिलते हैं। क्योंकि इन क्षेत्रों में उनका लगान निश्चित रहता है और भूमि पर भी उनका निश्चित अधिकार होता है। इसलिए कृषक स्वामित्व बनाये रखने के लिए इन दोषों को दूर करने के साथ निम्न बातों पर ध्यान देना होगा :—

(१) बिना परिश्रम के भूमि से लगान प्राप्त करने के स्थान पर भूमि का महत्त्व कृषकों को निश्चित और उचित जीविका के साधन प्रदान करने में होना चाहिए।

(२) भूमि राष्ट्रीय सम्पत्ति है, इसलिए इसका उपयोग राष्ट्रीय कार्यों को छोड़ कर किसी भी व्यक्तिगत कार्य के लिए नहीं होना चाहिए। यदि कोई भूमि को बेकार रखता है या देश हित में उपयोग नहीं करता, तो उसे भूस्वत्व से वंचित कर देना चाहिए। यदि प्रत्येक कृषक को भूमि का अधिकारी बना दिया जाय और सट्टा करने वाले अथवा स्वयं कृषि न करने वाले लोगों के हाथ में भूमि न जाने दी जाय, तो बहुत लाभ होगा। बेकार पड़ी हुई भूमि का उपयोग कृषि कार्य के लिए किया जाय और उसे उन लोगों में बाँटा जाय, जिनके पास अलाभप्रद खाते

हैं। यदि अधिक भूमि हो तो उसे कृषि-मजदूरों में बाँट देना चाहिए, अर्थात् वह उस निश्चित सीमा से न कम हो और न अधिक हो।

(५) सहकारी खेती—इस पद्धति में किसान आपस में मिलकर काम करते हैं। वे अपनी भूमि, पूँजी और पशुओं को एकत्र कर फार्म पर एक निर्वाचित समिति की देख-रेख में काम करते हैं। किसानों का फार्म-भूमि में वैयक्तिक अधिकार रहता है, इसलिये उन्हें लाभ का एक अंश मिल जाता है। श्रमिक फार्म पर काम करते हैं और उस काम के लिए मजदूरी के रूप में लाभ का शेष अंश वितरित कर दिया जाता है। फार्मों पर बड़े-बड़े यन्त्रों का उपयोग आवश्यक नहीं है। सदस्यों को रहने और खाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

सहकारी खेती का महत्त्व उस समय सर्वाधिक हो जाता है, जब छोटे पैमाने पर खेती करने के कारण अनेक असुविधाएँ होती हैं। इससे छोटे से छोटा किसान भी बड़े पैमाने पर की गई खेती से उत्पन्न अनेक प्रकार की बचतों या लाभों को प्राप्त कर सकता है। बड़े पैमाने पर रुपया उधार लेने, जानवर व कच्चा माल खरीदने, उपज बेचने, भूमि, श्रम और उत्पादन के दूसरे साधनों का अधिकाधिक उपयोग करने तथा श्रम विभाजन व प्रबन्ध एवं संगठन के कारण कार्यक्षमता की वृद्धि होकर अनेक लाभ सहकारी खेती से होते हैं।

ऐसी खेती के लिए पर्याप्त द्रव्य की आवश्यकता होती है। इस देश के किसान इतने निर्धन हैं कि वे बाहरी सहायता के बिना अपना काम भली-भाँति नहीं चला सकते। फिर भी सन्देह नहीं कि निर्धन किसान के लिए सहकारिता के अतिरिक्त इस समय कोई दूसरा सहारा नहीं, इस पद्धति से वे कृषि उत्पादन व्यय घटाकर अपना लाभांश बढ़ा सकते हैं। इसीलिए दूसरी योजना में सहकारी कृषि को अधिक प्रोत्साहन दिया गया था।

सहकारी कृषि के सम्बन्ध में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्ताव का निम्न उदाहरण उल्लेखनीय है:—

भावी कृषि का ढांचा सहकारी संयुक्त कृषि होना चाहिये, जिसमें संयुक्त कृषि के लिए भूमि का एकत्रीकरण होगा तथा कृषकों का स्वामित्व अधिकार यथावत रहेगा और वे संयुक्त आय से भूमि के अनुपात में अंश लेंगे। साथ ही, जो भूमि पर काम करेंगे, फिर चाहे उनके पास भूमि हो या न हो, वे संयुक्त कृषि से अपने श्रम के अनुपात में हिस्सा लेंगे।

संयुक्त कृषि की ओर पहिला पग देश में सेवा सहकारियों का संगठन होगा जो तीन वर्ष की अवधि में पूर्ण होगा। परन्तु जहाँ सम्भव हो एवं जहाँ सामान्य रूप से कृषक सहमत हो वहाँ इस अवधि में भी संयुक्त कृषि आरम्भ हो सकेगी।*

इस दृष्टि से ही तीसरी योजना में २५,००० सेवा सहकारिताओं की स्थापना

* Resolution of A. I. C. C. in Nagpur Session 1959.

का लक्ष्य रखा गया, जिनमें ५५% ग्रामीण जन-संख्या का तथा ७४% कृषि जन-संख्या का समावेश होगा।

इस हेतु सरकार ने सहकारी खेती के लिए एक कार्यवाही दल की नियुक्ति की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है। इस रिपोर्ट पर सरकारी निर्णय सितम्बर सन् १९६० तक होगा, ऐसा अनुमान है।[1]

सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिए एक विशेष मण्डल नियुक्त करने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन है। यह मण्डल साधारणतः सहकारी कृषि कार्यक्रम के नियोजन एवं उन्नति तथा प्रगति की समीक्षा, अनुभूत कठिनाइयों एवं दिशा के लिये किये गये प्रबन्धों का पर्यवेक्षण और सहकारी प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यों को करेगा। ऐसे मण्डल का गठन केन्द्र तथा राज्य-स्तर पर करने का सुझाव कार्यकारी दल ने दिया है।

सरकार ने प्रयोजना के रूप में कुछ सहकारी कृषि समितियाँ गठन करने का विचार स्वीकार कर लिया है। ऐसी कितनी समितियाँ बनेंगी, यह प्रश्न विचाराधीन है। अन्तिम निर्णय होने पर राज्य सरकारों के परामर्श से योजना लागू होगी। तत्काल ३२० ऐसी समितियाँ गठित करने का प्रस्ताव है और यह गठन इस प्रकार किया जायगा जिससे हर जिले में कम से कम एक समिति स्थापित हो सके। केन्द्रीय सरकार इन समितियों को प्राविधिक और आर्थिक सहायता प्रदान करेगी।[2]

इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन के बाद भारत में भू-स्वामित्व के साथ ही सहकारी कृषि का विकास किया जायगा। इस विकास में गाँव की सम्पूर्ण भूमि एवं स्थानों का प्रबन्ध एवं विकास इस प्रकार होगा जिससे उत्पादन में वृद्धि होगा और भूमि निर्भर जन संख्या को पूर्ण रोजगार मिलेगा।[3] क्योंकि हमारे भूमि सुधार कार्यक्रम का अन्तिम लक्ष्य सहकारी-ग्राम व्यवस्था है।

---

1. Lok Sabha Debate of 26-8-1960 (इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है)।

2 Statement of by-minister for Community Projects and Co-operation in the Lok Sabha Dated Aug. 31, 1960.

3 Dynamics of Indian Agriculture - Modern Review Aug. 1958.

अध्याय १७

कृषि-नीति एवं नियोजन

(Agricultural Policy & Planning)

"जन-संख्या इतना विशाल है और क्षेत्र इतना विस्तृत कि इस काम को पूर्ण करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त साधनों का अभाव है।"

—शाही कृषि कमीशन रिपोर्ट सन् १९२८।

पूरी योजना की सफलता कृषि में लगी भूमि और श्रम के उपयोग के परिणामों पर निर्भर करेगी।

—प्रथम पंच-वर्षीय योजना सन् १९५१।

कृषि-नीति—

सबसे पहले सन् १८६० में उड़ीसा के अकाल के समय एक स्वतन्त्र कृषि विभाग खोलने की चर्चा हुई, परन्तु राज्य ने प्रारम्भ में ही कृषि के प्रति अपना उत्तर-दायित्व नहीं समझा। सन् १८८० के अकाल कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्य की कृषि नीति में सुधार करने की पुनः चर्चा हुई और सर्व प्रथम सन् १८८४ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि विभाग की स्थापना की। धीरे धीरे कुछ प्रान्तों में भी स्वतन्त्र कृषि विभागों की स्थापनाएं हुईं, परन्तु इनका कार्य बहुत संकीर्ण और सीमित था। ये विभाग जिला अधिकारी की देख-रेख में कार्य करते थे। उन पर कृषि कार्य के अतिरिक्त लगान आदि के निर्धारण एवं वसूली की भी जिम्मेदारी थी। फलतः वे कृषि की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे।

प्रारम्भिक काल में कृषि-विभाग की विशेष उन्नति नहीं हुई। परन्तु सन् १८८९ में भारत सरकार के निमन्त्रण से ब्रिटिश कृषि विशेषज्ञ डा० वॉल्कर (Dr. Voelcker) ने भारतीय कृषि का पर्यवेक्षण किया। इनके अनुसार भारतीय कृषक इतना अनुभवहीन नहीं है जितना समझा जाता है। किसान ने अपने साधनों और वातावरण के अनुसार कृषि में काफी उन्नति की है। केवल साधनों की कमी तथा कृषि कला के अज्ञान के कारण वह आधुनिक ढंग पर कृषि नहीं कर सकता। इस मत का भारत सरकार की कृषि नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। परन्तु डाक्टर वॉल्कर की रिपोर्ट इसलिए जब्त कर ली गई। क्योंकि उसमें एक ओर तो भारतीय किसान की कार्यशीलता का विवरण था और दूसरी ओर सरकार की काफी आलोचना थी।

इस बीच में दो कृषि विशेषज्ञ श्री डेविड समून और एच० फिप्स के प्रभाव से

केन्द्रीय सरकार ने अपने कृषि-विभाग का पुनर्गठन किया। दोनों ने दान के रूप में एक धन-राशि भारत सरकार को दी। साथ ही, लङ्काशायर के कपड़े के मिल मालिकों की भी माग हुई कि भारत में रुई की खेती में कुछ उन्नति की जाये, जिससे उन्हें आवश्यक परिमाण में रुई मिल सके।

सन् १९०१ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि के लिए एक इन्सपेक्टर जनरल की नियुक्ति की, परन्तु धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार की कृषि नीति में शिथिलता आती गई। सन् १९०३ में शाही कृषि अनुसन्धान संस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) स्थापित की गई। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के काल में कृषि नीति में कुछ परिवर्तन हुए, क्योंकि लार्ड कर्जन भारतीय कृषि में विशेष रुचि रखते थे। उनके प्रयत्नों के कारण लायलपुर, कानपुर, रङ्गून, नागपुर, पूना और कोयम्बटूर में कृषि महाविद्यालय खोले गये। सन् १९११ में वैधानिक सुधारों के फलस्वरूप कृषि सुधार का कार्य प्रान्तीय विषय हो गया। इसमें कृषि विभागों का, प्रान्तीय जलवायु और भूमि के अनुसार सगठन हुआ। प्रत्येक प्रान्त के वार्षिक आय व्ययक में कुछ राशि कृषि-सुधार के लिए नियोजित होने लगी। इसी अवधि में केन्द्रीय सरकार की ओर से देश के विभिन्न भागों में कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष संस्थाएँ स्थापित हुईं।

सबसे पहिले सन् १९२६ में पूना शाही कृषि अनुसन्धान संस्था का पुनर्गठन हुआ, जो सन् १९३. में दिल्ली में लायी गई तथा मुक्तेश्वर में इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ वेटरनरी सायंस एवं करनाल में सेन्ट्रल ब्रीडिंग फार्म की स्थापना की गई। इसी प्रकार केन डेवलपमेंट सेन्टर की कोयम्बटूर में तथा आनन्द में क्रीमरी (Creamery) तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना हुई, जैसे— सुगर टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर, आदि। इसके बाद सन् १९३४ में कृषि विपणन सलाहकार की केन्द्र में नियुक्ति हुई। इस प्रकार कृषि के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमशः विकास होता गया।

सरकार के पास कोई स्थायी योजना नहीं थी, इसलिए कृषि में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा सुधार नहीं हो सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी कृषि की अवस्था के सुधार के लिए थोड़ा सा ही प्रयत्न किया। कृषि से सम्बन्धित खोजों और अनुसन्धान आदि का प्रभाव खेती पर नहीं पड़ा, क्योंकि कृषि में वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा कृषक एक दूसरे से सदैव दूर रहे। सर जान रसल के अनुसार—"भारत में वैज्ञानिक खोजों को संग्रह न करके उनका प्रत्यक्ष उपभोग आवश्यक है।"

कृषि विभाग के कार्य—

प्रत्येक विभाग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान करता था। भूमि की उर्वरता एवं नमी, नाइट्रोजन का संरक्षण, विभिन्न फसलों की खेती का भूमि पर प्रभाव, भूमि को कटाव से बचाने के उपाय, क्षारयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के साधन, विभिन्न फसलों के कीड़े और रोगों को रोकने के उपाय, प्राकृतिक

खाद एवं भूमि की उर्वरता का सम्बन्ध, कृत्रिम खाद बनाने के साधनों की खोज एवं विकास आदि कृषि विभाग के ही कार्य थे।

कृषि और वनस्पति शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर कृषि विभाग के अनेक उप-विभाग कार्य करने लगे। अभी तक मुख्यतः गेहूँ, चावल, रुई, सन और तम्बाकू के सम्बन्ध में ही सुधार कार्य हुआ है। कृषि विभाग अच्छे बीज के द्वारा उत्पन्न फसलों का प्रदर्शन और अच्छे बीज के वितरण का प्रबन्ध करता है। इस अनुसन्धान और प्रचार कार्य के फलस्वरूप अनेक फसलों की खेती अच्छे बीज से होने लगी है। सन् १९२८-२९ से सन् १९३७-३८ तक केवल चावल में ही अच्छे प्रकार के बीज से खेती दुगुनी हो गई। कुछ प्रान्तों में गेहूँ का एक ऐसा बीज उत्पन्न किया गया है, जिस पर लाल कीड़ा नहीं लगता तथा ओस एवं कुहरे का प्रभाव कम होता है और कम सिंचाई से भी फसल की हानि नहीं होती। मुख्यतः बीज सुधार का कार्य प्रयोगात्मक खेतों पर होता है और फिर उनका प्रदर्शन खेतों पर किया जाता है। केन्द्रीय सरकार के प्रोत्साहन से देश में एक केन्द्रीय रुई समिति की स्थापना हुई, जिसका अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रबन्ध है। इसके तत्त्वाधान में रुई की खेती में सुधार किया जाता है। देश के अनेक क्षेत्रों में, मुख्यतः विभाजन के पूर्व सिन्ध, खान-देश, पञ्जाब तथा बिहार में लम्बे रेशे की रुई या रंगीन कोल्टी कपास की खेती आरम्भ की गई थी।

परन्तु आज तक जितना कृषि सुधार हुआ है, वह देश के कृषि क्षेत्र को देखते हुए नगण्य है। चावल के केवल ६०% कृषि क्षेत्र में तथा गेहूँ के १०% क्षेत्र में अच्छे बीज का उपयोग होता है। अब तक कृषि विभाग ने जो कार्य किया है वह मुख्यतया व्यापारिक फसलों, जैसे :—पटसन, रुई, तम्बाकू, रबर, चाय आदि से सम्बन्धित है। आज तक इसमें जो भी सुधार हुए हैं, उसका प्रभाव देश के कच्चे माल के निर्यात पर अच्छा पड़ा, परन्तु देश की खाद्य-स्थिति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। खाद्य फसलों, जैसे—गेहूँ, ज्वार, बाजरा या चना इत्यादि में किसी प्रकार का विशेष सुधार नहीं हुआ है। कपास और पटसन में जो सुधार हुआ है, उसका श्रेय कृषि-विभाग को न होते हुए 'केन्द्रीय रुई समिति' एवं 'केन्द्रीय पटसन समिति', इन गैर-सरकारी संस्थाओं को है, जिसको देश के उद्योगपतियों का सहयोग विशेष रूप से प्राप्त है।

सन् १९३४ में दिल्ली में एक 'भारतीय फसल नियोजन सम्मेलन' हुआ, जिसमें फसल योजना की रूपरेखा तैयार की गई। इस योजना के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में प्रयोग और प्रदर्शन के खेत (Farms) आरम्भ किए गये। इससे निश्चित रूप में खाद्य फसलों को कुछ प्रोत्साहन मिला परन्तु कृषि-विभाग का कार्य इतने कम पैमाने पर और इस प्रकार से हुआ कि उसका भारतीय कृषि के स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ।

इस धीमी प्रगति के मुख्य कारण निम्न हैं :—

(१) प्रारम्भ में ब्रिटिश शासन की नीति मुख्यतः लगान वसूली पर आधारित थी, जिसमें कृषि-सुधार के कार्य की अवहेलना की गई। जो कुछ सुधार प्रारम्भिक काल में किया गया, वह अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये था, न कि कृषि सुधार के लिए, इसलिए उसका मूल आधार गलत था।

(२) जब तक कृषि कार्य केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहा, वह कृषि सुधार का कोई विशेष कार्य नहीं कर सकी, क्योंकि इतने बड़े कृषि क्षेत्र में, जहाँ विभिन्न प्रकार की भूमि, भिन्न भिन्न जलवायु और अनेक प्रकार की फसलें बोई जाती हों, वहाँ केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त सफल नहीं हो सका। जो कुछ केन्द्रीय सरकार ने किया वह विदेशी कृषि विशेषज्ञों की सलाह से हुआ, इसलिए मध्यकालीन कृषि-सुधार योजनाएँ सिद्धान्ततः विदेशी थीं।

(३) सन् १६१६ के पश्चात् प्रान्तीय कृषि विभाग बने, परन्तु उनके संगठन प्रारम्भ में ही शिथिल थे एवं कर्मचारी या तो विदेशों में शिक्षा प्राप्त किए हुए थे या भारतीय कृषि समस्याओं से अनभिज्ञ थे।

(४) प्रान्तीय सरकारों के आर्थिक साधन सीमित होने से कृषि-विभाग पर अधिक व्यय नहीं किया गया, इसलिए कृषि विभाग की अनेक योजनाओं को स्थगित कर देना पड़ा। सन् १९३९-४० में सारे प्रान्तों के आय-व्ययकों में २१४ करोड़ रुपयों के व्यय में से केवल ३ करोड़ रुपयों को कृषि कार्य में व्यय किया गया।

(५) इसके अतिरिक्त कृषि विभाग की प्रयोग करने की रीतियाँ और प्रयोग के पश्चात् प्रचार करने की रीति देश के ग्रामीण वातावरण के इतनी विरुद्ध थी कि प्रयोगशाला और कृषक में कभी सम्पर्क नहीं हो पाया।

(६) भारतीय कृषक के साधन इतने सीमित हैं कि जो कुछ खेती के औजारों में सुधार या खाद के उपाय बताये गये, वे बहुत खर्चीले एवं साधारण कृषक की क्रय-शक्ति के परे थे, अतः शास्त्रीय होने पर भी उक्त सुधार अव्यावहारिक सिद्ध हुए।

(७) कृषि के सुधार कार्य में कृषक की अशिक्षा और स्थानीय परम्परा से प्रेम भी बाधक सिद्ध हुए। विकास कार्य के प्रारम्भिक काल में ब्रिटिश शासन ने अपनी असहानुभूतिपूर्ण नीति द्वारा ग्रामीण जनता और शिक्षित समाज में एक खाई तैयार कर दी, जिससे कृषक अपनी रूढ़ि में बुरी तरह से फँस गया और आज भी इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

शाही कृषि कमीशन—

सन् १९२६ में भारत सरकार ने भारतीय कृषि और कृषक के समस्त जीवन का पर्यवेक्षण करने के लिए एक कृषि कमीशन की नियुक्ति की। इसका हेतु निम्न विषयों पर खोज करना था :—

(अ) कृषि तथा पशुओं की दशा सुधारने के लिए, कृषि सम्बन्धी प्रान्तों की व्यवस्था, अच्छी तथा नई फसलों के प्रचार सम्बन्धी स्थिति,

दुग्धशालाओं आदि की दिशा में उस समय क्या प्रयत्न किये जा रहे थे, इस बात का पता लगाना।

(व) कृषि उपज की बिक्री तथा यातायात के तत्कालीन साधनों की स्थिति पर जानकारी उपस्थित करना।

(स) कृषि विकास के लिए कृषकों को पूँजी किस प्रकार प्राप्त हो रही है, इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना।

(द) ग्रामों की उन्नति एवं कृषकों के कल्याण के लिए मुख्य सुझाव देना।

इस कमीशन के अध्यक्ष लार्ड लिनलिथगो थे। ढाई वर्ष तक यह कमीशन देश के विभिन्न भागों का दौरा करता रहा तथा कृषि-विशेषज्ञों एवं ग्रामीण आन्दोलन के नेताओं से परामर्श करता रहा। सन् १९२८ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसने भारत में कृषि विकास के लिए जो सुझाव व परामर्श दिए, वे काफी महत्वपूर्ण हैं। कमीशन ने ग्रामों के पुनर्निर्माण, ग्रामीण शिक्षा, सहकारिता, कृषि की पैदावार की बिक्री, सिंचाई, कृषि पशुओं की नस्ल सुधारने के उपाय, खेतों की चकबन्दी आदि पर अपने अमूल्य विचार उपस्थित किये। कृषि व्यवसाय को अधिक लाभकर बनाने के लिए कमीशन ने यह सुझाव दिया कि कृषक को अपने दृष्टिकोण को अधिक उन्नत तथा विशाल बनाना होगा। कमीशन का कहना था कि ग्राम तथा ग्रामवासियों की सभी समस्याओं को हल करने के लिए सरकार स्वयं विशेष प्रयत्न करे। ग्रामीण जनता भी सरकार को अपना सहयोग देकर ग्रामों का सर्वाङ्गीण विकास करे। कमीशन ने कृषि सम्बन्धी कार्यों के अन्वेषण के लिए एक 'शाही परिषद्' (Imperial Council) की स्थापना पर विशेष बल दिया।

भारत के इतिहास में इस प्रकार की यह पहली रिपोर्ट थी, जिसमें भारत के ग्रामीण जीवन की चहुँमुखी समस्याओं की समालोचना की गई हो। कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं, उनके कार्य में किसी प्रकार की योजना निर्धारित नीति नहीं थी। रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् सरकार एवं जनता का ध्यान कृषि के पुनर्गठन की ओर आकर्षित हुआ तथा विभिन्न प्रान्तीय शासन एवं केन्द्र के कृषि कार्यों में सम्बन्ध स्थापित किया गया। कमीशन की सिफारिशों को देश में धीरे-धीरे कार्यान्वित किया गया। परन्तु उसकी सिफारिशें इतनी व्यापक थीं कि उनको पूर्णतः कार्यान्वित करने के लिए अतुल साधन और दीर्घकाल की आवश्यकता थी।

कृषि सम्मेलन सन् १९२८—

इसलिए सन् १९२८ में भारत सरकार ने शिमला में एक कृषि सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में केन्द्रीय सरकार के कृषि सदस्य, प्रान्तीय सरकारों के कृषि मन्त्री एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अन्य विभागों के प्रतिनिधि थे। सम्मेलन ने कृषि कमीशन की सिफारिशों पर गम्भीर रूप से विचार किया एवं एकमत से उनको

मूल सिद्धान्तों को स्वीकार किया। कमीशन की सिफारिशों के व्यय पक्ष की अधिक आलोचना की गई और यह अनुभव किया गया कि इनको कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी बाधा पर्याप्त आर्थिक साधनों की कमी थी। फिर भी प्रान्तीय सरकारों ने सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार कर तदनुसार अपनी कृषि नीति निर्धारित करने का निश्चय किया।

राजकीय कृषि कमीशन ने कृषि अनुसन्धान की महत्ता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि देश में कितने ही प्रदर्शन या प्रयोगात्मक खेत स्थापित किये जायें, परन्तु उनका आधार तभी सुदृढ़ हो सकता है जब कृषि अनुसन्धान का कार्य सगठित हो। कमीशन ने एक केन्द्रीय कृषि अनुसन्धान संस्था स्थापित करने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने सन् १६२६ में इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च नामक संस्था स्थापित की।

इस संस्था का एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में पंजीयन हुआ। इसका मुख्य कार्य देश में कृषि अनुसन्धान और उन्नति को प्रोत्साहन देना तथा मार्गदर्शन एवं समन्वीकरण है। विभिन्न प्रान्तों के कृषि विभाग, अनुसन्धान और प्रयोग के लिये प्रधानतः इसी संस्था से मार्ग दर्शन प्राप्त करते हैं। कृषि विकास की जितनी योजनायें देश में बनाई जाती हैं, उनकी छानबीन यही संस्था करती है। इसके साथ ही कृषि उन्नति से सम्बन्धित समस्त ज्ञान का संग्रह और प्रचार करना इस संस्था का कार्य है। कृषि-प्रयोगशालाओं एवं प्रदर्शन के खेतों के लिये कार्यकर्त्ताओं की इस संस्था द्वारा ही शिक्षा का प्रबन्ध है। इस संस्था का प्रबन्ध मुख्यतः दो समितियों द्वारा होता है। प्रबन्ध समिति संस्था का सामान्य प्रबन्ध करती है, जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय सरकार का मन्त्री होता है एवं एक स्थायी उपाध्यक्ष होता है, जो मुख्यतः संस्था के दैनिक प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी होता है। प्रबन्ध समितियों में इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त राज्य सरकारों के कृषि मन्त्री, केन्द्रीय विधान सभा के ३ प्रतिनिधि, व्यापारियों के २ प्रतिनिधि एवं सलाहकार बोर्ड के निर्वाचित २ प्रतिनिधि होते हैं।

सलाहकार समिति का मुख्य कार्य संस्था का दैनिक प्रबन्ध करना है। इसके अन्तर्गत अनेक उपसंगठन होते हैं, जैसे—

गेहूँ कमेटी, गन्ना कमेटी, भूमि संरक्षण कमेटी, शुष्क खेती कमेटी, फोरेस्ट, कमेटी, बनावटी खाद समिति, बीज सुधार कमेटी आदि। इन विभिन्न उपसंगठनों द्वारा यह संस्था कृषि उन्नति के विभिन्न अंगों पर अनुसन्धान करती है।

सन् १६४० से कौंसिल की कार्य विधि में कुछ परिवर्तन हुए हैं, जिनके अनुसार कौंसिल केवल मार्ग प्रदर्शन का ही कार्य नहीं करती, अपितु अपने प्रदर्शन खेतों एवं प्रयोग-शालाओं में अनुसन्धान का भी कार्य करती है। साथ ही विभिन्न प्रान्तों में से कुछ गाँवों को चुनकर व्यापक रूप से कृषि उन्नति का कार्य भी अपने हाथ में लेती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप संस्था के संगठन में भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। सन्

इसके अलावा इन योजनाओं में जनता भी वित्तीय अभिदान तथा श्रम देती है। ३० मार्च सन् १९५९ तक जनता का अभिदान ७४·५६ करोड रु० अर्थात् कुल सरकारी व्यय (१४०·८६ करोड रु०) के ५०% से अधिक रहा।[1]

कार्यारम्भ—

इस कार्य का श्रीगणेश २ अक्टूबर सन् १९५२ को ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्रो में एक साथ कार्य आरम्भ होने से किया गया। इनमें १८,४५६ गांवों की २६,४५४ वर्ग मील क्षेत्रफल में रहने वाली १,४७,६०,००० जनता को लाभ होगा।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड बनाये गये :—

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
विकास खण्ड—					
सामुदायिक विकास	२४७	५३	—	—	३००
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५१	२५३	३९६	९००
योग	२४७	३०४	२५३	३९६	१,२००
ग्राम संख्या—					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७ ६९३	—	—	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५,१००	२५,३००	३९,६००	९०,०००
योग	२५,२६४	३२,७९३	२५ ३००	३९,६००	१,२२,९५७
जन-संख्या (लाख)—					
सामुदायिक विकास	१६४	४०	—	—	२०४
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	१६६	१६७	२६१	५९४
योग	१६४	२०६	१६७	२६१	७९८

इन योजनाओं के आरम्भ से ही इनका समावेश प्रथम पंच-वर्षीय योजना में किया गया था। इस हेतु योजना में सन् १९५२ ५३ से सन् १९५५-५६ के ३ वर्षों के लिए ९६·४ करोड रु० का आयोजन था। परन्तु योजना की अवधि में ५२·४ करोड रु० व्यय हुए तथा शेष ४४·१ करोड रु० दूसरी योजना में व्यय किये जायेंगे।[2]

---

1 India—1960, page 212.

2 Hindusthan Year Book—Sarcar, p 502, 1960.

(४) १५ अथवा २० वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज सूदखोरी और ग्रामीण ऋण की समस्या से सरकार और जनता कम त्रस्त है।

(५) देहात में जागरण है और ग्रामीण व्यक्ति अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए लालायित एवं प्रयत्नशील है।

कृषि अर्थ-व्यवस्था को देश के विभाजन ने कुछ समय के लिए विचलित अवश्य कर दिया था, किन्तु अब तक बहुत कुछ सुधार हो चुका है।

कृषि-नियोजन—

"कृषक का जीवन एक परस्पर सम्बन्धित सम्पूर्ण इकाई है और उसकी समस्यायें इतनी मिली-जुली हैं कि वह उनको अलग-अलग हिस्सों में नहीं देखता है। इसलिए कृषि विकास के लिये कृषक-जीवन और समस्याओं पर एक साथ दृष्टिपात करना चाहिये। हमें उन बातों पर अधिक समय तथा ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा जहाँ विशेष बल देने की आवश्यकता है। किन्तु कृषक के दृष्टिकोण और परिस्थितियों में परिवर्तन करने के लिए एक समग्र और बहुमुखी प्रयत्न करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए हमारा ध्येय ग्रामीण समाज के मानवी और भौतिक साधनों का विकास करना है। इस ध्येय की पूर्ति हमें अधिकांशतः गाँवों की जनता को अपनी समस्याओं को सुलझाने लायक बनाकर करना होगा। उन्हें सरकारी प्रयत्नों के लिए संगठित होना चाहिये, जिससे वे नए ज्ञान को अपना सकें और अपनी आवश्यकताओं को नए साधनों द्वारा पूरा करने में समर्थ हों। इस प्रकार सहकारिता सामुदायिक प्रयत्नों का आधार प्रस्तुत करेगी और व्यवस्थात्मक संगठन द्वारा सरकार और विशेषतः ग्रामीण विस्तार कार्यकर्त्ता कृषकों को सहायता और सलाह देंगे।

अर्द्धविकसित अर्थ-व्यवस्थायें सदैव एक बेलोच सामाजिक संगठन और बेकार साधनों से पीड़ित रही है, अतः भू-स्वत्व के आधार पर स्थित सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन और दैनिक कार्यों में नये साधनों का नई विधियों द्वारा उपयोग ही विकास का केन्द्रीय ढङ्ग बन जाता है। योजना का ध्येय है कि सभी ओर इस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन हो कि अर्थव्यवस्था एक सन्तुलित और अविच्छिन्न रूप से अग्रसर हो। तथापि सामुदायिक विकास, उत्पादन में वृद्धि और उचित वितरण के उद्देश्य सदैव ध्यान में रहें। पञ्च-वर्षीय योजना की भू-नीति को इस प्रकार कार्यान्वित किया जायेगा जिससे सामाजिक व्यवस्था में अति शीघ्र परिवर्तन हो सकें और साथ ही ग्रामीण समाज मजबूत बन जाय, अवसर और परम्परा में अन्तर दूर हो और गाँव राष्ट्रीय नियोजन का एक अभिन्न अङ्ग बन जाय।"*

प्रथम पञ्च वर्षीय योजना ऐसे समय बनी थी, जब देश में खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी थी। इसलिए पहली योजना में कृषि को प्राथमिकता एवं प्रधान स्थान दिया गया। इस सम्बन्ध में दो दलीलें दी गई थी :—

* The First Five Year Plan.

(१) प्रचलित योजनाओं को पूर्ण करने की आवश्यकता।

(२) जब तक खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल का अभाव दूर नहीं होता तब तक औद्योगिक विकास कार्यक्रम में विशेष प्रगति सम्भव नहीं है।

इसलिए प्रथम योजना में कृषि को केन्द्रीय स्थान दिया गया था। योजना की कुल राशि की ४४·६% कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई एवं शक्ति पर व्यय होनी थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह राशि कृषि पर २८२ करोड, सामुदायिक विकास एवं विस्तार सेवा खण्डों पर ९० करोड, सिंचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण योजनाओं पर ३९५ करोड रु० थी।[1] योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य थे :—

कृषि	१९५०-५१	१९५५-५६
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०	६१०
रुई (लाख गाँठें)	२९	४२
गन्ना (लाख टन)	५६	५८
तिलहन (लाख टन)	५१	५५
पटसन (लाख टन)	३३	४०
सिंचित भूमि (लाख एकड़)	५००	६७०

योजना की अवधि में कृषि की गति निम्नवत रही है :—

कुल उपज	इकाई	आधार वर्ष[2]	१९५१-५२	५२-५३	५३-५४	५४-५५	५५-५६[4]
अनाज	लाख टन	—	४२९	४९२	५८३	५५३	५४९
दालें	,,	—	८३	९१	१०४	१०५	१०९
कुल खाद्यान्न	,,	५४०[3]	५१२	५८३	६८७	६५८	६५८
मुख्य तिलहन	,,	५०	४९	४७	५३	५१	५६
गन्ना (गुड)	,,	५६	६१	५०	४४	५५	६०
रुई	लाख गाँठें	२९	३१	३२	३९	४३	४०
पटसन	,,	३३	४७	४६	३१	२९	४२

सिंचाई के अन्तर्गत १९७ लाख एकड से सिंचित क्षेत्र बढ़ाने का लक्ष्य था, परन्तु १४० लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएँ बढ़ाई जा सकी। योजना की अवधि में अमोनियम सल्फेट का उपयोग दो गुने से अधिक बढ़ाया गया, अर्थात् जहाँ

1. Second Five Year Plan—Draft Outline, page 35.
2. आधार वर्ष : पहिली तीन उपज के लिए सन् १९४९-५० और शेष के लिए सन् १९५०-५१।
3. Amrit Bazar Patrika, 15-8-57.
4. Draft Outline of Third Five Year Plan, page 145.

योजना के पूर्व इसकी खपत २७५ हजार टन थी वह ६५० हजार टन हो गई। इसी प्रकार सुपर फॉस्फेट की खपत जो सन् १९५० में ३६ हजार टन थी वह सन् १९५६ में लगभग १ लाख टन हो गई। जापानी पद्धति से चावल की खेती का क्षेत्र सन् १९५३ से बढ़ना शुरू हुआ, जो सन १९५६-५७ में २१ लाख एकड़ हो गया।

प्रथम पंच वर्षीय योजना में २५ लाख एकड़ भूमि को केन्द्रीय और प्रान्तीय ट्रैक्टर संगठनों ने कृषि योग्य बनाया तथा ५० लाख एकड़ भूमि का कृषकों ने अन्य साधनों से, यथा—यान्त्रिक खेती, धरातल को समतल करना, बाँध लगाना तथा श्रम द्वारा सफाई, विकास किया। फलस्वरूप विभिन्न फसलों का क्षेत्रफल, जो योजना के पहिले ३२६ मि० एकड़ था वह सन् १९५४-५५ में ३५० मिलियन एकड़ हो गया। खाद्यान्न एवं व्यापारिक फसलों का क्षेत्रफल क्रमशः २५७ और ४६ मि० एकड़ से २७० और ६० मि० एकड़ हो गया।[1]

रुई का केवल उत्पादन ही नहीं बढ़ा अपितु उसकी किस्म में भी सुधार हुआ। सिंचाई योजनाओं की पूर्णता के साथ ही भारत में लम्बे रेशे वाली रुई का उत्पादन भी होने लगेगा, जो अभी हम आयात कर रहे हैं। सी० आयरलैंड किस्म की रुई की उपज के सफल प्रयोग भारत में किये गये हैं और आगामी वर्षों में केरल, मैसूर और असम में तीन लाख गाँठों का उत्पादन होने लगेगा। पटसन का उत्पादन गत वर्षों में कम अवश्य हुआ है, परन्तु सन् १९५५-५६ में उसका उत्पादन पुनः बढ़ गया, जो सन् १९५६-५७ में ४२'८ लाख गाँठें हो गया है।

इस प्रकार प्रथम योजना में कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ ही खपत में भी वृद्धि हुई है। बढ़ती हुई जन संख्या और विकासशील उद्योगों को अधिकाधिक कच्चे माल और खाद्यान्न की आवश्यकता है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया है :—

"प्रथम पंच-वर्षीय योजना का अनुभव इस ओर संकेत करता है कि प्रत्येक राज्य गत दो वर्षों की कृषि प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में विभिन्न घटकों का सूक्ष्म निर्धारण करे। पूर्ण देश के सर्वसाधारण उत्पादन प्रवृत्ति से केवल सावधानी में ही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं..........क्योंकि अस्थिरता के बहुत तत्त्व हैं।"[2]

दूसरी योजना में—

"दूसरी योजना के निर्माण की प्रारम्भिक सीढ़ी में यह अनुभव किया गया था, विशेषतः द्वितीय योजना में सम्मिलित भारी उद्योगों के बल के साथ तीव्र गति के आर्थिक विकास के लिए कृषि उत्पादन की वृद्धिगत माँग होगी।"[3] इसलिए दूसरी योजना में

1. The Second Five Plan—Draft Outline. pp 89-90
2. Amrit Bazar Patrika. 15-8-57.
3. Third Five Year Plan—a Draft Outline. pp 145.

कृषि एवं सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड़ रुपये था तथा सिंचाई एवं बिजली के के लिए ८६० करोड़ रु० व्यय का आयोजन है, जो योजना की कुल लागत के क्रमशः ११·८% और १७·६% है। यद्यपि दूसरी योजना प्रमुखता से औद्योगीकरण की योजना है, फिर भी कृषि एवं सिंचाई के विकास पर यदि कुल व्यय की दृष्टि से देखा जाय तो पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि-विकास के निम्न हेतु ये :—

(अ) दूसरी योजना में कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। यही प्रथम योजना में १५% रहा। यह वृद्धि सिंचाई सुविधायें, अच्छे बीज, खाद और कृषि के सुधरे हुये तरीकों से की जायगी, जो भविष्य के विकास के लिये पर्याप्त स्थान देगी।

(आ) कृषि उत्पादन में विभिन्नता।

(इ) जैसे-जैसे जीवन-स्तर में उन्नति होगी और औद्योगिक कलेवर विकसित होगा वैसे-वैसे व्यापारिक फसलों और सहायक खाद्य वस्तुओं तथा भाजी, फल, दूध के पदार्थ, मछली, गोश्त और अंडे के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना होगा।

(ई) अधिक कुशलता से भूमि का उपयोग एवं प्रबन्ध करने के लिये संस्थात्मक (Institutional) व्यवस्था के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जावेगा, जिससे भूमि पर निर्भर जन-संख्या के साथ अधिकतम सामाजिक न्याय हो सके।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ५६८ करोड़ रु० में से कृषि पर १७० करोड़ रु०, वन एवं भू-रक्षण पर ४७ करोड़ रु०, स्थानीय विकास पर १५ करोड़ रु०, पंचायतों पर १२ करोड़ रु०, मत्स्य उद्योग पर १२ करोड़ रु०, सहकारिता एवं गोदाम सुविधाओं पर ४७ करोड़ रु० तथा अन्य बातों पर ६ करोड़ रु० व्यय की व्यवस्था थी।

सिंचाई सुविधाओं में १५० लाख एकड़ क्षेत्र की वृद्धि पहिली योजना के अधूरे कार्यों की पूर्णता पर तथा दूसरी योजना के कार्यक्रमों के अनुसार होगी। इसमें से वार्षिक २० लाख एकड़ की वृद्धि पहिले तीन वर्ष में तथा दूसरे दो वर्षों में वार्षिक ३० लाख एकड़ वृद्धि सिंचित क्षेत्र में होगी। योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य हैं* :—

---

* India—1960

क्षेत्र	इकाई	१९५०-५१	५५-५६	६०-६१	५५-५६ की अपेक्षा ६०-६१ में वृद्धि %
खाद्यान्न	लाख टन	५४०*	६५०	७५०	१५
रुई	लाख गाँठें	२६	४२	५५	३१
गन्ना	लाख टन	५६	५८	७१	२२
तिलहन	लाख टन	५१	५५	७०	२७
पटसन	लाख गाँठें	३३	४०	५०	२५
चाय	लाख पौंड	६,१३०	६,४४०	७,०००	९
राष्ट्रीय विस्तार					
सेवा खण्ड	संख्या	—	५००	३,८००	६६०
ग्राम पंचायतें	हजार	८३	११८	२००	७०
सिंचाई क्षेत्र	लाख एकड़	५१०	६७०	८८०	३१
सामुदायिक					
विकास खण्ड	संख्या	—	६२२	१,१२०	८०

खाद्यान्न में १०० लाख टन की वृद्धि निम्न स्रोतों से होने की आशा है :—

सिंचाई :

बड़ी योजनायें	२४ लाख टन
छोटी योजनायें	१८ ,, ,,
खाद एवं रसायनिक	२५ ,, ,,
अच्छे बीज	१० ,, ,,
भूमि सफाई एवं सुधार	८ ,, ,,
कृषि के सुधरे हुए तरीके	१५ ,, ,,
योग	१०० लाख टन

इस प्रकार जहाँ पहिली योजना का प्रमुख हेतु खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि तथा गाँव की चहुँमुखी उन्नति करना था वहाँ दूसरी योजना में खाद्यान्न के साथ व्यापारिक फसलों की वृद्धि तथा सहायक खाद्य वस्तुओं की वृद्धि पर भी बल दिया गया है।

योजना की कार्यवाही में जो बाधायें आती हैं उनसे योजना का पुनर्मूल्यांकन दो बार किया जा चुका है। सन् १९५८ के खाद्य संकट के पुनर्मूल्यांकन के समय

* सन् १९४९-५० वर्ष का।

मेहता का ख्याल था कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो मे साधनो की कमी के कारण विकास कार्यों मे रुकावट पैदा होती थी, इसलिए उन्होने इस भेद को हटाने की राय दी।[1]

अप्रैल सन् १९५६ मे सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति की बैठक हुई थी, जिसमें यह तय किया गया कि विकास कार्यक्रम के पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के दो अध्याय हो। इसके लिए पहले पाँच वर्षों मे १२ लाख और दूसरे मे ५ लाख रु० की व्यवस्था की जाए।

राष्ट्रीय विकास परिषद ने केन्द्रीय समिति के निर्णय का समर्थन किया और यह भी तय किया कि एक प्रारम्भिक अध्याय भी हो, जिसमे एक वर्ष तक खेती पर विशेष ध्यान दिया जाए। इस एकीकृत कार्य-क्रम के तीन चरण होगे, जिनकी अवधि क्रमशः १, ५ एव ५ वर्ष की होगी।।

दूसरी आयोजना मे सन् १९६१ तक सारे देश को राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास कार्य के अन्तर्गत लाने की बात कही गयी थी, परन्तु राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह निर्णय किया है कि सन् १९६१ के बजाय सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम पूरा हो।

विभिन्न प्रतिवेदनो के अनुसार सामुदायिक विकास कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया है। इसका श्रीगणेश सबसे पहिले आन्ध्र-प्रदेश ने १ जुलाई सन् १९५८ को किया और इन खण्डो के विकास कार्य की जिम्मेदारी गैर सरकारी सस्थाओ को सौंपी। अन्य राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

सामुदायिक कार्यक्रम के मूल्याङ्कन संगठन की रिपोर्ट—[2]

इस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे मूल्याकन सगठन ने जो सातवी रिपोर्ट ११ जून सन् १९६० को दी उसकी बातें निम्न है :—

रिपोर्ट मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का व्यापक रूप से मूल्याकन करने की दिशा मे यह पहला प्रयास है। यह रिपोर्ट १८ चुने हुए सामुदायिक विकास खण्डों की प्रगति के सर्वे पर आधारित है। सन् १९५९-६० मे इनमे से किसी भी क्षेत्र को कही भी असाधारण सफलता नही मिली। कुछ क्षेत्रो के विकास खण्डो मे थोडी प्रगति हुई है, किन्तु इसके विपरीत दूसरे क्षेत्रो मे बिलकुल प्रगति नही हुई। कुल मिलाकर सफलता कम ही है, जिसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। सक्षेप मे, "सामुदायिक विकास का काम जिस रूप मे चल रहा है उसमे अच्छाइयाँ भी है और बुराइयाँ भी। इसकी त्रुटियो से ऐसा प्रतीत होता है जैसे काम मे पूरा मेल नही है। वह जनता का नही सरकार का कार्यक्रम है और वास्तविक सफलताओ पर नही, अपितु सफलता की आशाओ पर टिका हुआ है।

1 भारतीय समाचार, सितम्बर १५, १९५८, पृ० ५१७।

2 भारतीय समाचार, जुलाई १, १९६०, पृ० ३६६—३७१।

प्रकार प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या सन् १९५८-५९ में १८३ हजार हो गई थी, जबकि सन् १९५१ में कुल १०५ हजार प्राथमिक कृषि समितियाँ थी। सिंचित क्षेत्र योजना के अन्त तक ७०० लाख एकड़ हो जायगा, ऐसी आशा है। दूसरी योजना में सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र में अच्छे बीजों का वितरण करने के लिए ४,००० बीज फार्म हो जायेंगे। अन्य प्रगतियों में ३६ लाख मि० एकड़ भूमि का रिक्लेमेशन, २२० लाख एकड़ भूमि को हरी खाद की पूर्ति, २७ लाख एकड़ भूमि में भूमि संरक्षण कार्यक्रमों का प्रसार हो जायगा। साथ ही, सन् १९६०-६१ तक नेत्रजनीय खाद की खपत ५५,००० टन (१९५०-५१) से ३,६०,००० टन हो जायगी। इसके अलावा अन्य उपलब्धियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलोचना—

इस प्रगति के होते हुए भी हमारे कृषि विकास कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनकी ओर विश्व बैंक के अध्ययन दल ने सकेत किया है कि "प्रयत्नों का विस्तरण कुछ प्रमुख बातों पर केन्द्रित न करते हुये अति विस्तृत क्षेत्र में हुआ है। यदि इस ढांचे को समुचित बनाकर विश्वास और प्रलोभन के साथ पर्याप्त सुविधाएं दी जायें तो उपलब्ध स्रोतों में ही उल्लेखनीय परिणाम मिल सकते हैं। यदि रसायनिक खाद की पूरी माँग की पूर्ति की जा सके तो केवल इसी से खाद्यान्न के मूल लक्ष्य और संशोधित लक्ष्य के अन्तर को पूरा किया जा सकता है।"[1]

तृतीय पंच वर्षीय योजना—

विकास की योजना में आवश्यक रूप से कृषि को प्रथम प्राथमिकता देनी होगी। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का महत्व तथा निर्यात एवं उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही तृतीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य है।"[2] इसी दृष्टि से तीसरी योजना में व्यय का आयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है:—[3]

(करोड़ रुपयों में)

	दूसरी योजना में	तीसरी योजना में	प्रतिशत दूसरी योजना	प्रतिशत तीसरी योजना
(१) कृषि एवं सिंचाई की छोटी योजनाएँ	३२०	६२५	६·६	८·६
(२) सामुदायिक विकास एवं सहकारिता	२१०	४००	४·६	५·५
(३) सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनायें	४५०	६५०	६·८	६·०

1 Commerce, 20 Sept. 1958, page 461-62.
2 A Draft Outline of Third Five Year Plan, p. 23.
3. — Do — p. 27 Table 3 p. 23. & pages 147-151.

योजना आयोग ने तृतीय योजना में कृषि के अन्तर्गत कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रम सुझाये हैं।

जिन प्रमुख क्षेत्रों में जमकर कार्य करने का विचार है, वे ये हैं : (१) सिंचाई, (२) भूमि संरक्षण, असिंच्य खेती और पड़ती जमीन को खेती योग्य बनाना, (३) खाद और रासायनिक खाद पहुँचाना, और (४) अच्छे किस्म के हलों एवं सुधरी किस्म के खेती वाले औजारों का प्रयोग।

(१) सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की योजनाओं से १ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। जिस भूमि पर वर्ष में एक से अधिक फसलें उगाई जायेंगी, उसको यदि सिर्फ एक बार ही शुमार किया जाय तो शुद्ध रूप से लगभग १ करोड़ १५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। छोटी सिंचाई योजनाओं और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की सिंचाई योजनाओं से लगभग १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

(२) भूमि संरक्षण आदि के आयोग ने निम्न लक्ष्य सुझाये हैं :—

नदियों आदि के किनारे बाँध बनाकर १ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि की रक्षा;

अन्य भूमि-संरक्षण कार्यक्रम जिनमें नदी-घाटी योजनायें भी शामिल हैं, २० लाख एकड़;

असींच्य खेती ४ करोड़ एकड़;

पड़ती जमीन को खेती योग्य बनाना १० लाख एकड़;

रेह वाली और खारी जमीन को खेती योग्य बनाना ४ लाख एकड़;

बाढ़ नियन्त्रण, जल-निकासी और पनसाट से रक्षा ५० लाख एकड़।

(३) खाद आदि—द्वितीय योजना के अन्त तक नेत्रजन-युक्त रासायनिक खाद की खपत ३ लाख ६० हजार टन तक पहुँच जायेगी। तृतीय योजना के अन्त तक इस मात्रा को बढ़ाकर १० लाख टन तक पहुँचा दिया जायगा। इसी प्रकार फास्फेट वाली रासायनिक खाद की खपत की मात्रा को ६७ हजार टन पहुँचा दिया जायगा।

(४) बीज—तृतीय योजना में १५ करोड़ एकड़ भूमि पर उत्तम कोटि का बीज तैयार होने लगेगा। अच्छी किस्म का बीज तैयार करने के लिए प्रत्येक सामुदायिक विकास खंड में २५ एकड़ का एक फार्म स्थापित किया जाना है। द्वितीय योजना की समाप्ति तक देश में ऐसे ४ हजार फार्म होंगे।

(५) फसल संरक्षण—फसलों को लगने वाले कीड़ों-मकोड़ों और रोगों की रोकथाम करने वाले दलों को इतना बढ़ाया और प्रभावशाली बनाया जायगा कि तृतीय योजना के अन्त तक साढ़े सात करोड़ एकड़ भूमि पर खड़ी फसल की रक्षा की जा सकेगी।

(६) आधुनिक हल एवं औजार—खेती के काम आने वाले औजारों को

सुधारने की आवश्यकता की भी चर्चा की गई और भारतीय कृषि अनुसन्धान-परिषद् ने विभिन्न क्षेत्रों में काम आने वाले खेती के औजारों के बारे में अनुसन्धान शुरू किया है।

हलों के बारे में अनुसन्धान और परीक्षण के लिए चार क्षेत्रीय केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं। इन केन्द्रों में विभिन्न प्रकार के औजारों का परीक्षण किया जायेगा और उन्हें सुधारा जायगा। राज्यों के परामर्श से खेती के काम आने वाले कई औजारों को चुन लिया गया है और उनका उत्पादन किया जायेगा। इन सुधरे किस्म के औजारों को प्रदर्शित करने, इन औजारों की मरम्मत करने के लिए देहात के बढ़ई और लुहारों को प्रशिक्षित किया जायगा और अनुसन्धान संस्थाओं और इन औजारों के उत्पादकों के बीच निकट सम्पर्क रखा जायेगा। खेती के औजार बनाने के लिए प्रत्येक राज्य में कम से कम एक केन्द्र खोला जायगा। इस्पात की पूर्ति, परिवहन और वितरण की पक्की व्यवस्था की जायेगी।

तृतीय योजना में उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार निश्चित किए गये हैं (कोष्ठ में दिये गये आँकड़े द्वितीय योजना काल के हैं) :—

खाद्यान्न १० से १०॥ करोड़ टन तक (७॥ करोड़ टन);
तिलहन ६२ से ६५ लाख टन तक (७२ लाख टन);
गन्ना ६० से ६२ लाख टन तक (७२ लाख टन);
कपास ७२ लाख गांठ (५४ लाख गांठ);
जूट ६५ लाख गांठ (५५ लाख गांठ);
नारियल ५ अरब ७५ करोड़ (४ अरब ५० करोड़);
सुपारी एक लाख टन (६३ हजार);
काजू डेढ़ लाख टन (७३ हजार टन);
काली मिर्च ३० हजार टन (२६ हजार टन),
हल्दी २,६२० टन (२,२६० टन),
लाख ६२ हजार टन (५० हजार टन),
तम्बाकू सवा तीन लाख टन (तीन लाख टन),
चाय ८५ करोड़ पौंड (७२ करोड़ ५० लाख पौंड),
काफी ८० हजार टन (४५ हजार टन);
रबर ४५ हजार टन (२६ हजार ४०० टन)।

तृतीय योजना में खेती के विकास के लिए कई मदों में धन रखा गया है :—
खेती और सम्बद्ध कार्यों के लिए सवा छः अरब,
सामुदायिक विकास और सहकार चार अरब,
बड़ी और मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजनाओं के लिए साढ़े छः अरब, और
रासायनिक खाद के उत्पादन के लिए २ अरब ४० करोड़।
निजी क्षेत्र द्वारा खेती पर आठ अरब रुपये खर्च किए जाने का अनुमान है।

तीसरी योजना पर लोक सभा में २२ अगस्त सन् १९६० से पर्याप्त चर्चा हुई, परन्तु उस सम्पूर्ण चर्चा में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकला। क्योंकि सम्भवतः संसद सदस्यों ने या तो योजना की रूपरेखा का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं किया था या उनके सामने आलोचना के अलावा दूसरा विकल्प न था। फिर भी कृषि योजना की सफलता के लिए निष्ठावान कर्मचारियों की आवश्यकता है, जो निस्वार्थ भाव से इन योजनाओं की पूर्ति में लगन से कार्य कर जनता का विश्वास सम्पादन करें। दूसरे, इस समय *सिंचाई की उपलब्ध-सुविधाओं का पूर्णतम् उपयोग नहीं हो रहा है, अतः उनका निम्नतम् व्यय पर अधिकतम् उपयोग बढ़ाने के लिए सक्रिय प्रयत्न किये जायें।* तीसरे, देश की विशाल शहरी जन-संख्या को चीन की भाँति देश हित के कार्यों में न्यूनतम् २ घन्टे प्रति सप्ताह अनिवार्य रूप से श्रम पर लगाया जाय, अन्यथा "६० वर्ष से कम आयु वाले सभी काम करने योग्य व्यक्तियों पर 'श्रम कर' (Labour Levy) लगाया जाय।"* यदि सार्वत्रिक विकास करना है तो मानवी श्रम को चीन की भाँति उपयोग में लाना होगा। साथ ही, जनता को भी देश प्रेम से प्रेरित होकर हमारे *सार्वत्रिक विकास में तन, मन, धन से जुट जाना चाहिए। तभी चिरवांछित सफलता सम्भव है।*

---

* Second Five Year Plan : Some Suggestions—Mohanlal Saxena, page 38-42.

अध्याय १८

कृषि मूल्य का स्थिरीकरण

(Stabilisation of Agricultural Prices)

"अनिश्चित मानसून और क्रूर मूल्य-व्यवस्था के बीच भारतीय कृषक आर्थिक पङ्क के दलदल में नीचे ही धंसता गया।"

— टी० एन० रामास्वामी।

कृषि सुधार का मुख्य उद्देश्य उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि तथा किसानों की कार्यक्षमता का पर्याप्त विकास करना है, जिससे किसानों और कृषि मजदूरों का जीवन स्तर अधिकाधिक ऊँचा हो। कृषि के सम्बन्ध में जब हमारा उद्देश्य खेती के उत्पादन की मात्रा बढ़ाना है, तब यह आशंका हो सकती है कि उत्पादन आवश्यकता से अधिक न हो। क्योंकि ऐसी दशा में वस्तुओं का मूल्य-स्तर कम हो जायगा तथा कृषकों को अधिक उत्पादन के लिए पर्याप्त प्रेरणा न मिल सकेगी। कृषि-जन्य वस्तुओं का मूल्य उत्पादन की अधिकतम सीमा निर्धारित करता है, अतः मूल्य निश्चित किए बिना अधिकतम् उत्पादन का होना असम्भव है। इतना ही नहीं, कृषि तथा उद्योग-धन्धों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में एक विशेष प्रकार का सामजस्य आवश्यक है।

वर्षा की कमी या अधिकता, फसलों के रोग, बाढ़ आदि के कारण उत्पादन में कमी या वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में कृषि वस्तुओं के मूल्य में अस्थिरता होने से किसानों की आय अनिश्चित रहती है। यह अनिश्चितता साधारणतः किसानों के विपक्ष में ही अधिक होती है। अतः इस प्रकार की हानि के भय से किसानों की रक्षा करना परमावश्यक है। भारत में लोगों के जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन कृषि है, अतः कृषि-जन्य वस्तुओं के मूल्य स्थिरता का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि किसान न तो सगठित ही है और न नए उत्पादन के ढंगों को ही अपना सकते हैं और न अपनी पूँजी को खेती से हटा कर अन्य उद्योग-धन्धों में ही लगा सकते हैं। किसान को प्रति वर्ष निश्चित मात्रा में सरकारी मालगुजारी, लगान तथा ब्याज का भुगतान करना पड़ता है। यदि कृषि वस्तुओं के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होता रहे तो किसान की आय में अनिश्चितता रहेगी। भाव घटने पर लगान के भुगतान के पश्चात् किसान के पास उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त अपर्याप्त आय शेष रहेगी। इस कारण उसे ऋण ग्रस्त होना पड़ेगा, अतः वस्तुओं के मूल्य एक न्यायोचित स्तर पर स्थिर करने से किसान अपनी क्षमता बढ़ाने तथा उत्पादन में वृद्धि करने के लिए

सदा उद्यत रहेगा। इस प्रकार कृषि व्यवस्था तथा आर्थिक ढाँचों के अन्य क्षेत्रों में स्थिरता लाई जा सकती है, जिससे देश की औसत आय में वृद्धि होगी। संक्षेप में, कृषि वस्तुओं के मूल्य की स्थिरता की योजना उत्पादक, किसान, मजदूरों और उपभोक्ताओं के हित में होनी चाहिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के आघातों की तीव्रता न्यूनतम करते हुए तत्सम्बन्धी सरकारी नीति निर्धारित होनी चाहिये।

खेती की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने में भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ योग देती हैं, जिससे किसानों को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं तथा खेती में निश्चित प्रकार के सुधारों का होना कठिन हो जाता है।

उचित मूल्य वह है जिससे उत्पादक कृषक की आय इतनी हो जाय कि वह सकुटुम्ब भली भाँति अपना जीवन निर्वाह कर सके तथा खेतिहर मजदूरों को इतनी मजदूरी दी जाय ताकि वे भी समाज के अन्य वर्गों की तुलना में रहन-सहन के एक उचित स्तर पर पहुँच सकें। कुछ विशेषताओं के कारण हम कृषि-वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में उनकी माँग और पूर्ति में आपेक्षिक शक्तियों पर निर्भर नहीं रहना चाहते। सामान्यतः बाजार में भिन्न-भिन्न किस्मों के अनुसार इन शक्तियों में से कोई भी एक अथवा कभी-कभी दोनों का प्रधान महत्व होता है। कभी-कभी परिस्थितियों की विशेषता के कारण इन सिद्धान्तों में परिवर्तन करने पड़ते हैं। भारत जैसे पिछड़े देश की खेती में क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है। फलस्वरूप बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए खाद्यान्नों तथा अन्य कृषि वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि प्रायः लागत पर ही हो सकती है। यही नहीं, युद्ध-काल में, अकाल में अथवा अन्य प्रकार की परिस्थिति में अन्न सङ्कट का हल निकालने के लिए ऊँची से ऊँची लागत पर अन्नोत्पादन बढ़ाना पड़ता है। भोजन मानव की प्रारम्भिक आवश्यकता है, अतः उसका उत्पादन किसी भी लागत पर करना अनिवार्य है। फिर भी उपभोक्ताओं की आर्थिक स्थिति का विचार करना आवश्यक है। अन्य उद्योगों में अलाभकर इकाइयाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं, परन्तु कृषि में इन्हीं कारणों से इनका नाश प्रायः असम्भव हो जाता है, अतः कृषि में एक ओर ऊँची लागत और दूसरी ओर उपभोक्ताओं को सस्ते भाव की समस्या का सामना करना पड़ता है। अतः इन दोनों में सामञ्जस्य लाने के लिए उचित मूल्यों का निर्धारण एवं स्थिरीकरण आवश्यक है।

कृषि वस्तुओं के उत्पादन की लागत सर्वत्र समान नहीं होती, क्योंकि वह मिट्टी, जलवायु, फसलों की उपज, खेतों के क्षेत्र तथा उत्पादन में योग देने वाले अन्य कारणों की विभिन्नता से भिन्न-भिन्न होती है। इसका अनुमान तो तभी लगाया जा सकता है, जब इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक जाँच की जाय। इस समय तक राज्य-सरकारें अथवा उनके परामर्श-दाता यह निश्चय नहीं कर सके कि खेती के उत्पादन व्यय के अन्तर्गत कौन-कौन सी वस्तुओं का समावेश होना चाहिए तथा उनका ठीक-ठीक

अनुमान किस प्रकार लगाया जाय। अतः जब तक यह नहीं होता तब तक हमें इस सम्बन्ध में कोई न कोई निश्चित नीति अपनानी होगी, भले ही वह पूर्णरूपेण सन्तोषप्रद न हो। इस प्रकार की नीति में हमें कृषि वस्तुओं के मूल्य तथा उनकी लागत, दोनों में उचित सामंजस्य स्थापित करना होगा। इसलिए सबसे उचित मार्ग यह है कि हम ऐसे समय की लागत और मूल्य के ढांचे को लेकर आगे बढ़ें, जो सभी वर्गों के लिए न्यायोचित हो।

कृष्णमाचारी समिति—

इस समिति के अनुसार सन् १६२४-२५ से सन् १६२८-२६ तक के ५ वर्षों का समय आधारभूत काल बनाया जा सकता है, जो गत काल में सबसे उत्तम समय कहा जा सकता है। उचित मूल्य का निर्धारण दो सीमाओं के बीच होना चाहिए। न्यूनतम तथा अधिकतम मूल्य में यह आधुनिक आर्थिक परिस्थितियों द्वारा अनुशासित होंगे। उचित मूल्य किसी एक बिन्दु विशेष पर स्थिर नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। बाजार में वस्तुओं का थोक मूल्य इन दोनों सीमाओं के बीच में रहना चाहिये और जब तक वस्तुओं पर नियन्त्रण रहता है, किसी भी वस्तु का मूल्य, उचित सम मूल्य (Fair Parity Price) से कम नहीं होना चाहिए एवं इसी मूल्य पर सरकार को अन्न खरीदना चाहिये। सामान्यत: जब मांग और पूर्ति की सामान्य दशायें हों, वस्तुओं का मूल्य निश्चित ही उचित मूल्य से कम होगा।

न्यूनतम मूल्य निश्चित करते समय अन्य कई बातें भी ध्यान में रखनी होंगी, जैसे :—

(१) देश में वस्तुओं के औसत मूल्य,
(२) देश और विदेशों में वस्तुओं के औसत मूल्य,
(३) सरकार द्वारा किसी भी रूप में किसी वर्ग की आर्थिक सहायता, जैसे:—मालगुजारी में छूट अथवा अन्य करों में कमी,
(४) उत्पादन बढ़ाने के लिये नकद रूप में सहायता, तथा
(५) कृषि वस्तुओं के मूल्यों के स्थिरीकरण के लिए सरकार के पास उपलब्ध साधन। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इनका प्रभाव मूल्य पर पड़ता है, अतः मूल्य निर्धारण करते समय इन पर विचार करना ही होगा।

वस्तुत: बाजार में कृषि वस्तुओं का मूल्य किसी भी परिस्थिति में न्यूनतम स्तर से नीचे नहीं होना चाहिए। तथा स्तर की सीमा रेखा ही लागत के आधार पर निश्चित होनी चाहिए। इसे स्थाई लागत मूल्य कहते हैं। इसके विपरीत परिस्थिति होने पर ग्रामीण आर्थिक जीवन में उथल-पुथल होने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त उद्योग धन्धों से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के मूल्य को वैदेशिक प्रभावों को

ध्यान मे रखकर एक विशेष सीमा के नीचे न गिरने देना चाहिए, क्योंकि उसका प्रभाव कृषि वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ेगा।

यह न्यूनतम मूल्य फसल के बोने के पहले ही निश्चित तथा घोषित कर देना चाहिए तथा बाद में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि न्यूनतम मूल्य देश के सभी भागों के लिए समान हो। जब तक देश में यातायात के सुलभ साधनों का अभाव है तथा वस्तुओं के बिक्री आदि मे काफी व्यय होता है, तब तक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे वहाँ की परिस्थितियों के आधार पर निश्चित किए हुए मूल्य समान नहीं हो सकते और न किसी भी वस्तु की किस्म सभी स्थानों मे पूर्णतया समान हो सकती है। श्रेणी की विभिन्नता के कारण किसी भी वस्तु की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए भिन्न-भिन्न न्यूनतम मूल्य निश्चित करने होंगे।

उपभोक्ताओं के हित में यह आवश्यक है कि कृषि वस्तुओं का थोक भाव एक निश्चित सीमा के ऊपर न जाने पावे। यह अधिकतम मूल्य वस्तु के न्यूनतम मूल्य के आधार पर ही निश्चित किया जाय। व्यापारिक पद्धतियों के अनुसार वस्तुओं को गोदाम में रखने का खर्च तथा कालान्तर में उनकी मांग और पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखना आवश्यक है। न्यूनतम और अधिकतम मूल्य में इतना अधिक अन्तर न हो जिससे सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिले और न इतना कम हो कि बाजार पर बुरा प्रभाव पड़े। निश्चय ही अधिकतम मूल्य उचित समता मूल्य से कम न होना चाहिए। इसे न्यूनतम मूल्य के लगभग २५% अधिक की सीमा अथवा उचित समता मूल्य के स्तर में, जो भी ऊँचा हो, उसके बराबर निश्चित करना चाहिये। अधिकतम मूल्य फसलों के तैयार होने के पहले ही घोषित कर दिया जाय तथा उसमे एक वर्ष तक कोई परिवर्तन न हो। इसे प्रत्येक क्षेत्र के लिए वहाँ के न्यूनतम मूल्यों के आधार पर निश्चित करना होगा। इसे निर्धारित करते समय वस्तु के उचित औसत गुण (Fair Average Quality) को आधार बनाना चाहिए। वस्तु की भिन्न भिन्न श्रेणियों के लिए आवश्यकतानुसार मूल्य मे परिवर्तन करना उचित है।

उचित मूल्य निश्चित कर उनको देश मे लागू करने के लिए यह आवश्यक होगा कि सरकार उस मूल्य पर बाजार से वस्तुएँ खरीदने अथवा बाजार में वस्तुएँ बेचने के लिए तैयार रहे, जिसमें बाजार का मूल्य उचित मूल्य से भिन्न न होने पाये। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर 'करों' अथवा 'कोटों' द्वारा नियन्त्रण रखना चाहिए और यदि इसमे भी असफलता हो तो सरकार स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करना आरम्भ कर दे। दूसरे देशों से भी वस्तुओं का आदान-प्रदान इस मूल्य-प्रणाली के अनुसार ही हो। इतना ही नहीं, देश में कृषि-मजदूरों की मजदूरी तथा किसानों के लगानों पर भी पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखा जाय। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह भिन्न-भिन्न फसलों के क्षेत्र पर सर्वत्र नियन्त्रण रखने तथा भूमि प्रबन्ध एवं कृषि कार्य करने वालों की कार्यक्षमता को एक स्तर से नीचे न गिरने देने का प्रयत्न करे।

अभी सरकार को उचित मूल्य के निश्चय करने तथा उसे स्थिर करने का कोई अनुभव नहीं है, यह कार्य करने के लिए सरकार किसी समिति या आयोग की नियुक्ति करे, जो वस्तुओं के उचित मूल्य निर्धारण करने तथा उन्हें लागू करने के लिए जिम्मेवार हो।

मूल्य स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते है :—

(१) उन देशों में जहां साख का समुचित विकास है, प्रायः सरकार की मौद्रिक तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी नीतियाँ स्थिरीकरण में सम्पन्न हो जाती हैं। किन्तु भारत अभी तक एक अविकसित राष्ट्र माना जाता है, जहाँ साख एवं बैंकिंग व्यवस्था सुसगठित नही है, अतः भारत सरकार की ये नीतियाँ व्यापार-चक्र को रोकने मे अधिक सफल नही हो सकती। स्थिति को देखते हुए देश मे निम्न कार्य अधिक सफल हो सकते हैं :—

(अ) सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित करना—अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण कमेटी के अनुसार इस ओर कार्य होना आरम्भ हो गया है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते—इसके द्वारा सदैव वस्तुओं के आयात-निर्यात एवं व्यापारिक लेन-देनो द्वारा स्थिति काबू मे रह सके और कृषि-मूल्यों में उच्चावचन न हो।

(स) कृषको की कृषि सम्बन्धी समस्याओ को दूर करना और उन्हे अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना।

(२) अधिकतम् तथा न्यूनतम् मूल्य निश्चित करना।

(३) सम्पूर्ण देश मे राज्यो के आधार पर एक केन्द्रीय सस्था स्थापित की जाय, जो उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण रखे और खाद्यान्नो का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, जिससे कृषको और उपभोक्ताओ को लाभ हो। इस सुझाव से सकट के समय, जबकि कृषकों को कम दाम मिलता है, उन्हे निश्चित मूल्य द्वारा सहायता मिलती है और ऊँचे भाव चढ जाने पर उन्हें एक प्रकार का टैक्स देना होता है। यह सुझाव केवल उन खाद्यान्नों के लिए ही जो बहुत आवश्यक हैं, जैसे—गेहूँ, चावल आदि।

गिरते हुए मूल्यो को थोडा सा सहारा हीनार्थ वित्त प्रबन्ध (Deficit Financing) द्वारा भी मिल सकता है, किन्तु यह अभी विवादास्पद ही है। भारत की द्वितीय पच वर्षीय योजना ने कृषि मूल्यो को गिरने से रोका है, किन्तु उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने से यह स्थिति बदल सकती है।

कृषि वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी सरकारी नीति की सफलता के लिए सरकार निम्न कार्य करे :—

(१) खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ की बिक्री का उचित प्रबन्ध तथा संगठित बाजारो की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) ऋण देने के कार्य पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय, जिससे ऋण-दाता उचित मूल्य से कम भाव पर किसानों से वस्तुयें न खरीद सकें।
(३) खेती के लिए समुचित अर्थ व्यवस्था हो।
(४) भू-प्रबन्ध तथा कृषि व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन किये जायें, जिससे कृषि उद्योग उन्नतिशील आर्थिक ढांचे के अनुकूल हो सके।
(५) कृषि मजदूरों के लिए न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की जाय।
(६) किसान अपनी कार्यक्षमता को एक विशेष स्तर पर अवश्य बनाये रखे तथा भूमि का अधिकाधिक उपयोग करे। भविष्य में 'ग्रामीण उत्पादन समिति' द्वारा इस कार्य के पूर्ति की आशा की जाती है।
(७) भूमि का उत्पादन तथा किसानों की क्षमता बढ़ाने के लिए सरकार सभी प्रकार सहायता दे।
(८) किसानों में शिक्षा का प्रसार किया जाय तथा रेडियो, सिनेमा आदि साधनों द्वारा उनमें प्रचार करके उन्हें आत्म-विश्वासी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कम आय वाले लोगों को सस्ते भाव पर सरकारी सहायता द्वारा अन्न देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

उक्त सुझावों पर यदि कार्य किया जाता है तथा कृषि वस्तुओं का प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन किया जाता है तो भारत में उचित कृषि मूल्यों का निर्धारण सम्भव होकर उनका स्थिरीकरण हो सकेगा। इससे भारतीय कृषक एवं कृषि व्यवसाय प्रगति-सिंहासन पर आरूढ़ होकर देश की अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बन जायगा।

कृषि मूल्यों के सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन के प्रतिनिधि श्री डगलस इसमिंगर के विचार माननीय हैं।* "गाँव के किसानों को उत्पादन वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करने तथा उन्हें प्रेरित करने के लिए एक राष्ट्रीय नीति के रूप में राष्ट्र को प्रति वर्ष बोआई के न्यूनतम् ६ मास पहिले बुनियादी अनाजों के भाव स्थिर कर देने चाहिए। यदि किसान को बोआई के समय यह ज्ञात हो कि फसल के बाद सरकार द्वारा गारन्टी किये गये विक्रय-मूल्य क्या होंगे तो वह आसानी के साथ अपनी कृषि योजना बना सकता है। उस समय वह यह भी जान सकेगा कि उसे अपना कितना धन सुधरे हुए बीजों, उर्वरकों, कृषि साधनों, खेती के उन्नत औजारों, सिंचाई, भूमिरक्षण आदि पर खर्च करना चाहिए। उस समय वह एक व्यापारी की भाँति अपने खर्च का अनुमान लगाने के साथ ही यह भी जान सकता है कि यदि ठीक से खेती की गई तो फसल भी अच्छी होगी, उत्पादन में वृद्धि होगी और उसे लाभ भी अच्छा होगा। लाभ के आश्वासन के साथ उसको ज्यादा लगी पूँजी भी उसे खेती के परम्परागत तरीकों को छोड़ने और नई उन्नत पद्धतियों को अपनाने की प्रेरणा देगी।..................अतः विक्रय मूल्य गारन्टी की आवश्यकता है। इससे किसान को ज्ञात होना रहेगा कि फसल तैयार होने

* आर्थिक समीक्षा अक्टूबर १, १९५८।

पर उसे उपज का कम से कम इतना मूल्य अवश्य मिलेगा। यदि स्थानीय मूल्य इस मूल्य से अधिक होगा तो किसान अपना माल ऊँची कीमत पर बेचेगा और स्थानीय मूल्य कम है तो सरकार पूर्व निर्धारित मूल्यों पर किसानों से स्वयं अनाज खरीदे।"

मूल्य स्थिरीकरण से लाभ—

संक्षेप में कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण से कृषक को निम्न लाभ होंगे :—

(१) कृषकों के शोषण का अन्त हो जायगा तथा उनका जीवन स्तर उन्नत होगा।

(२) पहिले से कृषि मूल्य निश्चित होने से कृषक अपनी कृषि योजना बना कर कृषि में सुधार करने के प्रयत्न करेगा।

(३) कृषि वस्तुओं के मूल्यों के स्थिरीकरण से देश के औद्योगिक उत्पादन के मूल्य भी निश्चित सीमा में ही रहेंगे, क्योंकि उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही मिलेगा।

(४) उपभोक्ताओं को निश्चित मूल्य पर कृषि वस्तुयें मिलने की सुविधा हो जावेगी। इससे अपने आय-व्यय का सन्तुलन वे इस प्रकार कर सकेंगे, जिससे उनका जीवन स्तर उन्नत हो सके।

(५) कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण से कृषकों के जीवन में जो अस्थिरता रहती है, उसका अन्त होकर उनमें उत्साह एवं प्रारम्भिक वृत्ति का विकास होगा।

(६) कृषि की समृद्धि से राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी तथा देश का आर्थिक कलेवर निश्चित गति से प्रगति कर सकेगा।

(७) कृषि विक्रय सम्बन्धी कृषक की अनेक समस्याओं का समाधानपूर्ण हल हो सकेगा।

क्या हुआ ?—

इस सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि कृष्णमाचारी समिति ने कृषि मूल्य स्थिरीकरण के लिए कुछ सुझाव दिए थे। इन सुझावों को सन् १९४८ के कृषि मन्त्री सम्मेलन ने स्वीकृति दी, परन्तु उनको कार्यान्वित नहीं किया गया। इसके बाद सन् १९५७ में खाद्यान्न जाँच अथवा अशोक मेहता समिति ने भी सुझाव दिया था कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में प्रभावी मूल्य स्थिरीकरण नीति अपनाई जाय। इस हेतु सरकार खाद्यान्न स्थिरीकरण सगठन की स्थापना करे। इस सभा का प्रमुख कार्य एक व्यापारिक संस्था के रूप में मूल्यों को स्थिरता के लिए खाद्यान्न का क्रय विक्रय करना हो। इस हेतु वह अपने पास खाद्यान्न-संग्रह भी रखे। इसके साथ ही एक उच्च अधिकार युक्त मूल्य स्थिरीकरण सभा की स्थापना की जाय, जो मूल्य स्थिरीकरण का सामान्य नीति निर्धारण करे तथा उसे समय समय पर कार्यान्वित करने के कार्यक्रम निश्चित करे। सरकार को खाद्यान्नों के मूल्य परिवर्तनों की अद्यावधि जानकारी रहे, इस हेतु एक "मूल्य-

सूचना-विभाग" की स्थापना का सुझाव भी समिति ने दिया था। इसके अलावा खाद्य मन्त्रालय तथा मूल्य स्थिरीकरण सभा को समय-समय पर सलाह देने के लिए एक गैर सरकारी सदस्यों की एक "केन्द्रीय खाद्य सलाहकार परिषद्" की स्थापना का सुझाव भी समिति ने दिया था। ये सुझाव दीर्घकालीन मूल्य स्थिरीकरण के लिए थे। अल्पकालीन अवधि में मूल्य स्थिरीकरण के हेतु समिति का सुझाव था कि खाद्यान्न वितरण समुचित मूल्य की दुकानों, सहकारी समितियों तथा नियोक्ता-संगठनों के माध्यम से किया जाय।

२६ व २७ अगस्त सन् १९६० को कृषि मंत्री सम्मेलन में खाद्यमन्त्री ने मूल्य स्थिरीकरण संगठन की स्थापना की ओर संकेत किया है, जो वास्तव में कृषक की आर्थिक उन्नति के लिए वाञ्छनीय ही है।*

परन्तु खाद्यान्न के मूल्य और व्यापारिक फसलों के मूल्यों में परस्पर निर्भरता है, इसलिए खाद्यान्नों का मूल्य स्थिरीकरण खाद्यान्न उत्पादन पर निर्भर रहेगा। इसलिये केवल खाद्यान्नों के मूल्यों के स्थिरीकरण के विषय में सोचना एक भूल होगी। वास्तव में कृषि-उपज के मूल्यों के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में यदि ये सुझाव क्रमशः कार्यान्वित किए जायें तो अधिक सफलता मिलेगी। इसलिए वर्तमान समय में समग्रीकृत (Integrated) मूल्य कलेवर का निर्माण होना चाहिये, जो विभिन्न व्यापारिक फसलों एवं खाद्यान्नों के मूल्यों के अनुपात में स्थिरता बनाए रखें और यदि सम्भव हो तो कृषि वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर और उपभोक्ता माल की कीमतों के अनुपात में भी स्थिरता स्थापित करें।

वर्तमान मूल्य नीति—

सरकार की वर्तमान मूल्य नीति विशेषतः खाद्यान्नों के मूल्यों को नियन्त्रित करने की रही है। इस हेतु सरकार ने निम्न कार्यवाही की :—

(१) उच्च स्तर पर खाद्यान्न का आयात चालू रखना।

(२) "समुचित मूल्य दुकानों" के माध्यम से बेचने के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न खरीदना तथा आन्तरिक खाद्यान्न प्राप्त करने का विस्तार।

(३) लाभखोरी एवं संग्रह प्रवृत्ति को रोकने के लिए कार्यवाही करना। इसमें विवेकात्मक (Selective) साख नियन्त्रण, अधिकतम् नियन्त्रण, मूल्य निर्धारण आदि बातों का समावेश होता है।

(४) खाद्यान्न के सम्बन्ध में दीर्घकालीन मूल्य नीति के अङ्ग के रूप में सरकार ने नवम्बर सन् १९५८ में "खाद्यान्न के राजकीय व्यापार" का निर्णय किया। इसका हेतु मूल्यों का ऐसा समुचित स्तर कायम करना है जिससे उत्पादक द्वारा प्राप्त मूल्य एवं उपभोक्ता द्वारा दिए गए मूल्यों में न्यूनतम अन्तर रहे। सर्वप्रथम "न लाभ और न हानि" के

---

* नवभारत टाइम्स दिनांक २७, २८ व २९ अगस्त १९६०।

आधार पर चावल और गेहूँ का राजकीय व्यापार होगा। उत्पादक को उसकी उपज का न्यूनतम् मूल्य दिलाने के लिए सरकार एक एजेन्सी स्थापित करेगी, जो उत्पादको से प्रत्यक्ष नियंत्रित मूल्य पर क्रय करेगी। ऐसे मूल्य साधारणतः एक राज्य अथवा एक प्रदेश मे एक ही होगे। अभी तक केवल उडीसा मे १ जनवरी सन् १६५६ से खाद्यान्न नियन्त्रण आदेश लागू किया गया है, जिससे राज्य सरकार अधिकृत व्यक्तियो के माध्यम से चावल और पेडो खरीदेगी।[1]

तृतीय पंचीय योजना के अनुसार "मूल्य-नीति का उद्देश्य यह होगा कि मूल्य-स्तर में, विशेषतः आवश्यक उपभोक्ता माल के मूल्य स्तर में तुलनात्मक स्थिरता बनी रहे।......खाद्यान्न की मूल्य नीति को शेष अर्थव्यवस्था की मूल्य प्रवृत्तियो के सम्बन्ध में देखना होगा तथा विभिन्न क्षेत्रो मे मूल्यो के बीच समुचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना होगा। मूल्य नीति की विभिन्न समस्याओ का अध्ययन इस समय राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक समिति कर रही है,"[2] जिससे भविष्य मे सुदृढ़ मूल्य नीति को अपनाया जा सके और सुदृढ़ मूल्य नीति ही कृषि मूल्यो के स्थिरीकरण की दिशा में प्रथम एव आवश्यक पग होगा।



1. Report on Currency & Finance 1959-60, Page 21-23
2. Third Five Year Plan—A draft outline, pp- 14-15.

अध्याय १९

सामुदायिक विकास योजनाएँ

(Community Development Projects)

"जब तक लाखों छोटे छोटे कृषक किसी योजना के ध्येय को स्वीकार कर उसके कार्यों में भाग नहीं लेते हैं और उसे अपनाकर आवश्यक त्याग नहीं करते हैं, तब तक किसी भी योजना के सफलता की तनिक भी आशा नहीं है।"

—अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति।

भारत की ८२·७% जनता गाँवों में रहती है और शेष १७·३% नगरों में। अन्य देशों में, जैसे—ब्रिटेन में लगभग ८०% कनाडा में ५६·४%, संयुक्तराष्ट्र में ५६·२% और फ्रान्स में ४६% जनता नगरों में रहती है। अतः हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा गाँवों में रहने वालों की संख्या सबसे अधिक है। इसी प्रकार व्यवसाय में भी सबसे अधिक भार खेती पर ही है।

व्यवसाय	१९२१	१९३१	१९४१	१९४९	१९५१
(अ) कच्चा माल तैयार करने वाले					
(१) खेती और पशु पालन	७३·१५	६५·६	६६·०	६७·७	
(२) खनिज	०·१७	०·२४	०·३	०·५	
	७३·३२	६५·३०	६६·३	६८·२	६९·८
(ब) तैयार माल की उत्पत्ति और व्यवसायों में (कल-कारखाने)					
(१) उद्योग-धन्धे	१०·४९	११·३८	१०·०	१३·६	१०·६
(२) यातायात	१·३७	१·६५	२·५	१·८	१·६
(३) वाणिज्य	५·७३	४·४	५·५	६·२	६·०
(स) सरकारी शासन, न्याय तथा अन्य कार्यों में	२·४३	२·५	३·०	६·५	१२·० (covers (स) and (द)(१))
(द) अन्य					
(१) अपनी आय पर आश्रित	०·१५	०·१४	०·१५	३·२	
(२) घरेलू नौकर	१·४४	७·८	७·०		
(३) अन्य	३·५१	५·०५	४·०		
(४) अनुत्पादक	१·०४	१·०५	१·५		

उक्त तालिका से भारत की अर्थ-व्यवस्था में खेती की प्रधानता और महत्त्व स्पष्ट होता है। उद्योग धन्धों मे लगी हुई जनता का अनुपात केवल १०·६% है। इसमें संगठित उद्योग धन्धों का अनुपात केवल १·५% ही है। हमारी यह आर्थिक अवस्था अत्यन्त निराशापूर्ण है। क्योंकि जिस देश मे केवल खेती पर ही इतना अधिक भार हो उसका आर्थिक कलेवर सदा डावाडोल रहने का भय रहता है।

सन् १९५१ मे नगरों और गाँवों मे रहने वाली जनता का अनुपात क्रमशः १७% और ८३% था। इस अनुपात में कमी बहुत ही धीमी गति से हुई है :—

(कुल जन संख्या का प्रतिशत)

सन्	गाँवों में	नगरों मे	सन्	गाँवों मे	नगरों में
१८९१	९०·५	९·५	१९३१	८९·०	११·०
१९०१	९०·१	९·९	१९४१	८७·०	१३·०
१९११	९०·६	९·४	१९५१	८२·७	१७·३
१९२१	८९·८	·१०·२	१९६१	N.K.	N.K.

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों मे शहरों की जन-संख्या बढ रही है, परन्तु यहाँ अभी केवल १३,०१८ शहर हैं, जिनकी लोक संख्या ६,१८,७५,१२३ है। शेष ८३% जन संख्या ५,५८,०८९ गाँवों में रहती है। वास्तव में भारत ग्राम प्रधान देश है। इसलिए भारत की समृद्धि ग्राम्य-जीवन स्तर की उन्नति में है। पिछले तीस वर्षों से भारत में उद्योग-धन्धों का विकास हो रहा है, परन्तु वे अधिकतर शहरों मे हैं। संगठित उद्योगों ने कुटीर उद्योगों का नाश कर दिया है, जिससे कारीगर बेकार हो कर कृषि पर आश्रित हो गए हैं। कृषि पर जन संख्या का भार बढ गया है और कृषि का स्वाभाविक सन्तुलन नष्ट हो गया है। कृषि भारतियों की उपजीविका का साधन ही नहीं वरन् किसानों के जीवन का अभिन्न अङ्ग है, जिससे उनका रहन-सहन, आचार-विचार, अभिलाषा, अर्थात् सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता है। सारांश में, कृषि कार्य तथा ग्रामीण जीवन साधन साथ-साथ चलते हैं।

जीवन मे सबसे मुख्य वस्तु आय है, जिस पर मनुष्य का आहार-विहार निर्भर है। भारत के औसत व्यक्ति की आय इतनी कम है कि उसमें निर्वाह करना कठिन है। यहाँ के निवासियों की प्रति व्यक्ति औसत आय की कल्पना निम्न तालिका से होगी :—*

* India—1960 Table 73.

	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु०)		प्रति व्यक्ति आय (रु०)	
	वर्तमान मूल्यों पर	१९४९-५० के मूल्यों पर	वर्तमान मूल्यों पर	१९४९-५० के मूल्यों पर
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४९·९	२४६·९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३·९	२४८·५
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९,९७०	९,१००	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९,८२०	९,४६०	२६६·८	२५६·६
१९५३-५४	१०,४८०	१०,०३०	२८०·३	२६८·७
१९५४-५५	९,६१०	१०,२८०	२५४·२	२७१·९
१९५५-५६	९,९८०	१०,४८०	२६०·६	२७३·६
१९५६-५७	११,३१०	११,०००	२९१·५	२८३·५
१९५७-५८	११,३६०	१०,८३०	२८९·१	२७५·६

आय की विभिन्न देशों के साथ तुलना :—

देश	प्रति मनुष्य वार्षिक आय
आस्ट्रेलिया	३,३९५ रु०
इङ्गलैण्ड	३,८६५ रु०
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	७,२६५ रु०
कनाडा	४,३५० रु०
रूस	१,८०० रु०
भारतवर्ष	२८९·१ रु०
फ्रांस	२,४१० रु०
न्यूज़ीलैण्ड	४,२८० रु०

इतनी कम आय का फल यह होता है कि हम अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कोई विदेशी किसान स्वप्न में भी इस प्रकार की शोचनीय अवस्था की कल्पना नहीं कर सकता। किन्तु मिट्टी की टूटी झोंपड़ियों में निवास करने वाला अर्द्धनग्न भारतीय किसान सदा अपने उदर-पूर्ति की चिन्ता में ही रहता है। हड्डियों का वह नर कंकाल, भूख की ज्वाला में दग्ध, टकटकी बाँधे किसी प्रकार अपने जीवन के दिन व्यतीत करता है।

यदि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को गरीबी अमीरी का सूचक माना जाये तो हमारे देहातों की तुलनात्मक आर्थिक अवस्था का पता निम्न आँकड़ों से लगेगा :—

स्रोत	देहातो की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	शहरों की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय
(१) डॉ० वी० के० आर० वी० राव (सन् १६३१)	४८ रुपया	१६२ रुपया	६५ रुपया
(२) नेशनल इनकम कमैटी (सन् १६५१)	१८० रुपया	४१६ रुपया	२२५ रुपया

इन आंकडो से स्पष्ट है कि एक औसत ग्रामीण एक औसत शहर वाले की अपेक्षा और एक औसत भारतीय की अपेक्षा लगभग दो तीन गुना गरीब है। कोई आश्चर्य नही कि १८० रु० की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, अर्थात् १४) रु० प्रति मास, लगभग ।।) आना प्रति दिन की आय वाले ग्रामीण निवासी का जीवन-स्तर पशुओ से भी गया गुजरा हो। अभी हाल मे हुई सरकारी खोज* ग्रामीण क्षेत्रो की आर्थिक दुरावस्था का नग्न चित्र उपस्थित करती है। इस खोज के अनुसार देहातो के हर परिवार मे बेकारी का औसत ५८% है और उन्हे दूसरो की निम्न आय पर निर्भर रहने के अलावा दूसरा कोई चारा नही है। ग्रामीण अपनी सीमित आय का एक बहुत बड़ा भाग, अर्थात् ६६·७% केवल भोजन पर ही खर्च करता है। इसके विपरीत जहाँ एक औसत भारतीय प्रति दिन लगभग ३।। छटाँक दूध का उपयोग कर पाता है, वहाँ एक औसत ग्रामीण भारतीय को १ महीने मे २ सेर दूध, अर्थात् प्रति दिन १ छटाक से भी कम मिलता है।

अतः भारत की सर्वतोमुखी उन्नति की अपेक्षा हम तभी कर सकते है जब हमारे ग्रामीण बहुजन समाज की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति हो। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कृषि एव कृषक का महत्वपूर्ण स्थान होने से इनकी उन्नति का समावेश ग्रामीण उन्नति के प्रयत्नो मे ही होगा।

वर्तमान ग्रामोत्थान के प्रयत्न—

सन् १६४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ग्रामीण उत्थान के लिए दृढ प्रतिज्ञ हो गई और उसने यह अनुभव किया कि जन-सहयोग बिना गांवो का पुनर्निर्माण नही हो सकता। अतः हमारी पच-वर्षीय योजना में गांवो की आर्थिक उन्नति की ओर विशेष जोर दिया गया। फलतः देश मे सामुदायिक विकास योजनायें एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Service) कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया।

* National Sample Survey 1953, January.

सामुदायिक विकास योजनायें (Community Development Projects)–

सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यक्रम भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है, क्योंकि महात्मा गाँधी के सर्वोदय का आदर्श 'जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की भलाई' रखा गया था, यह उससे मिलता-जुलता है। परन्तु सर्वोदय की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है, क्योंकि इन योजनाओं की रूपरेखा में इनका उद्देश्य निम्न शब्दों में व्यक्त किया गया है: "अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिक से अधिक भलाई।" डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में सामुदायिक विकास एवं सामुदायिक विकास योजनाएँ, ये शब्द प्रयोग में नये हैं, परन्तु इनकी विचारधारा काफी पुरानी है। "विशेष क्षेत्रीय विकास की अपेक्षा बहुक्षेत्रीय विकास ही इनका मूलभूत आधार है।" सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यक्रम ५ जनवरी सन् १९५२ से 'भारत-अमरीकी तान्त्रिक सहयोग' समझौते के बाद आरम्भ हुआ। इस समझौते में अमरीका ने इन योजनाओं पर होने वाले व्यय का कुछ भाग देने का वचन दिया है।

योजना की व्याप्ति—

समस्त भारतवर्ष में ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्र चुने गये हैं, जिनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल लगभग ५०० वर्गमील है और हर क्षेत्र में लगभग ३०० गाँव हैं। प्रत्येक क्षेत्र में औसतन १·५ लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि तथा २·७ लाख जन संख्या है। इस प्रकार कुल ५५ क्षेत्रों के लगभग १६,००० गाँवों में १२० लाख की आबादी है, जिसका क्षेत्रफल १५० लाख एकड़ भूमि है। इन योजनाओं के साथ-साथ कुछ 'विकास खण्ड' या 'पायलट प्रोजेक्ट' का भी आयोजन है। हर खण्ड में औसतन १०० गाँव और ६० ७० हजार जन-संख्या है। प्रत्येक खण्ड को ५ ५ गाँवों के समूह में विभक्त किया गया है। प्रत्येक गाँव समूह एक ग्रामस्तर कर्मचारी का कार्य क्षेत्र होगा।

इन सबका उद्देश्य गाँवों की ऊबड़-खाबड़ आर्थिक व्यवस्था को एक नियन्त्रित व्यवस्था का रूप देना है। सदियों से हमारे गाँव बिना योजना के अपनी पुरानी गति से चलते आ रहे हैं। उनमें इस योजना के अनुसार पुनर्जीवन और जागरण की हवा भरना ही इनका काम है।

सामुदायिक विकास क्षेत्रों के प्रकार—

इन विकास क्षेत्रों के मोटे रूप से दो प्रकार हैं:—(१) शुद्ध (Basic) और (२) मिश्रित (Composite)। शुद्ध क्षेत्रों में काम वहाँ हो रहा है जहाँ पहले से ही एक छोटा उप-नगर (Semi-town) है और मिश्रित प्रकार वहाँ है जहाँ नये सिरे से उस क्षेत्र में एक उप-नगर या ग्राम एवं उप-नगर (Rural-cum-urban Centre) का निर्माण होगा। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध प्रकार के क्षेत्रों का व्यय कम होगा और मिश्रित का अधिक, किन्तु पहले का विकास-कार्य अधिक शीघ्र-गामी होगा, क्योंकि शुद्ध प्रकार में पहले से ही जीवन की कुछ सुविधाएँ वगैरह प्राप्त हैं। यही कारण है कि सीमित पूँजी, अधिक सुविधाओं और शीघ्रता के विचार से ५५ क्षेत्रों

में लगभग ४३ क्षेत्र, अर्थात् ६०% शुद्ध प्रकार के और शेष १०% मिश्रित प्रकार के क्षेत्र है ।

विकास का कार्यक्रम—

(१) कृषि तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्रों में—परती तथा नयी भूमि को कृषि योग्य बनाना, तालाब, नहरें, कुँओं तथा नल-कूपों द्वारा सिंचाई का आयोजन करना; जिससे योजना काल में कम से कम आधी भूमि के लिए सिंचाई के साधन उपलब्ध हो जायें । उत्तम बीज तथा बिकाऊ खादें सुलभ करना, भूमि के उपयोग तथा उत्तमतर कृषि के ढंग में विश्वास करना, प्राविधिक सूचनाओं, कृषि के उत्तम औजार, बाजार तथा वित्तीय सुविधाओं का आयोजन, मिट्टी का पर्यवेक्षण तथा भूमि का क्षेत्र विस्तार, प्राकृतिक तैयार खादों के उपयोग के लिए प्रोत्साहन, पशु-सुधार एवं सहकारिता का प्रसार तथा यथासम्भव प्रत्येक गाँव अथवा ग्राम-समूह में बहुमुखी सहकारी समिति की स्थापना करना, जिसका सदस्य प्रत्येक कुटुम्ब का एक व्यक्ति अवश्य होना चाहिए ।

(२) यातायात—ग्रामों में इस प्रकार सड़कों का निर्माण किया जायगा, जिससे प्रत्येक ग्राम विकास क्षेत्र से सम्बन्धित किया जा सके । इस प्रकार की सड़कें एक ग्राम से दूसरे ग्राम की दिशा में ½ मील तक लम्बी होंगी और इनका निर्माण ग्रामीणों के ऐच्छिक श्रम द्वारा होगा । अन्य सड़कें सरकारी व्यय में निर्मित होंगी । इसी प्रकार यातायात सुधार में मानवी श्रम की महत्ता एवं ग्रामीणों के सहयोग पर ही अधिक जोर दिया गया है ।

(३) शिक्षा—शिक्षा के अन्तर्गत सामाजिक, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के विकास का आयोजन है । यही नहीं, काम करने वाले बच्चों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जायगा । युवकों के कल्याण का संवर्द्धन होगा तथा शिक्षा की प्रत्येक अवस्था में व्यवसाय सम्बन्धी तथा प्राविधिक प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया जायगा । कारीगरों तथा प्रविधिकों (Technicians) को उत्तमतम् प्रविधि से अवगत करने के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था होगी ।

(४) स्वास्थ्य—प्रत्येक योजना क्षेत्र में ३ प्राथमिक चिकित्सा इकाइयाँ (Health Units) होंगी, जो विकास खण्डों में होंगी । इसके अतिरिक्त योजना क्षेत्र की एक सहायक चिकित्सा इकाई होगी, जिसके अन्तर्गत एक अस्पताल तथा एक चल औषधालय होगा, जो पूरे क्षेत्र में घूमता रहेगा । क्षेत्रों में स्वास्थ्य-संगठन का उद्देश्य गाँवों में अधिकाधिक स्वच्छता तथा पीने के लिए उत्तम पानी का प्रबन्ध, मनुष्यों तथा जानवरों के मल-मूत्र एवं मृतक के अन्तिम संस्कारों की उचित व्यवस्था, चिकित्सा का प्रबन्ध, जनता को स्वच्छ रहन-सहन तथा अच्छे भोजन के बारे में शिक्षा देना आदि होगा ।

(५) सहायक धन्धे—इसके अन्तर्गत कुटीर तथा लघु ग्रामीण उद्योग-धन्धों का विस्तार किया जायगा, जिससे गाँवों के बेकार तथा अर्द्ध बेकार ग्रामीण

लोगों को काम मिल सके। यहां देहातों की जन-संख्या का विषम वितरण ठीक करने का उचित प्रबन्ध है।* सामुदायिक विकास में इस विषमता को दूर करने का प्रबन्ध एक निश्चित योजना द्वारा करने का संकल्प है। गांव के ६०% परिवारों को खेती और सहायक उद्योगों में, १२% को कला कारीगरी, और घरेलू धन्धों में, १०% शहरों के छोटे उद्योगों में और १६% दूसरे कामों में काम देने की योजना है, जैसे-- यातायात, पोस्टऑफिस, ग्राम-शिक्षा, नाई, धोबी, मोची आदि--और शेष २% आवारागर्दों के लिए सुरक्षित रखे (Reserved) हैं।

(६) भवन-निर्माण—गांवों में उत्तम प्रकार के भवन-निर्माण के विषय में प्रदर्शन तथा शिक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। जो गांव घने बसे होंगे, उनमें नए स्थानों पर भवन-निर्माण को प्रोत्साहन दिया जायगा। इसके साथ ही पार्कों तथा खेल के मैदानों की भी व्यवस्था की जायगी।

(७) प्रशिक्षा—योजना को कार्यान्वित करने के लिए कर्मचारियों, अधिकारियों तथा निर्देशकों की शिक्षा के लिए देश में अमेरिका की 'फोर्ड फाउण्डेशन' नामक संस्था की सहायता से ३० केन्द्र खोले जायेंगे, जिनमें एक साथ ७०० व्यक्तियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध होगा। प्रशिक्षण की अवधि ६ मास होगी, जिसमें योजना के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पहलुओं पर प्रकाश डाला जायगा।

(८) सामाजिक कल्याण—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दृश्य तथा श्रवणीय (Audo-visual) प्रणाली के अनुसार ग्रामों में मनोरंजन संस्थाएं, खेल कूद, मेले आदि की व्यवस्था होगी और उत्तम प्रदर्शनों द्वारा ग्रामीण जीवन को सुखी तथा मनोरंजक बनाने का प्रयत्न होगा।

कार्य-प्रगति का समय विभाजन (Timing of Operations)

कम्यूनिटी प्रोजेक्टस् पूरा होने का समय तीन साल आंका गया है, इन तीन वर्षों को ५ अवस्थाओं में बांटा गया है।

(१) रूप-रेखा (Conception)—यह आरम्भकाल है, जिसमें हर प्रोजेक्टस् क्षेत्र की स्थानीय परिस्थितियों के अध्ययन के बाद विकास की रूपरेखा तैयार होगी। यह कागजी योजना का समय है, क्योंकि स्थानीय कठिनाइयों और सुविधाओं को ध्यान में रख कर ही विकास की योजना तैयार हो सकती है। योजना का अर्थ ही पहिले से एक निश्चित योजना तैयार कर लेना है। यह अवस्था तीन महीने की है।

(२) कार्यारम्भ (Initiation)—कागजी रूप-रेखा तैयार होने के बाद

* विगत नेशनल सेम्पल सर्वे के अनुसार औसत ५.२१ आदमियों के एक ग्रामीण परिवार में केवल २५% लोग कमाने वाले हैं, १७% लोग अपने लिए कुछ कमाने वाले और शेष ५८% लोग बेकार और दूसरों पर निर्भर रहने वाले हैं।

इसमे कार्य शुरू किया जाता है। योजना के हर विभाग में काम चालू हो जाता है। यह अवस्था ६ महीने की है।

(३) प्रगतिपूर्ण सम्पादन (Operation)—यह सबसे कार्यशील समय है, जिसमें विकास क्षेत्र की हर इकाई मे खूब जोर-शोर से काम चलेगा। इसीलिये इसको तूफानी कार्य-क्रम का समय भी कहा गया है। यह अवस्था १८ मास की है।

(४) सघनन (Consolidation)—इस अवस्था मे विशेषज्ञ और स्थानीय कर्मचारी विकास कार्य को ठोस रूप देंगे। इस क्षेत्र के विषय मे स्थापित प्रशासन को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न होगा। यह अवस्था ६ मास की है।

(५) अन्तिम अवस्था (Finalisation)—चौथी अवस्था तक कार्य प्रगति ठोस हो जाने और स्वावलम्बन की क्षमता आ जाने पर इस अवस्था में केन्द्रीय और राज्य सरकार के विशेषज्ञ एक निर्देशक रूप में क्षेत्र में रहेंगे और यह देखेंगे कि स्थानीय प्रशासन स्वावलम्बी हो गया है अथवा नहीं। जब यह क्षमता स्थानीय प्रशासन मे आकर, विकास कार्यक्रम एक साधारण दिनचर्या का रूप धारण कर लेगा, तब विशेषज्ञ दूसरे क्षेत्रों मे चले जायेंगे। यह अवस्था तीन महीने की है।

इस प्रकार तीन वर्ष में पूरी होने वाली इन पांच अवस्थाओं मे सामुदायिक विकास योजनायें विकास और स्वावलम्बन को गति देंगी और क्षेत्र अपनी इस गति से प्रगति करते रहेंगे।

इसमें विभाजन का अर्थ निश्चित समय मे निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति करना है। यदि योजना के अनुसार काम होता गया तो हमारे गांवों का वर्तमान रूप बदल कर वे आधुनिक सभ्य विश्व के साथ एक रूप होकर चल सकेंगे। प्रगति उनकी दिन-चर्या होगी तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों के बीच भी वे तूफान मे वट वृक्ष की भाँति अटल रह कर फलेंगे और फूलेंगे। इस प्रकार छोटे-छोटे स्वतन्त्र और स्वाव-लम्बी गणतन्त्र स्वरूप गांव प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहेंगे।

सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन—

योजना की समुचित व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय सामुदायिक विकास मन्त्रा-लय है। इसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय समिति है इस समय स्वयं योजना आयोग ही केन्द्रीय समिति का कार्य कर रहा है। इस समिति का कार्य प्रमुख नीति निर्धारण, सामान्य निरीक्षण तथा कार्य सचालन करना होगा। इस समिति के अन्तर्गत एक योजना प्रबन्धक होगा, जो देश भर में सामूहिक योजना के नियोजन, निर्देशन तथा समन्वय के लिए जिम्मेदार होगा तथा इस कार्य में भिन्न-भिन्न राज्यों के उपयुक्त अधिकारियों से परामर्श करेगा। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री समिति होगी, जिसके अन्तर्गत सरकार के उच्च, योग्य तथा अनुभवी अधिकारी होंगे, जो प्रबन्ध, वित्त, कर्मचारी आदि योजना से सम्बन्धित अनेक विषयों पर सलाह देंगे।

प्रत्येक राज्य में राज्य-विकास समिति होगी, जिसमें राज्य के मुख्य मन्त्री तथा ऐसे मन्त्री, जिन्हे वे आवश्यक समझेंगे, सम्मिलित होंगे। इस समिति का कार्यवाह राज्य विकास-कमिश्नर होगा। विकास-कमिश्नर पर ही राज्य में योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी है। यही समिति राज्य मे सामूहिक नियोजन का पथ-प्रदर्शन करेगी। केन्द्रीय समिति राज्यो के विकास कार्यक्रमो पर देख-रेख करेगी एवं उनका समन्वय स्थापित करेगी।

जिलों मे सामूहिक योजना के निरीक्षण का उत्तरदायित्व एक जिला-विकास अधिकारी का होगा, जो राज्य-विकास कमिश्नर के आधीन होगा। जिले में उसे सलाह देने के लिए एक जिला विकास बोर्ड होगा, जिसमे सामूहिक योजना से सम्बन्धित सरकार के सभी विभागो के अधिकारी होंगे। इस समिति का अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री जिला-विकास-अधिकारी होगा।

वित्त व्यवस्था—

पंच-वर्षीय योजना में सामूहिक योजनाओं के लिए ९० करोड़ रुपये व्यय करना निश्चित हुआ था। साथ ही, भारत और अमरीका के बीच हुए औद्योगिक सहयोग समझौते के अनुसार भारत को सामूहिक योजनाओं के लिए ४ करोड़ रुपए की डालर सहायता सामग्री, औद्योगिक तान्त्रिक सहायता के रूप मे होगी। इस ४ करोड़ में से (जो कि राज्य सरकारों को दिया जायगा) ५५% रुपया ऋण के रूप मे है। इस राशि के भुगतान के बाद वह फण्ड "ब" मे जमा हो जायगा, जो फिर अन्य सामुदायिक विकास योजनाओ को प्रारम्भ करने में व्यय होगा। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो की सहायतार्थ अनावर्त्तक व्यय का ७५% तथा आवर्त्तक व्यय का ५०% देगी, परन्तु ऐसे व्यय को अधिकतम राशि ६ करोड़ रुपया प्रति वर्ष होगी।

इसके साथ ही उत्पादक कार्यों, यथा—सिंचाई, भूमि सफाई आदि के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को आवश्यक राशि ऋण रूप मे दी जाती है, जो ब्याज सहित देय होती है।

अमरीकी सहायता के अलावा फोर्ड फाउन्डेशन भी भारत को इस कार्य-क्रम के लिए आर्थिक सहायता दे रहा है। श्री नेहरू और फोर्ड फाउन्डेशन के अध्यक्ष एवं संचालक की वार्ता के फलस्वरूप यह तय हुआ—फोर्ड फाउन्डेशन की ओर से प्रथम दो वर्षों में प्रशिक्षण का पूर्ण व्यय, तीसरे वर्ष के लिए व्यय का ५०% और चौथे वर्ष मे कुल व्यय का ३३⅓% मिलेगा। इस अवधि के बाद फोर्ड फाउन्डेशन इन चालू प्रशिक्षण केन्द्रों को आर्थिक सहायता नही देगा।

इसके अलावा इन योजनाओं में जनता भी वित्तीय अभिदान तथा श्रम देती है। ३० मार्च सन् १९५६ तक जनता का अभिदान ७४·५६ करोड रु० अर्थात् कुल सरकारी व्यय (१४०·८६ करोड रु०) के ५०% से अधिक रहा।[1]

कार्यारम्भ—

इस कार्य का श्रीगणेश २ अक्टूबर सन् १९५२ को ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्रों में एक साथ कार्य आरम्भ होने से किया गया। इनमें १८,४५६ गांवों की २६,४५४ वर्ग मील क्षेत्रफल में रहने वाली १,४७,६०,००० जनता को लाभ होगा।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड बनाये गये :—

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
विकास खण्ड—					
सामुदायिक विकास	२४७	५३	—	—	३००
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५१	२५३	३९६	९००
योग	२४७	३०४	२५३	३९६	१,२००
ग्राम संख्या—					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,६९३	—	—	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५,१००	२५,३००	३९,६००	९०,०००
योग	२५,२६४	३२,७९३	२५,३००	३९,६००	१,२२,९५७
जन-संख्या (लाख)—					
सामुदायिक विकास	१६४	४०	—	—	२०४
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	१६६	१६७	२६१	५९४
योग	१६४	२०६	१६७	२६१	७९८

इन योजनाओं के आरम्भ से ही इनका समावेश प्रथम पंच-वर्षीय योजना में किया गया था। इस हेतु योजना में सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के ३ वर्षों के लिए ९६·४ करोड रु० का आयोजन था। परन्तु योजना की अवधि में ५२·४ करोड रु० व्यय हुए तथा शेष ४४·१ करोड रु० दूसरी योजना में व्यय किये जायेंगे।[2]

---

1 India—1960, page 212.

2 Hindusthan Year Book—Sarcar, p 502, 1960.

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना—

प्रथम योजना में सन् १९५२ में जब यह कार्यक्रम प्रारंभ हुआ तब से १,२०० विकास खण्ड प्रारम्भ किये गये, जिनके अन्तर्गत १२३ हजार ग्रामों के लगभग ८ करोड़ लोगों को लाभ रहा है। इनमें से ७०० गहन स्वरूप के अथवा सामुदायिक विकास खण्ड हैं।

दूसरी योजना के कार्यक्रम के अनुसार योजना अवधि में सम्पूर्ण देश को राष्ट्रीय विस्तार खण्डों की सेवाओं का लाभ मिलेगा तथा इनमें से ४०% खण्डों को सामुदायिक विस्तार खण्डों में परिवर्तन किया जायगा। यदि योजना की अवधि में अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं तो ५०% विस्तार खण्डों का सामुदायिक विकास खण्डों में परिवर्तन किया जायगा। संक्षेप में, ३,८०० राष्ट्रीय विस्तार खण्ड योजना अवधि में चालू होंगे, जिनमें से १,१२० को सामुदायिक खण्डों में बदला जायगा। योजना की अवधि में साधारण कार्यक्रम के साथ ही निम्न पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

(अ) ग्राम और लघु-उद्योगों का विकास, इसके हेतु, अतिरिक्त आय का प्रबन्ध और ग्रामीण रोजगारी की वृद्धि करना,

(आ) सहकारी क्रियाओं का विकास,

(इ) युवा एवं युवतियों के लाभ के कार्यक्रम में गहनता लाना, तथा

(ई) आदिवासी क्षेत्रों में गहन प्रयत्न।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक एवं राष्ट्रीय विस्तार खण्डों के निम्न लक्ष्य हैं :—

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड	सामुदायिक विकास खण्डों में परिवर्तन
१९५६–५७	५००	—
१९५७–५८	६५०	२००
१९५८–५९	७५०	२६०
१९५९–६०	९००	३००
१९६०–६१	१,०००	३६०
योग	३,८००	१,१२०

वित्तीय आयोजन--

साधारण मार्ग दर्शन के लिए ऐसा विचारा गया है कि प्रत्येक राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड पर ४ लाख और प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड पर १२ लाख रु० व्यय होगा। इसके अनुसार ऐसा अनुमान है कि केन्द्र द्वारा संचालित योजनाओं पर १२ करोड़ और राज्य की योजनाओं पर १८८ करोड़ रु० व्यय होगा। इस हेतु जो २०० करोड़ रु० का आयोजन है उसका वितरण निम्नवत् आयोजित किया गया है :—

(१) व्यक्ति एवं सामग्री (खण्ड हेड क्वार्टर)	५२	करोड़ रु०
(२) कृषि (पशुपालन, कृषि विभाग, सिंचाई, भूमि सफाई)	५५	,,
(३) सवादवाहन	१८	,,
(४) ग्रामीण कला-कौशल	५	,,
(५) शिक्षा	१२	,,
(६) सामाजिक शिक्षा	१०	,,
(७) स्वास्थ्य एवं ग्रामीण सफाई	२०	,,
(८) गृह-व्यवस्था (खण्ड कर्मचारी एवं ग्रामीण)	१६	,,
(९) सामुदायिक विकास विविध (केन्द्र)	१२	,,
योग	२००	,,

योजना की प्रगति (१ अप्रैल सन् १९५९)—[1]

इन योजनाओं के लिए भारत अमरीकी तांत्रिक सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९५२-५३ में १४ २४ मिलियन डालर की सहायता आवश्यक सामग्री के आयात के लिए प्राप्त हुई। इसमे से १,१५० मिलियन डालर की सामग्री १५ दिसम्बर सन् १९५७ तक प्राप्त हो चुकी है। इसी प्रकार फोर्ड फाउन्डेशन भी प्रशिक्षण सम्बन्धी सहायता निश्चित कार्यक्रम के अनुसार दे रहा है तथा १५ 'पायलट' प्रोजेक्ट फोर्ड फाउन्डेशन द्वारा ही चलाये गये हैं।

आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए ५ वर्ष के लिए विशेष कार्यक्रम के अनुसार ४३ विशेष बहुमुखी खण्ड आरम्भ किये गये हैं, जिनकी वार्षिक बजट राशि २७ लाख रु० है। इस राशि मे १५ लाख रु० गृह-मन्त्रालय ने दिये है।[2]

इसके अलावा अन्य क्षेत्रो मे जो कार्य हुआ है उसकी कल्पना अगले पृष्ठ की तालिका से होगी :—

---

1 India 1960, page 213.

2 India 1959.

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता (१ अप्रैल सन् १९५९)

	प्रथम पंच-वर्षीय योजना मे	द्वितीय योजना मे १९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९	योग	महायोग
(१) कृषि—						
अच्छे बीजो का वितरण (हजार मन)	४,५३७	३,७४१	५,२५०	६,९८८	१५,९७९	२०,५१६
रासायनिक खाद वितरण ,,	९,२७८	९,४०५	१३,२९०	१५,८५५	३८,५५०	४७,८२८
कृषि प्रदर्शन (हजार)	१,१४१	१,५११	१,७०२	२,२९८	५,५२५	६,६९३
(२) पशु-पालन (Husbandry)—						
अच्छे सांडो का प्रदाय (संख्या)	११,८०१	११,९३२	१४,९९०	१६,५८४	४३,५०६	५५,३०७
अच्छे पक्षियों का प्रदाय (,,)	१,९३,९०८	१,४५,३७७	१,८६,७६०	२,७५,७२७	६,०७,८६४	८,००,७७२
(३) स्वास्थ्य एवं ग्रामीण स्वच्छता—						
कुंओं का निर्माण (संख्या)	३९,९२७	२८,१४२	३८,३५२	४५,४२०	१,११,८१४	१,५१,७४१
कुंओं का जीर्णोद्धार (,,)	५९,५२९	४०,६५१	५९,२३६	६४,९६०	१,६४,८४७	२,२४,३७६
(४) सामाजिक शिक्षण—						
प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र प्रारम्भित (संख्या)	४१,४६७	२०,६६६	३१,१९५	२८,७०९	८०,५७०	१,२२,०३७
प्रशिक्षित प्रौढ़ संख्या (हजार)	१,०२४	६२०	७९६	१,०५८	२,४७४	३,४९८
ग्राम शिविर किए (संख्या)	N. A.	N. A	९,०५१	२१,३११	३०,३६२	N. A.
प्रशिक्षित ग्राम सहायक संख्या (हजार)	N. A.	N. A.	३९८	१,१०७	१,५०५	N. A.
(५) संवादवाहन एवं यातायात—						
कच्ची सड़कों का निर्माण (मील)	३२,८१८	१९,०१७	२२,५२१	२४,०६७	६५,६०५	९८,४२३

जन-सहयोग एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम—

"३१ मार्च सन् १६५६ तक भूमि, नगर एवं श्रम के रूप में जनता ने ७४·५६ करोड रु० का सहयोग दिया, जबकि सरकारी व्यय १४०·८६ करोड रु० हुआ, अर्थात् इन योजनाओं में जनता का ५०% सहयोग प्राप्त हुआ।"*

इसी समय ग्राम सेवकों (VLW) के प्रशिक्षण के लिए ६७ विस्तार प्रशिक्षण केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १६५६ तक ३६,५७७ ग्राम सेवकों को प्रशिक्षण दिया गया है। कृषि की आधारभूत शिक्षा के लिए ७८ आधारभूत कृषि विद्यालय तथा १८ कृषि वर्कशॉप हैं। इसी प्रकार ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण के लिए विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रों से सम्बद्ध ३५ गृह अर्थशास्त्र कक्ष (Wings) तथा २ केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १६५६ तक १,५०० ग्राम सेविकाओं ने प्रशिक्षण लिया। इसके अलावा २७ प्रशिक्षण केन्द्र समूह-स्तर कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए आरम्भ करने की स्वीकृति दी गई है।

सामाजिक शिक्षा सगठनों के १३ खण्ड स्तरीय विस्तार अधिकारियों के लिए ८ (सहकारिता) तथा ११ (औद्योगिक) प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

स्वास्थ्य से सम्बन्धित कर्मचारियों की शिक्षा के लिए ३ प्रशिक्षण केन्द्र, सहायक नर्सों और दाइयों की शिक्षा के लिए ६६ संस्थाएँ, स्त्री स्वास्थ्य विजिटरों के लिए ६ तथा मिडवाइफों के लिए ६ केन्द्र हैं।

कार्यक्रम में भाग लेने वाले गैर सरकारी व्यक्तियों की प्रशिक्षा के लिए भी योजना बनाई गई। ग्राम सहायकों के लिए प्रत्येक ग्राम सेवक क्षेत्र में शिविर लगाये जाते हैं, जहाँ विशेष रूप से प्रशिक्षित स्टॉफ प्रशिक्षण देता है। गाँव लौटने पर ग्राम सहायक अपने साथियों की सहायता करता है। राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सरकार सरकार द्वारा एवं क्षेत्रीय तथा राज्य स्तरों पर राज्य सरकारों द्वारा 'सेमिनार' का आयोजन होता है। गाँव के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए भी १ माह की अवधि के शिविर लगाये जाते हैं। ३१ मार्च सन् १६५६ तक इन शिविरों में १६ लाख ग्राम सहायकों का प्रशिक्षण हुआ।

विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्रों के आचार्य एवं अध्यापकों की शिक्षा के लिए ट्रेनर्स ट्रेनिंग इस्टीट्यूट, राजपुर (देहरादून) की स्थापना की गई है। इसी में जिला पंचायत अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। प्रशासकीय एवं तकनीकी प्रमुख (Key) व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए "सेंट्रल इस्टीट्यूट ऑन कम्यूनिटी डेवेलपमेंट" की स्थापना मसूरी में की गई है। यहाँ पर कार्यक्रम के सामाजिक पहलू तथा समूह पद्धतियों (Group methods) का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इस प्रकार १ अप्रैल सन् १६५६ तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत

---

* India—1960, p 212.

२,५४८ खण्ड बन चुके हैं, जिनमें ३,३६,५१८ गाँवों की १७·३ करोड़ जनसंख्या को लाभ मिलता है[1] :—

प्रदेश	खण्ड-संख्या प्रथम चरण	खण्ड-संख्या द्वितीय चरण	योग	प्रभावित जनता (हजार)	ग्राम	वर्गमील क्षेत्र
आन्ध्र प्रदेश	१६१	६१	२२२	१५,६७४	१८,८७३	५०,८२१
आसाम	४२	५७	९९	३,०६६	१२,२८७	२२,७०६
बिहार	२५८	३८	२९६	१६,६२२	३८,७८८	३३,३६०
बम्बई	२११	८४	२९५	१६,६५२	३७,६१९	६१,६८८
जम्मू-काश्मीर	४८	४	५२	२,३५८	५,८४२	४७,५६२
केरल	५५	१८	७३	६,७१०	८६२	५,९९६
मध्य-प्रदेश	१५१	७२	२२३	१३,८२१	४२,७२३	८०,२०५
मद्रास	१०६	५८	१६४	१४,९६०	८,६९१	२२,८८८
मैसूर	९९	३७	१३६	१०,८५३	१४,५१७	५०,७३७
उड़ीसा	११९	२४	१४३	९,२०६	३१,४०८	३०,६८५
पंजाब	९०	४३	१३३	९,२९७	१८,१३३	२५,७०३
राजस्थान	८६	३३	११९	७,८७५	१८,३०७	५५,५१८
उत्तर-प्रदेश	३१७½	८९½	४०७	२६,४५६	५७,६६२	५५,७२३
प० बंगाल	१२३	२३	१४६	१०,८९३	१९,९१९	१५,८५२
अन्य प्रदेश	५१	२०	७१	२,६२६	१७,८५५	२५,९११
योग	१,९१६½	६३१½	२,५४८	१,७३,०९१	३,३६,५१८	६,०६,०११

बलवन्तराय मेहता समिति—

सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों की क्रियाओं के प्रध्ययन के लिए श्री बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में दिसम्बर सन् १९५६ में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की गई थी। इसका उद्देश्य विभिन्न कार्यक्षेत्रों को दी गई प्राथमिकता तथा कार्यक्रम में मितव्ययिता एवं कार्यक्षमता के सम्बन्ध में अध्ययन करना था। इस समिति ने अपनी प्रतिवेदना जनवरी सन् १९५८ में भारत सरकार को प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशों के अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम में संशोधन किए गए।

अभी तक यह कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास के नाम से दो खण्डों में विभाजित था, परन्तु मेहता समिति ने यह सिफारिश की थी कि विकास कार्यक्रम को इनके बजाय पहले अध्याय और दूसरे अध्याय में बाँट दिया जाए। श्री

* India—1960 : Table 105.

मेहता का ख्याल था कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो मे साधनो की कमी के कारण विकास कार्यों मे रुकावट पैदा होती थी, इसलिए उन्होने इस भेद को हटाने की राय दी ।[1]

अप्रैल सन् १९५९ मे सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति की बैठक हुई थी, जिसमें यह तय किया गया कि विकास कार्य क्रम के पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के दो अध्याय हो । इसके लिए पहले पाँच वर्षों मे १२ लाख और दूसरे मे ५ लाख रु० की व्यवस्था की जाए ।

राष्ट्रीय विकास परिषद ने केन्द्रीय समिति के निर्णय का समर्थन किया और यह भी तय किया कि एक प्रारम्भिक अध्याय भी हो, जिसमे एक वर्ष तक खेती पर विशेष ध्यान दिया जाए । इस एकीकृत कार्य-क्रम के तीन चरण होगे, जिनकी अवधि क्रमशः १, ५ एव ५ वर्ष की होगी । ।

दूसरी आयोजना मे सन् १९६१ तक सारे देश को राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास कार्य के अन्तर्गत लाने की बात कही गयी थी, परन्तु राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह निर्णय किया है कि सन् १९६१ के बजाय सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम पूरा हो ।

विभिन्न प्रतिवेदनो के अनुसार सामुदायिक विकास कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया है । इसका श्रीगणेश सबसे पहिले आन्ध्र-प्रदेश ने १ जुलाई सन् १९५८ को किया और इन खण्डो के विकास कार्य की जिम्मेदारी गैर सरकारी सस्थाओ को सौंपी । अन्य राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं ।

सामुदायिक कार्यक्रम के मूल्याङ्कन संगठन की रिपोर्ट—[2]

इस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे मूल्याकन सगठन ने जो सातवी रिपोर्ट ११ जून सन् १९६० को दी उसकी बातें निम्न है :—

रिपोर्ट मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का व्यापक रूप से मूल्याकन करने की दिशा मे यह पहला प्रयास है । यह रिपोर्ट १८ चुने हुए सामुदायिक विकास खण्डों की प्रगति के सर्वे पर आधारित है । सन् १९५९-६० मे इनमें से किसी भी क्षेत्र को कही भी असाधारण सफलता नही मिली । कुछ क्षेत्रो के विकास खण्डो मे थोडी प्रगति हुई है, किन्तु इसके विपरीत दूसरे क्षेत्रो मे बिलकुल प्रगति नही हुई । कुल मिलाकर सफलता कम ही है, जिसे पर्याप्त नही कहा जा सकता । सक्षेप मे, "सामुदायिक विकास का काम जिस रूप मे चल रहा है उसमे अच्छाइयाँ भी है और बुराइयाँ भी । इसकी त्रुटियो से ऐसा प्रतीत होता है जैसे काम मे पूरा मेल नही है । वह जनता का नही सरकार का कार्यक्रम है और वास्तविक सफलताओ पर नही, अपितु मनमाना की आशाओ पर टिका हुआ है ।

1 भारतीय समाचार, सितम्बर १५, १९५८, पृ० ५१७ ।
2 भारतीय समाचार, जुलाई १, १९६०, पृ० ३६९—३७१ ।

"सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह है कि गाँवों के लोग स्वावलम्बी बनें। किन्तु जिन सामुदायिक विकास खण्डों का अध्ययन किया गया उनमें से अधिकांश में इस उद्देश्य के प्रति जनता का भाव अभी तक सामान्यतः अनुकूल नहीं है।"

सामुदायिक विकास-सम्मेलन—

सामुदायिक विकास का सार्वदेशिक सम्मेलन ६ जून से ११ जून सन् १९६० को हुआ। इस सम्मेलन में सामुदायिक विकास मन्त्री श्री डे ने कहा कि "सामुदायिक विकास का कार्य बहुमुखी है। यह योजना का अन्तिम अङ्ग है। इसलिए हमें तीसरी योजना को ध्यान में रखकर इसके कार्यक्रम पर विचार करना चाहिये।"

सम्मेलन के निर्णय और सिफारिशें—

कृषि विभाग और विस्तार कर्मचारियों का कार्यभार सामान्य नीति के रूप से हल्का करना चाहिए। अभी तक उनका मुख्य कार्य यही रहता है कि वे किसानों के जरूरत की चीजें खरीदें, गोदाम में रखें और बिक्री का प्रबन्ध करें।

रसायनिक खाद, सुधरे बीजों के वितरण की जिम्मेदारी सहकारी समितियों को सौंपी जाय। किन्तु जो लोग सहकारी समितियों के सदस्य नहीं हैं उन्हें भी खाद दिलाने का और वितरण-व्यवस्था पर देख-रेख रखने का कार्य तकनीकी कर्मचारियों का ही होना चाहिए।

कृषि विभाग सहकारी समिति के कर्मचारियों और प्रगतिशील कृषकों को बीज-संवर्द्धन की तकनीकी जानकारी और क्वालिटी कन्ट्रोल का परीक्षण देने की विशेष व्यवस्था करें। साथ ही कृषकों को फसल की रक्षा के उपाय और समय आदि के बारे में बराबर सलाह देता रहे।

भूमि-विकास योजनाओं के लिए अतिरिक्त जन-शक्ति प्राप्त करने के लिए पंचायत, सहकारिताएं आदि जन-सङ्गठन किसान वर्ग में ही नेतृत्व की भावना भरें, जिससे कृषि विकास में उनका अधिक से अधिक योग प्राप्त हो सके।

उपज में शीघ्र वृद्धि करने की आवश्यकता पर बल देते हुए यह सिफारिश की कि विकास खण्डों में उपज की प्रगति के आधार ही बजट-कोष से खण्डों को रुपया दिया जाय और जो खण्ड उत्पादन कार्यक्रम में यथेष्ठ प्रगति न करें, उन्हें सुविधा-कार्यक्रम (Amenities Programme) के लिए धन न दिया जाय। साथ ही, तीसरी योजना में उपज बढ़ाने के लिए खण्डों को अधिक धन देने की सिफारिश की गई। इस समय प्रथम चरण के खण्ड को कृषि, लघु-सिंचाई एवं भूमि सुधार के लिए ३·६० लाख रु० मिला है। इसे ४·५ लाख रु० किया जाय।

सम्मेलन का सुझाव है कि जो क्षेत्र कृषि विकास के समन्वित कार्यक्रम के अन्तर्गत हैं, उनमें ग्रामोद्योग तथा लघु-उद्योगों के कार्यक्रमों की गति बढ़ाई जाय, जिससे इन क्षेत्रों में किसानों की आय बढ़ने से वस्तुओं की माँग भी बहुत बढ़ेगी।

सम्मेलन ने ५ से १० सामुदायिक विकास खण्डो के लिए एक-एक उद्योग केन्द्र स्थापित करने का सुझाव स्वीकार किया। ये केन्द्र इस वर्ष खुल जायेंगे, ऐसी आशा है। इनमें ग्रामीणो के रेडियो सेट, ट्रैक्टर और सिंचाई के पम्पो की मरम्मत आदि के लिए एक-एक वर्कशॉप होगी।*

आगामी कार्यक्रम—

सामुदायिक विकास मन्त्रालय ने अप्रैल सन् १९६० में २०० पूर्व-विस्तार खडो को मध्य-चरण के खडो मे बदलने की तथा २२२ पूर्व-विस्तार खड खोलने की अनुमति दी है। ये निम्नवत् है :—

प्रदेश	पूर्व विस्तार खण्डो का प्रथम चरण में परिवर्तन	नये पूर्व विस्तार खण्ड
आन्ध्र	१८	२२
बिहार	२३	२६
बम्बई	२४	३३
मध्य प्रदेश	१५	१८
मद्रास	१३	१६
उड़ीसा	१२	१६
पजाब	७	६
उत्तर प्रदेश	४३	४६
पश्चिमी बङ्गाल	१५	—
मैसूर	१०	१२
राजस्थान	८	१०
केरल	५	७
मणिपुर, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश	३	२
उत्तर पूर्व सीमान्त अभिकरण	४	२

राज्य सरकारें पूर्व विस्तार खण्डो को प्रथम चरण के विकास खण्ड बनाते समय यह ध्यान में रखेंगी कि उन गाँवो के लोग आत्मनिर्भर हैं या नही। साथ ही, ऐसे क्षेत्रो को प्राथमिकता दी जायगी जहाँ गेहूँ और धान की खेती अधिक होती है तथा जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ एवं वर्षा भी अच्छी होती है। इसी प्रकार नए पूर्व विस्तार खण्ड खोलने मे उक्त बातो के साथ ही यह सुझाव है कि ग्रामदान मे दिए गये गाँवों या जहाँ पिछड़ी जातियो के लोग अधिक है उनको प्राथमिकता दी जाय। परन्तु यह प्रयत्न हो कि विकास खण्डो के अन्तर्गत सभी जिले आ जाएँ तथा पूर्व-विस्तार खण्ड पुराने

* भारतीय समाचार—जुलाई १, १९६०, पृ० ३६६-६७।

विकास खण्डों के, कृषि या पशु विज्ञान विद्यालयों अथवा विस्तार खण्ड ट्रेनिंग केन्द्रों के आस-पास हों।[1]

इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक ४ लाख गाँवों में ३,१०० विकास खण्ड हो जायेंगे तथा अक्टूबर सन् १९६३ तक सम्पूर्ण देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का विस्तार हो जायेगा। तीसरी योजना के अन्त में देश में प्रथम चरण के २,१०० दूसरी चरण के २,००० तथा १,००० विकास खण्ड ऐसे होंगे जो १० वर्ष पूर्ण कर चुके होंगे। इस हेतु तीसरी योजना में ४०० करोड़ रु० का आयोजन है।[2]

निष्कर्ष—

इन प्रयत्नों के साथ ग्रामीण जन-सहयोग तथा कर्मचारियों की कार्यक्षमता एवं लगन यदि उचित परिमाण में मिलती रहे, तो अवश्य ही हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण होकर वे सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन की जिनि का कार्य सम्पादन कर भारत का अधिकतम आर्थिक विकास करने में सफल होंगे। इस ओर भारत सेवक समाज संस्था का कार्य बहुत प्रशंसनीय है, जो कि सर्वाङ्गीण आर्थिक विकास के लिए कृषकों को नये सूत्र में बाँध रही है तथा कृषि एवं ग्रामीण विकास के अनेक कार्यक्रमों को हाथ में ले रही है। साथ ही, मूल्यांकन संगठन की रिपोर्टों में उपस्थित त्रुटियों को दूर करने की भी आवश्यकता है, जिससे "यह बीज एक विशाल वटवृक्ष के रूप में परिवर्तित होकर ग्रामीण जनता का आर्थिक एवं सामाजिक-स्तर उन्नत करने में सहायक हो।"

---

1. भारतीय समाचार-मई १५, १९६०।
2. Third Five Year Plan—Draft Outline, p. 153.

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

अगस्त सन् १९३९ में हेसियन और कच्चे जूट की कीमतें निश्चित एवं नियन्त्रित की गईं और ३ सितम्बर सन् १९३९ से द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही उद्योग को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि कच्चा जूट एवं जूट की वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं तथा माँग भी बढ़ी। इसलिए उद्योग पुनः अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करने लगा तथा सभी प्रकार के नियन्त्रण उद्योग से हटा दिये गये। परन्तु सन् १९४० में जूट की वस्तुओं की माँग कम हो गई, जिससे उद्योग को अपने काम के घण्टे और करघों की संख्या कम कर उत्पादन को सन्तुलन में रखना पड़ा। दूसरे, अमरीका, मित्र राष्ट्रीय देश तथा भारत सरकार ने उद्योग से नियन्त्रित मूल्यों पर खरीद प्रारम्भ की, जिससे उद्योग प्रथम विश्व-युद्ध की भाँति लाभ न कमा सका। इस अवधि में उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित करने वाली निम्न घटनाएं हुईं—(१) कोयला एवं विद्युत शक्ति की कमी, (२) यातायात असुविधाएं, तथा (३) सन् १९४३ का बंगाल-अकाल। इन आपत्तियों एवं ऊँच-नीच से उद्योग केवल अपने मजबूत संगठन के आधार पर ही बच सका। इसलिए जूट-उद्योग जाँच समिति ने इस उद्योग के आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिकन की सिफारिश की है।

भारत का विभाजन एवं रुपये का अवमूल्यन—

सन् १९४७ में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे ने उद्योग को गहरी चोट लगी, क्योंकि अच्छे जूट की पैदावार करने वाला पूर्वी बंगाल का प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, जो कुल जूट उत्पादक क्षेत्र का ७३% था। जूट के कारखाने भारत के हिस्से में रहे। इससे भारत के जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या खड़ी हो गई, जिसके लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ा। भारत सरकार भी इस मामले में सतर्क थी, जिससे भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे और जूट कृषि-क्षेत्र का विस्तार हुआ :—

सन्	जूट का कृषि क्षेत्र		जूट की फसल (हजार गाँठें)[1]
१९४७–४८	६५१ हजार एकड़		१,६६६
१९४८–४९	८३४	„	२,०५५
१९४९–५०	१,१६३	„	३,०८९
१९५०–५१	१,४५३	„	३,३०१
१९५१–५२	१,९५१	„	४,६७८
१९५५–५६	१,७३९	„	४,१९८
१९५६–५७	१,९०८	„	४,२८८
१९५७–५८	१,७४७	[illegible]	४,०५३
१९५८–५९	१,८२७	„	५,१७८[2]

1. India 1960 and Amrit Bazar Patrika, "Golden Fibre Supplement", Feb. 1958.
2. अन्तिम अनुमान—India 1960.

द्वितीय भाग
II PART

५९·३ करोड रुपए की आय हुई। यह भारत के आर्थिक कलेवर में उद्योग का महत्व प्रदर्शित करती है।

पटसन उद्योग की वर्तमान अवस्था की कल्पना निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

उत्पादन एवं निर्यात

वर्ष	कच्चे जूट की खपत (हजार गांठें)	उत्पादन (हजार टन)	निर्यात (हजार टन)
१९५४	५,३८४	९२७·७	८४०·६
१९५५	५,९८१	१,०२७·२	८४९·१
१९५६	६ ३४१	१,०९२·८	८६१·५
१९५७	६,१५२	१,०२९·९	८६४·५
१९५८	६,१४५	१,०६१·८	८१५·८
१९५९ (जून अक्टूबर)	५,०५४	८६९·९	६४३·१ (जून सितम्बर)

कच्चे माल का उत्पादन भारत में बढ़ाने के कारण हमारी पाकिस्तानी जूट आयात पर निर्भरता जो पहले ७१% थी वह अब केवल ५% रह गई है। पटसन के सम्बन्ध में जो संशोधन हो रहे हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारतीय जूट किसी भी तरह पाकिस्तानी जूट से निम्न कोटि का नहीं है। पटसन उद्योग पर विदेशी माँग का प्रभाव अधिक है, इसलिए जूट के नवीन उद्योगों के सम्बन्ध में सन् १९४८ से जूट-टैक्नोलॉजी आवश्यक अनुसन्धान कर रही है। इन अनुसन्धानों की सफलता से विदेशी माँग के कारण होने वाले उतार-चढ़ाव न्यूनतम होकर उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता न घटाते हुए परिवर्तनशील स्थिति में भी अपना मिलान करने में सफल हो सकेगा।

जूट उद्योग का उत्पादन एवं निर्यात देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५७ व १९५८ में उद्योग के निर्यात कम रहे। परन्तु सन् १९५९ से स्थिति में सुधार होने लगा। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) संख्यात्मक (Quantitative) आत्मनिर्भरता के कारण कच्चे माल की पूर्ण उपलब्धि,

(२) कताई एवं तैयार माल बनाने के यन्त्रों का आधुनिकीकरण, तथा

(३) उत्पादक इकाइयों के समन्नीकरण से विवेकीकरण।

जूट मिलों में अभी तक ६०% मिलों का आधुनिकीकरण हो गया है। इस हेतु मिलों ने अपने निजी साधन तथा राष्ट्रीय विकास निगम से प्राप्त ऋणों का उपयोग किया। इस हेतु रा० वि० निगम ने ४·६० करोड़ रु० के २२ ऋण दिए। इस समय उद्योग के २०% मिलों का आधुनिकीकरण हो रहा है तथा सम्पूर्ण उद्योग का आधुनिकीकरण तीसरी योजना के अन्त तक हो जायगा। अभी तक १०,००० करघों के

अध्याय १

भारतीय उद्योगों का विकास

(Development of Indian Industries)

भारतीय उद्योगों की प्राचीन स्थिति अत्यन्त गौरवास्पद थी, इसमें किसी को किसी प्रकार की शंका नहीं है। परन्तु भारतीय उद्योगों के अतीत को देखने से पूर्व इस विषय के अध्ययन के हेतु जो कालखण्ड बनाए गये, उनकी त्रुटि का उल्लेख यहां पर अनिवार्य हो जाता है। सन् १८५७ के पूर्व एवं सन् १८५७ के पश्चात् इन दो काल खंडों में अतीत का विभाजन आर्थिक दृष्टि से दोषपूर्ण है, क्योंकि किसी भी देश का विकास *किसी निश्चित रेखा से दो कालखंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता।* भारत में यह तथ्य विशेष रूप से लागू होता है। इसलिए यदि हम भारतीय उद्योगों की स्थिति १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में क्या थी तथा आगे चलकर उसमें शक्तिशाली घटकों के परिणाम किस प्रकार हुए, उनसे हमारी औद्योगिक स्थिति तथा औद्योगिक कलेवर में किस प्रकार परिवर्तन हुए, इसका विश्लेषण करें तो अनुचित न होगा? इतना ही नहीं, प्रत्युत कुछ सही अर्थ में भारतीय उद्योगों का अध्ययन करने के लिए उनको सन् १८६० के पूर्व की स्थिति तथा सन् १८६० के पश्चात् की स्थिति का अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा। कारण, इङ्गलैण्ड की १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति से होने वाले परिवर्तन सन् १८६० में पूर्ण हुए और क्रमशः उसके बीज अन्य देशों में भी फैलने लगे, विशेषतः भारत में। क्योंकि भारत अंग्रेजों के राजकीय अधिकार में था और इस अधिकार का इङ्गलैण्ड की आर्थिक उन्नति के लिए अंग्रेज पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे।

भारतीय उद्योग सन् १८५७-६० के पूर्व—

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारतीय कुटीर उद्योगों की बनी हुई वस्तुएं विदेशों में निर्यात की जाती थीं। इस कारण भारतीय श्रमिक एवं उद्योगों की कुशलता का परिचय विश्व के कोने-कोने में विदित हो गया, *जिसका प्रमाण इतिहास से मिलता है।* हाँ, एक बात अवश्य है कि *भारतीय उद्योगों में यन्त्रों का उपयोग न होते हुए* सम्पूर्ण औद्योगिक क्रियाएं कारीगर अपने हाथ से ही तथा अपने घरों में अथवा राजा नवाबों द्वारा सचालित कारखानों में करते थे। ट्रेवर्नियर नामक यात्री, जिसने मुगल काल में भारत यात्रा की थी, सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में लिखता है—"भारत-निर्मित वस्तुएं इतनी सुन्दर होती थीं कि वे तुम्हारे हाथ में हैं, इसका ज्ञान क्वचित ही होता था और वस्त्र अत्यन्त कोम-

लता से बुने जाते थे। १ पौंड रुई से २५० मील लम्बा कपड़ा बुना जाता था।" जहाज उद्योग के सम्बन्ध में श्री अशोक मेहता ने लिखा है—"समुद्री यातायात एवं जहाज निर्माण में भारत का उत्थान था। जब वास्को-डिगामा भारत में आया तब उसने देखा कि यहाँ के जहाजी नौवहन में इतने पारंगत थे जितना वह स्वयं भी नहीं जानता था।" औद्योगिक आयोग (सन् १९१८) अपने वृत्तलेख में लिखा है—'आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का जन्म-स्थान यूरोप जब असभ्य जातियों का निवास स्थान था, उस समय यहाँ के शासकों की सम्पत्ति एवं शिल्पियों की उच्च कला के लिए भारत विख्यात था। इसी की पुष्टि एडवर्ड थॉर्नटन नामक अंग्रेज इतिहासकार ने भी की है—"नील नदी की घाटी में जब पिरामिड देखने को न मिलते थे, तब आधुनिक सभ्यता के केन्द्र इटली और ग्रीस जंगली अवस्था में थे, उस समय भारत वैभव और सम्पत्ति का केन्द्र था।[1] इस प्रकार भारतीय कुटीर उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारत सभ्यता एवं सम्पत्ति का केन्द्र था, इसलिए सदियों तक विदेशियों के आकर्षण का एक विषय बना रहा।

परन्तु भारतीय उद्योगों की अवनति का आरम्भ भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से प्रारम्भ हो जाता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रारम्भ में तो केवल इसी हेतु से आई थी कि जिससे भारतीय उद्योग निर्मित माल के विदेशों में निर्यात द्वारा वह काफी लाभ कमावे। उसकी इस नीति में क्रमशः परिवर्तन होने लगा, जिससे भारतीय कुटीर उद्योगों की अवनति होने लगी। इस नीति का मूल उद्देश्य ही यह हो गया कि भारत कच्चा माल निर्माण करने वाला एवं निर्मित माल का आयात करने वाला एक देश हो जाय। इस नीति से भारतीय कुटीर-उद्योग नष्ट प्राय हो गये, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं[2] :—

(१) भारतीय राजा एवं नवाबों का अन्त।
(२) नवीन सामाजिक वर्गों का उदय।
(३) ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं औद्योगिक नीतिः—
 (अ) मुक्त व्यापार नीति।
 (ब) भारी अन्तर्प्रदेशीय कर।
(४) भारतीय माल के विरुद्ध इङ्गलैंड में वैधानिक प्रतिबन्ध।

उपरोक्त शक्तिशाली घटकों के कारण "१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में (भारतीय) औद्योगिक स्थिति स्थिर थी, जिस पर विदेशी माँग की प्रतिक्रिया होती रही। परम्परागत औद्योगिक व्यवसायों में परिवर्तन कठिनतम् होने से तथा जाति प्रथा के कारण ये उद्योग चालू रहे। क्योंकि इनमें तान्त्रिक शिक्षा, कुशलता तथा परम्परागत विशेष वस्तुओं के निर्माण की शिक्षा मिलती रही।"[3]

1 History of British Empire in India—Edward *Thornton.*
२ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—कुटीर उद्योग का अध्याय।
3. *Economics Development of Br. Overseas Empire*—Knowles.

आधुनिक उद्योगों का विकास—

एक ओर तो ब्रिटिश कूटनीति के फलस्वरूप भारतीय प्राचीन कुटीर-धन्धों की स्थिति चिन्ताजनक हो रही थी और दूसरी ओर आधुनिक उद्योगों का पूँजीवादी पद्धति से श्रीगणेश हो रहा था। आधुनिक उद्योगों में दो प्रकार के उद्योगों का समावेश होता है—बगीचा उद्योग और कारखाना उद्योग। इनमें से बगीचा उद्योग यूरोपीय देशों के ट्रॉपिकल क्षेत्रों में बहुत होता था, इसलिए इसी का आरम्भ भारत में सर्व प्रथम हुआ और यहीं से भारतीय स्रोतों का विदोहन यूरोपवासियों द्वारा होना आरम्भ हुआ।[1] परन्तु इस उद्योग के अलावा यूरोपवासियों का हाथ भारत के औद्योगिक विकास में लगभग सन् १८५० तक बहुत ही नगण्य रहा। यूरोपवासियों की भारत में औद्योगिक निष्क्रियता के लिए निम्न कारण थे :—

(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए यूरोपवासियों पर भारतीय भूमि खरीदने के लिए लगाये गए प्रतिबन्ध, जिससे यूरोपीय लोग यहाँ पर स्थायी-रूप से भूमि नहीं खरीद सकते थे।

(२) सन् १८३३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारतीय व्यापार पर एकाधिकार।

(३) आन्तरिक यातायात साधनों का अभाव, जिससे माल के यातायात के लिये सुविधायें नहीं थीं और सड़कों आदि के अभाव के कारण बाजारों का विकास भी नहीं हो सका था।

(४) घनी आबादी का न होना।

इन कारणों से सन् १८६० के पहले भारत में इण्डिगो उद्योग के अलावा बगीचा उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगों का अभाव था। परन्तु जैसे-जैसे उपरोक्त कठिनाइयों का निवारण होता गया, यूरोपीय लोगों के द्वारा स्थापित आधुनिक ढङ्ग के निर्माणी उद्योगों का विकास होने लगा। इस प्रकार आधुनिक उद्योगों में बगीचा उद्योग ही एक ऐसा उद्योग था जो १९वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोपियनों द्वारा संचालित था तथा इण्डिगो के बनाए हुए रंगों का निर्यात-व्यापार ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहुत बड़े पैमाने पर करती थी।[2] सन् १८३५ से चाय के बगीचे का उद्योग आरम्भ हुआ तथा इसे फलता-फूलता देखकर सन् १८५२ से अन्य यूरोपीय भी इस उद्योग को अपनाने लगे। फलतः इस उद्योग की जड़ें सन् १८५० तक दृढ़ हो गईं, अतः "यह कहा जा सकता है कि वर्तमान चाय उद्योग की नींव सन् १८५६ से सन् १८५९ के बीच डाली गई"[3] और यह उद्योग विकसित हो गया। चाय-बगीचों की संख्या जो सन् १८५० में १ थी वह सन् १८७१ में २९५ हो गई। बगीचों का क्षेत्रफल एवं चाय-

1. The Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil, p. 45, 4th Edition.

2. Ibid.

3. Ibid. p. 48.

की पैदावार इन्ही वर्षों मे क्रमशः १,८३६ एकड से ३१,३०३ एकड तथा पैदावार २,१६,००० पौंड से ५२,५१,१४३ पौंड हो गई। कॉफी उद्योग १७वी शताब्दी मे मूर-व्यापारियो द्वारा दक्षिण भारत मे आरम्भ किया गया था। परन्तु सन् १८४० तक, अर्थात् जब तक यूरोपियनो ने इस उद्योग को हाथ मे नही लिया तब तक इसका महत्त्वपूर्ण स्थान नही था। इस प्रकार वास्तव मे कॉफी उद्योग का आरम्भ सन् १८४० मे हुआ, परन्तु उद्योग की प्रगति सन् १८६० से सन् १८७६ के वर्षों में ही हुई।

इस प्रकार सन् १८५० के पूर्व भारत में इण्डिगो उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का अभाव था, जिनकी स्थापना एवं विकास वास्तविक रूप में सन् १८६० से सन् १८८० की अवधि मे ही हुआ। सन् १८५० के पूर्व बगीचा उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का पूर्ण अभाव था। इसका यह तात्पर्य नही कि अन्य उद्योगो की स्थापना के प्रयत्न ही नही हुए। प्रयत्न तो हुए, परन्तु इक्के-दुक्के प्रयत्न सफल रहे तथा अन्य पूर्णतः असफल रहे, जैसे—रीलिंग यन्त्रो का श्रीगणेश ईस्ट इण्डिया द्वारा किया गया; इस उद्योग ने कुछ काल तक काफी प्रगति की। इसी प्रकार सन् १८२० के लगभग सेराम पेपर मिल की स्थापना हुई, जिसने काफी उन्नति की। इसी प्रकार इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के बीज यूरोपियनो द्वारा भारत मे भी लाए गए, फलतः सन् १८३२ मे भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास जहाजो की संख्या ७ थी तथा भाप के इन्जनो का उपयोग कोयले की खानो, आटे की चक्कियों, सिल्क रीलिंग आदि में होने लगा था।* परन्तु सन् १८५० के पूर्व उद्योगो के विकास मे बाधक शीघ्र एव आधुनिक यातायात के साधनों का अभाव एक प्रमुख कारण था। भारत मे सन् १८४६ में सर्वप्रथम बम्बई से कल्याण तक (३३ मील) रेल मार्ग बनाए गए। इसके बाद कलकत्ते से रानीगज (१२३ मील) तथा मद्रास से अर्कोनम (३३) मील के रेल मार्ग बने और क्रमशः राजनैतिक एव आर्थिक स्वार्थ की दृष्टि से ब्रिटिश शासको ने रेल मार्ग का जाल बिछाना आरम्भ किया। फलस्वरूप कोयला खान उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगो का विकास हुआ।

सन् १८५७-१८६० के उपरान्त—

रेल्वे एवं भाप से चलने वाले जहाजी यातायात की सुलभता के कारण माल के आयात-निर्यात में सुलभता हो गई तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री का आयात भी होने लगा। रेल्वे का विकास एव यातायात की सुलभता के कारण भारत में सन् १८५१ मे पहिला वस्त्र कारखाना—दी बॉम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग क० खोला गया, जिसने सन् १८५४ में उत्पादन आरम्भ किया। परन्तु सन् १८७० तक इसकी प्रगति धीमी रही, क्योंकि रुई की कीमतें ऊँची थीं, विशेषतः

* Development of Capitalistic Enterprise in India—Buchanan.

अमेरिकी गृह-युद्ध के कारण। इसके बाद स्थिति में सुधार होते ही इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १८८६ में भारत में ९६ वस्त्र कारखाने थे, जिनमें ४३,००० श्रमिक १३,००० करघों तथा १४,२३,००० तकुओं (Spindles) पर काम करते थे। रेलों के विकास के साथ ही इन्जीनियरिंग तथा कोयला-खान उद्योग का विकास और वस्त्र कारखानों से सम्बन्धित अन्य सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास होने लगा। सन् १८५४ में ही आधुनिक ढङ्ग पर पटसन उद्योग की स्थापना की गई तथा सन् १८६३-६४ से उद्योग की अच्छी तरह उन्नति होने लगी। इस प्रकार सन् १८८० तक भारत में वस्त्र, पटसन एवं कोयला-खान उद्योग ही महत्वपूर्ण उद्योग थे। इन उद्योगों के विकास के साथ कुटीर उद्योगों को गहरी चोट पहुँची तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा थी ही, जिससे उनकी और भी अवनति होने लगी। इन उद्योगों में वस्त्र उद्योग के अलावा अन्य उद्योगों के विकास के लिए पूँजी एवं साहस ही कारणी-भूत था।

सन् १८८० से सन् १९१४ तक इन उद्योगों ने काफी प्रगति की तथा इनकी प्रगति में सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने बल दिया। फलतः वस्त्र कारखाने एवं पटसन के कारखानों की संख्या क्रमशः ५८ से २६४ एवं २२ से ६४ हो गई। इसी प्रकार कोयले का उत्पादन १२,९४,२२१ टन से १,५७,३८,१६३ टन हो गया तथा अन्य खान-उद्योगों का विकास होने लगा। परन्तु यह औद्योगिक विकास इतना सीमित था जो कुटीर उद्योगों से विस्थापित जन-संख्या को काम नहीं दे सकता था। इस कारण जनता ने औद्योगिक विकास के लिए आवाज उठाई, जिसकी पुष्टि दुर्भिक्ष आयोग सन् १८८० तथा सन् १९०१ ने की थी, परन्तु ब्रिटिश शासन ने ध्यान नहीं दिया। फलतः सन् १९०५ में राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ हुआ। इससे अनेक छोटे-मोटे उद्योगों की स्थापना हुई, परन्तु अपर्याप्त पूँजी, अनुभव हीनता, ब्रिटिश शासन की व्यापारिक-साम्राज्यवादी एवं मुक्त-व्यापार नीति के कारण वे विदेशी प्रतिस्पर्धा में न टिक सके। स्वदेशी आन्दोलन के साथ विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा तथा कांग्रेस ने भारतीय उद्योगों को सरकारी सहायता एवं संरक्षण देने की आवाज बुलन्द की। आर्थिक आँकड़ों* के अनुसार सन् १८९५ तक इस प्रकार विकसित होने वाले अन्य उद्योगों में ऊनी वस्त्र उद्योग तथा कागज उद्योग का भी बड़े उद्योगों में उल्लेख किया गया था। क्योंकि इस वर्ष में ६ ऊनी वस्त्र तथा ८ कागज के कारखाने थे, जिनमें क्रमशः २,००० और ३,१०० श्रमिक काम करते थे। इन उद्योगों के अलावा रेल्वे एवं जहाजी यातायात के विकास के साथ भारत में इन्जीनियरिंग उद्योग तथा लोहा एवं पीतल फाउन्ड्री तथा टैनिंग का उद्योग भी विकसित हो रहा था। इस प्रकार सन् १८६० के उपरान्त सन् १८९५ तक भारतीय उद्योग काफी उन्नति कर चुके थे और "यदि इसी उत्साह से हमारे

---

* Financial & Commercial Statistics of India.

पूँजीपति अपने मार्ग का अनुसरण करते तो वे औद्योगिक निर्माण मे असफल नही हो सकते थे।"*

सन् १८८७ से भारत में कोयले के साथ ही पेट्रोलियम तथा मैंगनीज उद्योग का विकास हुआ, जो सन् १९१४ तक काफी अच्छी स्थिति प्राप्त कर चुके थे। पेट्रोल का उत्पादन सन् १८९६ मे १,५०,४९,२८९ गैलन था, जो सन् १९१४ मे २५,९३,४२,७१० गैलन हो गया। इसी प्रकार मैंगनीज उद्योग सन् १८९२ में प्रारम्भ हो गया था। परन्तु इसकी उन्नति केवल सन् १९००के बाद ही हुई, जब रूस-जापानी युद्ध के कारण रूस से मैंगनीज का निर्यात बन्द हो गया था। इससे इस भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन मिला, फलतः मैंगनीज का उत्पादन सन् १९०७ में ९ लाख टन से भी अधिक हो गया। इस प्रकार भारत मैंगनीज का विश्व मे एक बड़ा उत्पादक हो गया। इसके अलावा अन्य खान उद्योगो का विकास भी इस अवधि मे होने लगा, जैसे—नमक, साल्ट पीटर, अभ्रक, स्वर्ण आदि। इसी प्रकार लौह खानो के विदोहन के प्रयत्न भी सन् १९०७ से होने लगे थे, परन्तु इसका सफल प्रयत्न केवल सन् १९११ मे टाटा द्वारा टाटा आयरन एण्ड स्टील क० की स्थापना से किया गया, जिसने सन् १९१४ मे उत्पादन आरम्भ किया।

इस प्रकार भारत में आधुनिक उद्योगो का विकास १९वी अर्द्ध-शताब्दी के के बाद विशेषतः यूरोपीय पूँजी एवं यूरोपीय विशेषज्ञो द्वारा किया गया। इस अवधि में शक्कर, चमड़े की सफाई तथा अन्य छोटे-मोटे उद्योग भी प्रारम्भ किये गये। परन्तु ये उद्योग विदेशी वस्तुओ की प्रतियोगिता मे न टिक सके। भारत मे विशेषतः वे ही उद्योग सफलता से उन्नति कर सके, जिन उद्योगो को देशी माग एव नैसर्गिक विकास के स्रोत उपलब्ध थे तथा विदेशी प्रतियोगिता का भय न था। इस धीमी प्रगति के लिए विशेष रूप से सरकार की औद्योगिक विकास मे अरुचि, मुक्त-व्यापार नीति, तान्त्रिक शिक्षण सुविधाओ का अभाव, विदेशी प्रतिस्पर्धा, पर्याप्त विनियोग पूँजी का अभाव, देश के व्यापारिक एव औद्योगिक स्रोतो का अज्ञान, अकुशल श्रमिक, उद्योगों का असन्तुलित विकास तथा विदेशी पूँजी एव साहस का एकाधिकार प्राप्त उद्योगो मे हित ये प्रमुख कारण थे।

सन् १९११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय भारत में ७,११३ कारखाने थे, जिनमे १० से अधिक व्यक्ति काम करते थे, परन्तु इनमें ४,५९९ कारखाने ऐसे थे, जिनमे यान्त्रिक अथवा अन्य शक्ति का उपयोग होता था। इसी गणना के अनुसार उद्योगो पर निर्भर जन संख्या २१,०१,८२४ थी, जिसमे से बगीचा उद्योग वस्त्र उद्योग, खान उद्योग तथा यातायात सम्बन्धी उद्योगो मे क्रमशः ८,१०,४०७,

---

* That India has now fairly entered upon the path which, if pursued in the same spirit which has animated its capitalists hitherto, can not fail to work out its Industrial Salvation

—Essays on Indian Economics—Ranade,

१,५७,९८६, २,७४,०८७ तथा १,२५,११७ व्यक्ति काम करते थे, पर्यात् प्रौद्योगिक जन-संख्या का ८१% भाग केवल इन चार बड़े उद्योगों में था।[1] इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने तक भारतीय उद्योगों ने अनेक कठिनाइयों के बीच पर्याप्त प्रगति की थी।[2]

प्रथम विश्व युद्ध में और उसके बाद—

प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने ही आरम्भ में भारतीय उद्योगों को धक्का लगा, क्योंकि यातायात साधनों का नियोजन प्रतिरक्षा के लिए होने से औद्योगिक यातायात में असुविधाएँ होने लगीं। साथ ही, औद्योगिक आवश्यक माल के आयात में अड़चनें उपस्थित हो गई तथा अनेक उद्योगों के लिए, जैसे—कोयला, मैंगनीज एवं वस्त्र उद्योग के निर्यात में अड़चनें आ गई परन्तु यह युद्ध का तत्कालीन प्रभाव था। इसके बाद भारतीय उद्योगों पर युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति की जिम्मेदारी आ गई। कीमतें बढ़ने लगी, जिससे उद्योगों ने काफी लाभ कमाये तथा भारत का निर्यात व्यापार युद्ध-काल में काफी बढ़ गया और धीरे-धीरे विनिमय दर भी बढ़ती गई। परन्तु बढ़ती हुई विनिमय दर से युद्ध-काल में हमारे विदेशी व्यापार पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं हुआ। इस अवधि में भारतीय उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला, परन्तु यन्त्रादि के आयात एवं विशेषज्ञों के अभाव के कारण उद्योगों का विकास नहीं हुआ। इस युद्ध से जो भारतीय उद्योगों को लाभकर बात मिली वह यह कि भारत सरकार ने सुरक्षा की दृष्टि से इन उद्योगों का महत्व पहिचाना तथा सन् १९१६ में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं की जाँच एवं सिफारिश करने के लिए औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने सन् १९१८ में अपनी रिपोर्ट रसायनिक तथा तान्त्रिक अनुसन्धान, औद्योगिक एवं तान्त्रिक शिक्षा के समुचित संगठन द्वारा उद्योगों को प्रत्यक्ष एवं सक्रिय सहायता देने की सिफारिश की। युद्ध के लिए माल बनाने तथा आवश्यक माल खरीदने के लिए सन् १९१७ में इण्डियन म्युनिशन्स बोर्ड तथा स्टोर्स परचेज डिपार्टमेन्ट की स्थापना हुई। इन सब क्रियाओं से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला तथा औद्योगिक विकास के लिए उन्हें अच्छा अवसर मिला।

सन् १९१९ में युद्ध समाप्त होने ही व्यापारिक क्रियायें बढ़ने लगी तथा माँग बढ़ने के साथ ही उद्योगों ने विकास योजनाएँ बनाना आरम्भ किया, जिससे नये उद्योगों

---

1. Industrial Evolution of India—Gadgil 4th Edn. 114-115.

2. "The growth of large factory fram 1890 until the world war was fairly steady in all fields Cotton spindles more than doubled. cotton power-looms quadrupled, jute looms increased four and half times and coal-rising six times; while the extension of railways continued at the rate of about 800 miles per annum."—*Development of Capitalistic Enterprise in India*—Buchanon, pp. 139-40.

की स्थापना तथा पुराने उद्योगों का विकास होने लगा। फलतः सन् १९१९-२० एवं सन् १९२०-२१ में क्रमशः ९०५ एवं ९६५ नई कम्पनियों की रजिस्ट्री हुई, जिनकी अधिकृत पूंजी क्रमशः २७५ एवं १४६ करोड़ रुपये थी। इस प्रकार युद्ध पूर्व जहाँ भारत में २,५८१ कम्पनी जिनकी चुकता पूंजी ७६ करोड़ रुपये थी, वे बढ़कर सन् १९१८-१९ में २,७१३ हो गई, जिनकी चुकता पूंजी १०६ करोड़ रुपये थी। यही संख्या सन् १९२१-२२ में ४,७८१ हो गई तथा इनकी चुकती पूंजी २२३ करोड़ रुपये थी।[1] इसी प्रकार बम्बई की वस्त्र निर्माणियों ने सन् १९१८ से सन् १९२१ के चार वर्षों में क्रमशः २३·७, ४०·१, ३५·२ तथा ३०·१% लाभांश बाँटा और यही स्थिति अन्य उद्योगों की थी, जिससे उनके अंशों के बाजार मूल्य बढ़ने लगे। यही स्थिति दीर्घकाल तक न रह सकी और सन् १९२० में मन्दी आने से पाँसा पलटने लगा। इसी अवधि में विनिमय दर भी गिरने लगी तथा भारतीय व्यापारियों के आदेशानुसार माल का आयात प्रारम्भ हो गया, जिससे भारतीय व्यापारियों को हानि हानि हुई तथा व्यापारिक अनिश्चितता आ गई। इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध के बाद मन्दी आई, जिसमें औद्योगिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई। इसके लिये सरकार की चलन नीति भी जिम्मेवार थी। औद्योगिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा उद्योगों को सहायता देने के हेतु भारत सरकार ने मुक्त व्यापार-नीति का परित्याग किया तथा औद्योगिक समिति की सिफारिशों के अनुसार फिस्कल कमीशन की नियुक्ति (सन् १९२१) की, जिसने भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक (Discriminating) संरक्षण देने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार लोहा एवं इस्पात उद्योग को सन् १९२३ में, वस्त्र उद्योग को सन् १९२६ में तथा कागज उद्योग को सन् १९२७ में संरक्षण दिया गया। फलतः ये उद्योग विदेशी प्रतियोगिता में अपना सफल विकास तथा सुदृढ़ संगठन कर सके। इस संरक्षण के कारण सूती वस्त्र निर्माणियों की संख्या ३३४ (सन् १९२६-२७) से बढ़कर ३३९ (सन् १९३०-३१) हो गई तथा इसमें ३,९५,४७५ व्यक्ति काम करते थे। युद्ध के बाद पटसन उद्योग ने भी काफी प्रगति की, क्योंकि पटसन-निर्माणियों की संख्या ७० (सन् १९१४-१५) से बढ़कर ९८ (सन् १९२९-३०) हो गई तथा इस उद्योग में सन् १९२९-३० में ३,४३,२५७ व्यक्ति काम करते थे।[2] वस्त्र, लौह एवं इस्पात तथा पटसन उद्योग के साथ ही अन्य उद्योगों का भी विकास होता गया, जैसे—शक्कर, कागज, सीमेन्ट, कोयला, इञ्जीनियरिङ्ग आदि। मन्दी का समय वैसे तो औद्योगिक विकास के लिये अनुकूल नहीं होता, फिर भी संरक्षण, औद्योगिक कच्चा माल सस्ता होने तथा मजदूरी के निम्न स्तर के कारण भारतीय उद्योगों ने प्रगति की। परन्तु औद्योगिक विकास में सरकार ने प्रत्यक्ष किसी प्रकार से भाग नहीं लिया, इस कारण आशातीत उन्नति न हो

1. Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil. pp. 226 27.
2. Ibid. pp. 240-42.

सकी। सन् १६३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना ने उन्होंने देश के औद्योगिक भविष्य को आशादायी बनाने के लिये एक उद्योग-मन्त्री सम्मेलन बुलाया, जिसके प्रस्तावों के अनुसार राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण हुआ। इस समिति ने विभिन्न विषयों पर छानबीन कर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये, जिनसे प्रथम पंच-वर्षीय योजना को मौलिक सामग्री मिली।

इसके अलावा सन् १६३५ में औद्योगिक विकास जो युद्ध पूर्व केन्द्रीय विषय था वह प्रान्तीय कक्ष में दिया गया। फलतः प्रान्तों ने उद्योग विभागों की स्थापना की। इन विभागों का कार्य प्रान्तीय उद्योगों को विकास के लिए आवश्यक जानकारी एवं सहायता देने का था। परन्तु इन्होंने सक्रिय कार्य कुछ भी नहीं किया, क्योंकि इनके पास औद्योगिक सहायता के लिए पर्याप्त धन का अभाव रहा। इसी कारण अखिल भारतीय रसायन सेवा योजना (All India Chemical Service Projects) का परित्याग किया गया। परन्तु उद्योगों को सहायता देने के लिए केन्द्रीय फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट देहरादून में खोला गया। इसी प्रकार प्रान्तों ने भी अपने कक्ष में कुछ कार्यवाही की, जैसे—टेक्नोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट कानपुर, रिसर्च टेनरी कलकत्ता, सोप इन्स्टीट्यूट मद्रास आदि। मत्स्य-उद्योग के लिए मद्रास में मत्स्य-विभाग भी खोला गया। उद्योगों को आर्थिक सहायता भी प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत देने का प्रबन्ध किया गया।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया तथा सरकार को प्रतिरक्षा की दृष्टि से भारत के औद्योगीकरण के महत्व से परिचित कराया। मुक्त व्यापार नीति का अन्त तथा विवेकात्मक संरक्षण नीति का श्रीगणेश हुआ। औद्योगिक विकास प्रान्तीय कक्ष का विषय हो गया तथा प्रान्तीय सरकारों ने उद्योगों को सहायता देने के लिए अधिनियम बनाये और औद्योगिक एवं तान्त्रिक शिक्षा का किंचित प्रबन्ध किया। सारांश में, प्रथम विश्व युद्ध के बाद यद्यपि गुणात्मक दृष्टि से औद्योगिक विकास बहुत कम किन्तु संख्यात्मक दृष्टि से भारत का औद्योगिक विकास तत्कालीन परिस्थिति में सन्तोषजनक रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल—

सन् १६३६ में विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही योरोपीयन आयात कम हो गये, जिससे भारतीय उद्योगों को प्रतियोगिता का भय न रहा। फलतः भारतीय उद्योगों का काफी विकास हुआ, क्योंकि इन्हीं पर युद्ध-सामग्री की पूर्ति की जिम्मेवारी आ गई थी। परन्तु आधारभूत तथा पूँजीगत उद्योगों (Capital Goods Industry) का अभाव होने से भारत वांछनीय प्रगति न कर सका। फिर भी युद्ध-काल में भारत के औद्योगिक विकास के लिए तथा युद्ध कार्य के लिए आवश्यक वैज्ञानिक साधनों की पूर्ति के लिए 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान सभा' का निर्माण किया गया। इसी प्रकार अस्त्र-शस्त्र की कमी दूर करने के लिए चेटफील्ड्स आयोग की सिफारिशों के अनुसार

ग्रॉर्डनेन्स फैक्टरीज का विकास एवं ग्राधुनिकीकरण किया गया। युद्ध-काल में भारतीय जहाज उद्योग की दृढ स्थापना के लिए विशाखापट्टम में सन् १६४२ मे जहाज निर्माण उद्योग की स्थापना की गई, जिसमे सरकारी सहायता भी उपलब्ध थी। इसी प्रकार बंगलोर के हवाई जहाज उद्योग का विकास करने को सरकार ने २½ करोड़ रु० की सहायता दी तथा हवाई जहाजो की पूर्ति के लिए ग्रादेश दिए।

तान्त्रिक कुशलता का विकास करने के लिए सरकार ने 'तान्त्रिक शिक्षा योजना' द्वारा तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध किया तथा उच्च शिक्षा के लिए बेविन योजना के ग्रन्तर्गत शिक्षार्थियो को सयुक्त राज्य मे भेजा जाने लगा, परन्तु युद्ध के पश्चात् बेविन योजना का ग्रन्त कर दिया गया। इसी के साथ ग्रौद्योगिक सहायता एव विकास के लिए ग्रनेक समितियाँ बनाई गई तथा सन् १६४० मे सरकार ने मल्यूमीनियम, रसायन, स्टील पाइप ग्रादि कुछ विशेष उद्योगो की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिए तत्परता दिखाई।

इसके बाद भारत मे ग्रौद्योगिक विकास के साधनो का निरीक्षण तथा ग्रौद्योगिक तान्त्रिक सहायता देने की दृष्टि से सन् १६४२-४३ मे सर हैनरी ग्रैंडी की ग्रध्यक्षता मे एक ग्रमेरिकन तान्त्रिक मिशन ग्राया। इसने भारतीय युद्ध उत्पादन के ग्रच्छे श्रीगणेश की ग्रोर सकेत करते हुए मत दिया कि भारत मे इन उद्योगो का इतना विकास हो सकता है कि भारत मध्य एव सुदूर पूर्व मे ग्रच्छा शस्त्र गृह (Arsenal) बन सकता है। इस हेतु ग्रावश्यक तान्त्रिक सहायता ग्रमेरिका से मिलेगी ऐसा विश्वास श्री ग्रैंडी ने दिलाया।

युद्धोत्तर काल (सन् १६४५–६०)—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत ने द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे सरकारी प्रोत्साहन मिलने से सराहनीय प्रगति की। साथ ही, इस युद्ध से यह भी सिद्ध हो गया कि देश के ग्रौद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना होगा। फलस्वरूप २१ ग्रप्रैल सन् १६४५ मे भारत सरकार ने ग्रपनी ग्रौद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे :—

(१) देश के उपलब्ध स्थानो के ग्रधिकतम विदोहन से राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि करना। ऐसी ग्रतिरिक्त सम्पत्ति सामाजिक दृष्टि से समानता से वितरित करना,

(२) देश को प्रतिरक्षा के लिए ग्रच्छी तरह सुदृढ बनाना,

(३) उच्च एव स्थायी स्तर पर रोजगारी को प्रोत्साहन देना,

(४) यदि विकास के लिए पर्याप्त निजी पूँजी न मिली तो देश के २० बडे उद्योगो का नियन्त्रण तथा ग्रन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जायगा, जैसे—हवाई जहाज, मोटर, रसायन, लोहा एव इस्पात, प्राइम-मूवर्स, ट्रान्सपोर्ट, वेहिकल्स, विद्युत यन्त्र, मशीन टूल्स, विद्युत रसायन (Electro-chemicals), नॉनफेरस धातु ग्रादि।

युद्धोत्तर काल मे भारत सरकार ने सन् १९४५ मे अन्तरिम प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की तथा प्रौद्योगिक उपक्रमों को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन अर्थप्रदाय के लिए औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल की योजना बनाने का कार्य हाथ में लिया। औद्योगिक शोध एव योजना समिति ने १० अगस्त सन् १९४५ को अपने प्रतिवेदन में राष्ट्रीय-शोध-परिषद् तथा देश मे राष्ट्रीय-शोध-प्रयोगशालाओं का जाल बिछाने की सिफारिश की। इसके अलावा प्रौद्योगिक क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण कदम उठाए, जैसे-श्रमिक गृह निर्माण योजना, सामाजिक बीमा आदि।

सन् १९४६ से अनेक राजनैतिक उलट फेर हुए तथा मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए सरकार की कर-नीति ऐसी रही जिसमे उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। दूसरे, युद्ध-काल मे औद्योगिक यन्त्र सामग्री का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने के कारण वह जीर्ण-शीर्ण हो गई थी और उत्पादन व्यय अधिक हो रहा था। मजदूरों के असन्तोष ने भी युद्ध के बाद जोर पकड़ा। इन सब परिस्थितियों के सामूहिक परिणाम-स्वरूप औद्योगिक उत्पादन गिर रहा था। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) पूँजीगत सामग्री की प्राप्ति में कठिनाई।
(२) श्रमिकों मे असन्तोष।
(३) यातायात की असुविधाएँ।
(४) कच्चे माल की कमी तथा।
(५) राजनैतिक अशांति एव दङ्गों के कारण विनियोग क्रियाओं मे शिथिलता।

इसके बाद जनवरी सन् १९४७ मे अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई तथा सन् १९४७ के बजट में व्यापार लाभ कर लगाया गया। इससे उद्योगों को प्रोत्साहन न मिलते हुए औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत परिणाम हुआ*:—

वर्ष	सामान्य सूचनाक	कोयला	शक्कर	रंग आदि	सीमेंट	कांच	सूत	कपड़ा
१९४७	९७·५	१०३·६	९७·६	१००·५	९३·६	६५·५	९४·८	९५·०
१९४८	१०८·९	१०३·२	११६·५	९३·०	१७०·७	७१·६	१०५·९	११०·५
१९४९	१०६·३	१०८·०	१०८·५	८०·५	१५६·३	३९·५	९९·४	९९·९
१९५०	१०५·२	११०·८	१०५·८	७३·८	१९९·४	१०९·५	८५·९	९३·८

विभाजन का परिणाम—

इसके बाद अगस्त सन् १९४७ मे भारत को अग भंग स्वतन्त्रता मिली, यद्यपि आर्थिक कारणों से भारत विभाजन नही हुआ था फिर भी उसके आर्थिक परिणाम दूरगामी हुए और आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र मे नई समस्याएँ उपस्थित हो गई।

* Ministry of Commerce & Industry and marketing abstract of statistics June 1951 E- Base=100.

(१) देश मे खाद्यान्न की कमी पहिले से ही थी, जो तीव्रतर हो गई।
(२) वस्त्र एवं पटसन उद्योग को कच्चा माल प्राप्त करने की कठिनाई उपस्थित हुई। इससे इन दो उद्योगो के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पडा।
(३) रेल यातायात पर विस्थापितो के आवागमन की जिम्मेवारी आ गई, जिससे औद्योगिक माल के यातायात मे कठिनाई प्रतीत होने लगी।
(४) अधिकाश कुशल (Skilled) श्रमिक इस्लामी होने के कारण भारतीय उद्योगो को कुशल श्रमिको का अभाव प्रतीत होने लगा।
(५) पाकिस्तान बन जाने से भारतीय उद्योगो के हाथ से एक बहुत बडा बाजार क्षेत्र निकल गया।

धीरे धीरे राजनैतिक परिस्थिति पर काबू पाने के बाद राष्ट्रीय सरकार ने औद्योगिक उत्पादन बढाने तथा औद्योगिक नीति मे सुधार करने के हेतु दिसम्बर सन् १९४७ मे त्रिदलीय उद्योग परिषद् का आयोजन किया। इसमे उद्योग, व्यापार, श्रम एव सरकार के प्रतिनिधि थे। इस परिषद् मे श्रम एव पूँजी में तीन वर्ष के लिए समझौते सम्बन्धी तथा श्रमिको की स्थिति एव उनकी मजदूरी के तथा पूँजी के समुचित पारिश्रमिक के निर्धारण के लिए उचित व्यवस्था करने का प्रस्ताव मान्य किया गया। साथ ही उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने निम्न सुविधाएँ दी :—

(१) सन् १९४८-४९ के बजट मे उद्योगो को कर से मुक्ति,
(२) तीन वर्ष से कम आयु वाले नए कारखानो (उद्योगो) को उनकी पूँजी पर ६% लाभाश तक आय-कर से मुक्ति,
(३) नई इमारत, यन्त्र औजार आदि पर तथा तीन पारी में काम करने वाले कारखानो को तत्कालीन दर से दुगुनी घिसावट की अनुमति,
(४) यन्त्र सामग्री तथा अन्य आवश्यक पूँजीगत माल के आयात कर मे ५०% छूट, औद्योगिक कच्चे माल को आयात-कर से पूरा मुक्ति तथा आयात करो मे कमी।

इन सुविधाओ से सन् १९४८ मे औद्योगिक उत्पादन युद्ध पूर्व औद्योगिक उत्पादन से १५% अधिक हो गया। यही सन् १९४७ में युद्ध पूर्व स्तर से ५% कम था।[1] इसके लिए केवल लोह एव इस्पात तथा कोयला उद्योग अपवाद थे।

७ अप्रैल सन् १९४८ को भारतीय ससद मे औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमे सरकार की औद्योगिक नीति के प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट किए गए तथा उद्योगो का निजी एव सरकारी क्षेत्रो मे विभाजन किया गया।[2] फलस्वरूप औद्योगिक

1. Hindusthan Year Book 1949
२. विशेष विवेचन के लिए "औद्योगिक नीति" अध्याय देखिए।

उत्पादन बढ़ता रहा, जिसके निर्देशांक सन् १९४९, १९५० एवं सन् १९५१ में क्रमशः १०६·३, १०५·२ एवं ११७·४ थे।

भारत मे अनुकूल औद्योगिक वातावरण करने के लिए देश में अनेक औद्योगिक एवं तकनीकी प्रशिक्षणालय तथा औद्योगिक अनुसन्धान के लिए खोज-शालाएँ (Research Laboratories) खोली गई हैं। खोज-कार्य की देख-रेख के लिए केन्द्रीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की स्थापना भी की गई है, जो वैज्ञानिक खोजो का औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग करने का प्रथम प्रयास है। इसके अन्तर्गत अनेक अनुसन्धान शालाएँ स्थापित की गई हैं। इसके अन्तर्गत २५ संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इसके अन्तर्गत एक औद्योगिक सम्बन्ध समिति है, जो उद्योगों से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें अनुसन्धानों के उपयोग की सलाह देती है। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन के प्रमापीकरण के लिए इण्डियन स्टैन्डर्डस् इंस्टीट्यूट भी है, जिसने अभी तक ४०० से अधिक प्रमाप निश्चित किये हैं।

देश मे उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए निम्न अर्थ प्रदायक संस्थाओं की स्थापना की गई है, जो उद्योगो को प्रत्यक्ष दीर्घकालीन, मध्यावधि आर्थिक सहायता देती हैं :—

(१) अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९४८)
(२) राज्य औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९५१)
(३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४)
(४) राष्ट्रीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (१९५५)
(५) लघु-उद्योग निगम (१९५५)
(६) पुनर्वित्त निगम (१९५८)
(७) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् (१९५७)

साथ ही देश में सन् १९५१ से आर्थिक नियोजन शुरू हो गया है तथा आज दूसरी पंच-वर्षीय योजना की पूर्ति के बाद भारत तीसरी पंच-वर्षीय योजना मे पदार्पण कर रहा है। साथ ही नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुसार उद्योगो का सचालन एवं नियन्त्रण देश तथा जन-हित की दृष्टि से करने के लिए सन् १९५१ मे उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम भी बनाया गया है। इसके अलावा देश की परिवर्तनशील अवस्था के अनुसार औद्योगिक नीति में सन् १९५६ में संशोधन किए गए हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठा रही है। फलस्वरूप औद्योगिक विकास भी तेजी से हो रहा है, जिससे विश्व के औद्योगिक देशो में भारत का आठवाँ क्रमांक है। प्रथम योजना काल में हमारा औद्योगिक उत्पादन सन् १९५१ की अपेक्षा ३८% से बढ़ा।[1] दूसरी योजना मे उत्पादन वृद्धि निम्नवत रही :—[2]

---

1 Hindusthans Year Book 1960.
2. Eastern Economist : Jan. 1, 1960. page.

वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि	वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि
१९५२	३·६%	१९५६	८·३%
१९५३	१·९%	१९५७	३·५%
१९५४	६·९%	१९५८	१·७%
१९५५	८·४%	१९५९ (अर्द्ध वर्ष)	५ ९%

औद्योगिक विकास की आधुनिक प्रवृत्तियाँ—*

भारत की नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक उपक्रम दो श्रेणियों मे रखे गए है : निजी और सरकारी । यद्यपि कुछ उपक्रम निजी क्षेत्रों मे रखे गए है फिर भी ऐसे उपक्रमो के विकास की अन्तिम जिम्मेवारी राज्यो पर होगी । विशेषत: जब *निजी क्षेत्र ऐसे उद्योगो का विकास करने के लिए अयोग्य हो,* परन्तु केवल सनियमो से ही वांछित सफलता नही मिलती । निजी क्षेत्र सर्वसाधारण औद्योगिक नीति का एक अङ्ग (Adjunct) है और उसे सरकार के निरीक्षण एवं नियन्त्रण मे कार्य करना है । इस प्रकार निजी क्षेत्र को बेलगाम स्वतन्त्रता नही है । फिर भी आजकल निजी क्षेत्र में कुछ ऐसे विकास हो रहे है जिन पर सरकार ने गम्भीरता से इस दृष्टि से सोचने की आवश्यकता अनुभव की है कि कही औद्योगिक विकास एवं नियन्त्रण अधिनियम का उद्देश्य तो असफल नही हो रहा है ।

एक उद्योग निजी स्वामित्व मे होते हुए भी राष्ट्रीय उद्योग है और राष्ट्रहित मे ही उसका सचालन होना चाहिए । आजकल कुछ व्यक्ति विदेशियो के स्थापित नाम उपक्रमो के हित ले रहे है और ऐसे व्यक्तियो को वास्तविक रूप मे न तो औद्योगिक अनुभव ही है और न औद्योगिक प्रशिक्षण ही मिला है । वे केवल पूँजीपति है और औद्योगिक *क्षेत्र मे पदार्पण कर रहे है ।* उदाहरणार्थ, जेसप एण्ड कम्पनी और ब्रिटिश इण्डिया कॉर्पोरेशन के कुछ कारखाने ।

इन लोगो मे कल्पनाशील प्रारम्भण (Imaginative Initiative) का अभाव है, जो औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है । केवल उद्योग के स्वामित्व के हस्तान्तरण से कोई व्यक्ति उद्योगपति नही बन सकता । अपितु उसे औद्योगिक पृष्ठ भूमि, प्रशिक्षण एवं दृष्टिकोण चाहिये, जिससे वह औद्योगिक आकर्षण बन सके ।

दूसरे, ऐसे व्यक्ति नव-प्राप्त उद्योगो के आधुनिकीकरण एवं विवेकीकरण के विरोध मे हैं, *किन्तु ये उद्योग पुराने होने के नाते इनकी यन्त्र सामग्री काफी पुरानी हो* चुकी है, जिसका आधुनिक यन्त्र सामग्री से विस्थापन होना आवश्यक है । इनका विचार है कि चूँकि इन उद्योगो को खरीदने मे इन्होने पर्याप्त पूँजी लगाई है, इसलिये इनको पर्याप्त लाभ कई वर्षों तक मिलना ही चाहिए, अर्थात् ये उद्योग की समृद्धि की

---

* Modern Review, May 1957, page 339-340.

कपड़े का निर्यात

वर्ष	मिलियन गज में	वर्ष	मिलियन गज में
१९४७	२६९	१९५४	८३४
१९४८	३४४	१९५५	७३५
१९४९	५०९	१९५६	७२१
१९५०	१,१२२	१९५७	७६९'३९
१९५१	५८०	१९५८	५४३'७०
१९५२	५८६	१९५९	५४९'१७
१९५३	६२८		

इतना ही नहीं, प्रत्युत सन् १९५३ में विश्व में वस्त्र निर्यात में जापान का क्रमांक पहिला था। ऐसी अवस्था में हमारे वस्त्र निर्माताओं के सामने आज दो समस्याएं हैं:—(१) अपने वर्तमान निर्यात-बाजार कायम रखना तथा (२) देशी बाजार में सफल प्रतियोगिता। इस हेतु उद्योग को अपनी उत्पादनशीलता को बढ़ा कर उत्पादन की लागत कम करने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। क्योंकि आज 'उत्पादक-बाजार' न रहते हुए 'उपभोक्ता-बाजार' हो गया है, इसलिए उत्पादन तन्त्र में सुधार एवं वैज्ञानिकरण की अतीव आवश्यकता है। साथ ही, श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है। इस दिशा में भारतीय टेक्सटाइल एसोसिएशन को अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरे, वस्त्र-उद्योग पर लगाए गए अनेक करों से वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ़ जाती हैं, अतः इन करों में भी कमी होनी चाहिए। विदेशी निर्यात बढ़ाने के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कमेटी भी काफी प्रयत्नशील है।

(४) हाथ कर्घा एवं मिलों में सामंजस्य—हाथ-कर्घा उद्योग एवं मिल-उद्योग में सामंजस्य होना भी आवश्यक है, परन्तु इस सामंजस्य के लिए मिल-उद्योग पर करों (Cess) का बोझा लादकर हाथ-कर्घा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित नहीं है। क्योंकि इससे मिलों के वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ़ेंगी। हाँ, उत्पादन की कुछ किस्में अवश्य हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखी जा सकती हैं। परन्तु यह सामंजस्य अधिक घनिष्ट होना चाहिए, इसलिये भारत सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति में यह स्पष्ट किया है कि हाथ कर्घों की शिल्पिक विधि में सुधार किया जायगा तथा वर्तमान हाथ-कर्घों का विस्थापन क्रमशः शक्ति संचालित कर्घों से किया जायगा, जिससे यह उद्योग मिल उद्योग से प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति पा सके। इस नीति का स्वागत सभी क्षेत्रों में हुआ है।

(५) पर्याप्त कच्चे माल का अभाव—भारत के विभाजन से लम्बे रेशे

की रुई पर्याप्त मात्रा मे नही मिलती, फलतः भारत को इजिप्ट, अमरीका, अफ्रीका आदि देशो से महँगे दामो पर रुई खरीदनी पड़ती है। इस दिशा मे भी स्वय-निर्भर होने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं और लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन के प्रयोग भी हो रहे हैं। इससे यह आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक रुई के सम्बन्ध मे देश स्वयं निर्भर हो जायगा। दूसरे, रुई की कीमतो पर भी उचित नियन्त्रण आवश्यक है, जिससे उत्पादन-लागत न बढे।

डी० एस० जोशी समिति—

सन् १९५६ में जब यह उद्योग संकट से गुजर रहा था तब उद्योग की जाच करने के लिए भारत सरकार ने टैक्सटाइल कमिश्नर श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी।[1] इस समिति ने अन्तरिम रिपोर्ट मे उत्पादन कर कम करने की सिफारिश की थी।

इन अन्तरिम सिफारिशो पर भारत सरकार ने तत्काल ही कार्यवाही की तथा उत्पादन करो मे संशोधन, सूत निर्यात की सुविधाएँ आदि दी गई है, जिससे मिलो के पास स्टॉक संग्रह न हो। इसी प्रकार सूत-निर्माण की सन् १९६१ तक की नीति भी घोषित की गई।[2]

समिति की अन्य प्रमुख सिफारिशें निम्न है :—

(१) मिलो के पास स्टॉक बढने का कारण विभिन्न किस्मो के उत्पादन मे असन्तुलन है, इसलिए सस्ती किस्मो की जगह उपभोक्ताओ की रुचि के अनुकूल रगे हुए, छपे हुए, ब्लीच किये हुए तथा अच्छी किस्म के कपडो का अधिक उत्पादन किया जाय।

(२) बन्द कारखानो के सम्बन्ध मे समिति की राय है कि जिन कारखानो के पास अपर्याप्त एव रद्दी यन्त्र है उनको उसी स्थिति मे चालू न किया जाय, किन्तु उनका विस्थापन सुसज्जित इकाइयो से किया जाय।

(३) उद्योग की कार्यक्षमता बढाने के लिए 'सलाहकार समिति' की स्थापना की जाय, जिसमे सभी हितो तथा प्रमुख सूती वस्त्र केन्द्रो का प्रतिनिधित्व हो। यह (i) उद्योग की विभिन्न इकाइयो की कार्य प्रणाली को प्रभावित करने के लिए टैक्सटाइल कमिश्नर को सलाह देगी। (ii) टैक्सटाइल कमिश्नर को उद्योग की सीमान्त एव उप सीमान्त इकाइयो का परीक्षण करने एव उनकी उन्नति के लिए सुझाव देने मे भी सहायता देगी। समिति को उद्योग के सम्बन्ध मे यथावधि जानकारी देने के लिए टेक्सटाइल कमिश्नर के कार्यालय मे एक 'विशेष सर्वे कक्ष' के सुदृढ संगठन की सिफारिश भी की गई है।

---

1. Journal of Industry and Trade. July 1958
2. भारतीय समाचार : १५ दिसम्बर सन् १९५८।

(४) अ—जिन मिलों के प्रबन्ध में गैरजिम्मेवारी है अथवा जहाँ उनकी कमजोरी की जड़े गहरी हैं, ऐसी मिलों की प्रारम्भिक जाँच करने एवं उनको सरकारी नियन्त्रण में लेने के लिए 'उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम' की सम्बन्धित धाराएँ लागू की जायें। इनका उद्देश्य प्रबन्ध अथवा स्वामित्व पर नियन्त्रण करने का होना चाहिए।

(४) ब—सरकार द्वारा लिए गए कारखानों के प्रबन्ध के लिए एक स्वायत्त निगम की स्थापना पर्याप्त पूँजी से की जाय, जिनकी संचालक सभा में अनुभवी एवं सर्वहितैषी मिल मालिक, जिम्मेवार श्रम-नेता, तान्त्रिक तथा कुशल प्रबन्धकों को मार्पित किया जाय। इस कॉर्पोरेशन का प्रबन्ध एवं संचालन आदर्श पद्धति पर हो तथा उसको निजी कारखानों की अपेक्षा कोई अधिक सुविधाएँ न दी जायें।

(५) सीमान्त इकाइयों को नष्ट से बचाने के लिए समिति ने उद्योग-विकास एवं नियमन अधिनियम का संशोधन करने की सिफारिश की है, जिससे समाप्ति आवेदन (Winding up Petition) के होते हुए भी सरकार उस पर नियन्त्रण कर सके।

(६) इस वर्ष स्पिन्डलों की संख्या १३·०३ मिलियन है, जो १·५ मि० स्पिन्डलों से बढ़ जावेगी, जिससे सूत का उत्पादन बढ़ेगा। परन्तु देशी खपत में कोई वृद्धि अपेक्षित नहीं है, इसलिए अधिक सूत को निर्यात करने की तथा इस हेतु दीर्घ-कालीन निर्यात नीति अपनाने की सिफारिश की है।

साथ ही, यह भी सिफारिश की है कि यद्यपि मिलों को स्पिन्डलों के लिए लाइसेंस दिए गए हैं, फिर भी इस प्रणाली की प्रत्येक की स्थिति जाँच करके बन्द किया जाय, जिसमें सूत का उत्पादन नियन्त्रित किया जा सके।

(७) समिति ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए भी सुझाव दिए हैं।[1]

इन सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया है तथा उन पर क्रमशः कार्यवाही कर रही है।

वस्त्र उद्योग का वर्तमान संकट (१६६०)—

निम्न तालिका से सूती वस्त्र उद्योग के उत्पादन की कल्पना होती है :—[२]

वर्ष	सूत (लाख पौंड)	कपड़ा (लाख गज)	वर्ष	सूत (लाख पौंड)	कपड़ा (लाख गज)
१६५२	१४,४६२	४५,०८६	१६५७	१७,६०१	५३,१७४
१६५३	१५,०५१	४८,७८६	१६५८	१६ ८५४	४६,२७०
१६५४	१५,६१०	४६,६७७	१६५६	१७,२२८	४६,२५४
१६५५	१६,३०४	५० ६४५	१६६० (जन०)	१.४४१	४,१७८
१६५६	१७,७१२	५३,०६६	१६६० (फर०)	१ ३८८	४,०२८

1. Amrit Bazar Patrika, July 26, 1958

२. उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त सन् १६६०।

इससे स्पष्ट है कि उद्योग की प्रगति सन् १९५८ में बाधित हुई। इस वर्ष कपड़े का स्टॉक मिलों के पास जमा रहा और अनेक मिलों को आर्थिक हानि भी हुई, जिससे १६ मिल बन्द हुए। इसी प्रकार सन् १९५९ में भी ३० मिल बन्द रहे, परन्तु कर सुविधायें, उत्पादन करों में छूट, सरकार की सक्रिय आर्थिक सहायता आदि के कारण सन् १९५९ में मिलों ने पूर्ण क्षमता से कार्य किया, जिससे उत्पादन बढ़ा। परन्तु सन् १९६० फिर से वस्त्र उद्योग के लिए सङ्कट का वर्ष रहा।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था के दसवें वर्ष में देश में "वस्त्र सङ्कट" समझ में आने वाली बात नहीं है। यह बात जरूर है कि जनमत के दबाव से भारतीय सूती मिल संघ (इण्डियन काटन मिल्स एसोसियेशन) ने यह घोषणा कर दी है कि महीन, मोटे और मध्यम दर्जे के कपड़े के मूल्य में दस प्रतिशत से साढ़े २७ प्रतिशत तक की कटौती की जायगी। तथापि यह भी सत्य है कि सिर्फ मूल्य में कटौती से मूल समस्या का समाधान नहीं होता। वस्तुतः आज की स्थिति के लिये सरकार और वस्त्र निर्माता दोनों जिम्मेदार हैं।

यह सर्व विदित है कि देश के सङ्गठित उद्योगों में वस्त्र-उद्योग सबसे आगे है। फिर यह संकट क्यों?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें कपड़े की समस्या की गहराइयों में जाना पड़ेगा। मूल बात तो यह है कि हमारे देश में उपभोक्ताओं का हित राजनीति का शिकार बन गया है। विज्ञान के इस युग में हाथ मशीन का मुकाबला नहीं कर सकता, दूसरे शब्दों में, मशीन द्वारा निर्मित वस्तु हाथ की बनी चीज से काफी सस्ती बैठेगी। इसी प्रकार मिलों में जिस पैमाने पर उत्पादन हो सकता है, हाथ से चलाये जाने वाले उपकरणों द्वारा नहीं हो सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि कुछ मामलों में हाथ का काम मिल के काम से श्रेष्ठ होता है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ व्यापक उत्पादन की जरूरत हो, वहाँ मिलों से काम लिया जाय और जहाँ उत्कृष्टता वांछित हो, वहाँ हाथ की कुशलता दिखाने का अवसर दिया जाये। हमारे देश में कपड़े के निरन्तर अभाव की जड़ में इन दो उत्पादन-पद्धतियों का भ्रम तुलित विकास ही है।

हाथ करघा और मिल—

प्रथम पंच-वर्षीय आयोजना के अन्तर्गत ४७,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि वास्तविक उत्पादन ५०,००० लाख गज हुआ था। दूसरी आयोजना काल में पहले ५५,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने का लक्ष्य रखा गया था, जिसमें से १०,००० लाख गज कपड़ा निर्यात के लिये रख छोड़ने का इरादा था। लेकिन जून सन् १९५६ में भारत सरकार ने अपनी संशोधित वस्त्र उत्पादन नीति घोषित की, जिसके अनुसार सन् १९६०-६१ तक मिलों में ५३,५०० लाख गज, अम्बर चर्खा सूत से ३,००० लाख गज तथा हाथ-करघों पर २२,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने की व्यवस्था की गई और १,५०० लाख गज का एक

और कोटा भविष्य में वितरण के लिए रखा गया। इस प्रकार सन् १९६०-६१ तक कपड़े का कुल उत्पादन ८४,००० लाख गज तक ले जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसमें से १०,००० लाख गज कपड़ा निर्यात के लिए अलग रखने का विचार था। इसका अर्थ यह हुआ कि देश में खपत के लिए लगभग ७४,००० लाख गज कपड़ा उपलब्ध होगा। लेकिन वास्तविक उपलब्धि इससे कम रही है।

दूसरी आयोजना की प्रगति पर सन् १९५८-५९ के लिए प्रकाशित आयोग की रिपोर्ट के अनुसार कपड़े का उत्पादन इधर गिर गया है। सन् १९५७ में ५३,१७० लाख गज कपड़ा तैयार हुआ था, जो सन् १९५८ में घटकर ४९,२२५ लाख गज रह गया। सन् १९५९ में उत्पादन बढ़ा है। सन् १९६० के प्रथम ६ महीने के लिए प्राप्त सूचनानुसार मिलों का उत्पादन सामान्य स्तर पर चलता रहा है। सन् १९६० के जून तक मिलों का उत्पादन २४,५१० लाख गज रहा, जबकि सन् १९६० की इसी तिमाही में २४,४५० लाख गज कपड़ा बनाया। यदि उत्पादन की यह सुधरी हुई गति बनी भी रही, तो भी इस वर्ष के अन्त तक मिल-उत्पादन निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच सकेगा, इसमें सन्देह है।

वर्तमान संकट का एक और कारण है। वह है प्रति व्यक्ति खपत का गलत लक्ष्य। सन् १९५५ में यह विचार व्यक्त किया गया था कि सन् १९६१ तक देश में प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत २२ गज तक पहुँच जानी चाहिए। इस लक्ष्य के समर्थन में तब कई तर्क प्रस्तुत किए गए थे और सन् १९५८ तक अधिकारी वर्ग इसी लक्ष्य पर अड़ा हुआ था। लेकिन इसके बाद अधिकारियों का विश्वास डोलने लगा। सन् १९५९ में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत का लक्ष्य २०·३ गज रखने से भी काम चलेगा। अब इस लक्ष्य को और घटा दिया गया है और खयाल है कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत १८·५ गज रखना ही सम्भव हो सकेगा। यह इस सदी के तीसरे दशक (सन् १९३०-३९) की घनघोर मन्दी के समय की औसत खपत से सिर्फ २·५ गज अधिक है और सन् १९४८-४९ के औसत से १·५ गज ऊँचा।[17]

कपड़े की सम्भावित और वाञ्छनीय खपत के सम्बन्ध में सरकार की यह ढुलमुल नीति दीर्घकालिक दृष्टि से उपभोक्ताओं के लिए हानिकर प्रमाणित हुई है। एक ओर तो विकास-अभियान के कारण लोगों की जेब में पैसे ज्यादा आ रहे हैं, दूसरी ओर कपड़े जैसी महत्त्वपूर्ण उपभोग्य वस्तु की उपलब्धता को जानबूझकर संकुचित करने का प्रयास किया जा रहा है। सन् १९३०-३९ की तुलना में पैसे की उपलब्धता जहाँ ४०० से ५००% तक बढ़ गयी है, वहाँ कपड़े की खपत की सुविधा में सिर्फ लगभग १३% वृद्धि आज की मँहगाई का अपना आप में एक बड़ा सबूत है।

उत्पादन नीति—

जैसा कि उपर्युक्त आँकड़ों को देखने से स्पष्ट हो जायेगा, हमारे देश में मिल-उत्पादन पर अंकुश लगाकर हाथकरघा को प्रमुखता देने का अस्वाभाविक प्रयत्न किया

जा रहा है। जहाँ तक अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने का प्रश्न है, हाथकरघे के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हाथकरघे पर उत्पादित कपड़ा मिल कपड़े के मुकाबले कभी सस्ता नहीं हो सकता। हाँ, खास-खास प्रकार के कपड़े तैयार करने में हाथ करघा का अपना महत्त्व है। जैसे, मद्रासी लुंगिया, रेशमी कपड़ा, जारी किनारी की साड़ियां, दो-सूती, चादरें और तौलिये, दरी और कालीन बनाने का काम हाथकरघे को पूर्ण रूप से सौंपा जा सकता है। इन चीजों का उपयोग जिस वर्ग के लोग करते हैं, वे इनकी ऊँची कीमतें भी दे सकते हैं। लेकिन अल्प-वित्त-भोगियों को जानबूझकर ऊँचे दाम चुकाने को बाध्य करना एक नैतिक अपराध ही माना जायेगा। यहाँ इस बात पर प्रकाश डालने की जरूरत नहीं कि हाथकरघा उद्योग को खड़ा रखने के लिए केन्द्रीय राजस्व को प्रति वर्ष करोड़ों रुपए से हाथ धोना पड़ता है।

वर्तमान 'वस्त्र-संकट' का कारण, जैसा कि केन्द्रीय वाणिज्य और उद्योगमन्त्री ने बताया है, देश में इस बार उत्पादन में गिरावट ही है। उधर मिल उद्योग का कहना है कि क्योंकि छोटे रेशे की रुई की कमी है, इसलिए मोटे कपड़े का उत्पादन गिर गया है। इसलिए इस प्रकार के कपड़े के दाम बढ़ गये हैं। यदि यह तर्क ठीक है तो बाजार में मांग अधिक और सप्लाई कम होने से भाव बढ़ सकते थे। लेकिन मिलों ने स्वयं ही इसके दाम क्यों बढ़ा दिए हैं, निश्चय ही इस संकट के लिए भविष्य के बारे में हमारे अविश्वास और मुनाफाखोरी की मनोवृत्ति ही जिम्मेदार है और सरकार ने रुई आयात-नीति में विलम्ब करके आग में घी डालने का काम किया है, जो घोषणा अब की गयी है, यदि वह कुछ पहले ही की जाती, तो शायद भावों की तेजी को कुछ हद तक लगाम लग सकती थी।

दीर्घकालिक लक्ष्य—

इसी सिलसिले में यहां भी उल्लेख कर दिया जाये कि तीसरी आयोजना में कुल ९३,००० लाख गज (मिल ५८,००० लाख गज और हाथकरघा तथा शक्ति-चालित करघा ३५,००० लाख गज) उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया है, उसके बँटवारे पर फिर से विचार करना आवश्यक है। सिर्फ सिद्धान्त के नाम पर अपनी क्षमता को सीमित करना आज की परिस्थिति में हमारे लिए घातक ही प्रमाणित होगा। निर्यात के मोर्चे पर चीन हमारा तगड़ा प्रतिद्वन्द्वी बनता जा रहा है। यदि चीन का उत्पादन स्तर यही बना रहा, तो वह दिन दूर नहीं, जब सिर्फ निर्यात में ही नहीं, बल्कि प्रति व्यक्ति आतरिक खपत के मामले में भी वह हमें पीछे छोड़ देगा। वैसे भी, जनकल्याणकारी होने का दावा करने वाली सरकार का कर्तव्य जनसामान्य का जीवन-स्तर उन्नत करना ही होना चाहिए, सिद्धान्त के नाम पर उसकी सम्भव प्रगति को अवरुद्ध करना नहीं।*

* नवभारत टाइम्स : अगस्त १३, १९६०।

[२] लोहा एवं इस्पात उद्योग

भारत के आधारभूत उद्योगों में लोहा एवं इस्पात सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग है। इस उद्योग के बिना कृषि एवं अन्य किसी उद्योग के विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री नहीं मिल सकती। साथ ही, इस उद्योग के अभाव में एक साधारण से कृषि यन्त्र, जैसे हल के लिए भी हमको विदेशों पर निर्भर रहना होगा। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास एवं प्रगति के लिए तो यह उद्योग आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है ही, परन्तु राजनैतिक सुरक्षा में भी इस उद्योग की महत्ता कम नहीं है। इसलिए वर्तमान युग को यदि लोहा एवं इस्पात युग कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उद्गम एवं विकास—

भारत प्राचीन काल से ही इस उद्योग में निपुण रहा है। इसका उदाहरण दिल्ली के पास लोह-स्तम्भ से मिलता है, जो २,००० वर्ष पहले बनाया गया था। श्री बॉल के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण आज के बड़े बड़े कारखानों में भी होना असम्भव है। भारतीय इस्पात-उद्योग के लिए दमास्कसब्लेड्स का उदाहरण सभी को विदित है, जो विश्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। भारत की कैंची, चाकू आदि वस्तुओं का निर्यात इङ्गलैण्ड को होता था। परन्तु प्राचीन इतिहास की पृष्ठि-भूमि में आज हम देखते हैं कि भारत में लोहा एवं इस्पात की बहुत कमी है। भारत की लोहा एवं इस्पात की वार्षिक खपत २½ लाख टन है, जहाँ वार्षिक उत्पादन केवल १ लाख टन है, परन्तु विदेशी सत्ता एवं प्रभुत्व के कारण इस उद्योग की अवनति हुई, जिस ओर १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतीयों ने कोई ध्यान नहीं दिया।

लोहा एवं इस्पात उद्योग की स्थापना के असफल प्रयत्नों का प्रारम्भ १७वीं शताब्दी के अन्त में हुआ, परन्तु मोट्टी तथा फरकुहार (Mottee & Farquhar) ने सन् १७७९ में लोहा तथा इस्पात बनाना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् सन् १८०८ में श्री हंकन ने मद्रास में लोहा-स्रोत खोज कर अपना कारखाना खोला। तत्पश्चात् सन् १८२५ में गोसियाह होथ (Gosiah Heath) ने मद्रास में कारखाना खोला, जिसके लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आर्थिक सहायता दी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अनेक कठिनाइयों से असफल रहा, फलतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे खरीद कर सन् १८७४ तक असफलता से चलाया। फिर सन् १८७५ में 'बाराकपुर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना की गई, परन्तु यह किसी प्रकार ६ वर्ष तक चली और फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इसे खरीद लिया। दो वर्ष के बाद इस कारखाने का आधुनिकीकरण किया गया तथा नाम भी बदल कर 'दी बंगाल आयरन एन्ड स्टील कम्पनी' रखा गया। यह पहला कारखाना है, जिसने आधुनिक पद्धति से पिग आयरन का उत्पादन शुरु किया, परन्तु यह कम्पनी इस्पात का उत्पादन करने में असफल रही।

लोहा एवं इस्पात के उत्पादन का सफल एवं उल्लेखनीय प्रयत्न सर जे० एन० टाटा का रहा, जिन्होंने अपने २० वर्ष के अथक परिश्रम तथा जर्मन एवं अमरीकी

विशेषज्ञों की सहायता से साकची (आज का जमशेदनगर) में सन् १९०८ में अपना कारखाना खोला। इन्हीं के प्रयत्नों से एशिया के लोहा एवं इस्पात उद्योग में भारत को गौरव प्राप्त है। इस विख्यात कारखाने का नाम 'दी टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' (TISCo) है। इस कारखाने में सन् १९११ में पिग आयरन तथा सन् १९१३ में इस्पात का उत्पादन हुआ और सन् १९१६ में इसने पूर्ण उत्पादन क्षमता प्राप्त कर ली। इसकी सफलता के पश्चात् सन् १९१८ में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हीरापुर में, जो आसनसोल से ४ मील है, हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद स्थापित कारखानों में यह पहिला कारखाना था। इसके बाद सन् १९२१ में यूनाइटेड स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ एशिया (मनोहरपुर) तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (भद्रावती) की स्थापना सन् १९२३ में हुई।

प्रथम विश्व युद्ध—

सन् १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ जाने से हमारे लोह एवं इस्पात उद्योग को मन माँगा वर मिला, जिससे उद्योग को प्रोत्साहन मिला। क्योंकि इस उद्योग पर फौजी रेलों के लिये रेल की पटरी, स्लीपर्स इत्यादि का प्रदाय मेसोपोटामिया, पेलेस्टाइन, पूर्वी अफ्रीका आदि में करने की जिम्मेवारी आई। इस कारण उद्योग को असीमित लाभ हुये। इन लाभों के कारण अन्य तीन उपरोक्त उद्योगों की स्थापना हुई। इन लाभों का सदुपयोग कर टाटा ने अपनी कुशल नीति का परिचय दिया और सन् १९१७ में अपनी विकास योजना बना कर सन् १९४२ में पूरी की। इन लाभों के कारण ही भारत में बंगाल और मद्रास में अनेक फाउन्ड्री वर्क्स की स्थापना की गई। फलस्वरूप आज भारत में १३४ ऐसे कारखाने (Rolling Mills) हैं, जो लोहा एवं इस्पात क्षेप्यक (Scrap Billets) से १,००,००० टन का वार्षिक उत्पादन कर रहे हैं।

संरक्षण—

युद्धोत्तर काल में उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा, इसलिये सरकार ने संरक्षण की माँग की। सन् १९२१-२२ के फिस्कल कमीशन की सिफारिश के अनुसार जुलाई सन् १९२३ में प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति हुई, जिसने रिपोर्ट में लिखा है :—"संरक्षण के अभाव में यह उद्योग भविष्य के अनेक वर्षों में भी विकास नहीं कर सकता और सम्भव है कि फौजी एवं सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस उद्योग का कहीं अन्त न हो जाय, इसलिये इस उद्योग को संरक्षण लेने का पहिला अधिकार है।" फलस्वरूप सन् १९२४ में उद्योग को तीन वर्ष के लिये संरक्षण देने के लिये इस्पात संरक्षण कानून बना। इस कानून से इस्पात के आयात मूल्य पर ४० प्रतिशत कर लगाया गया तथा आर्थिक सहायता भी दी गई। आरम्भ में यह सहायता ५० लाख रुपये वार्षिक थी, परन्तु विदेशी इस्पात का मूल्य गिरने से यह सहायता राशि और बढ़ा दी गई तथा संरक्षक-आयात कर भी बढ़ाये गये। इस सहायता से उद्योग द्रुत गति से विकास करने लगा

तथा आयात भी कम हुये। सन् १९२६–२७ में प्रशुल्क सभा द्वारा इस उद्योग की पुनः जाँच हुई तथा सिफारिशें की गई कि इस उद्योग को संरक्षण अधिक समय के लिये मिले। इसलिये सन् १९२८ मे उद्योग को ७ वर्ष तक संरक्षण देने के लिये इस्पात संरक्षक (संशोधन) कानून बना। इस कानून मे ब्रिटिश तथा नॉन ब्रिटिश इस्पात के आयात-करों में भिन्नता थी। सन् १९३३ मे पुनः उद्योग की जाँच कर संरक्षण अवधि बढ़ा दी गई। इस प्रकार संरक्षण के कारण उद्योग की उत्पादनशीलता सन् १९१४ में १,९२,२७२ टन पिग आयरन से सन् १९३५ मे १३,४३,००० टन हो गई थी। इस उद्योग को सन् १९४७ तक संरक्षण मिलता रहा, जिसको चालू रखने के लिये उद्योग ने पुनः माँग नही की, इसलिये प्रशुल्क सभा की सिफारिश के अनुसार उद्योग को सन् १९४७ से संरक्षण नहीं है। परन्तु सन् १९४७ में जो संरक्षण-कर थे, वे अब आय-कर (Revenue) हो गये हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं युद्धोत्तर काल—

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ होते ही जहाजी कठिनाइयों के कारण विदेशी आयात रुक गए, जिससे इस उद्योग पर विविध किस्मों का फौलाद* तैयार करने की एवं पूर्ति की जिम्मेवारी आ गई। इसने उद्योग ने पूरी तरह निभा कर अपनी कार्यक्षमता का परिचय दिया। इधर देशी माँग भी थी, जिसको पूरा करने की जिम्मेवारी थी ही, परन्तु इन विविध मांगों को पूरा करने की दशा में यह उद्योग न होने से सरकार को इस पर नियन्त्रण लगाना पड़ा। सन् १९४१ में युद्ध की माँग पूर्ति करने के लिए टाटा ने जमशेदपुर मे व्हील टायर एण्ड एक्सल प्लांट की स्थापना की, जिससे रेल के पहिये भी भारत में बनने लगे। (यहाँ पर यह ध्यान रहे कि ऐसे प्रयत्न पहिले भी अन्य कारखानों द्वारा किये गये थे, परन्तु वे असफल रहे। यह प्लांट 'दी जमशेदपुर इञ्जीनियरिंग एण्ड मशीन मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी' के नाम से विख्यात है। टाटा की सफलता एवं अथक प्रयत्नों के कारण ही सिंघभूमि स्थित ईस्ट इण्डियन रेलवे वर्कशॉप भी टाटा के नियन्त्रण में १ जून सन् १९४५ से हो गया। इसमें बॉइलर और लोकोमोटिव का उत्पादन होता है। इसी प्रकार रेल के डिब्बों का लोहे का ढाँचा बनाने वाला सिंघभूमि वर्कशॉप; जिसे सरकार ने सन् १९२७ में पेनिन्सुला लोकोमोटिव कम्पनी से खरीदकर ईस्ट इण्डिया रेलवे को दे दिया था, वह सन् १९४३ में बन्द हो गया। इसे युद्ध-काल में फौजी उपयोग के लिए सुरक्षा विभाग ने ले लिया। युद्ध के बाद जब सरकार इसे बन्द करने का विचार कर रही थी तो टाटा ने इसे १६ वर्ष के लिए खरीद लिया तथा 'टाटा लोकोमोटिव एण्ड इञ्जीनियरिंग कम्पनी' के नाम से चालू किया। इस कम्पनी ने सन् १९५१ में १२५ बॉइलरों का उत्पादन किया। इतनी प्रगति के बाद भी इस उद्योग का वर्तमान इस्पात उत्पादन बहुत कम है, जो भारतीय आवश्यकता के लिए अपूरा है।

* *e. g.* high speed steels. hot-die steels. tap-steels., nickel-chrome steels, special steels for shear blades and punches. die steels for the mints. armour piercing steels, wheels and tyres

मूल्य नियन्त्रण—

जैसा ऊपर कहा गया है, युद्ध के कारण यह उद्योग देशी माँग को पूरा करने में असमर्थ रहा, जिससे इस्पात की कीमतें बढ़ने लगीं, इसलिए सरकार को इस उद्योग के उत्पादन पर मूल्य-नियन्त्रण लगाना पड़ा। वैसे तो १ अक्टूबर सन् १९३९ से सुरक्षा विभाग की सम्पूर्ण खरीद नियन्त्रित कीमतों पर ही होती थी। परन्तु व्यापारिक कीमतों पर नियन्त्रण नहीं था, इसलिए १ जुलाई सन् १९४४ में इन पर भी नियन्त्रण लगाया गया। इसी प्रकार लोहा एवं इस्पात कारखानों के उत्पादन का अंश-वितरण (Rationing) भी किया, जिससे ये वस्तुएं केवल परमिट लेने पर ही मिल सकती थीं। इस नियन्त्रण के अनुसार इस्पात की उच्चतम कीमत निश्चित कर दी गई, परन्तु उत्पादकों को अपनी अलग रिटेन्शन कीमतें रखने की स्वतन्त्रता थी। रिटेन्शन मूल्य से जितना विक्रय मूल्य अधिक होता था उतनी राशि से सरकार ने आयात में सहायता देने के लिए एक निधि बनाया। सन् १९४९ में टाटा, मैसूर आयरन स्टील वर्क्स तथा स्कॉब[1], इन निर्माताओं के इस्पात के रिटेन्शन मूल्य प्रशुल्क सभा ने दो वर्ष के लिये निश्चित किए थे। इनमें समयानुसार परिवर्तन किए जाते हैं।

१ अप्रैल सन् १९५५ से ३१ मार्च सन् १९५६ तक की अवधि के लिए मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के रिटेन्शन मूल्य में २ रु० प्रति टन की वृद्धि की गई है। इसी अवधि के लिए इस कारखाने में निर्मित लोहे के ठोकों के रिटेन्शन मूल्य में १ रु० प्रति टन की वृद्धि हुई है। इसके पूर्व रिटेन्शन मूल्य ४२५ रु० प्रति टन था।[2]

उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—

भारत के लोहा एवं इस्पात की वर्तमान स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक है, जिसकी कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

वर्ष	पिग आयरन (हजार टन)	स्टील का उत्पादन (हजार टन)
१९५०	१,५६२·४	१,००४·५
१९५१	१,७०८·८	१,०७६·४
१९५२	१,६८४·८	१,१०२·८
१९५३	१,६५४·८	१,०१७·६
१९५४	१,७९२·८	१,२४३·२
१९५५	१,७५६·८	१,२६०·०
१९५६	१,८०७·८	१,३१६·४
१९५७	१,७८९·८	१,३४६·४
१९५८	२,००३	१,३००·०
१९५९	—	१,७७०·०[3]

१. स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ बंगाल।
२. भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।
३. भारतीय समाचार जुलाई १, १९६०।

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। *यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—*

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाँच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, *जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके* तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध में जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन मूल्यों की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) *संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे संरक्षण करों* अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध दायक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे: – मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, अन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जाँच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

1. *Hindustan Year Books*
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

सन् १९५९ तथा ७ जून सन् १९६० को दो ऑक्सीजन प्लांट चालू हो गए, जो दैनिक २०० टन ऑक्सीजन तैयार करेंगे। इसी प्रकार इस्पात के पाइप बनाने का यन्त्र भी लगाया जा रहा है, जो प्रति मास ८,६०० से ३१,००० टन तक पाइप का उत्पादन करेगा। यह मशीन सितम्बर सन् १९६० तक चालू होने की आशा है।[१]

सरकारी क्षेत्र में दूसरा कारखाना भिलाई (मध्य-प्रदेश) में रूस के तान्त्रिक सहयोग से बन रहा है। यहां पर २४ दिसम्बर सन् १९५९ से इस्पात का उत्पादन आरम्भ हो गया तथा मई सन् १९६० तक १ लाख टन इस्पात की सिल्लियां तैयार हुई इनमें से ८८,००० टन देश के रि-रोलिंग मिलों को भेजी जा चुकी हैं।[२] इस कारखाने की पूँजीगत लागत १३० करोड़ रु० होगी, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७,७०,००० टन स्टील तथा ३ लाख टन पिग आयरन होगी।

तीसरा कारखाना दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) में ब्रिटिश स्टील निर्माताओं के तान्त्रिक सहयोग से खोला गया है। इसकी पूँजीगत लागत १३७ करोड़ रु० तथा वार्षिक उत्पादन क्षमता ३·५० लाख टन पिग आयरन और ७·९० लाख टन स्टील होगी।[3] इस कारखाने की पहिली भट्टी २९ अप्रेल सन् १९६० को चालू हुई तथा इस्पात उत्पादन का प्रथम महत्वपूर्ण चरण आरम्भ हुआ। ऐसी ८ भट्टियां इस कारखाने में लगाई जावेंगी। एक भट्टी एक बार में २०० टन इस्पात उत्पादन करेगी।[४] इसी प्रकार दूसरी भट्टी १० जून सन् १९६० को चालू होगई। इसमें इस कारखाने में ११,००० टन इस्पात पिंड का उत्पादन हुआ तथा २७ जून सन् १९६० को तैयार इस्पात सिल्लों की पहिली खेप पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब की रोलिंग मिलों को भेजी गई।

इन तीनों कारखानों का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लि० के नियन्त्रण में होता है। ये तीनों ही कारखाने पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण में हैं तथा इनकी अधिकृत एवं चुकता पूँजी ३०० करोड़ रु० है।

तीसरी योजना में—

दूसरी योजना काल में ६० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, जिससे ४५ लाख टन इस्पात का तैयार सामान बनाया जायगा। दूसरी योजना में इस्पात का उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रम में जमशेदपुर, बर्नपुर एवं भद्रावती के कारखानों के विस्तार की व्यवस्था थी। इसके सिवा सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों में आरम्भ में १० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, परन्तु उसमें बढ़ती हुई मांग के अनुसार परिवर्तन किया गया है, जिसमें उपरोक्त लक्ष्य के साथ ही ७·५० लाख टन ढलवा लोहा बनाने का लक्ष्य भी पूरा हो जाय।

तीसरी योजना में सन् १९६५-६६ में बिक्री के लिए ७३ लाख टन तैयार

---

१. भारतीय समाचार—जुलाई १, १९६०।
२ भारतीय समाचार—जून १५, १९६०।
3 India—1960.
४ भारतीय समाचार—जून १, १९६०।

बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने की सुविधाएँ देने के लिए एक संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हों। इसका निम्न कार्य हो :—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलों की जाँच।

(स) संरक्षण कर तथा आयात करों के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क सुविधाओं की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ में भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.) का भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा। अतः प्रशुल्क सुविधाओं के आदान प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारों के सम्बन्ध में, भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हों, उनके विषय में सरकार को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(i) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमें तत्सम वस्तुओं के साथ विश्व बाजारों में प्रतियोगिता है।

(ii) वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको विश्व-बाजारों में अन्य देशों के प्रति-वस्तुओं की प्रतियोगिता का भय है।

(iii) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं को ऐसी सुविधायें मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का ध्यान :—

(i) पूँजीगत वस्तुओं पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिये।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। तदनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (टैरिफ कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य हैं, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग में न्यूनतम एवं अधिकतम सदस्यों की संख्या ३ व

लैबोरेटरीज की स्थापना भी की गई है। इन गतिविधियों से स्पष्ट है कि भारत एशिया में लोह एवं इस्पात का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र होगा।

[३] पटसन उद्योग

आज का 'डॉलर कमाने वाला' जूट उद्योग १९वीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण कुटीर उद्योग ही था। १९वीं शताब्दी में भारत से संयुक्त राज्य को जूट तथा जूट उत्पादन के निर्यात का विदेशी व्यापार में बड़ा हाथ था, जिसकी आमदनी पर ही बङ्गाल की अधिकतर जनता का पालन होता था। इसका श्रेय ईस्ट इण्डियन कम्पनी को ही देना होगा, क्योंकि इसी कम्पनी के प्रयत्नों से निर्माणी उद्योग का कच्चा माल तथा रेशे की भाँति पटसन विश्व-परिचित हुआ। फलतः भारत के कुटीर-धन्धों का बुना हुआ माल विदेशों में जाने लगा तथा विशेषज्ञ जूट की वस्तुओं का निर्माण बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हुए। यह समस्या डंडी (स्कॉटलैंड) में हल हुई, जहाँ सर्व प्रथम सन् १८३२ में यन्त्रों की सहायता से जूट का माल बनने लगा। यन्त्रों से उत्पादन के साथ कुटीर निर्मित जूट के माल का महत्त्व जाता रहा, फिर भी मालदा, रंगपुर (बङ्गाल) आदि जिलों में आज भी जूट के थैले, बैडमिंटन-नेट्स आदि बनाये जाते हैं। वर्तमान उद्योग एवं प्राचीन कुटीर-उद्योग में केवल एक विशेषता है कि प्राचीन उद्योग जहाँ देश की आन्तरिक माँग पर ही निर्भर था, वहाँ वर्तमान उद्योग विदेशी माँग पर ही अधिक निर्भर है। यह इस ओर संकेत है कि यदि उद्योग की वर्तमान समस्यायें समुचित रीति से हल नहीं हुईं तो उद्योग का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा।

उद्गम एवं विकास—

भारत में शक्तिचालित यन्त्रों का प्रथम उपयोग सन् १८५५ में प्रारम्भ हुआ। जूट की कताई के लिये जॉर्ज ऑकलैंड ने कलकत्ते से १० मील दूर हुगली नदी के किनारे 'रिशा' नामक स्थान में पहिला कारखाना खोला। इसके ४ वर्ष बाद सन् १८५९ में बुनाई के लिए शक्ति-सचालित कर्घे का उपयोग 'दी बोर्नियो कम्पनी' द्वारा किया गया, जिसका नाम बाद में 'बड़ा नगर कम्पनी' रख दिया गया। इनसे भारत में यन्त्र निर्मित जूट की वस्तुयें, थैले इत्यादि बनने लगे तथा उद्योग का विकास होने लगा।*

१८८५	६,७००	कर्घे
१९००	१५,३३६	,,
१९१०	३१,७५५	,,
१९२०	४०,४७३	,,
१९३०	५८,६३९	,,
१९४०	५५,३८६	,,
१९४१	६५,७२०	,,

* इस संख्या में केवल दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन के सदस्यों के [illegible] कर्घे हैं।

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि उद्योग के प्रारम्भिक १० वर्षों में (सन् १८५४ से सन् १८६४ तक) केवल बोर्नियो कम्पनी की ही स्थापना हुई, परन्तु सन् १८६४ के पश्चात् उद्योग का विकास होता गया, क्योंकि बङ्गाल (भारत) के पास जूट की फसल का एकाधिकार था। फिर भी सन् १८५४ तक ऐसी कोई मिल नहीं थी, जो डन्डी से प्रतियोगिता कर सके, इसलिये सन् १८५४ तक एशिया, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि बाजारों की माँग को पूरा करने वाला यही एकमात्र केन्द्र था। आधुनिक सङ्गठित कारखानों की स्थापना होते ही भारत को कई लाभ थे, जिससे डन्डी से जूट का एकाधिकार भारत ने छीन लिया। जूट की फसल का भारत को एकाधिकार, जूट-फसल की पृष्ठ-भूमि में मिलों की स्थापना व केन्द्रीयकरण तथा कलकत्ते से सभी स्थानों के लिए उपलब्ध व्यापारिक जल-मार्ग, ये कारण प्रमुख थे। फलस्वरूप सन् १८७६ तक भारत ने आस्ट्रेलिया, एशिया तथा कुछ अंश में अमरीकी बाजारों को भी हथिया लिया। सन् १८६४ से सन् १८८२ तक मिलों की संख्या २२ हो गई थी, जिनमें २७,४९४ व्यक्ति काम करते थे तथा स्पिन्डल्स एवं कर्घों की संख्या क्रमशः ७७,८४० एवं ४,७४६ थी। इन मिलों में से १७ मिलें तो कलकत्ते के आस-पास होने से इनको कच्चा माल तथा निर्यात दोनों ही की सुविधायें मिलती थीं। इस प्रकार इस उद्योग का विकास योरोपीय पूँजी एवं नियन्त्रण में सङ्गठित ढङ्ग पर होता गया। विदेशी माँग के कारण मिलों की संख्या भी बढ़ती गई, जो क्रमशः सन् १८८५, सन् १८९० तथा सन् १८९५ में २४, २७ तथा २९ हो गई। सन् १८९५ में जूट-उद्योग में कुल २,०१,२१७ स्पिन्डल्स, १०,०४८ कर्घे तथा ७५,१५७ व्यक्ति काम करते थे। मिलों की स्थापना इस अवधि में कलकत्ते के आस-पास ही हुई, फलतः २९ मिलों में से २६ बड़ी मिलें कलकत्ते के आस-पास तथा शेष ३ बङ्गाल के अन्य भागों में थीं। जूट मिलों की संख्या में इतनी वृद्धि नहीं हुई, जितनी कि स्पिन्डल्स और लूम्स में देखने को मिलती है। सन् १८९५ से सन् १९१४ की अवधि में कृषि में मन्दी रही, जिससे कृषि पर निर्भर उद्योगों को क्षति पहुँची। परन्तु जूट-उद्योग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और मिलों की संख्या २९ (सन् १८९५) से बढ़कर सन् १९१३-१४ में ६४ हो गई, जिनमें २,१६,२८८ व्यक्ति, ३६,०५० कर्घे तथा ७,४४,२८९ स्पिन्डल थे।

इस उद्योग के सन् १८८५ से सन् १९१४ तक के विकास से स्पष्ट है कि (i) उद्योग का संगठन अच्छा रहा, जो कृषि मन्दी के प्रभाव से अछूता रहा। (ii), उद्योग ने मिलों की बाढ़ की अपेक्षा कर्घों एवं स्पिन्डल्स की वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया। (iii) श्रमिकों के अनुपात की अपेक्षा स्पिन्डल्स एवं कर्घों की संख्या बढ़ती गई, जो इस बात का प्रतीक है कि उद्योग ने श्रम-व्यय को यन्त्रों के उपयोग से कम कर उद्योग को मितव्ययी बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। परन्तु इसका विकास बढ़ते हुए निर्यातों के कारण ही हुआ। सन् १९०५-०६ की मन्दी का उद्योग पर अप्रत्यक्ष परिणाम अवश्य हुआ, क्योंकि कृषि निर्यात लगभग बन्द हो जाने से बारदाने की माँग गिर गई थी। दूसरी ओर, अमरीका और जर्मनी जूट के माल पर संरक्षण

करों द्वारा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दे रहे थे तथा कच्चा जूट का कर-मुक्त आयात कर रहे थे। इसका प्रभाव उद्योग पर होना चाहिए था, परन्तु वह न होते हुए कच्चे जूट तथा जूट-वस्तुओं का निर्यात बढ़ता ही रहा।[1]

प्रथम विश्व युद्ध-काल—

जूट की विशेष स्थिति के कारण इस युद्ध में भी इस उद्योग ने बहुत लाभ कमाये। युद्ध के कारण यन्त्र-सामग्री का आयात बन्द हो जाने से नई मिलों की स्थापना नहीं हो सकती थी और दूसरी ओर, युद्ध-जन्य बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जिम्मेवारी उद्योग पर ही थी। इसलिए सरकार ने फैक्टरी एक्ट की कुछ धाराओं से इस उद्योग को छूट दी, जिससे वर्तमान मिलों की उत्पादनशीलता बढ़ाना सम्भव हो। इस अवधि में उद्योग ने अधिकतर सरकारी आदेशों के अनुसार माल की पूर्ति की। युद्ध के अन्तिम वर्षों में सरकार द्वारा कच्चे जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया। भारतीय मिलों में कच्चे जूट की युद्ध पूर्व वार्षिक खपत ४४ लाख गाँठें थी, जो युद्ध काल के (सन् १९१४ से सन् १९१८ तक) चार वर्षों में औसतन ५५ लाख गाँठें वार्षिक होगई थी। इन दिनों कच्चे जूट की कीमतें तथा मजदूरी की दर समान रही, लेकिन जूट की कीमतें बढ़ती गई। इससे जूट-कारखानों को सन् १९१५ से सन् १९१८ तक के चार वर्षों में क्रमशः ५,८७,५४६ एवं ७३% लाभ मिला।[2]

युद्धोत्तर जूट-उद्योग—

ऊँच नीच और तेजी-मन्दी का घटनाचक्र सदा ही रहता है, फिर जूट उद्योग कैसे अछूता रहता? (i) युद्ध समाप्त होते ही जूट-उद्योग पर सङ्कट के बादल मडराने लगे, क्योंकि युद्ध-जन्य आदेश आना बन्द हुए, जिससे माँग कम हो गई। (ii) कच्चे जूट की कीमतें तथा श्रम व्यय बढ़ने लगा। (iii) युद्ध-काल में कमाये गये असीमित लाभ से नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों ने अपना विस्तार आरम्भ किया, क्योंकि युद्ध समाप्त होने से यन्त्र आयात सुलभ हो गये थे। (iv) कोयले की कमी प्रतीत हो रही थी। तथा (v) महत्वपूर्ण कारण विश्व-व्यापी व्यापारिक एवं औद्योगिक मन्दी की लहर थी। इन कारणों से उद्योग संकट में आ गया तथा परिस्थिति सुलझाने के लिए काम के घन्टे कम किये गये तथा कम कर्घों का उपयोग होने लगा। यह स्थिति सन् १९२६ तक रही। इस अवधि में मिलों की संख्या ९५ हो गई, जिनमें ११,४०,४३५ स्पिन्डल्स, ३५,९०० कर्घे तथा ३,४३,२८७ व्यक्ति काम करते थे। सन् १९२६ से सन् १९३६ तक उद्योग को ऊँच-नीच का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप अगस्त सन् १९३६ में बंगाल की प्रान्तीय सरकार ने कच्चा जूट तथा हेसियन के मूल्य निश्चित कर दिये।

---

1. Indu-trial Evolution of India by D. R. Gadgil.
2. Review of the trade of India, (1917-18), p. 21.

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

अगस्त सन् १६३६ में इंडियन और कच्चे जूट की कीमतें निश्चित एवं नियन्त्रित की गईं और ३ सितम्बर सन् १६३६ से द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होते ही उद्योग को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि कच्चा जूट एवं जूट की वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं तथा माँग भी बढ़ी। इसलिए उद्योग पुनः अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करने लगा तथा सभी प्रकार के नियन्त्रण उद्योग से हटा दिये गये। परन्तु सन् १६४० में जूट की वस्तुओं की माँग कम हो गई, जिससे उद्योग को अपने काम के घंटे और करघों की संख्या कम कर उत्पादन को सन्तुलन में रखना पड़ा। दूसरे, अमरीका, मित्र राष्ट्रीय देश तथा भारत सरकार ने उद्योग से नियन्त्रित मूल्यों पर खरीद आरम्भ की, जिससे उद्योग प्रथम विश्व-युद्ध की भाँति लाभ न कमा सका। इस अवधि में उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित करने वाली निम्न घटनाएँ हुईं—(१) कोयला एवं विद्युत शक्ति की कमी, (२) यातायात असुविधाएँ, तथा (३) सन् १६४३ का बंगाल-अकाल। इन आपत्तियों एवं ऊँच-नीच में उद्योग केवल अपने मजबूत संगठन के आधार पर ही बच सका। इसलिए जूट-उद्योग जाँच समिति ने इस उद्योग के आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिकता की सिफारिश की है।

भारत का विभाजन एवं रुपये का अवमूल्यन—

सन् १६४७ में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे ने उद्योग को गहरी चोट लगी, क्योंकि अच्छे जूट की पैदावार करने वाला पूर्वी बंगाल का प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, जो कुल जूट उत्पादक क्षेत्र का ७२% था। जूट के कारखाने भारत के हिस्से में रहे। इससे भारत के जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या खड़ी हो गई, जिसके लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ा। भारत सरकार भी इस मामले में सतर्क थी, जिससे भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे और जूट कृषि-क्षेत्र का विस्तार हुआ :—

सन्	जूट का कृषि क्षेत्र	जूट की फसल (हजार गाँठें)[1]
१६४७–४८	६५१ हजार एकड़	१,६६६
१६४८–४६	८३४ ,,	२,०५५
१६४६–५०	१,१६३ ,,	३,०८६
१६५०–५१	१,४५३ ,,	३,३०१
१६५१–५२	१,९५१ ,,	४,६७८
१६५५–५६	१,७३६ ,,	४,१६८
१६५६–५७	१,६०८ ,,	४,२८८
१६५७–५८	१,५४०. ,,	४,०५२.
१६५८–५६	१,८२७ ,,	५,१०८[2]

1. India 1960 and Amrit Bazar Patrika. "Golden Fibre Supplement", Feb. 1958.

2. अन्तिम अनुमान—India 1960.

इसलिए सरकार को निम्न कार्यवाहियाँ करनी पड़ीं :—पाकिस्तान से कच्चे जूट के आयात सम्बन्धी समझौता, कच्चे जूट की खरीद के अधिकतम् मूल्य तथा देशी उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्न। पाकिस्तान से व्यापारिक समझौते के अनुसार सन् १९४७, सन् १९४९ तथा सन् १९५० में क्रमशः ५०, ४० तथा ७·२३ लाख गाँठों का आयात करना था। परन्तु पाकिस्तान ने अपनी चालबाजी से किसी समझौते का पूरी तरह पालन नहीं किया। इसी बीच सितम्बर में भारतीय रुपए का अवमूल्यन सन् १९४९ में हुआ और दूसरी ओर पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से जूट प्राप्त करने की समस्या फिर उपस्थित हो गई, जिससे विवश होकर भारत को पाकिस्तानी रुपए की दर १००=१४४ भारतीय रुपए में माननी पड़ी। इस समस्या के कारण भारत जूट की फसल पैदा करने में प्रात्म निर्भर हो रहा है, जिसकी खेती आजकल पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास में हो रही है। उद्योग की वार्षिक खपत ६२ लाख गाँठें है, अतः शेष के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १९६० ६१ तक यह उत्पादन ५५ लाख गाँठ करने की योजना है, परन्तु मूल्यों की कमी के कारण सन् १९५९-६० में जूट का कृषि क्षेत्र कम हो गया तथा निसर्ग की प्रतिकूलता के कारण इस वर्ष में जूट का उत्पादन ४३ लाख गाँठें होगा, ऐसा अनुमान है। इस कारण सम्भवतः सन् १९६०-६१ तक योजना के लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है।[1]

तीसरी योजना में जूट उत्पादन का लक्ष्य ६५ लाख गाँठें है तथा जूट-उत्पादक राज्य जूट के कृषि क्षेत्र को सीमित कर जूट की किस्म एवं प्रति एकड़ जूट की उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। यह कार्यक्रम बिहार में तीसरी योजना में लागू होगा। इस कार्यक्रम के अनुसार तीसरी योजना के अन्त तक लगभग २॥ लाख एकड़ भूमि में अच्छे किस्म के जूट की खेती होगी। जूट की खेती के उन तरीकों की जानकारी कराने के लिए लगभग ५,००० किसानों को प्रशिक्षित किया जायगा।[2]

वर्तमान अवस्था—

भारतीय पटसन-उद्योग आज भी अधिकतर योरोपीय प्रबन्ध में है। आज भारत में पटसन के कारखानों एवं प्रेसों (Jute Press) की कुल संख्या ११६ है, जिनमें से १०६ बंगाल में, ३ उत्तर-प्रदेश में, ३ बिहार में तथा १ मध्य-प्रदेश में है। जूट-निर्माणियों के प्रादेशिक विभाजन से यह स्पष्ट है कि पटसन-उद्योग का केन्द्रीयकरण बंगाल में ही है। इस उद्योग की स्थायी पूँजी २,२६४ लाख एवं कार्यशील पूँजी ४,३१६ लाख रुपए है, जिसमें विदेशी पूँजी केवल १,५०७ लाख रुपये है। उद्योग में अधिकतर पूँजी भारतीय ही है। पटसन के निर्यात करों से भारत को सन् १९४८-४९ से सन् १९५१-५२ के चार वर्षों में क्रमशः ६·३, ८·८, २३·६ तथा

1. Commerce Annual number, p 209.
2. नवभारत टाइम्स, अगस्त २२, १९६०।

५९·३ करोड रुपए की आय हुई। यह भारत के आर्थिक कलेवर में उद्योग का महत्त्व प्रदर्शित करती है।

पटसन उद्योग की वर्तमान अवस्था की कल्पना निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

उत्पादन एवं निर्यात

वर्ष	कच्चे जूट की खपत (हजार गाँठें)	उत्पादन (हजार टन)	निर्यात (हजार टन)
१९५४	५,३८४	९२७·७	८४०·६
१९५५	५,६८१	१,०२७·२	८४९·१
१९५६	६ ३४१	१,०९२·८	८६१·५
१९५७	६,१५२	१,०२९·९	८६४·५
१९५८	६,१४५	१,०६१·८	८१५·८
१९५९ (जून अक्टूबर)	५,०५४	८६९·६	६४३·१ (जून सितम्बर)

कच्चे माल का उत्पादन भारत मे बढाने के कारण हमारी पाकिस्तानी जूट आयात पर निर्भरता जो पहले ७५% थी वह अब केवल ५% रह गई है। पटसन के सम्बन्ध में जो संशोधन हो रहे हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारतीय जूट किसी भी तरह पाकिस्तानी जूट से निम्न कोटि का नही है। पटसन उद्योग पर विदेशी माँग का प्रभाव अधिक है, इसलिए जूट के नवीन उद्योगो के सम्बन्ध में सन् १९४८ से जूट-टैक्नॉलॉजी आवश्यक अनुसन्धान कर रही है। इन अनुसन्धानो की सफलता से विदेशी माँग के कारण होने वाले उतार-चढाव न्यूनतम होकर उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता न घटाते हुए परिवर्तनशील स्थिति में भी अपना मिलान करने मे सफल हो सकेगा।

जूट उद्योग का उत्पादन एवं निर्यात देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५७ व १९५८ मे उद्योग के निर्यात कम रहे। परन्तु सन् १९५९ से स्थिति मे सुधार होने लगा। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) संख्यात्मक (Quantitative) आत्मनिर्भरता के कारण कच्चे माल की पूर्ण उपलब्धि,

(२) कताई एवं तैयार माल बनाने के यन्त्रों का आधुनिकीकरण, तथा

(३) उत्पादक इकाइयो के समग्रीकरण से विवेकीकरण।

जूट मिलो मे अभी तक ६०% मिलो का आधुनिकीकरण हो गया है। इस हेतु मिलो ने अपने निजी साधन तथा राष्ट्रीय विकास निगम से प्राप्त ऋणों का उपयोग किया। इस हेतु रा० वि० निगम ने ४·६० करोड रु० के २२ ऋण दिए। इस समय उद्योग के २०% मिलो का आधुनिकीकरण हो रहा है तथा सम्पूर्ण उद्योग का आधुनिकीकरण तीसरी योजना के अन्त तक हो जायगा। अभी तक १०,००० करघों के

लिए पर्याप्त धुनाई, कताई आदि यन्त्रों का १०·५ करोड़ रु० की लागत से आधुनिकीकरण किया गया है।

विवेकीकरण के अन्तर्गत अनार्थिक इकाइयों के श्रमिक एवं उत्पादन का स्थानान्तरण अधिक कार्यक्षम इकाइयों में किया गया तथा कई मिलें बन्द की गईं। फिर भी उद्योग का समग्र उत्पादन प्रभावित नहीं हुआ। जो मिलें बन्द हुईं उनका हस्तान्तरण दूसरी कार्यक्षम मिलों में उत्पादन अधिक मितव्ययिता से केन्द्रीकृत करने के लिए हुआ। इसके अलावा मिलों ने विशेषीकृत माल का उत्पादन गत कुछ वर्षों से आरम्भ किया है, जिसकी माँग विदेशों से भी काफी है। साथ ही, हमारी अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ ही देश में भी पैकिंग सामग्री की माँग बढ़ रही है, जो पटसन उद्योग के स्थायी भविष्य की ओर संकेत है।*

वर्तमान समस्याएँ—

श्री के० डी० जालान (अध्यक्ष इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन) के अनुसार :—"हम दुर्लभता के जाल से अब मुक्त हो चुके हैं, फिर भी परिमाण की अपेक्षा किस्म की अच्छाई के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना होगा।" आज भारत की एकाधिकार स्थिति का लोप हो गया है, पाकिस्तान तथा अन्य देशों में जहाँ जूट की भाँति अन्य रेशों की फसलें होती हैं वहाँ भी उनका तैयार माल बनाने के कारखाने खोले जा रहे हैं, जिनको भारत से भी सस्ते दर पर कच्चा जूट पड़ेगा।" इससे स्पष्ट है कि उद्योग की निम्न मुख्य समस्यायें हैं :—

(१) अच्छे किस्म के कच्चे जूट की फसल की पैदावार।

(२) जूट की प्रतिवस्तु (Substitutes) का भय।

(३) पाकिस्तानी प्रतियोगिता का भय।

(१) कच्चे जूट की कमी—भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनवरत प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे हमारी पाकिस्तान पर निर्भरता काफी कम हो गई है। परन्तु आज उद्योग को कच्चे माल की कमी है, जिससे पूर्ण उत्पादन-क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा है। क्योंकि इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी के अनुसार वर्तमान आवश्यकता ७२ लाख गाँठ है, जबकि देशी उत्पादन केवल ४३·० लाख गाँठ है। अतः पटसन की पैदावार बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता है। तीसरी योजना में कच्चे जूट का उत्पादन ६५ लाख गाँठों तक बढ़ाने की योजना है तभी हम कच्चे माल के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो सकेंगे।

(२) जूट की प्रतिवस्तु का भय—यह भारत को पहिले से ही डर था, क्योंकि प्रत्येक देश आत्म-निर्भर होना चाहता है। इसलिए उद्योग को द्विविध तैयारी करनी होगी :—माँग कम होने की दशा में उत्पादन परिवर्तन करने की तथा माँग बढ़ाने के लिए विपणि-खोज की।

---

* Commerce Annual number, 1959, page 138.

एवं सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक था और तटकर आयोग की सभी शर्तों को पूरा करता था, इसलिए इसे संरक्षण मिला। वस्त्र उद्योग को सन् १९२७ से सन् १९४७ तक, शक्कर उद्योग को सन् १९३१ से सन् १९५० तक संरक्षण दिया गया। इस प्रकार लोहा इस्पात, वस्त्र, शक्कर व कागज तथा दियासलाई उद्योगों को संरक्षण मिला, जिससे देश आत्म निर्भर हो सके।

भारत मे दियासलाई उद्योग को सस्ता श्रम प्रदाय एवं बृहत् घरेलू बाजार प्राप्त था, इसलिए इस उद्योग पर १॥) प्रति ग्रॉस प्रशुल्क आयात कर लगाने की सिफारिश प्रशुल्क सभा ने की। इस सिफारिश को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा दियासलाई पर पहिले से ही (सन् १९२२) इसी दर पर जो आयात कर था, उसे सन् १९२८ में संरक्षण कर मे बदल दिया। परन्तु दियासलाई उद्योग पर उत्पादन कर लगाते ही उसका संरक्षण आयात कर भी बढ़ा दिया गया। इस कारण भारत में दियासलाई उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की है। इसी कारण आज भारत मे ५० दियासलाई के कारखाने है, जिनमें १६,००० व्यक्ति काम करते है तथा उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८,००,००० बक्सों की है।

भारी रसायनिक उद्योग का विकास भारत में नवीन है। इस उद्योग को संरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क सभा ने जाँच कर दो सिफारिशें की—(i) रेलभाड़ा कम करना तथा (ii) उद्योग को ७ वर्ष के लिये संरक्षण। परन्तु भारत सरकार ने पहिली सिफारिश को ठुकरा दिया और दूसरी सिफारिश की संरक्षण की अवधि को घटा कर ३ वर्ष किया, अर्थात् १ अक्टूबर सन् १९३१ से संरक्षण दिया, परन्तु वह भी १८ मास की अवधि मे बिना किसी उचित कारण के समाप्त कर दिया। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध काल मे इस उद्योग ने संरक्षण के अभाव में भी काफी प्रगति की तथा भारी रसायनों की माँग अब बढ़ती जा रही है। सन् १९५१ में इस उद्योग के ४६ कारखाने एवं वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० टन थी, जो भारत की वार्षिक माँग के लिए अधूरी थी। सन् १९५३ में इसी उद्योग की उत्पादन क्षमता लगभग ७२,००० टन थी।

विवेकात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—

तटकर आयोग ने विवेकात्मक संरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन मे से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। परन्तु व्यावहारिक व्यवहार में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण संरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ।

(१) इस सम्बन्ध मे तटकर आयोग सन् १९२५ का कथन है—"संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझने हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की

(१) उत्पादन के अभिनवीकरण तथा बढ़ी हुई कार्यक्षमता द्वारा पुरानी मंडियो से अधिकतर प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति प्राप्त करना।

(२) बाजारो का विस्तार और जूट के सामान के लिए नए क्षेत्रो की खोज।

इस हेतु इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन ने विदेशों मे अपने कार्यालय एवं प्रतिनिधियो की नियुक्ति की है।

[४] शक्कर-उद्योग

उगम और विकास—

भारत मे संगठित ढङ्ग पर शक्कर का उत्पादन सर्व प्रथम सन् १६०३ में प्रारम्भ हुआ, परन्तु सन् १६३१ तक भारतीय बाजारो मे विदेशी शक्कर ही बहुतायत से आती थी तथा उस समय भारत मे छोटे-बड़े सब मिलाकर कुल ३२ कारखाने थे। इनका अस्तित्व भी खतरे मे था, क्योंकि वे विदेशी उद्योग के साथ स्पर्धा करने मे असमर्थ थे। सारांश मे, यह उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे कुटीर उद्योग के रूप मे संगठित था और केवल कुछ थोड़े से ही आधुनिक संगठित कारखाने थे। इसलिये सन् १६३०–३१ मे इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च ने इस व्यवसाय की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया तथा उद्योग को प्रोत्साहन के लिये कुछ सुझाव दिये। इसलिए सन् १६३१ में उद्योग की जाँच के लिये प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की गई, फलतः सन् १६३१ मे शक्कर उद्योग संरक्षण अधिनियम स्वीकार हुआ और उद्योग को संरक्षण दिया गया। यह संरक्षण १५ वर्ष के लिये अर्थात् ३१ मार्च सन् १६४६ तक के लिये था, जिस अवधि मे उद्योग को अपनी प्रतियोगिता शक्ति बढानी थी।

इस अधिनियम से शक्कर आयात पर ७।) रु० प्रति हंड्रेडवेट के दर से संरक्षण कर लगा दिया गया, जिससे यह उद्योग तत्कालीन आर्थिक मन्दी के दुष्परिणामो से बचकर विदेशी प्रतियोगिता मे टिक सके। इससे इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। यहाँ पर यह ध्यान मे रहे कि इसके पूर्व शक्कर पर जो आयात कर था वह केवल रैवेन्यू कर के रूप मे था। सन् १६३० मे ही मूल्यानुसार कर के स्थान पर यह कर ६) प्रति हंड्रेडवेट कर दिया गया था, जो संरक्षण के बाद ७।) रु० हो गया। फलतः विदेशी शक्कर के आयात सन् १६३६–३७ में १६ हजार टन रह गये, जहाँ सन् १६३१ में १० लाख टन आयात थे। इससे सरकारी आय कम हो गई, जिसे पूरा करने के लिये तथा आधुनिक यन्त्रो से सुसज्जित कारखानों को उत्तेजना देने के लिए सरकार ने १।) प्रति हड्रेडवेट की दर से शक्कर उद्योग पर आबकारी कर लगाया। संरक्षण काल मे उद्योग की प्रगति तेजी से होती गई, जिससे शक्कर उत्पादन बढ गया तथा सन् १६३७ में गन्ने की उपज का कृषि क्षेत्र ४५ लाख एकड़ हो गया।

वर्ष	कारखानों की संख्या	उत्पादन
१६३१-३२	३२	५,००,००० टन
१६३२-३३	५७	६,४५,३८३ ,,
१६३३-३४	११२	७,१८,६०६ ,,
१६३४-३५	१३०	७,७१,६०० ,,
१६३६-३७	१३७	१२,३७,००० ,,

यह कर निम्नवत् था :—सन् १६१६ के पूर्व मूल्य के ५% तथा सन् १६१६ से १०%, सन् १६२१ से १५% तथा सन् १६३० मे २५%। इसका परिणाम यह हुआ कि शक्कर का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो गया तथा शक्कर की कीमतें गिरने लगी। और भारतीय शक्कर कारखानो मे गला-काट प्रतिस्पर्धा होने लगी। इस प्रतियोगिता के निवारण तथा उत्पादनाधिक्य से होने वाली समस्याओ के हल के लिये इसी वर्ष 'शक्कर अभिषद्' (Sugar Syndicate) की स्थापना की गई। इसके अलावा उत्तर-प्रदेश एवं बिहार सरकार ने शक्कर-नियन्त्रण अधिनियम स्वीकृत किए, जिनके अनुसार कोई भी नया कारखाना लायसेंस प्राप्त किये बिना नही खोला जा सकता था। दूसरे, प्रत्येक शक्कर कारखाने को अभिषद् का सदस्य बनना भी अनिवार्य था। इसके बाद शक्कर उद्योग पर आवश्यक नियन्त्रण रखने के लिए सन् १६४० में शक्कर-आयोग की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं पश्चात्—

सन् १६३७ मे इस उद्योग की उस वर्ष में फिर से प्रशुल्क सभा ने जांच की तथा यह सिफारिश की कि अन्य वर्तमान करो के अलावा शक्कर के विदेशी आयात पर ६॥।) प्रति हण्ड्रेडवेट की दर से प्रशुल्क कर लगाया जाय।

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के समय शक्कर के १४५ कारखाने थे तथा उनका कुल उत्पादन १३,६३,२०० टन था। अर्थात् इस समय भी उद्योग के सामने उत्पादनाधिक्य की समस्या थी, इसलिए उत्तर प्रदेश एवं बिहार सरकारों ने शक्कर के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक कारखाने के उत्पादन का कोटा निश्चित किया। साथ ही शक्कर के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सन् १६४२ के निर्यात प्रतिबन्धो को हटा दिया। परन्तु उत्पादन का कोटा केवल उत्तर-प्रदेश एवं बिहार राज्यो मे ही था, जिससे शक्कर उत्पादन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

वर्ष	कारखानो की सख्या	उत्पादन (हजार टन)
१६३६-४०	१४५	१३,६३·२
१६४१-४२	१५०	८,१८·५
१६४३-४४	१५१	१३,७४·०
१६४५-४६	१४५	१०,५५·८

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गई। यह जांच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि में आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ में अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाँच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उनसे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, जिसमें अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध में जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन-मूल्यों की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिसमें संरक्षण करों अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे:—मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, न्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जाँच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

1. Hindustan Year Books
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

६ उद्योगों के संरक्षण को समाप्त करने तथा अन्य ३४ उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश की।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

इसकी कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगों के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था। (i) इस नवीन नीति में संरक्षण पाने वाले उद्योग का सगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था। इससे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र में नहीं आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की माँग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप से स्थापना न हुई हो।* (ii) संरक्षण को दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओं तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय में अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध में पहिले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। (iii) सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पड़े। परन्तु किसी भी अवस्था में संरक्षण का भार जनता पर तो पड़ेगा ही और उसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता का भी हित होगा, इसलिए ऐसा एकांगी विचार अनुपयुक्त था। (iv) अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिये संरक्षण की सिफारिश नहीं कर सकती थी। इससे उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध में अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगों को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और इतनी थोड़ी अवधि में संरक्षण के परिणामों की जाँच भी ठीक रीति से नहीं हो सकती थी। परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा के संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस सभा ने आयात संरक्षक करों से संरक्षण देना पर्याप्त नहीं समझा। प्रत्युत कुछ उद्योगों की सहायता के लिए विकास कोष के निर्माण में सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एवं देशी उद्योगों के लिए पोषक है।

भारतीय तटकर आयोग सन् १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ (सन् १९४७) तथा हवाना चार्टर का उत्तरदायित्व देखते हुये भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसीलिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ में भारतीय-तटकर-आयोग की नियुक्ति की।

* भारतीय अर्थ शास्त्र की समस्यायें—पी० सी० जैन।

(५) इस उद्योग को संरक्षण से जो लाभ हुआ है, वह केवल मिल मालिकों को ही न मिलते हुए गन्ने की उपज करने वाले किसानों को भी मिला है। उद्योग एवं कृषि में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य किसी भी संरक्षित उद्योग में नहीं मिलता।

पंच-वर्षीय योजनायें—

पहिली योजना में शक्कर के कारखानों की संख्या १६० तथा १५·४ लाख टन का उत्पादन लक्ष्य था, बढ़ती हुई मांग के कारण यह १८ लाख टन किया गया है।

गन्ने का उपयोग

वर्ष	उत्पादन ('००० टन)	गन्ने का का शोमन उपयोग ('००० टन)			
		शक्कर	गुड़	खंडसारी	अन्य
१९५२-५३	४६·७८६	२५·३६	५३·५२	३·३६	१७·७३
१९५३-५४	४३·८७३	२२·१६	५५·८२	३·२४	१८·७५
१९५४-५५	५६·६२१	२८·००	८०·६३	३·००	१८·३७
१९५५-५६	५९·३१७	३१·६३	४७·६२	२·८५	१७·६०
१९५६-५७	६६·९९८	३१·१६	४७·७७	२·५४	१८·५०
१९५७-५८	६३·९५४	३०·८०	४५·५५	५·३०	१८·३५

पंच-वर्षीय योजना की अवधि में शक्कर का उत्पादन निम्न रहा :—

वर्ष	कारखाने	उत्पादन ('००० टन)
१९५१	१३६	१,११४·८[1]
१९५२		१,४९४·०
१९५३		१,२९१·२
१९५४		१,०८८·०
१९५५		१,५९४·८
१९५६	१४३	१,८५६·४
१९५७	१६६	२,००७·६
१९५८	१५०	२,००६·४
१९५९	१६४	१,९१६·०[2]

द्वितीय पंच वर्षीय योजना में शक्कर उत्पादन का लक्ष्य २२·५ लाख टन तथा तीसरी योजना में ३० लाख टन रखा गया है।[3] परन्तु दूसरी योजना के अन्त तक लक्ष्य पूरा हो सकेगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सन् १९६० में फिर से शक्कर की कमी का अनुभव हो रहा है और इसलिए सरकार को शक्कर का पुनः

1. Journal of Industry & Trade, April 1960.
2. भारतीय समाचार जून १, १९६०।
3. Third Five Year Plan—A Draft Outline

सहायता देना वांछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को संरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) संरक्षण के लिए कोई एक शर्त ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफ़ारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय यह संपूर्ण देशी माग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के संरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) संरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक संरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति में हैं अथवा नए हैं उनको संरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी सहया एवं संरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हों। इसी प्रकार संरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को संरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफारिशें—

(१) संरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

प्रदेशों में किया जाय जहाँ गन्ने की खेती होती है क्योंकि भारतीय किसान अशिक्षित हैं और वे प्रकाशित अनुसन्धानों से प्रत्यक्ष लाभ नहीं उठा सकते।

(ii) शक्कर व्यवसाय के लिए गन्ने का उत्पादन एवं गन्ने में शक्कर का परिमाण बढ़ाने के लिए जो खोज हो उसकी ओर सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिए एवं अधिक व्यय करना चाहिए, परन्तु वर्तमान अवस्था में यह नहीं हो रहा है। उदाहरणतः उत्तर-प्रदेशीय सरकार को पिछले १० वर्षों में गन्ने के कर से १,०७७ लाख रुपये की आय हुई, जिसका केवल १० प्रतिशत ही सुधार कार्य (तथा बहुधा अधिकारियों के वेतन) में व्यय किया गया। सरकार को चाहिए कि गन्ने के कर से जो आय हो उसकी सम्पूर्ण राशि गन्ने की उपज सुधारने के कार्य में खर्च करे। इस हेतु इस आय को पृथक निधि में 'शक्कर एवं गन्ना सुधार कोष' में रखा जाना चाहिए, क्योंकि "यदि वे (बिहार एवं उत्तर-प्रदेशीय सरकार) शक्कर व्यवसाय को कामधेनु समझ कर, उससे जितना चाहे उतना दूध देने की आशा करें तो एक समय आयगा जब इन प्रदेशों का शक्कर-उद्योग अनार्थिक हो जायगा एवं क्रमशः महत्त्व खो बैठेगा।" इसलिए इस उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए समुचित आयोजन करना चाहिए।

(iii) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ सुगर टैक्नॉलॉजी, कानपुर में हाल ही में एक अनुसन्धान हुआ है, जिसके अनुसार मोलासेस से प्लास्टिक बनाया जा सकता है, जो अन्य क्रियाओं द्वारा बनाये गये प्लास्टिक से अच्छा होता है। अतः इस अनुसन्धान का प्रत्यक्ष उपयोग करके शक्कर व्यवसाय के अन्तर्गत प्लास्टिक-उद्योग का विकास किया जाय तो इससे शक्कर उद्योग मितव्ययी होकर उसका आर्थिक कलेवर सुदृढ़ हो सकेगा।

(iv) अभी तक मोलासेस के सम्बन्ध में मूल्य-निर्धारण करने की प्रथा नहीं है, जिसे अपनाना चाहिए। इसमें प्रान्तीय डिस्टीलरीज को एक निश्चित दर पर ही मोलासेस दिये जा सकें तथा उनका कोटा भी निर्धारित किया जाय। इसी प्रकार शक्कर, गुड़ एवं खडसारी शक्कर के मूल्यों का निर्धारण करते समय सरकार जिस प्रकार शक्कर के विभिन्न उत्पादन घटकों को विचार में लेती है, उसी प्रकार खडसारी एवं गुड़ की कीमतों का निर्धारण भी करे। इससे इन तीनों उद्योगों में परस्पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित होकर वे प्रतियोगी नहीं रहेंगे।

———

अध्याय ५

संगठित उद्योग : २

(Organised Industries—2)

[१] कागज-उद्योग

भारत मे प्राचीन काल से ही कागज हाथ से बनाया जाता था। संगठित ढङ्ग पर सबसे पहला कारखाना सन् १७१६ में डॉ० विलियम केरी ने तजावर जिले के ट्रांकुबार मे स्थापित किया, परन्तु इसकी विशेष प्रगति नही हुई। इसके बाद सन् १८६७ में दूसरा कागज का कारखाना बेली पेपर मिल, बेली (बङ्गाल) में स्थापित किया गया, जिसका एकीकरण टीटागढ पेपर मिल में सन् १६०३ मे हो गया। इस कारखाने की स्थापना के कारण ही आगे नये कारखाने खोले गये, जिनमें आज भारत के महत्त्वपूर्ण कागज निर्माता टीटागढ पेपर मिल की स्थापना, सन् १८८४ मे केवल तीन मशीनों से हुई थी। इस प्रकार इस उद्योग का प्रारम्भ हुआ। यातायात, कच्चे माल एवं विद्युत शक्ति की दृष्टि से उद्योग का केन्द्रीयकरण बङ्गाल मे रानीगंज के आस-पास के क्षेत्रों मे हुआ है।

विकास—

यद्यपि कागज बनाने का पहिला कारखाना सन् १७१६ मे स्थापित हुआ, फिर भी इसका विकास बेली पेपर मिल की स्थापना (सन् १८६७) से ही वास्तविक रूप में प्रारम्भ होता है। क्योंकि इसी कारखाने की सफलता से आगे अनेक मिलों की स्थापना हुई। इस उद्योग के विकास का इतिहास धूप-छाँव का इतिहास है। अनेक बाधाओं से टकर लेते हुए किसी प्रकार उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रख सका।

प्रथम विश्व-युद्ध—

सन् १६१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध हुआ, तब उद्योग को आयात की कमी के कारण अप्रत्यक्ष रूप से विकास के लिए गुञ्जाइश मिली। फलस्वरूप सन् १६१८ में नैहट्टी मिल की स्थापना हुई, जिसने सन् १६२२ से उत्पादन आरम्भ किया। इस प्रकार युद्ध के प्रारम्भ के समय भारत मे कुल ५ कागज मिलें थी, जिनकी उत्पादन-क्षमता ३०,००० टन तथा वार्षिक उत्पादन २७,००० टन था। युद्ध के कारण उद्योगों को प्रोत्साहन तो अवश्य मिला, परन्तु युद्ध समाप्त होते ही उद्योग को प्रतियोगिता एवं युद्धोत्तर मन्दी का सामना करना असम्भव हो गया। फलतः सन् १६२४ में उद्योग

ने सरक्षण की मांग की और उसे प्रारम्भिक स्थिति में ७ वर्ष के लिए संरक्षण दिया गया।

युद्धोत्तर-काल—

सन् १६२४ मे सरक्षण मिलने के कारण उद्योग ने अपनी उत्पादनशीलता बढाई, जिससे उद्योग का वार्षिक उत्पादन सन् १६३१ मे ४५,६०० टन हो गया। इसके बाद सन् १६३१ मे प्रशुल्क सभा ने उद्योग की फिर से जांच की तथा अपनी रिपोर्ट मे यह बताया कि सरक्षण की अवधि मे उद्योग ने सन्तोषप्रद प्रगति की है। इसके साथ ही उद्योग को आगामी ७ वर्ष के लिए (अर्थात् सन् १६३८ तक) सरक्षण देने की सिफारिश की। इस अवधि मे केवल पेपर मिलो की संख्या ही नही बढी, अपितु उत्पादन की किस्मे भी बढ गई। सन् १६३१ मे जहाँ केवल ५ कारखाने थे, वहाँ सन् १६३७ मे १० कारखाने हो गये, जिनका वार्षिक उत्पादन इन्ही वर्षों मे क्रमशः ४८,५३१ तथा ५३,८११ टन था। इस अवधि मे केवल लिखने एव छपाई का कागज ही मिलो ने नही बनाया, अपितु विशेष किस्मो का कागज, जैसे—बैंक पेपर, ब्लाटिंग पेपर, स्ट्रॉबोर्ड आदि का निर्माण भी किया।

भारत मे स्ट्रॉबोर्ड बनाने का सबसे पहिला कारखाना सन् १६३० में सहारनपुर में खोला गया, जिसने सन् १६३२ मे उत्पादन-कार्य प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे इस कारखाने को तीव्र प्रतियोगिता का विशेषतः जापानी प्रतियोगिता का सामना करना पडा। फिर भी भारतीय कारखानो के स्ट्रॉबोर्ड का उत्पादन सन् १६३७ मे ८,००० टन हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व-युद्ध छिड जाने से उद्योग के विकास को अवसर मिला। फलतः भारत मे आज स्ट्रॉबोर्ड बनाने वाले १८ कारखाने है, जिनका वार्षिक उत्पादन ३०,००० टन तथा उत्पादन-क्षमता ५०,००० टन है, जबकि देशी मांग केवल २५,००० टन ही है। इसी प्रकार पेपर-बोर्ड के लिये भारत सन् १६३७ तक विदेशी आयात पर ही निर्भर था, जो सन् १६३७-३८ मे १०,००० टन था। परन्तु युद्ध के कारण पेपर-बोर्ड बनाने को भी प्रोत्साहन मिला और आज भारत मे पेपर-बोर्ड बनाने वाला सबसे बडा कारखाना दी रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०, डालमियानगर (बिहार) है तथा भारत मे पेपर-बोर्ड का वार्षिक उत्पादन २४,००० टन है, जो देशी मांग के लिए पर्याप्त है।

क्राफ्ट पेपर का उपयोग पैकिंग के लिए अधिक होता है। इसके लिए भारत विशेषतः स्केन्डिनेविया पर निर्भर था। इस किस्म के कागज का सन् १६३७-३८ मे १३,८०४ टन आयात हुआ। परन्तु युद्ध में आयात बन्द हो जाने से देशी उद्योग को प्रोत्साहन मिला, जिससे ओरियन्टल पेपर मिल ने इस किस्म का कागज बनाना प्रारम्भ किया। इसका वार्षिक उत्पादन सन् १६५१ मे १५,००० टन तथा उत्पादन-

उद्योग हो गया। इस कारण गावों में बेकार रहने वाली जनता शहरों के विकसित उद्योगों में काम के लिए आने लगी। इस प्रकार भारत में विभिन्न परिस्थितियों में श्रमिक वर्ग का उदय हुआ तथा इनकी संख्या प्रथम विश्व-युद्ध के कारण तीव्र गति से बढ़ती गई, क्योंकि इन युद्धों के कारण ही अंग्रेजी शासन में भारतीय उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत में औद्योगिक श्रमिकों के आंकड़े सबसे पहले सन् १८९२ में लिए गये थे, जब इनकी संख्या ३,१६,७१६ थी और सन् १९५७ में यही ३०,८७,६९४ थी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग, जिसमें सबसे अधिक श्रमिक काम करते हैं, वह कारखाना उद्योग है।[1] भारत के श्रमिकों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की रिपोर्ट में लिखा है:—"सन् १९२१ में कृषि श्रमिकों की संख्या २१५ लाख थी, जो सन् १९३१ की जन-गणना में ३१५ लाख हो गई, जिसमें ३० लाख भूमि विहीन थे। इस प्रकार इण्डियन फ्रेंचाइज समिति के अनुसार सन् १९३१ में २५० लाख श्रमिक कृषि के अलावा अन्य उद्योगों में थे। इस प्रकार भारत के विभिन्न उद्योगों में में लगे हुए ९·५४ करोड़ कर्मचारियों में से ५६५ लाख श्रमिक हैं, जो अपनी उपजीविका का साधन मजदूरी ही समझते हैं।"[2]

श्रमिकों का वितरण—

भारत की ३५·८६ कोटि जन संख्या की दृष्टि से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या एवं उसका कृषि-निर्भर जन संख्या से अनुपात संकेत करता है कि भारत की आर्थिक दशा अविकसित है। सन् १९४९ में कारखानों के श्रमिकों की कुल संख्या २४,३३,९८८ थी।[3]

कारखाना उद्योग में सन् १९५६ में सभी राज्यों में दैनिक औसत श्रमिकों की संख्या २८,८२,३०६ और रेल उद्योग में १०,५४,८०८ थी। श्रमिकों की सबसे अधिक संख्या कारखाना उद्योग में थी, जिसमें से केवल बम्बई में ६,९८,२५१ श्रमिक थे। खान उद्योग के श्रमिकों में सबसे अधिक श्रमिक कोयला उद्योग में हैं, जिनकी संख्या जुलाई सन् १९५७ में ३,७०,२४४ थी। कारखाना उद्योग में भी इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग अधिक महत्वपूर्ण है, जिसमें नवम्बर सन् १९५८ में ७,९८,५०६ श्रमिक दैनिक औसतन थे, जिनकी संख्या सन् १९५२ में ७,८३,९५४ थी।[4]

इस प्रकार आज भी भारत में सबसे अधिक श्रमिक निर्माणी उद्योग में लगे हुए हैं तथा इनकी संख्या में देश के औद्योगीकरण के साथ वृद्धि होगी, अतः इनकी विशेषताएं देखना भी आवश्यक है।

---

1. Labour in India & India 1960
2. "Industrial Labour in India"—I.L.O. Report of 1938, p 30.
3. India 1957 Table CLXX & CLXIX
4. India 1959.

इस अवधि मे कागज उद्योग की प्रगति की कल्पना निम्न तालिका से होगी:—

विभिन्न किस्मों के कागज का उत्पादन[1] (टनो मे)

वर्ष	१९५१	१९५२	१९५३	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७
किस्म							
(१) छपाई एवं लिखने का कागज	७९२६०	९१४२८	९५६२८	१०२८७६	११९४९६	१२२९८८	१२६-१६
(२) रैपिंग कागज	२१४८८	२१५४०	२११४४	२४१५६	२८३२०	३०९२४	३८०१६
(३) विशेष किस्मों का कागज	३१२०	२८२०	३४२०	४७८८	५६०८	५७७२	७२००
(४) पट्ठा	२४०४३	२२७२०	१९५२२	१३५०८	३१४४४	३३७२०	३८४००
(५) कुल उत्पादन	१३११९१६	१३७५०८	१३९७०३	१४५३२८	१८४८८४	१९३४०४	२१०१३२
(६) कारखानों की संख्या	१८	१८	१९	२०	२०	२३	

दूसरी योजना के अन्तर्गत उद्योग का विकास कार्यक्रम निम्नवत है :—

		न्यूज प्रिंट	कागज और पट्ठा
अनुमानित उत्पादन क्षमता	(३१-३-५६)	—	२,१०,०००
,, उत्पादन	(१९५५-५६)	—	१,८०,०००
,, आवश्यकता	(१९६०-६१)	१,२०,०००	३,५०,०००
उत्पादन क्षमता	(,,)	३०,०००	४,५०,०००
उत्पादन	(,,)	३०,०००	३,५०,०००

प्रथम योजना की अवधि मे भारत मे सन् १९५३ मे नेपा पेपर मिल्स की स्थापना हुई, जो न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाला पहिला कारखाना है। इसमे जनवरी सन् १९५५ से उत्पादन आरम्भ हुआ। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०,००० टन तथा सन् १९५८-५९ का उत्पादन २१,८३८ टन है। उसके पूर्व के तीन वर्षों में (सन् १९५५-५६ से सन् १९५७-५८) इसका उत्पादन क्रमशः ३,४५५, १३,५३४ तथा १४,१४५ टन था।[2] दूसरी योजना मे न्यूजप्रिंट की उत्पादन क्षमता ६०,००० टन करने का लक्ष्य रखा है। इस हेतु राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की सहायता से दो नए कारखानो की स्थापना होनी थी, जिनकी प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता ३०,००० टन तथा ६ करोड रुपये पूंजी विनियोग होना था। "ये योजनाएं तेजी से कार्यान्वित की जा रही है। ये योजनाएं सरकार के विचाराधीन है, जो आयात की हुई लुगदी से प्रति दिन १०० टन न्यूजप्रिंट तैयार करेगी। इसी प्रकार १० टन प्रति दिन न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाली मिलो की स्थापना के भी ३-४ सुझाव है।"[3]

1. Second Five Year Plan—A Draft Outline.
2. India—1960, भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।
३. आर्थिक समीक्षा—मार्च ११, १९६०, पृष्ठ ८-९।

दूसरी योजना के आरम्भ में स्ट्रॉबोर्ड और मिलबोर्ड की २३ इकाइयां जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७०,००० टन थी, इस क्षेत्र मे ९ नई इकाइयां और ६ नई स्कीमो को जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ४५ से ५० हजार टन है, लाइसेंस दिए गये हैं। इनके कार्यान्वित होने पर स्ट्राबोर्ड और मिलबोर्ड बनाने वाले कारखानो की उत्पादनक्षमता १,२०,००० टन हो जायेगी। कुछ नई इकाइयो को भी इसलिए लाइसेंस दिया गया है और १,२०,००० टन की उत्पादनक्षमता का लक्ष्य पूरा हो चुका है। स्ट्राबोर्ड और मिलबोर्ड का सम्पूर्ण यन्त्र सयत्र देशी साधनों द्वारा तैयार होने से उद्योगों को इस क्षेत्र मे प्रवेश करने का प्रोत्साहन मिला है। इस कारण नई इकाइयों को मुक्त रूप से लाइसेंस दिए जा रहे हैं।

एक इकाई सिगरेट-कागज तैयार कर रही है। व्यापार और उद्योग मे काम आने वाली दूसरी प्रकार के पतले कागज की माग भी बढ रही है, जिसे बनाने का काम अभी हाल ही मे एक मिल ने आरम्भ किया है। इसी प्रकार की दूसरी मिल को भी लाइसेंस दिया गया है।

वर्तमान स्थिति—

भारत मे कागज उद्योग का विकास विशेष महत्त्व रखता है। भारत में कागज की प्रति व्यक्ति खपत २ पौंड है, जबकि अमरीका मे ४१८ पौंड और यूरोपीय देशो तथा जापान में १०० से २२२ पौंड तक है। दूसरी योजना के लक्ष्यों के अनुसार कागज और पट्ठे की उत्पादन-क्षमता ५,३०,००० टन (लक्ष्य ४,५०,०००) टन हो गई है और ३,२०,००० टन उत्पादन का लक्ष्य भी सन् १९६०-६१ तक पूरा हो जावेगा। इस प्रकार इस उद्योग के वर्तमान स्थिति की कल्पना निम्न तालिका से होगी:—

	संख्या	उत्पादन-क्षमता (वार्षिक)
(१) कागज उत्पादन करने वाले वर्तमान कारखाने (१-२-१९६०)	२२	३,२४,००० टन
(२) कारखाने जिनमे उत्पादन आरम्भ होने वाला है	७	३३,९४० ,,
(३) (i) कागज की बडी इकाइयां जिन्हें लाइसेंस दिए गए	७	१,४१,९०० ,,
(ii) कागज उद्योग की बड़ी इकाइयां जिन्हे विस्तार के लिए लाइसेंस दिए गए	६	१,०९,२०० ,,
(४) (i) कागज उद्योग की छोटी इकाइयां जिन्हे नई इकाइयो के लिए आयात लाइसेंस मे सम्मिलित किया गया	१२	३१,००० ,,

(ii) कागज उद्योग की छोटी इकाइयाँ जो स्वीकृत हुई है	१७	४१,२२०	टन
(iii) कागज उद्योग की छोटी इकाइयाँ जिन्हे पर्याप्त विस्तार के लिए लाइसेंस दिए गए	२	७,०२०	,,
		६,८८,२८०	,,

तीसरी योजना मे उत्पादन-क्षमता का लक्ष्य ८ लाख टन तथा उत्पादन का लक्ष्य ७ लाख टन रखा गया है। सन् १९५९ मे कागज का उत्पादन २,९२,००० टन हुआ। फिर भी भारत मे आज कागज की कमी है और उसकी माँग बढती जा रही है। विदेशी विनिमय की कठिनाइयो के कारण कागज के आयात पर नियन्त्रण रखा गया है, इसलिए उद्योग को उत्पादन-क्षमता बढाने की दिशा मे ही प्रयत्न न करते हुए वर्तमान यन्त्र-सयन्त्रो से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने की ओर ध्यान देना चाहिए।[1] क्योकि तीसरी योजना मे कागज की माँग और बढेगी।

उद्योग की समस्याएँ एवं समाधान—

(१) यन्त्रों का आधुनिकीकरण—कागज के कारखानो में अधिकाशतः पुराने यन्त्रो का ही उपयोग हो रहा है। आजकल कुछ कारखानो मे आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त पूँजी लगाई गई है, क्योकि उत्पादको ने यह अनुभव किया कि आधुनिक यन्त्रो से पूरा लाभ उठाने के लिए कारखाने की उत्पादन-क्षमता मे अधिकतम सीमा तक वृद्धि करनी होगी।

(२) कागज उद्योग के यन्त्रों का निर्माण—कागज कारखानो के अधिकाश यन्त्र तथा कागज के निर्माण मे प्रयोग में आने वाली कुछ चीजों तक का आयात करना पडता है। इसलिए तृतीय पचवर्षीय योजना में कागज के कारखानो के यन्त्रो के सम्बन्ध मे निम्न लक्ष्य रखे है :—[2]

(करोड रु०)

कागजी मिल यन्त्र	यन्त्र का प्रमाप आकार (टन प्रति दिन)	लक्ष्य (१९६५-६६) यन्त्रो की सख्या	यन्त्रो का मूल्य (इसमें विद्युत का समावेश नही है)
(i) बडे यन्त्र	५०	४	६ ५ से ७·०
(ii) छोटे यन्त्र	१०	४	

भारत मे यद्यपि मशीनरी के कुछ हिस्से बनाए जाते हैं, किन्तु आवश्यक यन्त्र सयन्त्रो का उत्पादन अभी तक सगठित ढङ्ग से नही हुआ है। गत २-३ वर्षो से इम

१ आर्थिक समीक्षा : १९ मार्च १९६० से।

2 A Draft Outline—Third Five Year Plan.

दिशा में खोजात्मक और प्रारम्भिक कार्य हुआ है। भारत सरकार ने हाल ही में ५० से १०० टन प्रति दिन उत्पादन करने वाले बड़े पैमाने के कागज उद्योगों के प्लान्टों के निर्माण सम्बन्धी ६ योजनाएं मान्य की हैं और आशा है कि अगले ३-४ वर्षों में कागज उद्योग के लिए आवश्यक प्लान्ट एवं साज सज्जा देश में निर्मित हो सकेगी।*

(३) कच्चे माल की समस्या—कागज के उत्पादन के लिए प्रमुख रूप में बांस तथा सबाई घास का उपयोग होता है। दूसरी योजना में कागज एवं पट्ठे का उत्पादन लक्ष्य ६ लाख टन रखा गया है, जिसके लिए १६ लाख टन बांस लगेगा। सबाई घास भारत में बहुत थोड़ी मात्रा में मिलती है। इन दोनों की ही कमी अनुभव की जा रही है, इसलिए भारत सरकार ने वनों के प्रमुख निरीक्षक (Inspector General of Forests) की अध्यक्षता में एक समिति बनाई है, जो कच्चे माल की पूर्ति को ध्यान में रखकर कागज उद्योग के विकास की आधारभूत योजना प्रस्तुत करेगी। यह समिति बांस के तथा अन्य कच्चे माल के विदोहन के लिए उपाय करेगी तथा सेल्यूलोज की प्राप्ति बढ़ाने के लिए उपाय बतायेगी। इन्हीं कार्यों के लिए स्थायी रूप से एक वन आयोग (Forestry Commission) बनाने की योजना है, जो उद्योग के विकास के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की योजनाओं एवं प्रयत्नों में सामंजस्य लायेगी।

कच्चे माल के दूसरे प्रसाधनों में पटसन और कपास के रेशे और काठ भी हैं। इसके सिवा कपड़ा उद्योग के खराब चिथड़े, रद्दी कागज और इसी प्रकार के कच्चे माल के उपयोग में लाने की आवश्यकता है। नई स्वीकृत इकाइयों को इस कच्चे माल का सघन उपयोग करना होगा। इससे वे लुगदी की आवश्यकताओं की पूर्ति में अच्छी स्थिति में रहेंगी।

(४) अनुसन्धान—आज यह उद्योग ऐसी स्थिति में है जिसमें उसे किसी एक उद्यम में एक से अधिक कच्चे माल को विभिन्न वस्तुओं में बदलना होगा। विदेशों में अपनाए गए तरीकों को भी इस उद्योग में अपनाना होगा। उद्योग के अनुसन्धान संगठनों द्वारा कुछ कार्य हुआ है। इस हेतु शीघ्र सहकारी अनुसन्धान कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है, जिससे सघन अनुसंधान एवं समस्त उपयोग हो कर उद्योग दृढ़ आधार पर स्थायी हो सके।

(५) लुगदी और लुगदी बनाने की इकाइयाँ—रेयन श्रेणी की लुगदी जो विस्कोस सूत, स्टेपल फाइबर और सेलोफ्रेन बनाने के लिए आवश्यक है, हमारे यहाँ आयात की जाती है, जिसकी वार्षिक लागत ४ करोड़ रु० तथा तादाद ४०,००० टन है। इसकी आवश्यकता सन् १९६१ तक ७४,००० टन और तीसरी योजना के अन्त तक १,१०,००० टन होगी। रेयन लुगदी के उत्पादन में देवदार और सरों के वृक्ष की छाल आवश्यक है जो यहां आसानी से उपलब्ध नहीं है। इस हेतु सस्त लकड़ी का उपयोग

* आर्थिक समीक्षा: मार्च १६, १९६०, पृ० १०।

करने की देश मे काफी प्राविधिक उन्नति हुई है। रेयन लुगदी के उत्पादन में दूसरे प्रकार का कच्चा माल उपयोग में लाने के प्रयत्न हुए हैं। इनमे अधिक उपयोगी कच्चा माल बास है। केरल में इस श्रेणी की लुगदी प्रति दिन १०० टन उत्पादन की योजना कार्यान्वित हो रही है। मैसूर राज्य के उत्तरी कानरा जंगलो मे प्राप्त बास के प्रसाधनों पर आधारित दूसरी योजना सरकार द्वारा मान्य की गई है तथा तीन और योजनाओं के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है। इन सब योजनाओ के कार्यान्वित होने पर सन् १९६३ तक देश रेयन लुगदी के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भर हो जायगा।

इसी प्रकार रद्दी कागज, चिथड़े, भूसा आदि कच्चे माल की लुगदी पर चलने वाली छोटी इकाइयाँ स्थापित की जा रही हैं। अभी तक १०,००० टन लुगदी का आयात कागज उद्योग करता है। इन इकाइयो को लगभग वार्षिक १५,००० टन लुगदी की २-३ वर्ष तक आवश्यकता होगी। आसाम लुगदी मिल (उत्पादन क्षमता ३०,००० टन) का कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ हो रहा है। इसके सिवा डाग जगलो में उत्पन्न बास से वार्षिक १५,००० टन लुगदी बनाने की एक योजना सरकार ने स्वीकार की है। इन योजनाओं की पूर्ति पर देश आत्म निर्भर हो जायगा।

इस प्रकार सरकार इस उद्योग को सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है और इसी हेतु कागज उद्योग के लिए विकास परिषद का निर्माण भी किया गया है, जो उत्पादन, वितरण, प्रशिक्षण, अनुसन्धान, कार्यक्षमता आदि विभिन्न अगो पर अधिक जिम्मेदारी के साथ विचार कर उद्योग की विविध समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करेगी। इससे स्पष्ट है कि उद्योग का भविष्य ज्योतिर्मय है।*

[२] सीमेंट उद्योग

वर्तमान युग में वायुयानो के उतरने के लिए सीमेंट कान्क्रीट की सड़क, यन्त्रों की स्थापना मे, मकान बनवाने मे, यातायात एव अन्य विकास योजनाओ मे सीमेन्ट का स्थान महत्वपूर्ण है। देश के औद्योगीकरण एव विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए लोहे एव इस्पात तथा कोयले के साथ मे ही सीमेंट का भी महत्व है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस महत्व के होते हुए भी भारत मे सन् १९०४ तक इस उद्योग की स्थापना के प्रयत्न नही हुए और आज भी अपने वर्तमान उत्पादन से, जो सन् १९५९ में ६८·१४ लाख टन है, यह उद्योग भारतीय मांग को पूरा करने मे असफल है।

उगम एव विकास—

भारत मे पोर्टलैंड सीमेंट बनाने का पहिला कारखाना सन् १९०४ मे मद्रास राज्य में खोला गया था, परन्तु वह असफल रहा। इसके ९ वर्ष बाद पोरबन्दर में

* भारत का कागज उद्योग—केन्द्रीय उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह (आर्थिक समीक्षा—मार्च ११, १९६०)।

अध्याय ८

भारतीय श्रमिकों की गृह समस्या

(Housing Problem of Indian Labour)

"भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है। उनके रहने के स्थान मैलीकुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।"

—नेहरू

"मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।"

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जिसमें समस्याओं की कमी नहीं है। इसलिए एक भाषण के दौरान में श्री नेहरू ने कहा था :—"भारत में प्रत्येक मनुष्य ही एक समस्या है।" तो फिर ऐसी स्थिति में जहाँ हमारा औद्योगिक विकास नवीन है, वहाँ पर श्रमिकों के आवास की समस्या होनी ही चाहिए। यह एक ऐसी समस्या है, जो आज केवल श्रमिकों तक ही सीमित न रहते हुये प्रत्येक मध्यवर्गीय कुटुम्ब की समस्या हो गई है।

गृह-समस्या का हल आवश्यक—

गृह-समस्या का समुचित हल होना भी आवश्यक है, क्योंकि गृह समस्या का अथवा निवास स्थानों की कमी एवं उनकी अनुपयुक्तता का प्रभाव मानव की कार्यक्षमता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके काम के अनुसार अच्छा तथा सुविधाजनक मकान रहने के लिए न मिले, तब तक वह एकाग्रता से काम नहीं कर सकता और न कौटुम्बिक वातावरण ही उसे मिल सकता है। घर के आस-पास का वातावरण भी उसके लिए पोषक होना चाहिए। कारण, मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास स्थान का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही शहरों का विकास होते हुए भी गृह-समस्या आज अत्यन्त जटिल है। क्योंकि किसी भी शहर में आज रहने के लिए पर्याप्त एवं सुविधाजनक मकान नहीं मिलते और यदि मिलते भी हैं तो उनका किराया इतना अधिक होता है कि जो साधारण आय वाले व्यक्ति की शक्ति के बाहर होता है। मजदूरों की हालत तो साधारण मध्यवर्गीय समाज से भी बदतर है। कानपुर में पं० नेहरू ने २ अक्टूबर सन् १९५२ को श्रमिकों के निवास स्थान का निरीक्षण करते हुये कहा था:—"भारतीय श्रमिकों की निवास-समस्या

दी सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी—

दी इण्डियन सीमेंट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन को सदस्य-कारखानों ने जो सहयोग दिया, उससे एसोसियेशन को यह विश्वास हुआ कि यदि वे अपने उत्पादन की बिक्री केन्द्रीय संगठन से करेंगे, तो विक्रय व्यय मे मितव्ययिता होकर सीमेंट की कीमत कम हो सकती है। इसलिए सन् १९३० में दी सीमेंट मार्केटिंङ्ग कम्पनी लि० की स्थापना की गई और मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन खतम कर दिया गया। इस नई संस्था ने प्रत्येक सदस्य निर्माता की उत्पादन-क्षमता के अनुसार बिक्री का कोटा निश्चित कर दिया, जिससे बिक्री इस संस्था के माध्यम से होने लगी। इससे प्रतियोगिता का अन्त तो हुआ ही और वितरण व्यय में भी मितव्ययिता हुई। यातायात आदि के खर्च कम होने से सीमेन्ट की बिक्री की कीमत भी निश्चित कर दी गई, जिससे उपभोक्ताओं को भी लाभ हुआ। मार्केटिङ्ग कम्पनी की सफलता एवं प्रभावी नियन्त्रण के कारण सन् १९३४ मे चार और सीमेंट निर्माणियों ने इसकी सदस्यता प्राप्त की, जिससे सीमेंट की कीमतें २५% कम हो गईं।

दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लि०—

उद्योग के विभिन्न निर्माताओं के सहयोग से निर्माताओं ने उद्योग को सुसंगठित ढङ्ग पर सचालन करने के हेतु तथा वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सीमेंट का उत्पादन एवं वितरण मितव्ययी बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। इस हेतु पी० ई० दिनशॉ ने विभिन्न सीमेंट कम्पनियों के समावेशन (Merger) की एक योजना बनाई। तदनुसार सोनेवेली पोर्टलैंड सीमेंट कम्पनी के अलावा सभी तत्कालीन कम्पनियों के समावेश से सन् १९३६ मे दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड की स्थापना हुई। इस कम्पनी के निर्माण से भारत के एक राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण उद्योग का सङ्गठन ढङ्ग पर विकास होने लगा। यहाँ पर यह ध्यान रहे कि यह सब टेरिफ बोर्ड के सुझावों के ही अनुसार हुआ था। इस प्रकार विभिन्न कम्पनियों के परस्पर सहयोग के कारण सन् १९३० से सन् १९३६ तक के ६ वर्षों मे सीमेंट की कीमतें १० रु० प्रति टन कम हो गईं, जो उपभोक्ताओं के हित मे ही था।

इसके पश्चात सन् १९३८ में डालमियाँ समूह की सीमेंट निर्माणियों ने ए० सी० सी० कम्पनी से तीव्र प्रतियोगिता शुरू की। इनके साथ वार्तालाप होते होते सन् १९४० मे समझौता होकर इन दोनो समूहों के उत्पादन की केन्द्रीय बिक्री के लिए सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी फिर कार्य करने लगी। इन दो समूहों के अलावा चार और कम्पनियाँ भी सीमेंट उत्पादन कर रही है।

द्वितीय विश्व-युद्ध और सीमेंट—

३ सितम्बर सन् १९३९ मे दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ा। युद्ध प्रारम्भ होते ही सभी वस्तुओं की कीमतें बढने लगी, जिससे सीमेंट का उत्पादन तथा पैकिङ्ग व्यय भी बढ़ गया। फलतः सीमेंट की कीमतें भी बढी। युद्ध-काल मे इस उद्योग पर इण्डस्ट्रीज

१ बरामदा, रसोईघर, गुसलखाना तथा खेल-कूद के मैदान की व्यवस्था है। इस दिशा में जमशेदपुर, बर्नपुर, जे० सी० मिल्स, टी० पी० टू० फैक्टरी एवं एलगिन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर, सीमेन्ट कम्पनी, कामोर, डालमियाँ नगर तथा एम्प्रेस मिल्स एवं मॉडेल मिल्स, नागपुर का उल्लेख किया जा सकता है। टाटानगर में तो सम्पूर्ण नगर की रचना ही टाटा द्वारा अपनी पूँजी से की गई है। इसके अलावा बम्बई, कलकत्ता तथा कानपुर की नगरपालिकाओं तथा इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने भी कुछ कार्य किया है। परन्तु भारत की इस समस्या की विशालता की दृष्टि से ये प्रयत्न समुद्र में पानी की कुछ बूँदों की भाँति ही हैं, अतः इनमें सुधार के व्यापक कार्यक्रम सरकार, नियोक्ता तथा श्रम-संघों द्वारा निर्धारित किये जाने चाहिए।

सरकार की गृह-निर्माण योजना—

घरों की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४७ में एक गृह-निर्माण योजना बनाई थी। परन्तु पूँजी की कमी तथा अधिक खर्चीली होने के कारण इस योजना को छोड़ दिया गया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५०-५१ के बजट में श्रमिक गृह-निर्माण के लिए बम्बई प्रान्त के लिए १६ लाख रुपये तथा पंजाब, मध्य-भारत बिहार एवं उड़ीसा के लिए १० लाख रुपए का आयोजन किया। फिर भी इस कार्य को प्रोत्साहन देकर समस्या का हल होना आवश्यक था।

इसलिए अगस्त सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने एक नई गृह-निर्माण योजना बनाई तथा सन् १९५२-५३ के बजट में ६ करोड़ रुपये का प्रबन्ध था। इस राशि में से ७·१६ करोड़ रुपये औद्योगिक गृह-निर्माण तथा शेष राशि वर्तमान गन्दे श्रमिक आवासों (Slums) की स्वच्छता के लिए व्यय होना था। इस योजना के अनुसार विभिन्न राज्यों में २८,५०० औद्योगिक गृह-निर्माण होने थे, जिसके लिए इस राशि में से ऋण एवं सहायता दी जाती है। इस हेतु गृह-निर्माण का विभाजन तीन वर्गों में किया गया था:—

(अ) जो राज्य सरकारों अथवा वैधानिक संस्थाओं (जैसे इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट आदि) द्वारा बनाये जाते।

(ब) जो नियोक्ताओं द्वारा बनाये जाते।

(स) जो सहकारी गृह-निर्माण-समितियों द्वारा बनाये जाते।

पहिले वर्ग के मकानों के लिए केन्द्रीय सरकार लागत का ५०% मूल्य सहायता के रूप में तथा शेष ५०% २५ वर्ष में भुगतान किये जाने वाले ऋण के रूप में देती थी। दूसरी एवं तीसरी श्रेणी में आने वाले मकानों के लिए सरकारी सहायता

वर्ष	सीमेंट उत्पादन (हजार टन)	अस्बेस्टॉस सीमेंट शीट (हजार)
१९५०	२,६१२.४	८६.४
१९५१	३,१९५.६	८२.८
१९५२	२,५३७.६	८७.६
१९५३	३,७८०.०	७६.६
१९५४	४,३६८.०	३६.२
१९५५	४,४८७.२	१०४.४
१९५६	४,९२८.४	१२०.०
१९५७	५,६०१.६	१५८.४
१९५८	६,०६६.०	—
१९५९	६,८१४.०	—

स्पष्ट है कि सन् १९५७ में सीमेंट उद्योग ने प्रगति की है। सन् १९५७ में उत्पादन क्षमता एवं उत्पादन ६५.६ लाख और ५६.१ लाख टन रहा, जब कि सन् १९५६ में यही क्रमशः ५६ और ४९ लाख टन था।

दूसरी योजना में ५४ नवीन योजनायें स्वीकृत की गई हैं, जिनमें से २१ योजनायें नए कारखानों की स्थापना तथा ३१ योजनायें वर्तमान कारखानों के विस्तार की हैं, जिससे वार्षिक उत्पादन क्षमता १ करोड़ टन होगी। इनमें से ११ विस्तार योजनाओं की पूर्ति तथा ४ नये कारखानों की स्थापना सन् १९५८ के अन्त तक हो जायगी; जिससे देश की उत्पादन क्षमता में १८ लाख टन की वृद्धि होगी। इनके सिवा ११ और योजनायें सन् १९५९ के अन्त तक पूरी होंगी जिनसे इस तिथि तक कुल उत्पादन क्षमता १०४ लाख टन वार्षिक होगी।[1] इसके साथ ही देश में सफेद सीमेंट बनाने की योजना भी है। इस हेतु प्रयोगिक यन्त्र हैदराबाद की प्रादेशिक अनुसन्धानशाला में लगाये गये हैं।[2] दूसरी योजना के अन्त तक उद्योग की उत्पादन क्षमता एवं उत्पादन का लक्ष्य १२० लाख और १०० लाख टन निर्धारित किया है।

इस प्रकार सन् १९५६ में देश में २२ कारखाने थे, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८२.५ लाख टन थी, जो दूसरी योजना के अन्त तक १०२.२ लाख टन हो जायगी। सीमेंट कारखानों को बढ़ाने के लिए अमेरिका के निर्यात सहयोग मिशन और विकास ऋण निधि से विदेशी मुद्रा ली गई है। अनुमान है कि सन् १९६२ तक देश के कारखानों से ही देशी माँग की अधिकांश पूर्ति होने लगेगी।

1. *Journal of Industry and Trade : July 1958, p. 950.*
२. भारतीय समाचार : १ अक्टूबर सन् १९५८।

सीमेंट का निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। निर्यात के लिए जो ४ लाख टन सीमेंट रखा गया था उसमे से जनवरी सन् १९६० के अन्त तक ३,०१,४१० टन सीमेंट निर्यात करने की कार्यवाही हो चुकी है और लगभग २३६ हजार टन सीमेंट निर्यात हो चुका है।[1]

तीसरी योजना मे सन् १९६५ ६६ तक सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य १३० लाख टन रखा गया है, जबकि सन् १९६० ६१ में सीमेंट का लक्ष्य ८८ लाख टन प्राप्त करने की आशा है। यह लक्ष्य सन् १९६०-६१ में जो उत्पादन स्तर अनुमानित है उससे ५०% वृद्धि का परिचायक है।

इस प्रगति से स्पष्ट है कि यह उद्योग भविष्य मे विदेशी विनिमय अर्जन करेगा और साथ ही देश की बढ़ती हुई माग की पूर्ति भी भली-भाँति कर सकेगा।

[३] कोयला उद्योग

प्रत्येक देश की औद्योगिक प्रगति के लिये कोयला और लोहा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे जहाँ तीन लौह एवं इस्पात के कारखाने खोलने की योजना है वहाँ इस उद्योग के लिए आवश्यक कोयले की भी पर्याप्त व्यवस्था होना आवश्यक है, क्योकि यह महत्त्वपूर्ण औद्योगिक ईंधन (Fuel) है। इसलिए साधारणतः उद्योगो की स्थापना कोयले के समीपस्थ क्षेत्रो में ही होती है। देश की औद्योगिक शक्ति का अनुमान आजकल उस देश मे प्राप्त होने वाली कोयले की मात्रा से लगाया जाता है।

वर्तमान स्थिति—

कोयले के उत्पादन मे भारत का विश्व मे आठवाँ स्थान है, परन्तु भारतीय कोयला अन्य देशो की अपेक्षा निम्न कोटि का है। भारत में कोयले के प्रमुख क्षेत्र रानीगंज और झिरगोह हैं। भारत की कुल खानो मे से ७०% खानें केवल रानीगंज और झरिया मे ही हैं, जहाँ से लगभग ८०% कोयला प्राप्त होता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोयला उद्योग अधिक प्रगति कर रहा है, जो इस उद्योग के वार्षिक उत्पादन से स्पष्ट होता है :—

वर्ष	उत्पादन[2] ('०० टन)	वर्ष	उत्पादन (लाख टन)
१९५०	३२,९९२	१९५५	३८२*
१९५१	३४,२०८	१९५६	३९४*
१९५२	३६,२२८	१९५७	४३५*
१९५३	३५,८४४	१९५८	४५३*
१९५४	३६,७६८	१९५९	४७८·३०†

१. भारतीय समाचार—अप्रैल १५, सन् १९६०।

2. Hindusthan Year Book 1954—Sarkar.

* India 1960.

† भारतीय समाचार—जून १५, १९६०।

दूसरी योजना की पूर्ति पर कोयले का वार्षिक उत्पादन लक्ष्य ६०० लाख टन रखा गया है। अर्थात् २२० लाख टन कोयले की अपेक्षित वृद्धि में से १०० लाख टन वृद्धि निजी क्षेत्र में अपेक्षित है। सन् १९५६ में राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना की गई है जो सरकारी क्षेत्र के कोयला-उत्पादन के लिए जिम्मेवार है। यह निगम ११ राज्य कोयला-खानों से (इनमें आन्ध्र की सिंगरेनी कोयला खदान का समावेश नहीं है) ७ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने में सफल हुआ। सिंगरेनी खदान से कोयले का उत्पादन सन् १९५५ के १५.२ लाख टन से सन् १९५८ में २१.२ लाख हो गया। इसके सिवा अनेक नई कोयला खानों में उत्पादन प्रारम्भ हो गया है।

श्रेष्ठ कोयले के सीमित भण्डार—

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार भारत में नॉन-कोकिंग कोयला लगभग ३,६६५ करोड़ टन है, जो हजारों वर्ष तक काम देगा। मेटार्लजिकल कोल कन्जर्वेशन समिति के अनुसार उच्च कोटि का कोकिंग कोयला ३,२६६ लाख टन है। स्पष्ट है कि हमारे कोक बनाने के कोयले के भंडार सीमित हैं। इसलिए सरकार को काफी चिन्ता है, क्योंकि इस्पात के तीनों कारखानों का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है और कोयले की कमी के कारण उनको तथा अन्य उद्योगों को करोड़ों रुपये की हानि हो रही है। हमारे भूगर्भ-शास्त्री *निश्चयपूर्वक यह कहने में असमर्थ हैं कि कि हमारे कोकिंग कोयले के भण्डार कितनी* सदियों तक चल सकेंगे। भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग (Geological Survey) कोयले के भण्डारों का नये सिरे से आकलन कर रहा है, जिससे इस सम्बन्ध में सही जानकारी प्राप्त हो सके।

अतः भारत सरकार ने आम कोयले के भण्डारों का अधिक मितव्ययिता से *उपयोग करने के लिये निम्न कदम उठाये हैं*:—

(अ) बढ़िया कोयले का उत्पादन सीमित करना।

(आ) धातुशोधन के अलावा अन्य कार्यों में इस कोयले का प्रयोग रोकना।

(इ) कोयले की धुलाई को प्रोत्साहन देना, जिससे उसमें राख का अंश कम हो और पहिले तथा दूसरे ग्रेड का धोया हुआ कोयला धातुशोधन कार्यों के लिये उपयोग में लाया जा सके।

(ई) कोयला निकालने के बाद जो खानें खाली हो गई हैं उन्हें रेत आदि से भरना, जिससे शेष कोयला सुगमता से निकाला जा सके।

इन उपायों को अधिक तेजी से काम में लाया जायगा, जिससे सन् १९६० तक जब इस्पात के तीनों नये कारखानों को पर्याप्त मात्रा में कोकिंग कोयला सुलभ हो और धातुशोधन के अतिरिक्त अन्य कार्यों में इस कोयले का उपयोग वस्तुतः समाप्त हो जाय।

द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना में—

इस योजना में कोयले के वार्षिक उत्पादन में २.३ करोड़ टन की वृद्धि करने

का लक्ष्य है, जिससे सन् १९६०-६१ में वार्षिक उत्पादन ६ करोड़ टन हो। वर्तमान वार्षिक उत्पादन ४·३ करोड़ टन है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न कोयला क्षेत्रों में निम्न प्रकार से उत्पादन बढ़ाने की योजना है :—

कोयला	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	योग
रानीगंज	२·५०	३·४४	५·६४
झरिया	—	३·५०	३·५०
करनपुरा	४·००	०·५६	४·५६
बोकारो	०·५०	—	०·५०
कोरबा	४·००	—	४·००
कोरिया और रीवा	२·५०	०·५०	३·००
सिंग्रैनी	१·५०	—	१·५०
योग	१५·००	८·००	२३·००

विवेकीकरण—

कोयले के उत्पादन में मितव्ययिता लाने के लिए छोटी-छोटी खानों का एकीकरण करने की योजना है। इसी प्रकार कोक वाशिंग समिति (सन् १९५३) की सिफारिशों के अनुसार कोयले की कोटि में गिरावट रोकने के लिए कोयले की धुलाई के लिए ४ कारखानों (Cool washeries) का आयोजन है, जिनमें से १ वाशिंग प्लांट कारागली में स्थापित किया गया है, जो मई सन् १९५८ में चालू हो गया है। शेष तीन वाशिंग प्लांट दूसरी योजना के अन्त तक चालू हो जायेंगे।†

इसी प्रकार दुर्गापुर कोक ओवन (Oven) प्लांट की स्थापना प० बंगाल सरकार ने प० जर्मनी की फर्म के सहयोग से की है, जो मार्च सन् १९५९ में चालू हो गया है। यह दुर्गापुर इस्पात कारखाने को कोकिंग कोल का प्रदान करेगा। इस कारखाने की क्षमता १,००० टन तथा लागत ७·५ करोड़ रुपये है। इसी प्रकार निजी क्षेत्र की कोयला खदानों का उत्पादन सन् १९५५ के ६० लाख टन से सन् १९५६ में ४०० लाख टन से भी अधिक हो गया है। कोयले की कमी की दृष्टि से बहुमुखी मरकोट लिग्नाइट प्रोजेक्ट, नेवेली की स्थापना की गई है, जो ३५ लाख टन वार्षिक लिग्नाइट का उत्पादन करेगा। इसका उपयोग २·५ लाख किलोवाट शक्ति, ३·८ लाख टन कार्बोनाइज्ड ब्रिकेट (Briquettes) और १,५२,००० टन यूरिया के उत्पादन में होगा। इस योजना में कुल विनियोग ६८·८ करोड़ रुपये का होगा, किन्तु दूसरी योजना पर ५२ करोड़ व्यय किया जायगा। इस हेतु स्थापित नेवेली लिग्नाइट कॉर्पोरेशन ने योजना को दिसम्बर सन् १९५६ में अपने हाथ में लिया, जो इस समय १६·८ करोड़ रुपये की

† Commerce : 24th May 1958.

लागत का प्रदान कार्य कर रहा है। लिग्नाइट का उत्खनन सन् १९६१ के प्रारम्भ में शुरू हो जायगा।[1]

इस प्रकार द्वितीय पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य इस उद्योग का युक्तिपूर्ण संगठन करना है। इसकी आवश्यकता कोयले के प्रादेशिक वितरण तथा धातुशोधन के लिए उच्च कोटि के कोयले को सुरक्षित करने की दृष्टि से भी है। कोयले के प्रादेशिक उत्पादन में वृद्धि होने से रेलें समीपस्थ कोयला क्षेत्र से माल को निर्दिष्ट स्थान तक जल्दी से जल्दी पहुँचा सकेंगी और रेलें कोक बनाने का बढ़िया कोयला बचा सकेंगी। क्योंकि रेलें लम्बी यात्रा में आम कोयला भाप बनाने के लिए प्रयोग करती हैं अथवा दुर्गम प्रदेशों में जाने में। जब माल कम दूर ढोना होगा तो वे योजना के अनुसार घटिया कोयले का ही उपयोग करेंगी।

कोयला खदानों का पुनर्गठन—

कोयले के स्रोतों में फिजूलखर्ची के निवारण के लिये तथा कोयले की उत्पादन पद्धति में सुधार करने के लिये कोयले की खानों का एकीकरण द्वारा पुनर्गठन करने की योजना बनाई है। झरिया में ७३४ और रानीगंज में ६६६ ऐसी खदानें हैं जिनका मासिक उत्पादन १०,००० टन से भी कम है। इतना ही नहीं, अपितु अनेक में आवश्यक यन्त्र एवं सामग्री एवं तन्त्रज्ञों की कमी है, जिससे वे वैज्ञानिक एवं नियोजित पद्धति से कोयले का विदोहन नहीं कर सकतीं। इसलिए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये इन खदानों का पुनर्गठन अनिवार्य हो गया है। इस पर विचार करने के लिये सन् १९५५ में कोयला खदान एकीकरण समिति की नियुक्ति की गई थी। इस समिति ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार जिन खदानों का मासिक उत्पादन १०,००० टन से कम, क्षेत्र १०० एकड़ से कम तथा जिनमें कोयले का संग्रह ५० से कम वर्षों के लिये है उनका एकीकरण किया जायगा।[2]

तीसरी योजना में—

योजना आयोग का अनुमान है कि इस्पात, चर्मस शक्ति एवं रेल्वे के लक्ष्यों के आधार पर तीसरी योजना के अन्त तक कोयले की मांग ९७ मि० टन होगी। इसके अनुसार तीसरी योजना में ३७ मि० टन की उत्पादन में वृद्धि होना चाहिए, क्योंकि दूसरी योजना के अन्त में कोयले का उत्पादन लक्ष्य ६० मि० टन रखा गया था। किन्तु यह लक्ष्य योजना की अवधि में पूरा होने की सम्भावनाएँ नहीं हैं। यद्यपि दूसरी योजना में निजी क्षेत्र की वर्तमान खदानों से ही अतिरिक्त उत्पादन पर्याप्त हुआ है फिर भी तीसरी योजना के लक्ष्य की पूर्ति के लिए नई खदानों को खोलना होगा। इस हेतु अधिक प्रयत्न एवं पूँजी विनियोग की आवश्यकता होगी।

कोयला कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण हेतु स्टील उद्योग के लिए कोकिंग कोयले

---

1. India—1960.
2. Amrit Bazar Patrika . May 1958

का तथा रेल्वे एवं कुछ अन्य उद्योगों के लिए उच्च कोटि के नॉन कोकिंग कोयले का प्रदाय करना होगा। यद्यपि इन उद्योगों की तीसरी योजना में कोयले की सही आवश्यकता के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं है। फिर भी अनुमान है कि इन उद्योगों को तीसरी योजना में ११ मि० टन कोकिंग कोयला तथा १० मि० टन नॉन-कोकिंग कोयले की अतिरिक्त आवश्यकता होगी। यह रानीगंज एवं झरिया की निजी क्षेत्र की कोयला खदानों से ही प्रमुख रूप से पूरी हो सकेगी। अन्य कोयले का अतिरिक्त उत्पादन विशेष रूप से करनपुरा (बिहार), मध्य-प्रदेश, उड़ीसा और आन्ध्र की कोयला खदानों से होगा। इस हेतु सरकारी क्षेत्र के कोयला उत्पादन के लिए १३८ करोड़ रु० तथा बोकारो स्टील प्लांट की योजना राशि (२०० करोड़ रु०) में कुछ राशि का आयोजन है।[1]

भारतीय कोयला परिषद की बैठक में कोयले की उत्पादन वृद्धि एवं उसकी किस्म तथा इस हेतु आवश्यक तकनीकी विशेषज्ञों एवं इञ्जीनियरों की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया।[2] इस प्रकार कोयला उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे भारत का औद्योगिक उत्पादन कोयले की कमी के कारण प्रभावित न हो सके।

उद्योग की समस्याएँ—

(१) भारतीय श्रमिक की उत्पादनशीलता कम है, जो प्रति व्यक्ति (Per man shift) ०·४१ टन है, जिसमें वृद्धि की आवश्यकता है। इसलिये कोयला खदानों का अधिक यन्त्रीकरण करना होगा तथा श्रमिकों को अपनी उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे स्रोतों का मितव्ययितापूर्ण उपयोग हो सके।

(२) तन्त्रज्ञों की कमी—प्रत्येक स्तर पर आवश्यक तन्त्रज्ञों की कमी है, जो वर्तमान प्रशिक्षण सुविधाओं से पूरी नहीं हो सकती, इसलिये वर्तमान प्रशिक्षण विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का विस्तार होना चाहिए। साथ ही, राज्य सरकारों की कोयला खदानों की सायं कक्षाओं में प्रशिक्षितों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिये। निम्न स्तर के कुशल कर्मचारियों की कमी को दूर करने के लिये सामंजस्यपूर्ण प्रयत्न होना चाहिये, जिससे सभी खदान उद्योगों की माँग पूरी हो सके।

---

1. Thrid Five Year Plan—Adraft outline, page 211-12.
२. भारतीय समाचार, जून १, १९६०

अध्याय ६

भारतीय तटकर नीति

(Indian Fiscal Policy)

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में यह सिद्धान्त मान्य कर लिया गया है कि राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास में प्रगतिशील एवं सक्रिय भाग ले। प्रत्येक देश की सरकारी औद्योगिक नीति का यह प्रमुख भाग रहा है कि सरकार अपने राष्ट्रीय साधनों के अनुसार एवं देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेती है। देश के औद्योगीकरण को गति देने में सरकार की तटकर नीति महत्वपूर्ण होती है। इसी दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति के अनुसार :—"सरकार की प्रशुल्क नीति ऐसी रहेगी, जिससे अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतम् उपयोग हो सकेगा तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित प्रभार भी नहीं रहेगा।"* परन्तु इसके पहिले भारत सरकार की नीति क्या थी, यह देखना होगा।

सन् १६२१ के पूर्व—

सन् १६२१ में भारत पर विदेशी सत्ता का केवल राजनैतिक ही नहीं, अपितु आर्थिक पंजा भी था। भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति का सचालन इङ्गलैण्ड में बैठ कर भारत सचिव करता था। तत्कालीन आर्थिक नीति की विशेषता भारत का आर्थिक शोषण कर अंग्रेजी उद्योगों को बल देने में थी। इसलिए उस समय भारत जैसा विशाल बाजार इङ्गलैण्ड के उद्योगों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो। फलतः भारतीय शासन की मुक्त व्यापार नीति रही, जिसमें विदेशी निर्माता मजे से भारतीय उद्योगों का गला घोट सकते थे, क्योंकि सन् १८६० तक तो भारत में उद्योगों का विकास ही नहीं हुआ था और जो कुछ थोड़ा सा था भी, वे विदेशी माल की प्रतियोगिता में असमर्थ थे। इसके अलावा भारत में औद्योगिक विकास आधुनिक ढंग पर होने के पहिले से ही विदेशी निर्माताओं ने विशेषतः इङ्गलैंड ने अपना आसन जमा लिया था। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति होने के पूर्व कुछ समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से भारतीय कुटीर-उद्योगों को बल मिला, परन्तु यह नीति अधिक काल तक न टिक सकी। इस प्रकार भारत में पूर्णरूपेण मुक्त-व्यापार नीति का ही अवलम्ब किया गया, जो सन् १८८२ से सन् १८६४ तक रही।

* India—A Government of India Publication.

सन् १८६४ में एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ रही थी। अतः सरकार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८६४ मे ५% आयात कर लगाना पड़ा। परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। आयात कर के लगाते ही लंकाशायर एवं मैनचेस्टर के मिल-मालिको ने हायतोबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एवं इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपड़े के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओं को न मिले। इस प्रकार आयात कर की पूर्ति उत्पादन करो से होती थी, जिससे उसका लाभ किसी भी प्रकार से भारतीय उद्योगो को न मिले। यह नीति सन् १६१६ तक रही तथा उसका पालन भी कड़ाई के साथ किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे प्रोत्साहन के अभाव में न पनप सके और भारत अधिकांश रूप मे कच्चे माल का निर्यात करने वाला कृषि प्रधान देश रह गया।

प्रथम युद्ध-काल मे (1) भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने, आयात बन्द होने तथा युद्ध-जन्य आवश्यकताओ की वृद्धि के कारण शासकों को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुई। (ii) भारत में सन् १६०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें मजबूत होने लगी, जिससे अँग्रेजो की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। (iii) जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगो को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था; उसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। (iv) युद्ध के संचालन में भारत से व्यक्ति, सामग्री तथा धन की जो सहायता मिली, उसके फलस्वरूप सन् १६१७ मे मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। (v) सन् १६१६ के *औद्योगिक आयोग* ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमे कहा—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"[1] औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था :—"औद्योगिक जिम्मेदारी लेने के लिए सरकार अपने पास वैज्ञानिक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगों को सलाह दे सकें।" परन्तु अभाग्यवश आयोग की सिफारिशो को ताक में रखा गया।[2]

भारत मे जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अँग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १६१७ मे मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो की घोषणा हुई। इसमे भारतीयो को 'स्वयं निर्णय' का,

1. Irdustrial C·mmiss'on, 1916.
2. Industrialization—P. S. Loknathan, p. 6.

अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति में संशोधन एवं सुधार करने का अधिकार मिला, जो भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पहला कदम था।

भारतीयों को स्वयं निर्णय का अधिकार देने के लिये सन् १९१९ में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल के परीक्षण के समय संयुक्त प्रवर-समिति ने यह मत दिया :— "भारत एवं इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धों को अन्य किसी बात से इतना खतरा नहीं है जितना कि भारत की तटकर नीति से, जिसका संचालन व्हाइटहॉल में ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिए होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमें सन्देह नहीं। इस समस्या का समुचित हल तभी सम्भव है, जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा से दिया जा सकता है।"*
फिर भी यह स्वतन्त्रता प्रत्यक्ष कार्य प्रणाली में सीमित थी, यद्यपि प्रतिज्ञा (Convention) की दृष्टि से आर्थिक नीति के सम्बन्ध में भारत पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरी ओर साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग होने के नाते साम्राज्य की नीति के बन्धन में भी था।

तटकर आयोग (Fiscal Commission) सन् १९२१—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १९२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर इब्राहीम रहिमत उल्ला थे। आयोग का प्रमुख हेतु सभी हितों को ध्यान में रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जाँच करना, शाही अधिमान के सिद्धान्त को लागू करने की वाञ्छनीयता पर राय देना तथा इस सम्बन्ध में सिफारिशें करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ में सरकार को प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश की। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जाँच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होने हुए भी इसमें उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएँ बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उसमें स्पष्ट है कि भारत प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े।

---

* Tariffs & Industry—by John Mathai.

सारांश में, उद्योगों में विवेकात्मक संरक्षण नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता था, जो निम्न शर्तें पूरी करते हों :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हो, जैसे— कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत घरेलू बाजार। ये लाभ विभिन्न उद्योगों की दृष्टि से विभिन्न सापेक्ष (Relative) महत्त्व के होंगे; किन्तु उनके सापेक्षिक महत्त्व की जाँच कर निर्धारण करना होगा। उद्योगों की सफलता उनको प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभों पर निर्भर है। ऐसा कोई भी उद्योग जिसको ऐसे तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नहीं हैं, उनके साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता नहीं कर सकता। इसलिए भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को संरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास संरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके। यह एक निर्विवाद उप सिद्धान्त (Corollary) है, जिस आधार पर संरक्षण की सिफारिश की गई। संरक्षण का प्रमुख हेतु ऐसे उद्योगों का विकास करना है, जो संरक्षण के अभाव में विकसित नहीं हो सकते थे अथवा उनका विकास तीव्र गति से न होता।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—संरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय, "जो अन्ततः संरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो। इस शर्त की पूर्ति की सम्भावना आँकने के लिए पहिली शर्त के अनुसार 'नैसर्गिक लाभों' के सम्बन्ध में सावधानी से विचार करना होगा। संरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देना है, जो अन्ततः संरक्षण के बिना अपने बल पर खड़े हो सकें।"

संरक्षण में इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अलावा तटकर आयोग ने संरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर संकेत किया है, जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। संरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय में कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा आधार-भूत उद्योगों को किसी भी दशा में संरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश स्पर्धा-त्मक अवमूल्यन से निर्यात करते हों, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग को संरक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के लिए, प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग

शक्ति प्रदान की जाय।'' अर्थात् उद्योगो का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी नही आँका गया, जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग से अथवा भारी रसायनिक उद्योग सम्बन्धी अविवेकपूर्ण नीति से स्पष्ट है। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग के सरक्षण के लिए जब सन् १६२४ मे जाँच की गई तो उसे सरक्षण इसलिए नही दिया गया कि वह अन्ततः सरक्षण के अभाव में नही टिक सकता। सन् १६२८ मे जब इस उद्योग ने पुनः सरक्षण की माग की ओर प्रशुल्क सभा ने उसके उत्पादन व्यय तथा कीमतो की जाँच की तब यह मत दिया कि उद्योग स्वय निर्भर हो नही होगा अपितु उसे अधिक सरक्षण की आवश्यकता नही है। केवल इतना ही सरक्षण काफी होगा कि सन् १६२७ मे मैग्नेशियम क्लोराइड से जो आयात कर हटा लिया था, उसे फिर सरक्षण कर के रूप मे लगा दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि इस नीति की प्रत्यक्ष कार्यवाही मे कितनी कठिनाई होती है।[1]

(ii) भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध मे लगाई गई शर्ते भी न्यायोचित नही है, क्योकि जब इङ्गलैंड और जापान के वस्त्र उद्योग देश मे रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ हो सके तो भारतीय उद्योगो पर ही ऐसी शर्ते क्यो ?

(iii) तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग सभाएँ नियुक्त की, जिनके सभासदो मे समय-समय परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नही अपना सकी, जिसका स्थायी रूप से अनुकरण होता। यह इस नीति का सबसे बडा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक सरक्षण नीति के अन्तर्गत :—''अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगो को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उसने उद्योगो को उनके भाग्य पर छोडने के अलावा किसी प्रकार से उनकी सुरक्षा नही की। साधारणतः प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो सरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।''[2]

संरक्षण नीति का मूल्यांकन—

सरक्षण नीति का मूल्याकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति सरक्षण की अवधि मे अबाधित रही हो। (i) भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १६२५ से सन् १६३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा। (ii) प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हुए बिना नही रहा। फिर भी इस नीति के विरोध मे जो आक्षेप है तथा जिस

1 Tariffs & Industry—Dr John Mathai, pp 11-12.
2. B. P. Adarkar—The Indian Fiscal Policy.

की श्रेणी में होगा। दूसरे, श्रम अपील अदालतों को भंग किया गया तथा त्रिमूखी न्यायालयीन व्यवस्था की गई :—(अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय तथा (स) राष्ट्रीय न्यायालय तथा इन तीनों के क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार को इन निर्णयों में परिवर्तन करने का अधिकार है तथा ऐसे परिवर्तन की आज्ञाएँ केन्द्रीय सरकार को संसद के समक्ष १५ दिन में प्रस्तुत करना होगा, जिन्हें मान्यता देने, न देने का अधिकार संसद को है। इस प्रकार अन्तिम निर्णायक संसद ही है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित के आधार पर ही कर सकेगी।

इस संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना लखनऊ में तथा औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना धनबाद और नागपुर में की गई है। नागपुर का न्यायालय श्रम न्यायालय का कार्य भी करता है। इसके अलावा दिल्ली में भी एक एड-हॉक औद्योगिक न्यायालय है। राज्य सरकारों के क्षेत्र में उनके न्यायालय तथा श्रम न्यायालय हैं।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

औद्योगिक सम्बन्धों को अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग लेने की नीति की योजना में सिफारिश की गई थी, इसलिए इसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल विदेशों में भेजा गया था। इस दल की *सिफारिशों पर जुलाई सन् १९५७ में भारत श्रम-सम्मेलन में विचार* हुआ तथा उनको कार्य रूप में लाने के लिए सन् १९५८ जनवरी फरवरी में एक *प्रतिनिधिक सेमिनार में एक आदर्श समझौता किया गया।*

इस समय २३ उद्योगों में ऐसी व्यवस्था है तथा १५ उद्योग प्रयोगात्मक तौर पर इसे *अपनाने के लिए* सहमत हुए हैं।* इस हेतु उत्तर-प्रदेश में प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था भी की गई है।

औद्योगिक सम्बन्धों के *सुधार के लिए* जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं उनसे यह विश्वास है कि परिस्थिति में अवश्य सुधार होगा।

(ब) श्रम-संघ

(Trade Unions)

श्रम की अनेक विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि श्रम एक स्थायी वस्तु नहीं है, जिसको संग्रह किया जा सके। प्रत्येक श्रमिक को अपना श्रम प्रति दिन किसी न किसी कार्य के लिये करना ही होगा। यदि वह यह चाहे कि आज मजदूरी न करते हुए इकट्ठा कल ही कर ले तो यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि बीते हुए कल की मजदूरी खत्म हो जाती है। इस विशेषता के कारण श्रमिकों में सौदा

* *India 1960.*

प्रस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। *यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—*

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाँच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये *पुनर्निर्माण हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर नीति को* अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध में जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन मूल्यों की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) *संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे संरक्षण करों* अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध मितव्ययी है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे: – मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जाँच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

1. *Hindustan Year Books*
2. यह कार्य पहिले **Commodities Prices Board** करते थे।

हैं, जो अपने सङ्गठन के उद्देश्यों से विचलित होकर स्वार्थ भोगु बन जाते हैं। श्रम-संघ तो वास्तव में श्रमिकों के लिये, देश के लिए एवं उद्योग के लिए अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते है, यदि वे अपने ध्येय के अनुसार उसे प्राप्त करने का वैधानिक मार्ग अपनावें।

भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—

श्रम-संघ श्रमिकों में एकता-भाव एवं सामूहिक-शक्ति जागृत कर परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिये बनायी हुआ एक संघ है। ऐसे श्रमिक संघ देश में कई हो सकते है—प्रत्येक उद्योग के अलग अलग अथवा अनेक उद्योगों का एक। श्रम-संघों का विकास इङ्गलैंड आदि पाश्चात्य देशों में तो औद्योगिक-क्रान्ति के बाद ही होने लगा था। क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्षेत्र में नई नई समस्याएँ पैदा की, जिनमें से एक श्रम-संघों की भी थी। परन्तु भारत में श्रम संघों का उगम और विकास केवल गत ३४ वर्षों में ही हुआ है।

श्रम-संघों का उगम एवं विकास—

भारत में श्रमिक संघों के बीज डालने का प्रमुख श्रेय श्री लोखण्डे को है, जिन्होंने सन् १८८४ में बम्बई के कारखाने के श्रमिकों का एक सम्मेलन कराया तथा श्रमिकों की ओर से तत्कालीन श्रमिक आयोग (Labour Commission) के समक्ष मजदूरों की माँगें प्रस्तुत की। इन माँगों में श्रमिकों का एक दिन का साप्ताहिक विश्राम, दोपहर में आधा घन्टे का विश्राम तथा श्रमिकों की हानि पूर्ति करने की माँगें प्रमुख थी। इसके बाद सन् १८९० में बम्बई में मिलहैण्ड्स् एसोसियेशन नामक श्रमिक-सगठन श्री लोखण्डे के सभापतित्व में बनाया गया। परन्तु इसके बाद औद्योगिक मन्दी आ जाने के कारण श्रमिक सगठनों में शिथिलता आ गई और एक तरह से इस आन्दोलन को पूर्ण विराम ही मिला। इसके बाद सन् १९०४ में जब औद्योगिक समृद्धि पुनः होने लगी तो इस आन्दोलन को बढ़ावा मिला और सन् १९१० में कामगार-कल्याण संघ की स्थापना हुई। इन्होंने कामगार समाचार नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित किया। इस प्रकार प्रारम्भ में जो श्रमिक-सगठन हुए, उनका हेतु श्रमिक-आयोग अथवा श्रमिक समितियों के समक्ष श्रमिकों की माँगें प्रस्तुत करना ही रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिक-आन्दोलन का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जब श्रमिक सगठनों ने नियोक्ताओं के विरुद्ध अपनी माँगें पूरी करने के लिए सामूहिक मोर्चा लेना शुरू किया। इस समय श्रमिकों की काम करने की दशाएँ अच्छी नहीं थी, कीमतें बढ़ रही थी और मजदूरी कम थी तथा विश्व में श्रमिक आन्दोलन का जोर था। इधर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोरों पर था। इन विशेष परिस्थितियों के कारण श्रमिकों को अपनी निष्क्रियता एवं अयोग्यता की जानकारी हुई और सन् १९१८ में श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास में पहला लेबर यूनियन स्थापित किया, जिसके सदस्य सूती वस्त्र उद्योग के कामगार थे। इस सगठन ने श्रमिकों का दुःख दर्द

इसके बाद सन् १९२९ में उन्होंने दूसरी विशाल हड़ताल की, जिसके लिए जांच-अदालत भी बनाई गई। इस अदालत ने गिरणी कामगार संघ को हड़ताल के लिये जिम्मेदार ठहराया। इस बदनामी के कारण इस आन्दोलन को गहरी चोट पहुँची। सन् १९२९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पूरी तरह से कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गया। परन्तु आन्तरिक मतभेद के कारण नम्र दल के श्रमिक-संघों ने इस कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्री जोशी की अध्यक्षता में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना की तथा रेल्वेमेंस फेडरेशन भी अलग हो गया। फिर भी एकता के प्रयत्न होते रहे और श्री वी० वी० गिरि (सन् १९३७ में मद्रास के श्रम मन्त्री) के प्रयत्नों से इसका एकीकरण पुनः अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में हुआ।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध हुआ, जिससे इस कांग्रेस में फिर मतभेद होकर श्री एम०एन० राय के नेतृत्व में इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना हुई, जिसने सरकार को सहयोग देकर हड़तालों को रोका। पहली कांग्रेस (A.I T U.C.) पर फिर भी कम्युनिस्टों का ही अधिकार रहा और युद्ध के बाद उन्होंने हड़ताली रुप धारण किया, जिससे श्रमिक अशान्ति बढ़ी। कांग्रेस ने सन् १९४७ में एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की, जो इस समय सबसे बड़ा श्रमिक-संगठन है। इस संगठन का उद्देश्य हड़तालों की अपेक्षा समझौते की पद्धति में श्रम सुविधायें दिलवाना है। इसके बाद समाजवादी पक्ष के नेतृत्व में हिन्द मजदूर सभा की स्थापना भी हुई। इस बीच इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर का अन्त हो गया, परन्तु इसमें जो श्रम संघ थे तथा जो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये थे वे हिन्द मजदूर सभा में नहीं मिले, अपितु उन्होंने सन् १९४९ में अपना एक अलग संगठन—यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाया।

इस प्रकार भारत में चार प्रमुख अखिल भारतीय श्रम संघ है :—

नाम	सम्बन्धित श्रम संघ		सदस्य संख्या*	
	१९५८	१९५९	१९५८	१९५९
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C.)	७२७	६१७	९,१०,२२१	९,७१,७४०
(२) अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I T.U.C)	८०७	५५८	५,३७,५६७	४,२२,८५१
(३) हिन्द मजदूर सभा (H.M.S.)	१५१	११९	१,९३,९४२	२,०३,७६८
(४) युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U.T.U.C)	१८२	२३७	८२,००१	१,५९,१०९
योग	१८६७	१५३१	१७,२२,७३१	१७,५७,४६८

* India—1960, Table 257

सहायता देना वाञ्छनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को संरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) संरक्षण के लिए कोई एक बात ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय वह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के संरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) संरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक संरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा यह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति में हैं अथवा नए हैं उनको संरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी मात्रा एवं संरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हों। इसी प्रकार संरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय नियमन द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को संरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफारिशें—

(१) संरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने की सुविधाएँ देने के लिए एक संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हों। इसका निम्न कार्य हों :—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलों की जाँच।

(स) संरक्षण कर तथा आयात करों के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क सुविधाओं की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ में भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.) का भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा। अतः प्रशुल्क सुविधाओं के आदान प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारों के सम्बन्ध में, भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हों, उनके विषय में सरकार को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(i) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमें तत्सम वस्तुओं के साथ विश्व बाजारों में प्रतियोगिता है।

(ii) वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको विश्व-बाजारों में अन्य देशों के प्रति-वस्तुओं की प्रतियोगिता का भय है।

(iii) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं को ऐसी सुविधायें मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का ध्यान :—

(i) पूँजीगत वस्तुओं पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिये।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। तदनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (टैरिफ कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य है, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग में न्यूनतम एवं अधिकतम सदस्यों की संख्या ३ व

(१) श्रम-संघों में बाहरी व्यक्तियों का प्रवेश सीमित करना।
(२) निश्चित शर्तों पर श्रम-संघों को वैधानिक मान्यता देना।
(३) श्रम संघों के कार्यकर्त्ताओं की उत्पीड़न (Victimisation) से रक्षा करना।
(४) श्रम-संघों के निजी स्रोतों से उसके आर्थिक आधार में सुधार करना (मजबूती लाना)। इन सुधारों से श्रम-संघों के वर्तमान महत्वपूर्ण दोषों का निवारण हो सकेगा।

राष्ट्र-निर्माण में श्रम-संघ—

राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय श्रम-संघों का गहरा प्रभाव पड़ता है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने ब्रिटेन के विकास में काफी महत्वपूर्ण भाग लिया है। ब्रिटिश लेबर पार्टी का एटली मन्त्रि-मण्डल वहाँ की राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का राजनैतिक पहलू था। इसी प्रकार अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर तथा दी फ्रेंच कॉन्फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स अपने देश के आर्थिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डालते हैं। भारत में भी श्रम-संघ नेता श्री जोशी के प्रयत्नों से ही सन् १९२६ में श्रम संघ अधिनियम पास हुआ। श्रम-संघों ने कुछ हद तक श्रमिकों का शैक्षणिक एवं शारीरिक उन्नति करने में भी सफलता प्राप्त की है तथा आज के चुनाव में भी श्रमिकों का महत्वपूर्ण भाग है। श्रम संघों को चाहिए कि वे श्रमिकों में बचत की आदत निर्माण करने के हेतु सहकारी समितियों की स्थापना करें। वहां से उन्हें जीवनावश्यक वस्तुएँ सस्ती दरों पर दी जायें तथा ये उनको गृह-निर्माण में भी सहायक हों। इसी प्रकार श्रम उपनिवेशों में श्रम-संघ विभिन्न प्रकार के मनोरंजनादि साधनों का आयोजन कर श्रमिकों की लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, श्रमिकों के मानसिक एवं शारीरिक स्तर को उन्नत कर सकते हैं। ऐसे लोकप्रिय श्रम-संघ ही श्रमिकों के हितों में सरकारी नीति को भी झुकाने में सफल हो सकेंगे।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १९२६—

श्रमिक एवं नियोक्ता अथवा नियोक्ता एवं नियोक्ताओं के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के हेतु बनाए गए किसी संघ की रजिस्ट्री कराने का आयोजन इस अधिनियम द्वारा किया गया। दो अथवा दो से अधिक श्रमिकों के फेडरेशन की रजिस्ट्री भी इस अधिनियम के अन्तर्गत हो सकती है। रजिस्टर्ड श्रम संघों को निम्न अधिकार हैं:—

(१) रजिस्टर्ड संघों का समामेलित अस्तित्व एवं स्थायी उत्तराधिकार हो जाता है। ऐसे श्रम संघ चल एवं अचल सम्पत्ति रख सकते हैं तथा अनुबन्ध भी कर सकते हैं।

(२) रजिस्टर्ड श्रम-संघ किसी समझौते से सम्बन्धित किसी षड्यन्त्र या

(३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री-मूल्य ।

(४) माँग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर ।

(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव ।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति सन् १९४७ की पूर्व संरक्षण नीतियों से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिये पोषक है। क्योंकि :—(i) वर्तमान आयोग के कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक हैं, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस कारण प्रशुल्क समाएँ चाहते हुये भी कुछ न कर सकती थीं। (ii) उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा, केवल यह देखना है कि उद्योग देश हित में है अथवा नहीं। (iii) सुरक्षात्मक एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई भी शर्त नहीं है, जो देश की सुरक्षा, औद्योगीकरण तथा स्वयं निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है। (iv) युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिए संरक्षण देने के लिये प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं पर निर्भर रहेगा। (v) पहिले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिसमें देर होती थी, परन्तु अब सरकार को प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों पर कार्यवाही की रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी। और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति की परिचायक है, जिसमें भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference)—

'शाही अधिमान' की विचारधारा काफी पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १९०२ में हुआ। इसका अवलम्बन १७वीं एवं १८वीं शताब्दी में इङ्गलैंड में अनिवार्य रूप से होता था। ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीति का यह एक अंग था, जिसमें मातृ-देश (Home Country) के निर्यातों के करों में छूट दी जाय, परन्तु यह अनिवार्यता आगे की नीति में नहीं थी। अपितु उसमें प्रत्येक देश अपनी प्रशुल्क नीति में स्वतन्त्र था, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के विभिन्न देशों से होने वाले आयात पर प्रशुल्क सुविधायें दी जाती थीं, जिससे साम्राज्य के व्यापार का अधिकतम विकास हो। ये सुविधायें साम्राज्य के उपनिवेशों में परस्पर आधार पर दी जाती थीं। इस प्रकार शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढ़ाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।"

विकास एवं हेतु—

शाही अभिमान की विचारधारा का महत्त्व १६वी शताब्दी मे अधिक स्पष्ट रीति से सामने आया, जब श्री० जोसेफ चेम्बरलेन ने इस नीति का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किया । राजनैतिक दृष्टि से प्रशुल्क सुविधाओं के परस्पर आदान-प्रदान से साम्राज्य के सदस्य देशों में एकता एवं सहकारिता की भावना बढेगी तथा साम्राज्य का संगठन सुदृढ होगा । आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश साम्राज्य को आर्थिक शक्ति में अपना भाग देगा, जिससे वह आर्थिक दृष्टि से स्वयं निर्भर होगा, जो सुरक्षा की दृष्टि से अधिक वांछनीय है । शाही अभिमान के इन पक्षों का समर्थन करते हुए श्री जोसेफ चेम्बरलेन ने कहा था:—"इस तरह के व्यापारिक संघ की साम्राज्य में स्थापना होना केवल पहिला ही नहीं, अपितु प्रमुख कदम है । इसके अलावा हमारे हेतु की पूर्ति के लिए एक निर्णायक कदम है, जो किसी भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ के दिमाग में आया है।" इसमें सर चेम्बरलेन का हेतु साम्राज्य के देशों की एकता एवं सहकारिता की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने का था।

क्रियात्मक पहलू—

प्रथम विश्व युद्ध काल में जब साम्राज्य के देशों में घनिष्ठता बढ़ गई, तब सन् १६१७ में शाही युद्ध सम्मेलन तथा सन् १६२३ में शाही आर्थिक सम्मेलन में इस नीति का समर्थन किया गया । फलस्वरूप सन् १६२२ में साम्राज्य के लगभग २६ देशों में यह नीति अपनाई जा रही थी । इन सब सम्मेलनों एवं सुविधाओं तथा इङ्गलैंड में मुक्त व्यापार नीति का परित्याग (सन् १६३१ में) होने के कारण, सन् १६३२ के शाही आर्थिक सम्मेलन, ओटावा में इस नीति को साम्राज्य के अधिक देशों ने अपनाया । इस सम्मेलन में ही ओटावा समझौते पर भारत और इङ्गलैंड ने हस्ताक्षर किये तथा परस्पर माल के आयात-निर्यात पर प्रशुल्क सुविधायें देने का प्रस्ताव स्वीकृत किया ।

भारत और शाही अभिमान—

सन् १६०३ में यह प्रश्न भारत के सामने सर्व प्रथम आया तब भारत ने इस नीति को अपनाने का विरोध किया । भारत की आर्थिक स्थिति तथा विदेशी व्यापार का रुख देखते हुए इस नीति से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना ही अधिक थी । क्योंकि भारत में अधिकतर पक्के माल का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात होता था, जो भारत की दृष्टि से अवांछनीय तथा औद्योगिक दृष्टि से खतरनाक था । इसीलिए इस नीति के सम्बन्ध में तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्जन ने कहा था:— "भारत के पास साम्राज्य को देने के लिए कुछ है, अधिक नहीं और उसे अल्प लाभ होगा एवं हानि ही अधिक होगी।" सन् १६१७ में भी जब यह प्रश्न फिर से उपस्थित हुआ, भारत ने इस नीति को अपनाने से इन्कार किया । परन्तु सन् १६२२ के टटकर आयोग को जब इम्पीरियल प्रीफरेंस के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कहा गया

तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' अपनाने की सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें थी—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिनमें सन् १९२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ में ब्रिटिश उगम की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गईं। इसके पहले भी भारत से ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी। जैसे—सन् १९१८ में चाय के निर्यात् कर में छूट, सन् १९१९ में चमड़े के निर्यात करों में १०% की छूट आदि। परन्तु अन्त में सन् १९३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिसमें भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उनमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उससे इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजी की दासता माननी पड़ी। फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रसंघ अधिमान के रूप में कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में श्री० टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एवं प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकर नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट

* Loksabha Debate on 25-9-54

सन् १८९४ में एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ रही थीं। अतः सरकार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८९४ में ५% आयात कर लगाना पड़ा। परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। आयात कर के लगाते ही लंकाशायर एवं मैनचेस्टर के मिल-मालिकों ने हायतौबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एवं इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपड़े के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओं को न मिले। इस प्रकार आयात कर की पूर्ति उत्पादन करों से होती थी, जिससे इसका लाभ किसी भी प्रकार से भारतीय उद्योगों को न मिले। यह नीति सन् १९१६ तक रही तथा इसका पालन भी कड़ाई के साथ किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे प्रोत्साहन के अभाव में न पनप सके और भारत अधिकांश रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला कृषि प्रधान देश रह गया।

प्रथम युद्ध-काल में (i) भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने, आयात बन्द होने तथा युद्ध-जन्य आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण सामग्री की अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। (ii) भारत में सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें मजबूत होने लगी, जिससे अंग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। (iii) जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था; उसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। (iv) युद्ध के संचालन में भारत ने व्यक्ति, सामग्री तथा धन में जो सहायता दिया, उसके फलस्वरूप सन् १९१७ में मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। (v) सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमें कहा—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"[1] औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था:—"औद्योगिक जिम्मेदारी लेने के लिए सरकार अपने पास वैज्ञानिक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगों को सलाह दे सकें।" परन्तु दुर्भाग्यवश आयोग की सिफारिशों को ताक में रखा गया।[2]

भारत में जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अंग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १९१७ में मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। इसमें भारतीयों को 'स्वयं निर्णय' का,

1. Industrial C mmiss'on, 1916.
2. Industrialization—P. S. Loknathan, p. 6.

अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति में संशोधन एवं सुधार करने का अधिकार मिला, जो भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पहला कदम था।

भारतीयों को स्वयं निर्णय का अधिकार देने के लिये सन् १९१९ में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल के परीक्षण के समय संयुक्त प्रवर-समिति ने यह मत दिया :— "भारत एवं इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धों को अन्य किसी बात में इतना खतरा नहीं है जितना कि भारत की तटकर नीति से, जिसका संचालन व्हाइटहॉल से ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिए होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमें सन्देह नहीं। इस समस्या का समुचित हल तभी सम्भव है, जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार प्रशुल्क व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा में दिया जा सकता है।"*
फिर भी यह स्वतन्त्रता प्रयत्न कार्य प्रणाली में सीमित थी, यद्यपि प्रतिज्ञा (Convention) की दृष्टि से आर्थिक नीति के सम्बन्ध में भारत पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरी ओर साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग होने के नाते साम्राज्य की नीति के बन्धन में भी था।

तटकर आयोग (Fiscal Commission) सन् १९२१—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १९२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर इब्राहीम रहिमत उल्ला थे। आयोग का प्रमुख हेतु सभी हितों को ध्यान में रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करना, शाही अधिमान के सिद्धान्त को लागू करने की वांछनीयता पर राय देना तथा इस सम्बन्ध में सिफारिशें करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ में सरकार को प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश की। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जांच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी इसमें उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएं बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उससे स्पष्ट है कि भारत प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े।

---

* Tariffs & Industry—by John Mathai.

सारांश में, उद्योगों में विवेकात्मक संरक्षण नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता था, जो निम्न शर्तें पूरी करते हों :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हो, जैसे— कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत-घरेलू बाजार। ये लाभ विभिन्न उद्योगों की दृष्टि से विभिन्न सापेक्ष (Relative) महत्व के होंगे; किन्तु उनके सापेक्षिक महत्व की जाँच कर निर्धारण करना होगा। उद्योगों की सफलता उनको प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभों पर निर्भर है। ऐसा कोई भी उद्योग जिसको ऐसे तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नहीं है, उनके साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता नहीं कर सकता। इसलिए भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को संरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास संरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके। यह एक निर्विवाद उप सिद्धान्त (Corollary) है, जिस आधार पर संरक्षण की सिफारिश की गई। संरक्षण का प्रमुख हेतु ऐसे उद्योगों का विकास करना है, जो संरक्षण के अभाव में विकसित नहीं हो सकते थे अथवा उनका विकास तीव्र गति से न होता।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—संरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय, "जो अन्ततः संरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो। इस शर्त की पूर्ति की सम्भावना आँकने के लिए पहिली शर्त के अनुसार 'नैसर्गिक लाभों' के सम्बन्ध में सावधानी से विचार करना होगा। संरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देना है, जो अन्ततः संरक्षण के बिना अपने बल पर खड़े हो सकें।"

संरक्षण के इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अलावा राजकर आयोग ने संरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर संकेत किया है, जो कम महत्वपूर्ण हैं। संरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय में कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा आधार-भूत उद्योगों को किसी भी दशा में संरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश स्पर्धा-त्मक अवमूल्यन से निर्यात करते हों, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग को संरक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के लिए, प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग

ने की थी। यह सभा उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह देगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference) के सम्बन्ध में आयोग ने *'शर्त सहित शाही अधिमान' की सिफारिश की। इस नीति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन को* प्रशुल्क करो के सम्बन्ध मे कुछ छूट दी जाय, परन्तु ऐसी छूट की आशा भारत ग्रेट ब्रिटेन मे न करे। जहा तक साम्राज्य के अन्य देशो का सम्बन्ध था, ये सुविधाएं परस्पर आधार पर हो। अर्थात् यदि भारत को अन्य देश सुविधाएं देते है, तो भारत भी अन्य देशो को सुविधाएं दे, अन्यथा नही।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति कार्य रूप में—

आयोग की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी सन् १९२३ से संरक्षण की नीति अपनाई। संरक्षण के लिये सबसे पहले माग करने वाला लोहा एव इस्पात-उद्योग था, परन्तु साथ ही अन्य उद्योग भी थे। इस सम्बन्ध मे आवश्यक जाँच करने एवं संरक्षण की सिफारिश करने के लिए जुलाई सन् १९२३ मे प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति की गई।

इस सभा ने सर्व प्रथम इस्पात-उद्योग तथा जिन उद्योगो मे इस्पात का कच्चे माल की भाँति उपयोग होता है, ऐसे उद्योगो की जाँच की। इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग, कागज, बांस, दियासलाई, शक्कर, भारी रसायन आदि अन्य उद्योगो की जाँच की, जिन्हें संरक्षण दिया गया। इसी प्रकार कोयला, सीमेंट, कांच और तेल उद्योग की जाँच भी प्रशुल्क सभा ने की थी, परन्तु इनको संरक्षण नही दिया। इस प्रकार सन् १९२३ मे सन् १९३९ तक प्रशुल्क सभा ने ५१ उद्योगो की जाँच की, जिनमे नये प्रार्थी उद्योग तथा संरक्षण की पुनः प्राप्ति के लिये आवेदन तथा अन्य तान्त्रिक जाँचो का समावेश है। इन विविध जांचो के फलस्वरूप ३५ वर्तमान उद्योगो को संरक्षण दिया गया, १० को नही दिया तथा ६ उद्योगो को संरक्षण देने से इन्कार किया गया।

इन विभिन्न संरक्षित उद्योगो मे लोहा एव इस्पात तथा उनसे सम्बन्धित *उद्योगो की संरक्षण के लिए सर्व प्रथम सन् १९२४ मे जाँच की गई। बाद मे संरक्षण* चालू रखने के लिये सन् १९२६, १९३०, १९३३, १९३५ तथा सन् १९३७ मे जाँच की गई। परन्तु सन् १९४७ मे लोहा एव इस्पात उद्योग को संरक्षण नही दिया गया और न इस उद्योग ने संरक्षण की माँग ही की। इस प्रकार इस महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योग को सन् १९२४ से सन् १९४७ तक संरक्षण मिला। इस अवधि मे उद्योग ने अपना आसन स्थिर कर उत्पादन मे भी उल्लेखनीय प्रगति की।* यह उद्योग आधारभूत

* देखिए तालिका—Tariffs & Industry—Dr John Mathai

वर्ष	इस्पात	कॉटन पीस गुड	गन्ने से शक्कर	दियासलाई	कागज
१९२२-२३	१३१००० टन	१७२५मि० गज	२४००० टन	८०००००ग्रोस	२४००० टन
१९३९-४०	१०७०००० „	४०१३ „	१२४२००० „	२२०००० „	७०००० „

एवं सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक था और टटकर आयोग की सभी शर्तों को पूरा करता था, इसलिए इसे संरक्षण मिला। वस्त्र उद्योग को सन् १९२७ से सन् १९४७ तक, शक्कर उद्योग को सन् १९३१ से सन् १९५० तक संरक्षण दिया गया। इस प्रकार लोहा इस्पात, वस्त्र, शक्कर व कागज तथा दियासलाई उद्योगों को संरक्षण मिला, जिससे देश आत्म निर्भर हो सके।

भारत में दियासलाई उद्योग को सस्ता श्रम प्रदाय एवं वृहत् घरेलू बाजार प्राप्त था, इसलिए इस उद्योग पर १।।) प्रति ग्रॉस प्रशुल्क आयात कर लगाने की सिफारिश प्रशुल्क सभा ने की। इस सिफारिश को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा दियासलाई पर पहिले से ही (सन् १९२२) इसी दर पर जो आयात कर था, उसे सन् १९२८ में संरक्षण कर में बदल दिया। परन्तु दियासलाई उद्योग पर उत्पादन कर लगाते ही उसका संरक्षण आयात कर भी बढ़ा दिया गया। इस कारण भारत में दियासलाई उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की है। इसी कारण आज भारत में ५० दियासलाई के कारखाने हैं, जिनमें १९,००० व्यक्ति काम करते हैं तथा उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८,००,००० बक्सों की है।

भारी रसायनिक उद्योग का विकास भारत में नवीन है। इस उद्योग को संरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क सभा ने जाँच कर दो सिफारिशें की —(i) रेलभाडा कम करना तथा (ii) उद्योग को ७ वर्ष के लिये संरक्षण। परन्तु भारत सरकार ने पहिली सिफारिश को ठुकरा दिया और दूसरी सिफारिश की संरक्षण की अवधि को घटा कर ३ वर्ष किया, अर्थात् १ अक्टूबर सन् १९३१ से संरक्षण दिया, परन्तु वह भी १८ मास की अवधि में बिना किसी उचित कारण के समाप्त कर दिया। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध काल में इस उद्योग ने संरक्षण के अभाव में भी काफी प्रगति की तथा भारी रसायनों की माँग अब बढ़ती जा रही है। सन् १९५१ में इस उद्योग के ४९ कारखाने एवं वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० टन थी, जो भारत की वार्षिक माँग के लिए अधूरी थी। सन् १९५३ में इसी उद्योग की उत्पादन क्षमता लगभग ७२,००० टन थी।

विवेकात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—

टटकर आयोग ने विवेकात्मक संरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन में से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण संरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ।

(i) इस सम्बन्ध में टटकर आयोग सन् १९२५ का कथन है—"संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने को

शक्ति प्रदान की जाए।" अर्थात् उद्योगों का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी नहीं आँका गया, जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग से अथवा भारी रसायनिक उद्योग सम्बन्धी अविवेकपूर्ण नीति से स्पष्ट है। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग के संरक्षण के लिए जब सन् १९२४ में जाँच की गई तो उसे संरक्षण इसलिए नहीं दिया गया कि वह अन्ततः संरक्षण के अभाव में नहीं टिक सकता। सन् १९२८ में जब इस उद्योग ने पुनः संरक्षण की माग की और प्रशुल्क सभा ने उसके उत्पादन व्यय तथा कीमतों की जाँच की तब यह मत दिया कि उद्योग स्वय निर्भर ही नहीं होगा अपितु उसे अधिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही संरक्षण काफी होगा कि सन् १९२७ में मैग्नेशियम क्लोराइड से जो आयात कर हटा लिया था, उसे फिर संरक्षण कर के रूप में लगा दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि इस नीति की प्रत्यक्ष कार्यवाही में कितनी कठिनाई होती है।[1]

(ii) भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध में लगाई गई शर्त भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जब इङ्गलैंड और जापान के वस्त्र उद्योग देश में रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ़ हो सके तो भारतीय उद्योगों पर ही ऐसी शर्त क्यों ?

(iii) टटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग सभाएँ नियुक्त की, जिनके सभासदों में समय-समय परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सकी, जिसका स्थायी रूप से अनुकरण होता। यह इस नीति का सबसे बड़ा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक संरक्षण नीति के अन्तर्गत :—' अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगों को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उसमें उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अलावा किसी प्रकार से उनकी सुरक्षा नहीं की। साधारणतः प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।"[2]

संरक्षण नीति का मूल्यांकन—

संरक्षण नीति का मूल्यांकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति संरक्षण की अवधि में साधारण रही हो। (i) भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् १९३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा। (ii) प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हुए बिना नहीं रहा। फिर भी इस नीति के विरोध में जो आक्षेप है तथा जिस

1. Tariffs & Industry—Dr John Mathai, pp 11-12.
2. B. P. Adarkar—The Indian Fiscal Policy.

आर्थिक परिस्थिति से भारत जा रहा था, उसके होते हुए भी भारतीय उद्योगो ने संरक्षण की अवधि मे काफी प्रगति की है।

(i) सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी मे जब अन्य देशों मे उत्पादन गिर रहा था उस समय भी भारत के प्रमुख उद्योगो का उत्पादन स्थिर रहा और कुछ उद्योगों का बढ़ा भी। औद्योगिक उत्पादन की यह स्थिरता संरक्षण के कारण ही रही। (ii) इससे मन्दी के दुष्परिणामो से भारतीय उद्योगो की रक्षा हुई तथा विकास तीव्र गति मे होता गया। इस्पात, कागज, दियासलाई आदि संरक्षित उद्योगो ने अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ाकर देश में होने वाले आयात कम किये। इसमे देश के विदेशी विनिमय की बचत हुई। (iii) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल आदि की पूर्ति (जैसे— रुई, बाँस एवं बाँस की लुगदी, गन्ना आदि) आवश्यकताएं बढ़ाने से कृषकों को लाभ हुआ तथा देश में रोजगारी के अवसर बढ़े। संरक्षित उद्योग-क्षेत्र मे नए-नए कारखाने खोले गये तथा उनमे सम्बन्धित सहायक उद्योगों का विकास भी हुआ। ये लाभ विवेकात्मक संरक्षण नीति की सफलता के परिचायक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि सरकार उद्योगो को संरक्षण देने मे इतनी शर्तें न रखती तो सम्भवतः देश मे आधारभूत उद्योगो का विकास तेजी से होता। परन्तु यह साम्राज्य-वादी नीति के विरोध में था और भारत सरकार केवल सीमित क्षेत्र मे ही कार्य कर सकती थी।

द्वितीय-विश्व युद्ध एवं युद्धोत्तर संरक्षण नीति—

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ते ही आयात कम हो गये तथा भारतीय उद्योगो पर युद्ध-जन्य माँग की पूर्ति करने की जिम्मेवारी आ गई। युद्ध के कारण आयात बन्द होने एवं माँग बढ़ने से भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन मिला, जिससे संरक्षण की कोई आवश्यकता न रही। युद्ध काल मे भारतीय उद्योग युद्ध के सफल सचालन मे अधिकतम योग दे सकें, इसलिए भारत ने सन् १९४० मे यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर काल मे वर्तमान उद्योगो तथा युद्ध काल मे स्थापित नये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का भय होने पर सरकार संरक्षण देगी। युद्ध के समय जो उद्योग संरक्षण पा रहे थे, उनका संरक्षण चालू रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव से, जिससे सुरक्षा के खतरे बढ गये थे तथा युद्ध के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, उससे देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया। "उच्च आर्थिक शक्ति एवं विकसित तथा कार्यक्षम औद्योगिक कलेवर जिस देश में है, केवल वही देश अपनी सुरक्षा अथवा हमला कर सकता है।"* इसी दृष्टि से युद्धोत्तर औद्योगिक नीति की घोषणा अप्रैल सन् १९४५ मे हुई। इस नीति के अनुसार नवम्बर सन् १९४५ में युद्धकालीन प्रमुख उद्योगो की जाँच के लिए २ वर्ष के लिये एक

* Industrialization—by P. S. Loknathan.

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। यह जांच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढांचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध में जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन-मूल्यों की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिसमें संरक्षण करों अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसेः—मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जांच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चांदी का तार, इन

1. Hindustan Year Books
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

६ उद्योगो के संरक्षण को समाप्त करने तथा अन्य ३४ उद्योगो को संरक्षण देने की सिफारिश की।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

इसकी कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगो के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था। (i) इस नवीन नीति मे संरक्षण पाने वाले उद्योग का सगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था। इसमे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र में नही आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की मांग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप मे स्थापना न हुई हो।* (ii) संरक्षण को दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओ तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय मे अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध मे पहिले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। (iii) सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगो को संरक्षण देने के सम्बन्ध मे यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पड़े। परन्तु किसी भी अवस्था मे संरक्षण का भार जनता पर तो पडेगा ही और उसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता का भी हित होगा, इसलिए ऐसा एकांगी विचार अनुपयुक्त था। (iv) अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिये संरक्षण की सिफारिश नही कर सकती थी। इससे उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध मे अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगो को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और इतनी थोड़ी अवधि में संरक्षण के परिणामो की जाँच भी ठीक रीति से नही हो सकती थी। परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा के संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस सभा ने आयात संरक्षक करो से संरक्षण देना पर्याप्त नही समझा। प्रत्युत कुछ उद्योगो की सहायता के लिए विकास कोष के निर्माण मे सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एव देशी उद्योगो के लिए पोषक है।

भारतीय तटकर आयोग सन् १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ (सन् १९४७) तथा हवाना चार्टर का उत्तरदायित्व देखते हुये भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसीलिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ मे भारतीय-तटकर-आयोग की नियुक्ति की।

* भारतीय अर्थ शास्त्र की समस्यायें—पी० सी० जैन।

आयोग का कार्य निम्न बातों को ध्यान में रख कर प्रमुख नीति निश्चित करना था :—

(१) पिछले आयोग की नीति, उसके परिणाम एवं क्रियाओं की जाँच करना।

(२) भविष्य में उद्योगों को संरक्षण देने की नीति निश्चित करना :—

(अ) इस नीति का व्यवहार में लाने के लिए सुझाव देना।

(ब) इस नीति की कार्यवाही से सम्बन्धित अन्य सुझाव देना।

(३) भारत की विदेशी आर्थिक जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में विचार करना।

(४) आयोग को यह देखना था कि उसकी सिफारिशें भारतीय संविधान एवं भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा से विसंगत न हों।

इस आयोग ने अपना कार्य २५ जून सन् १९४९ को आरम्भ किया और २५ मई सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

आर्थिक उन्नति की रूपरेखा—

आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान में रख कर यह मान लिया है कि भारत में योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इसी आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं। इस आयोग ने प्रमुख संरक्षण को भारत के आर्थिक विकास का प्राथमिक साधन मान लिया है तथा यह आर्थिक विकास की योजना के अनुरूप होगा।

संरक्षण के लिए निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की है :—

(१) योजनाबद्ध क्षेत्र के उद्योगों को तीन समूहों में बाँटना चाहिए :—

(अ) सुरक्षा एवं अन्य सुरक्षात्मक (Strategic) उद्योग।

(ब) आधारभूत एवं मूल उद्योग।

(स) अन्य उद्योग।

पहिले समूह के उद्योगों को किसी भी स्थिति में राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से संरक्षण देना चाहिए, फिर उसका जनता पर भार कितना ही क्यों न हो। दूसरे समूह के उद्योगों के सम्बन्ध में प्रमुख अधिकारियों को यह अधिकार हो कि वे ऐसे उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण का स्वरूप एवं उसका परिमाण, ऐसी सहायता अथवा संरक्षण सम्बन्धी शर्तें एवं प्रतिबन्धों का निर्णय करें तथा किस हद तक संरक्षित उद्योग इन शर्तों को पूरा करते हैं, यह देखें। तीसरे समूह के उद्योगों को संरक्षण देते समय निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय : (अ) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ, (आ) उद्योग की वास्तविक अथवा सम्भवनीय लागत, (इ) उद्योग का समुचित समय में विकास होने की सम्भावना तथा (ई) संरक्षण के बिना उसके सफल संचालन की सम्भावना। इसके साथ ही यदि उद्योग को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संरक्षण अथवा

सहायता देना वांछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को सरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) सरक्षण के लिए कोई एक शर्त ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त है तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफ़ारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को सरक्षण देते समय यह संपूर्ण देशी माग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के सरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) सरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक सरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे है अथवा नए हैं उनको सरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को सरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी सदा एव सरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतो के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हो। इसी प्रकार सरक्षित उद्योगो के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को सरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफारिशें—

(१) सरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

लगी। लङ्काशायर के वस्त्र-व्यवसायियों एवं डंडी के पटसन व्यवसायियों की दृष्टि से यह अधिनियम सन्तोषजनक नहीं था। इसलिए भारत सरकार ने सन् १९०७ में एक आयोग की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १९११ का फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ थीं :—

(१) यह विधान मौसमी कारखानों पर भी लागू किया गया।

(२) बच्चों के काम के ६ घन्टे प्रति दिन निर्धारित किये गये तथा उनकी आयु एवं शारीरिक योग्यता का प्रमाण आवश्यक कर दिया गया।

(३) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् घन्टे १२ निश्चित किये गये, जिसमें ½ घन्टे का विश्राम सम्मिलित था।

(४) स्त्री मजदूरों से धुनाई कारखानों के अतिरिक्त अन्य कारखानों में रात को काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) इस अधिनियम से मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए भी काफी व्यवस्था की गई।

इस विधान को सन् १९१४-१९१९ के युद्ध-काल में कुछ शिथिल कर दिया गया था, परन्तु युद्धोत्तर-काल में श्रम-सङ्घ आन्दोलन ने जोर पकड़ा तथा सन् १९२० में भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ का सदस्य बना। इन दोनों घटनाओं से मजदूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए कानून की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलतः सन् १९२२ में चौथा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ :—

(१) २० अथवा इससे अधिक मजदूर एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानों पर यह लागू होता था।

(२) स्थानीय सरकार को अधिकार था कि वह इस विधान को किसी भी कारखाने पर लागू कर सकती थी, जिसमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हों।

(३) बच्चों की कार्य करने की आयु १२ से १५ वर्ष तक निश्चित कर दी गई।

(४) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् दैनिक घन्टे ११ तथा साप्ताहिक घन्टे ६० निश्चित किये गये।

(५) सभी मजदूरों के लिए एक घन्टा दैनिक विश्राम निश्चित किया गया तथा कोई भी मजदूर लगातार १० दिन से अधिक दिन बिना छुट्टी के गैर हाजिर नहीं रह सकता था। साधारणतः १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई।

(६) इसी प्रकार खतरनाक उद्योगों में १७ वर्ष से कम आयु के बच्चे एवं स्त्री मजदूरों से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इस विधान में कुछ थोड़े से संशोधन सन् १९२३ एवं सन् १९२६ में किए गये। तदुपरान्त मजदूरों की फैक्टरी में काम करने की स्थिति एवं तत्कालीन फैक्टरी

विधान का अध्ययन करने के उपरान्त सुझाव प्रस्तुत करने के लिए व्हिटले कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। फलस्वरूप पाँचवाँ फैक्टरी एक्ट सन् १९३४ पास हुआ। इसकी मुख्य विशेषताएँ :—

(१) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानो मे काम पर नही रखे जा सकते थे, परन्तु जो १२-१५ वर्ष आयु के होते थे उन्हे खतरनाक उद्योगो में नियुक्त नही किया जा सकता था।

(२) बाल-मजदूरो के काम के दैनिक घन्टे ५ निश्चित किए गये तथा उनसे रात मे काम लेने पर रोक लगाई गई।

(३) वयस्क-मजदूरो के काम के दैनिक घन्टे १० तथा कुल साप्ताहिक घन्टे ५४ निश्चित किए गये। परन्तु दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने वाले कारखानो के लिए साप्ताहिक घन्टे ५६ नियत किए गये। मौसमी कारखानो के लिए साप्ताहिक काम के घन्टे ६० निश्चित किए गये। इस प्रकार इस अधिनियम ने स्थायी एवं मौसमी कारखानो को विभक्त किया गया।

(४) १५ से १७ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों को 'युवा' की श्रेणी में रखा गया तथा डॉक्टरी प्रमाण-पत्र के बिना इनसे वयस्क व्यक्तियो का काम नही लिया जा सकता था।

(५) मजदूरो के स्वास्थ्य एव सुरक्षा के लिए अन्य आयोजन किए गये, जैसे— (अ) पीने के लिए स्वच्छ पानी, (ब) प्राथमिक औषधोपचार, (स) ५० से अधिक स्त्री मजदूर काम करने वाले कारखानो में झूले (Creches) लगाना, (द) कारखानो मे नमी रखने (Artificial Humidity) का प्रबन्ध इत्यादि।

सन् १९३४ के फैक्टरी एक्ट मे संशोधन करने के लिए सन् १९४६ मे फैक्टरी संशोधन विधान पास हुआ। इस विधान के अनुसार :—

(१) स्थायी कारखानो के काम के साप्ताहिक घन्टे ४८ तथा मौसमी कारखानो के साप्ताहिक घन्टे ५० कर दिए गये।

(२) 'फैलाव' (Spread-over) का सिद्धान्त जो सन् १९३४ के फैक्टरी विधान द्वारा लागू किया गया था, उसका समय स्थायी कारखानों मे एव मौसमी कारखानो मे क्रमशः १० और ११ घटे कर दिया गया।

(३) अतिरिक्त मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अतिरिक्त मजदूरी की दर औसत मजदूरी की दुगुनी कर दी गई।

तदुपरान्त सन् १९४८ में उन सब फैक्टरी-एक्टो को रद्द कर दिया गया, जो उस समय तक पास किये गये थे तथा उनका एकत्रित कर नया फैक्टरी विधान बनाया। इस नये विधान की प्रमुख बातें है :—

(३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री-मूल्य।

(४) माँग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर।

(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति सन् १६४७ की पूर्व संरक्षण नीतियों से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिये पोषक है। क्योंकि :—(i) वर्तमान आयोग का कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक है, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस कारण प्रशुल्क सभाएँ चाहने हुये भी कुछ न कर सकती थी। (ii) उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा, केवल यह देखना है कि उद्योग देश हित में है अथवा नहीं। (iii) सुरक्षात्मक एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई भी शर्त नहीं है, जो देश की सुरक्षा, औद्योगीकरण तथा स्वय निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है। (iv) युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिए संरक्षण देने के लिये प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं पर निर्भर रहेगा। (v) पहिले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिससे देर होती थी, परन्तु अब सरकार को प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों पर कार्यवाही की रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी। और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति की परिचायक है, जिससे भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference)—

'शाही अधिमान' की विचारधारा काफी पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १६०२ में हुआ। इसका प्रचलन १७वीं एवं १८वीं शताब्दी में इङ्गलैंड में अनिवार्य रूप से होता था। ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीति का यह एक अंग था, जिससे मातृ-देश (Home Country) के निर्यातों के करों में छूट दी जाय, परन्तु यह अनिवार्यता आगे की नीति में नहीं थी। अपितु उसमें प्रत्येक देश अपनी प्रशुल्क नीति में स्वतन्त्र था, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के विभिन्न देशों से होने वाले आयात पर प्रशुल्क सुविधायें दी जाती थीं, जिससे साम्राज्य के व्यापार का अधिकतम विकास हो। ये सुविधायें साम्राज्य के अन्तर्देशों में परस्पर आधार पर दी जाती थी। इस प्रकार शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढ़ाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।"

(१) जमीन के नीचे १३ वर्ष से कम आयु के बच्चो को काम पर लेने के लिये रोक लगा दी गई।

(२) जमीन के ऊपर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों से साप्ताहिक ६० घण्टे से अधिक तथा जमीन के नीचे काम करने वाले वयस्क-श्रमिकों से ५४ साप्ताहिक घण्टो से अधिक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(३) स्थानीय सरकारों को यह अधिकार मिला कि वे स्त्री-मजदूरो को जमीन के नीचे काम कराने पर रोक लगा सकती थी।

इसके बाद ह्विटले कमीशन की सिफारिशो तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सन् १९३५ में खान-विधान में पुनः संशोधन किये गये। इसके अनुसार :—

(१) जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम के साप्ताहिक घण्टे ५४ तथा दैनिक १० घण्टे निश्चित किये गये।

(२) जमीन के नीचे काम करने वाले खान मजदूरों के दैनिक घण्टे ६ निश्चित किये गये और साप्ताहिक घण्टो की सीमा हटा दी गई।

(३) खान में अथवा खान पर काम करने वाले बाल श्रमिको की न्यूनतम आयु १५ वर्ष निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार १५ से १७ वर्ष तक की आयु वाले श्रमिकों को बिना डाक्टरी प्रमाण पत्र के खानो में काम पर लेने की रोक लगा दी गई।

इस विधान में सन् १९३६, १९३७, १९४० तथा १९४६ में संशोधन हुए। इन संशोधनों के अनुसार :—

(१) यह विधान सभी खानो पर लागू होगा। इस विधान में 'खान' की स्पष्ट परिभाषा भी दी गई है।

(२) जमीन पर काम करने वाले खान श्रमिकों के दैनिक घण्टे १० तथा अधिकतम फैलाव १२ घण्टे निश्चित किया गया, जिसमें ६ घण्टे काम के बाद १ घण्टे का विश्राम भी सम्मिलित है। जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिकों के लिये यही समय ८ घण्टे है।

(३) सभी खान श्रमिकों के साप्ताहिक घण्टों की सीमा ५४ निश्चित की गई है। कोई भी व्यक्ति खान में एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता।

(४) स्त्री एवं पुरुष श्रमिकों के लिए अलग अलग लॉकर रूम एवं स्नान-गृहों का प्रबन्ध कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को मिला है। तदनुसार भारत सरकार ने आदर्श नियम (Pit Headbath Rules) बनाये हैं।

इन सम्पूर्ण विधानो का एकीकरण करने तथा उनको फैक्टरीज एक्ट सन् १९४८ के बराबरी में रखने के लिए, भारतीय खान अधिनियम सन् १९५२ में स्वीकृत

तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' अपनाने की सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें थीं—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क-सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिसमें सन् १९२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ में ब्रिटिश उपज की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गई। इसके पहले भी भारत में ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी। जैसे—सन् १९१८ में चाय के निर्यात कर में छूट, सन् १९१९ में चमड़े के निर्यात करों में १०% की छूट आदि। परन्तु अन्त में सन् १९३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिसमें भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उनसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उसमें इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजी की दासता माननी पड़ी। फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रमंडल-अधिमान के रूप में कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्री० टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एवं प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकर नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट

* Loksabha Debate on 25-9-54

करते हुए उन्होंने कहा—"वर्तमान समय में हमारा विचार संयुक्त राज्य को अधिमान देने की नीति परित्याग करने का नहीं है, क्योंकि इससे होने वाले लाभ हमारे पक्ष में हैं। ये अधिक न हों, परन्तु निश्चित हैं, इसलिए मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान समय में यदि हम शाही अधिमान नीति को बनाए रखते हैं तो भी भारत के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं।" इससे स्पष्ट है कि जब यह नीति भारत के विपक्ष में होगी, उसमें अवश्य ही देश-हित में परिवर्तन होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् १९४९-५० के टटकर आयोगके सामने जब यह प्रश्न रखा गया, तब उसने यह निर्णय दिया :—"इन सुविधाओं के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह समझौता होने के कुछ मास पश्चात् ही द्वितीय युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिससे सारी परिस्थिति ही बदल गई।" साथ ही, उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर आयोग का मत है :—"भारत ने सन् १९३८-३९ में शाही अधिमान के अन्तर्गत समर्थित (Preferred) और असमर्थित (Non Preferred) माल के कुल निर्यात का ३४·१% ब्रिटेन को किया, जो सन् १९४८-४९ में २३·५% रह गया। इसी प्रकार समर्थित माल का निर्यात ४३·७% से २०·७% रह गया।" इससे स्पष्ट है कि समर्थित सामान के निर्यात के लिए भारत अब ब्रिटेन पर निर्भर नहीं है, जितना वह पहले था। दूसरे, भारत के कुल निर्यात माल में ७८% निर्यात समर्थित वस्तुओं का है, जो सन् १९३८-३९ में केवल ५८·२% था। यह प्रवृत्ति इस ओर संकेत करती है कि भारत के निर्यात व्यापार में अब शाही अधिमान का महत्त्व नहीं है और न ब्रिटेन को ऐसे अधिमान देने से भारत को कुछ विशेष लाभ ही है। स्पष्ट है कि अब भावी अधिमान नीति द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों के आधार पर अपनाई जाये, जिससे भारतीय हित की समान रूप से रक्षा हो।[1] इसी दृष्टि से टटकर आयोग ने किसी भी देश को अधिमान देते समय निम्न बातों को ध्यान में रखने की सिफारिश की है :—[2]

प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त करते समय—

(१) ऐसी वस्तुओं को सुविधाएँ मिलें, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में समान वस्तुओं से प्रतियोगिता हो। (२) ऐसी वस्तुएँ हों, जिन्हें बाजार में अन्य देशों से प्रतिवस्तु की प्रतियोगिता होती हो। (३) ऐसी वस्तुएँ कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुएँ हों।

प्रशुल्क सुविधायें देते समय—

(१) पूँजीगत वस्तुओं, (२) अन्य यन्त्र एवं यन्त्र-सामग्री, (३) आवश्यक कच्चे माल के आयात को सुविधायें दी जायें।

---

१. भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ—पी० सी० जैन।

2. R. B. I. Report on Currency & Finance 1950-51.

उद्योग हो गया। इस कारण गावों में बेकार रहने वाली जनता शहरों के विकसित उद्योगों में काम के लिए आने लगी। इस प्रकार भारत में विभिन्न परिस्थितियों में श्रमिक वर्ग का उदय हुआ तथा इनकी संख्या प्रथम विश्व-युद्ध के कारण तीव्र गति से बढ़ती गई, क्योंकि इन युद्धों के कारण ही अंग्रेजी शासन में भारतीय उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत में औद्योगिक श्रमिकों के आंकड़े सबसे पहले सन् १८९२ में लिए गये थे, जब इनकी संख्या ३,१६,७१६ थी और सन् १९५७ में यही ३०,८७,६६४ थी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग, जिसमें सबसे अधिक श्रमिक काम करते हैं, वह कारखाना उद्योग है।[1] भारत के श्रमिकों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की रिपोर्ट में लिखा है:—"सन् १९२१ में कृषि श्रमिकों की संख्या २१५ लाख थी, जो सन् १९३१ की जन-गणना में ३१५ लाख हो गई, जिसमें ३० लाख भूमि विहीन थे। इस प्रकार इण्डियन फ्रेंचाइज समिति के अनुसार सन् १९३१ में २५० लाख श्रमिक कृषि के अलावा अन्य उद्योगों में थे। इस प्रकार भारत के विभिन्न उद्योगों में में लगे हुए ९·५४ करोड़ कर्मचारियों में से ५६५ लाख श्रमिक हैं, जो अपनी उपजीविका का साधन मजदूरी ही समझते हैं।"[2]

श्रमिकों का वितरण—

भारत की ३५·८६ कोटि जन संख्या की दृष्टि से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या एवं उसका कृषि-निर्भर जन संख्या से अनुपात संकेत करता है कि भारत की आर्थिक दशा अविकसित है। सन् १९४९ में कारखानों के श्रमिकों की कुल संख्या २४,३३,९८८ थी।[3]

कारखाना उद्योग में सन् १९५६ में सभी राज्यों में दैनिक औसत श्रमिकों की संख्या २८,८२,३०६ और रेल उद्योग में १०,५४,८०८ थी। श्रमिकों की सबसे अधिक संख्या कारखाना उद्योग में थी, जिनमें से केवल बम्बई में ६,९८,२५१ श्रमिक थे। खान उद्योग के श्रमिकों में सबसे अधिक श्रमिक कोयला उद्योग में है, जिनकी संख्या जुलाई सन् १९५७ में ३,७०,२४४ थी। कारखाना उद्योग में भी इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग अधिक महत्वपूर्ण है, जिसमें नवम्बर सन् १९५८ में ७,९८,५०६ श्रमिक दैनिक औसतन थे, जिनकी संख्या सन् १९५२ में ७,८२,९५४ थी।[4]

इस प्रकार आज भी भारत में सबसे अधिक श्रमिक निर्माणी उद्योग में लगे हुए हैं तथा इनकी संख्या में देश के औद्योगीकरण के साथ वृद्धि होगी, अतः इनकी विशेषताएँ देखना भी आवश्यक है।

---

1 Labour in India & India 1960
2. "Industrial Labour in India"—I.L.O. Report of 1938, p 30.
3 India 1957 Table CLXX & CLXIX
4. India 1959.

माप, (२) मजदूरी की वर्तमान दरें, (३) उद्योग की उत्पादनशीलता तथा (४) मजदूरों की कार्य क्षमता, परन्तु यह विधेयक पास नहीं हो सका।

कुछ भी हो, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से मजदूरों को न्यायोचित मजदूरी देना समय की माँग है। यह मजदूरी निश्चित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि देश में रोजगारी के अवसर अधिकतम हों। साथ ही, वर्तमान मजदूरी की दरें एक दम न बढ़ाते हुए क्रमशः बढ़ानी चाहिए, जिससे मूल्यस्तर में स्थिरता रहे।

समुचित मजदूरी की दरें निश्चित करते समय योजना आयोग के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) श्रमिकों को राष्ट्रीय आय का उचित अंश मिले, इसलिये मजदूरी सम्बन्धी सभी सुधार सामाजिक सिद्धान्तों के अनुकूल हों तथा उनका हेतु आर्थिक विषमता अधिकतम् सीमा तक दूर करने का हो।

(२) जीवन मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिकों की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, मानसिक एवं शारीरिक आवश्यकताएँ, खतरों आदि की ओर ध्यान दिया जाय।

(३) विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों के कार्यभार का वैज्ञानिक निर्धारण किया जाय।

(४) इस सम्बन्ध में पिछड़े हुए क्षेत्रों को प्रधानता दी जाय।

(५) त्रिदल पद्धति पर केन्द्र एवं प्रान्तों में स्थायी-मुक्त सभाएँ बनाई जायें, जो मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं का हल एवं परिस्थिति के अनुसार मजदूरी का मिलान करें।

उपसंहार—

इन सन्नियमों के होते हुए भी उनमें कतिपय दोष हैं, जैसे—एक ही विषय पर केन्द्रीय एवं राज्य सन्नियमों में विषमता, सन्नियमों का कड़ाई से पालन न होना। अतः इस सम्बन्ध में केन्द्रीय आधार पर ही सन्नियम बनाये जायें तो अच्छा होगा तथा कम्पनी लॉ प्रशासन की तरह ही श्रम सन्नियम प्रशासन का निर्माण किया जाय तो इन अधिनियमों का कड़ाई से एवं पूरी तरह पालन हो सकेगा।

करने से उद्योगो में लगाई जा सकती है। सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की २५ करोड जन-सख्या कृषि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर है तथा शेष १० करोड जन-सख्या सगठित उद्योग, खान-उद्योग, यातायात, व्यापार एवं वाणिज्य पर निर्भर है, जिससे स्पष्ट है कि एक ओर तो कृषि पर निर्भर जनता बढती जा रही है, जबकि कृषि योग्य भूमि मे उल्लेखनीय विकास नही हुआ है और दूसरी ओर औद्योगिक विकास हो रहा है। यहाँ पर काम करने के लिए योग्य श्रमिको का अभाव है।

(७) रहन-सहन का निम्न-स्तर—भारतीय श्रमिको के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त गिरा हुआ है। इसका कारण उनको कम मजदूरी मिलना है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जब तक उसके पास अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन न हो, अपने रहन-सहन का स्तर उन्नत नही कर सकता, अतः यह दोष श्रमिको का न होते हुए उस परिस्थिति का है, जिसमे वे पले एव रहते है। श्रमिको की आय की सूचना के अनुसार उनकी औसत आय सन् १९५६ मे केवल ११३ करोड रुपये वार्षिक थी।*

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता—

भारतीय श्रमिको की अक्षमता लोक-प्रसिद्ध विशेषता है, परन्तु भारतीय श्रमिको की अक्षमता का विचार करने के पूर्व हमे यह विचारना होगा कि क्या वास्तविक मे यह उनका दोष है? अक्षमता के कारणो का विचार करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमिको की कार्यक्षमता निम्नलिखित बातो पर निर्भर रहती है—जलवायु, मजदूरी की पद्धति, काम करने की परिस्थिति, उपयोग मे आने वाली यन्त्र-सामग्री, साधारण एव औद्योगिक शिक्षा, रहन-सहन का स्तर तथा श्रम प्रबन्ध। इन घटनाओ के विवेचन मे ही किसी देश के श्रमिको की अक्षमता अथवा कुशलता के विषय में निर्णय किया जा सकता है। इनमे से अनेक बाते तो ऐसी होती है, जो श्रमिको पर निर्भर न रहते हुए उद्योगपतियो अथवा निर्माताओ के ऊपर निर्भर रहती है। जैसेः—काम करने की परिस्थिति, काम के घण्टे, यन्त्र सामग्री, औद्योगिक शिक्षा एव श्रम प्रबन्ध। इनकी समुचित व्यवस्था की पूर्ण जिम्मेदारी नियोक्ताओ पर रहती है। इन्हीं घटको पर श्रमिको को काम करने में रुचि रहेगी अथवा नही, इसका निर्णय लिया जाता है, इसलिए यह कहना यथार्थ है कि किसी भी देश की "औद्योगिक क्षमता की जिम्मेदारी उद्योगपतियो पर होती है।" इस कसौटी पर यदि भारतीय श्रमिको की तुलना अन्य देशो के श्रमिको के साथ मे की जाय तो भारतीय श्रमिको की काम करने की परिस्थिति तथा उनको दी जाने वाली सुविधाएँ अन्य देशो की तुलना में नही के बराबर हैं।

क्या भारतीय श्रमिक वास्तव में अकुशल है ?—

अलेक्जेन्डर मेकरॉबर्ट के अनुसार अग्रेज श्रमिक भारतीय श्रमिक से ४ गुना

---

* India 1960.

अधिक कार्यक्षम है परन्तु इस प्रकार की व्यक्तिगत आधार पर की गई तुलना इतनी विश्वसनीय नहीं कही जा सकती, जितनी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की है। इस सम्बन्ध में हेराल्ड बटलर के निरीक्षण के अनुसार योरोपीय देशों की तुलना में भारतीय श्रमिकों की अक्षमता निर्विवाद सत्य नहीं है। इसके साथ ही भारतीय श्रमिकों को पूरी तरह अक्षम भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु कुछ उद्योगों में तो वह इतना कार्यक्षम है, जितना अन्य देशों का श्रमिक है। उदाहरणस्वरूप, टेक्सटायल इण्डस्ट्री में साधारणतः प्रति श्रमिक एक करघे की देखभाल करता है, परन्तु अहमदाबाद तथा बम्बई की कुछ मिलों में एक श्रमिक २ से ६ यन्त्रों तक की देखभाल करता है। इस अवस्था में उसके काम के घण्टे कम और अधिक मजदूरी मिलती है। इसी प्रकार अन्य मिलों के प्रबन्धकों का भी यह कहना है कि लंकाशायर मिलों की तुलना में उनका उत्पादन ८५% होता है, परन्तु उनके श्रमिक शिक्षित होते हैं और साधारण श्रमिकों से उन्हें अधिक मजदूरी मिलती है। श्री बटलर का साधारण श्रमिकों के विषय में यह निष्कर्ष है कि भारतीय श्रमिक योरोपीय श्रमिकों की अपेक्षा २५% से ५०% कार्यक्षम है, जो भिन्न-भिन्न उद्योगों में भिन्न-भिन्न है। भारतीय अक्षमता के कारणों में श्री बटलर ने श्रमिकों की दरिद्रता, अस्वास्थ्य तथा निरक्षरता आदि कारणों को प्रमुख बताया है, जिनसे उनकी अक्षमता विश्व विख्यात हो गई है। भारतीय श्रमिकों से कार्यक्षमता की तभी आशा की जा सकती है, जब इन दोषों का निवारण होगा एवं कार्य करने की स्थिति में सुधार होगा।

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) अस्थाई प्रकृति —इस प्रवृत्ति के कारण श्रमिक फसल के समय, विशेष उत्सवों आदि के समय अपने गाँव जाते रहते हैं, जिससे भारत में अभी तक स्थायी श्रमिक-वर्ग का निर्माण नहीं हो सका है। इस प्रकार श्रमिकों का गाँवों के साथ सम्बन्ध रहता है और कारखानों में उनकी उपस्थिति पूरे वर्ष तक नियमित नहीं रहती, जिसका प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर होता है।

(२) निरक्षरता—भारतीय श्रमिक ही क्या अपितु ९०% भारतीय जनता अशिक्षित है। इस कारण उनमें जिम्मेदारी की भावना नहीं आती तथा उन्हें काम करना है, इस कारण ही वे काम करते हैं, अतः वे अपनी कार्यक्षमता को वांछित स्तर पर नहीं ला पाते। इसके साथ ही यन्त्रों पर काम करने के लिए थोड़ी बहुत औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। परन्तु भारतीय मिलों में औद्योगिक शिक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, न उम्मेदवारी प्रथा ही विशेष प्रचलित है। फलतः मजदूर को न तो साधारण शिक्षा ही मिलती है और न औद्योगिक शिक्षा ही। इस कारण श्रमिक कार्यक्षम नहीं हो पाते।

(३) दरिद्रता एवं रहन-सहन का निम्न स्तर—भारतीय श्रमिक गाँवों से शहरों के कारखानों में काम करने के लिए केवल अपनी आय बढ़ाने के लिए

अथवा साहूकारों से अपना पीछा छुड़ाने के लिए आते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी गिरी हुई होती है कि उनको जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी पूर्णतया नहीं मिलने पाती। इस कारण वे सदैव ऋण-भार से दबे रहते हैं। इसका मानसिक प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर बुरा होता है।

(४) कम मजदूरी—भारतीय श्रमिकों को मजदूरी इतनी कम मिलती है, जो उनके रहन सहन के व्यय के लिए अपर्याप्त होती है। फिर वह साधारण आराम की वस्तुएँ कहाँ से प्राप्त करें, कैसे अपना मनोरंजन करें तथा कार्यक्षमता को बढ़ावें ? इसके अलावा काम करने की परिस्थिति एवं कौटुम्बिक जीवन का अभाव ये दो उनके दैनिक जीवन के ऐसे पहलू हैं, जिस कारण वह अपना दुःख भूलने के लिए शराबखोरी में पड़ जाता है।

(५) अस्वास्थ्य—उपरोक्त कारणों से उसका मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य खराब होता है और जीवन स्तर नीचा होता है। इस कारण उसका जो भी साधारण स्वास्थ्य होता है, नष्ट हो जाता है, जिससे वह कार्यक्षमता का वांछित स्तर प्राप्त नहीं कर सकता।

(६) काम करने की परिस्थिति—इसमें श्रमिकों के काम के घण्टे, कारखाने में उनके लिए उपलब्ध सुविधाएँ आदि का समावेश होता है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय श्रमिकों के काम करने के घण्टे भारत की जलवायु की दृष्टि से बहुत अधिक होते हैं। यह मान भी लिया जाय कि पहले की अपेक्षा फैक्टरी एक्ट द्वारा काम के घंटे कम कर दिये गये हैं, फिर भी वे अधिक ही हैं। साथ ही, भारत में ऐसी बहुत कम मिलें हैं, जहाँ श्रमिकों के लिए आवश्यक सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था हो। इस कारण उनको मिलों में काम करने में रुचि नहीं रहती, जिससे उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है।

(७) श्रमिकों की दोषपूर्ण भर्ती—भारतीय कारखानों में मजदूरों की भर्ती करने का ढंग भी अजीबोगरीब है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भारत में नये श्रमिकों की भर्ती जॉबर करते हैं, जो श्रमिकों से भर्ती करने के लिए, उनकी तरक्की के लिए नजराना लेते हैं, जिससे बेचारा मजदूर जो पहले से ही कम मजदूरी पाता है, उनकी मजदूरी और भी कम हो जाती है। जॉबर की मर्जी पर ही अधिकांशतः मजदूरों को निकाल दिया जाता है, इसलिए भी मजदूरों को उन्हें खुश करने के लिए समय-समय पर उनके हाथ गरम करने पड़ते हैं। दूसरे, भर्ती करते समय श्रमिकों की साधारण शिक्षा, उनका अनुभव, उनकी रुचि इत्यादि बातों पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

(८) जलवायु—जलवायु का कार्यक्षमता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि लगातार काम करना सम्भव बनाने के लिये समशीतोष्ण जलवायु अधिक लाभकर होती है। इसके विपरीत गरम जलवायु काम करने में शिथिलता लाती है

तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी सुमार नहीं होती। इस कारण भी भारतीय मजदूरों की कार्यक्षमता पर बुरा असर पडता है।

(६) गृह-समस्या—भारत में सभी बडे-बडे औद्योगिक शहरों में गृह-समस्या गम्भीर है। मजदूरों को रहने के लिये मकान हो क्या, बल्कि अलग अलग कमरे भी नहीं मिलते, जिसमें एक ही कमरे में ४ से ८ मजदूर तक रहते हैं। फिर ये कमरे कारखाने के आस पास हो, ऐसा भी नहीं है। इसमें मजदूरों को परेशानी तो होती ही है और साथ ही एक कमरे में इतने मजदूरों का रहना भी स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। इस वजह से उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है।

(१०) दोषपूर्ण प्रबन्ध—दोषपूर्ण प्रबन्ध में श्रम-प्रबन्ध में परस्पर सहकारिता का अभाव, कार्य का अनुचित विभाजन, प्रबन्धकों का अनुचित व्यवहार तथा प्रबन्धकों की श्रमिकों के प्रति सकुचित धारणा तथा घिसी हुई यन्त्र-सामग्री आदि का समावेश होता है, जिस पर श्रमिकों की कार्यक्षमता निर्भर रहती है। दोषपूर्ण प्रबन्ध होने के कारण श्रमिकों पर अकुशलता की सारी जिम्मेवारी नहीं लादी जा सकती।

कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए सुझाव—

श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे औद्योगिक सगठन के उक्त दोषों को तथा श्रमिकों के दोषों को दूर करने का प्रयत्न हो। इनमें से श्रमिकों के दोषों को दूर करने के लिए निरक्षरता-विरोधी आन्दोलन शुरू होना चाहिए। मिलों की ओर से प्राथमिक विद्यालय खोले जाने चाहिये, जहाँ पर श्रमिकों के बालकों को एव श्रमिकों को मुफ्त शिक्षा मिलनी चाहिए। इसके साथ ही इन विद्यालयों में रात में वयस्क श्रमिकों की शिक्षा का प्रबन्ध भी होना चाहिए, जिससे वर्तमान एव आगामी श्रमिक शिक्षित हो सकेंगे और उनके दृष्टिकोण का विकास होकर वे अधिक जिम्मेवारी से काम कर सकेंगे। इस प्रकार के प्राथमिक विद्यालय जे० के० मिल्स कानपुर ने जे० के० इण्डस्ट्रीज की ओर से देहातों में खोले हैं, परन्तु वर्तमान श्रमिकों के लिए कुछ नहीं किया। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य केवल टाटा इण्डस्ट्रीज में ही देखने को मिलता है, जहाँ श्रमिकों एव कर्मचारियों को साधारण एव औद्योगिक यान्त्रिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है। भारत सरकार ने भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य की है, परन्तु वह केवल कागजों में ही है।

श्रमिकों का जीवन-स्तर एवं स्वास्थ्य उन्नत करने के लिए उन्हें पर्याप्त मजदूरी मिलनी चाहिये। इस दिशा में सरकार आवश्यक न्यूनतम् मजदूरी एक्ट के अनुसार आवश्यक कदम उठा रही है, जिसमें श्रमिकों की न्यूनतम् मजदूरी उनके लिये पर्याप्त हो। इसके साथ ही श्रम-सुधार कार्य की ओर मिल मालिकों को अधिक ध्यान देना चाहिए। सन् १६२७ की इण्डियन टैरिफ बोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार इस दिशा में बम्बई की मिलों से बम्बई के आसपास की मिलों में भी अधिक सुधार कार्य हुआ है, जहाँ श्रमिक एवं नियोक्ताओं में परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे हैं। नियोक्ताओं को चाहिये कि वे अपनी

मिलो मे मजदूरो के लिए तथा स्त्री-मजदूरो के लिये आवश्यक सुविधायें प्रदान करें। मजदूरो के लिए सस्ते दरों पर कैण्टीन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यथासम्भव प्रत्येक मिल मे एक सहकारी उपभोक्ता समिति होनी चाहिए, जहां से श्रमिक सस्ती कीमत पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद सकें। मिल मालिको को आवश्यक पूँजी देकर सहयोग देना चाहिए। समिति से प्राप्त लाभ को श्रमिको को बाँट दिया जाय, जिससे उनकी आय मे वृद्धि होगी। श्रमिको की औद्योगिक शिक्षा के लिये सिनेमा का उपयोग अच्छी तरह से किया जा सकता है। श्रमिको का स्वास्थ्य सुधारने के लिये खेलो की सुविधा सभी श्रमिको को मिलनी चाहिये तथा मिल मे वार्षिक स्वास्थ्य प्रदर्शिनी होनी चाहिए, जिसमे केवल मिल के श्रमिक ही हिस्सा ले सकें। इनमे स्त्री-श्रमिक, पुरुष-श्रमिक, एवं श्रमिको के बच्चो के अच्छे स्वास्थ्य के लिये तीन तीन इनाम (अर्थात् ६ इनाम) दिये जाने चाहिए, जिससे प्रत्येक श्रमिक प्रतियोगिता की भावना से अपना स्वास्थ्य बनाने का प्रयत्न करेगा। कारखानो की इमारतें बनाते समय स्वच्छ हवा, प्रकाश, पानी इत्यादि की ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। वर्तमान मिलो मे इस ओर फैक्ट्री एक्ट द्वारा आवश्यक सुधार कर दिये गये है। गृह-समस्या सुलझाने के लिये समुचित प्रयत्न किये जाने चाहिये। इस दिशा मे भारत सरकार ने श्रमिको के लिये गृह योजना बनाई है, जो कार्यान्वित हो रही है।

इन प्रयत्नो से ही श्रमिको की कार्यक्षमता बढ सकेगी। 'भारतीय मजदूर अक्षम है' इसका यह अर्थ नही कि वह कार्यक्षम हो ही नही सकता। आवश्यकता प्रयत्नो की है। यह तभी हो सकता है जब मिल मालिक अपना वर्तमान रुख बदलकर श्रमिको के साथ सम्पर्क रखने का प्रयत्न करेंगे। इस दिशा मे सुधार करने के लिए राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं, जिनका यथास्थान विवेचन किया गया है।

अध्याय ८

भारतीय श्रमिकों की गृह समस्या

(Housing Problem of Indian Labour)

"भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है। उनके रहने के स्थान मैलीकुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।"

—नेहरू

"मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास का गहरा एवं महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।"

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जिसमें समस्याओं की कमी नहीं है। इसलिए एक भाषण के दौरान में श्री नेहरू ने कहा था :—"भारत में प्रत्येक मनुष्य ही एक समस्या है।" तो फिर ऐसी स्थिति में जहाँ हमारा औद्योगिक विकास नवीन है, वहाँ पर श्रमिकों के आवास की समस्या होनी ही चाहिए। यह एक ऐसी समस्या है, जो आज केवल श्रमिकों तक ही सीमित न रहते हुये प्रत्येक मध्यवर्गीय कुटुम्ब की समस्या हो गई है।

गृह-समस्या का हल आवश्यक—

गृह-समस्या का समुचित हल होना भी आवश्यक है, क्योंकि गृह समस्या का अथवा निवास स्थानों की कमी एवं उनकी अनुपयुक्तता का प्रभाव मानव की कार्य-क्षमता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कारण, जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके काम के अनुसार अच्छा तथा सुविधाजनक मकान रहने के लिए न मिले, तब तक वह एकाग्रता से काम नहीं कर सकता और न कौटुम्बिक वातावरण ही उसे मिल सकता है। घर के आस-पास का वातावरण भी उसके लिए पोषक होना चाहिए। कारण, मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास स्थान का गहरा एवं महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही शहरों का विकास होते हुए भी गृह-समस्या आज अत्यन्त जटिल है। क्योंकि किसी भी शहर में आज रहने के लिए पर्याप्त एवं सुविधाजनक मकान नहीं मिलते और यदि मिलते भी हैं तो उनका किराया इतना अधिक होता है कि जो साधारण आय वाले व्यक्ति की शक्ति के बाहर होता है। मजदूरों की हालत तो साधारण मध्यवर्गीय समाज से भी बदतर है। कानपुर में पं० नेहरू ने २ अक्टूबर सन् १९५२ को श्रमिकों के निवास स्थान का निरीक्षण करते हुये कहा था:—"भारतीय श्रमिकों की निवास-समस्या

बहुत ही जटिल है और उनके रहने के स्थान मैली-कुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।" ऐसे मकानों में रहने वाले श्रमिकों से कभी कार्यक्षमता की आशा की जा सकती है, जिनको रहने के लिए न तो काफी जगह ही है और न स्वच्छ हवा, प्रकाश अथवा स्वास्थ्यप्रदायक वातावरण ही। इस समस्या को सुलझाने के लिये भारतीय उद्योगों ने किंचित भी ध्यान नहीं दिया है। यह समस्या उन शहरों में अधिक विकट है, जहाँ कारखानों के इर्द-गिर्द मजदूरों के उपनिवेश बनाने के लिए खाली खुली जगह अथवा मैदान भी नहीं है। हाँ, जहाँ पर मिलें ग्रामीण क्षेत्रों में अथवा अविकसित शहरों में बनाई गई है, वहाँ पर इस समस्या का हल सन्तोषजनक ढंग से किया जा सकता है।

बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े बड़े शहरों में तो श्रमिकों के मकानों की हालत बहुत ही खराब है, क्योंकि इन शहरों का विस्तार भी इतना अधिक हो गया है कि वहाँ पर एक इंच जगह भी फालतू मिलना असम्भव है। फिर जो जगह है भी उसकी कीमतें बहुत अधिक हैं, जो मजदूर नहीं खरीद सकता और न उसके पास इतना धन ही है कि स्वयं मकान के लिए जमीन आदि खरीद कर बनवा सके, न उद्योगपतियों ने ही इस ओर विशेष ध्यान दिया है। बम्बई में मजदूरों की चालें अत्यन्त ही अस्वास्थ्यकर हैं, जहाँ एक-एक कमरे में ६ ७ श्रमिक रहते हैं, जिन्हें न तो कौटुम्बिक वातावरण ही मिलता है और न स्वच्छ हवा एवं प्रकाश ही। इस सम्बन्ध में श्री हर्स्ट ने लिखा है:—"जिसमें से दो व्यक्ति भी एक साथ नहीं आ सकते, ऐसी तंग गली में घुसने के बाद इतना अंधेरा था कि हाथ से ढूँढने पर दरवाजा मिला। दिन के १२ बजे कमरे की यह दशा थी कि उसमें सूर्य प्रकाश किंचित भी नहीं था। दियासलाई जलाने पर मालूम हुआ कि उस कमरे में भी अनेक श्रमिक रहते हैं।" यह आँख देखी बात है। ये चालें तीन अथवा चार मंजिल की बनी हुई हैं और कहीं कहीं एक कतार में तीन से चार तक कमरे होते हैं, जिनमें जाने के लिये २ फीट अथवा ३ फीट की गली कमरों की दो कतारों के बीच होती है। ऐसी दशा में उन कमरों में हवा एवं सूर्य-प्रकाश न हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि मकान बनाते समय ही हवा एवं प्रकाश के लिये बन्दी कर दी जाती जाती है। कलकत्ते की दशा भी बम्बई से अच्छी नहीं है।

ऐसी कोठरियों में रहने वाले श्रमिक बीमारी के जल्दी शिकार होते हैं और समय समय पर गाँवों में जाते रहते हैं, जिससे उपस्थिति में अनियमितता आती है, स्वास्थ्य खराब होता है तथा वे बुरी-बुरी आदतों में पड़ जाते हैं। क्या इन श्रमिकों से कार्यक्षम काम की आशा की जा सकती है?

गृह-समस्या के हल के प्रयत्न—

श्रमिकों की गृह-समस्या को समुचित हल करने का प्रयत्न अनेक उद्योगों ने किया है। *यहाँ पर श्रमिकों की स्थिति सन्तोषजनक है तथा उनको रहने के लिए अच्छे* मकानों की सुविधा भी दी गई है, जिसमें श्रमिक की हैसियत के अनुसार १ कमरा,

१ बरामदा, रसोईघर, गुसलखाना तथा खेल-कूद के मैदान की व्यवस्था है। इस दिशा में जमशेदपुर, बर्नपुर, जे० सी० मिल्स, टी० पी० द्व० फैक्टरी एवं एलिगन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर, सीमेन्ट कम्पनी, बामोर, डालमियाँ नगर तथा एम्प्रेस मिल्स एवं मॉडेल मिल्स, नागपुर का उल्लेख किया जा सकता है। टाटानगर मे तो सम्पूर्ण नगर की रचना ही टाटा द्वारा अपनी पूँजी से की गई है। इसके अलावा बम्बई, कलकत्ता तथा कानपुर की नगरपालिकाओं तथा इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने भी कुछ कार्य किया है। परन्तु भारत की इस समस्या की विशालता की दृष्टि से ये प्रयत्न समुद्र में पानी की कुछ बूँदों की भाँति ही हैं, अतः इनमें सुधार के व्यापक कार्यक्रम सरकार, नियोक्ता तथा श्रम-संघों द्वारा निर्धारित किये जाने चाहिए।

सरकार की गृह-निर्माण योजना—

घरों की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४७ में एक गृह-निर्माण योजना बनाई थी। परन्तु पूँजी की कमी तथा अधिक खर्चीली होने के कारण इस योजना को छोड़ दिया गया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५०-५१ के बजट में श्रमिक गृह-निर्माण के लिए बम्बई प्रान्त के लिए १६ लाख रुपये तथा पंजाब, मध्य-भारत बिहार एवं उड़ीसा के लिए १० लाख रुपए का आयोजन किया। फिर भी इस कार्य को प्रोत्साहन देकर समस्या का हल होना आवश्यक था।

इसलिए अगस्त सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने एक नई गृह-निर्माण योजना बनाई तथा सन् १९५२-५३ के बजट में ६ करोड़ रुपये का प्रबन्ध था। इस राशि में से ७·१६ करोड़ रुपये औद्योगिक गृह-निर्माण तथा शेष राशि वर्तमान गन्दे श्रमिक आवासों (Slums) की स्वच्छता के लिए व्यय होना था। इस योजना के अनुसार विभिन्न राज्यों में २८,५०० औद्योगिक गृह-निर्माण होने थे, जिसके लिए इस राशि में से ऋण एवं सहायता दी जाती है। इस हेतु गृह-निर्माण का विभाजन तीन वर्गों में किया गया था:—

(अ) जो राज्य सरकारों अथवा वैधानिक संस्थाओं (जैसे इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट आदि) द्वारा बनाये जाते।

(ब) जो नियोक्ताओं द्वारा बनाये जाते।

(स) जो सहकारी गृह-निर्माण-समितियों द्वारा बनाये जाते।

पहिले वर्ग के मकानों के लिए केन्द्रीय सरकार लागत का ५०% मूल्य सहायता के रूप में तथा शेष ५०% २५ वर्ष में भुगतान किये जाने वाले ऋण के रूप में देती थी। दूसरी एवं तीसरी श्रेणी में आने वाले मकानों के लिए सरकारी सहायता

कुल लागत के २५% थी तथा २५% तक ऋण के रूप में दिया जाता था, जिसका १५ वर्ष में भुगतान होना था। इस श्रेणी के मकानों की लागत के लिए ३७½% तक ऋण दिया जा सकता था, परन्तु २५% से अधिक राशि के लिए ब्याज की दर अधिक थी। अन्य सभी ऋणों पर "न लाभ और न हानि" आधार पर ब्याज लिया जाता, जो उस समय ४⅝% था। इस सहायता का परिणाम श्रमिक आवासों के किराये कम होने से होना, जो किसी भी दशा में श्रमिकों की आय के १५% से अधिक न होना चाहिए था। इस योजना की घोषणा काफी देर से होने के कारण सन् १९५२ ५३ में केन्द्रीय सरकार ने १८,४४६ मकानों के लिए अनुदान स्वीकृत किए। "इस प्रकार सन् १९५२ से ३१ मार्च सन् १९५३ तक ४,६१,०२,७६७ रुपए के अनुदान मध्य-भारत, सौराष्ट्र, हैदराबाद, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, यू० पी० राज्यों को १५,६३० मकानों के निर्माण के लिए स्वीकृत किए गए। इसी प्रकार नियोक्ताओं को १,४०५ मकान बनवाने के लिए २०,५८,६३५ रुपए स्वीकृत किये गये।"*

संशोधित योजना—

इसी योजना को सरकार ने कुछ थोड़े से परिवर्तनों के साथ ३१ मार्च सन् १९५६ तक के लिए लागू कर दिया है। इस संशोधित योजना में सन् १९५३-५४ के लिए ७ ६७ करोड़ रुपए का आयोजन किया गया है जिसमें सन् १९५२-५३ की राशि का भी समायोजन किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९५३ ५४ में २२,००० मकानों का निर्माण होगा, जिसमें १४,००० राज्य सरकार तथा राज्य गृह निर्माण सभाओं द्वारा, ३,५०० सरकारी गृह निर्माण समितियों द्वारा तथा ४,५०० नियोक्ताओं द्वारा बनाये जायेंगे। इस प्रकार यह योजना पूरे पंच-वर्षीय योजना की अवधि में लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत कुल ३८·५ करोड़ रुपए के व्यय का आयोजन है। इस संशोधित गृह निर्माण योजना की घोषणा जुलाई सन् १९५३ में हुई। इसके अनुसार—(१) १०% श्रमिकों के मकान दो कमरे वाले होंगे तथा ऐसे श्रमिकों को दिए जायेंगे जिनकी मासिक आय १५० रु० अथवा इससे अधिक है। (२) मकानों के लिए अनेक नमूने दिए गए हैं, जिससे गृह निर्माण के स्थानीय साधनों का अधिकतम् उपयोग हो सके। (३) अनुदान एवं ऋणों के अनुपात में भी परिवर्तन कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य सरकार एवं प्रान्तीय गृह-निर्माण सभाओं को अनुदान का ६६⅔% मकान पूर्ण बनाने पर तथा ३३⅓% उसके अपेक्षित आँकड़े आने पर दिया जायगा। नियोक्ता एवं सहकारी समितियों को २०% मकान पूर्ण हो जाने पर तथा ८०% लागत के अपेक्षित आँकड़े आने पर दिया जायगा। इसी प्रकार ऋण राशि भी तीन प्रभागों में दी जायगी :—

* Report of the Ministry of Workers, Housing & Supply for 1952-53.

	राज्य-सरकार एवं राज्य गृह-निर्माण सभाओं को	नियोक्ता एवं सहकारी समितियों को
योजना की स्वीकृति पर	३३⅓%	२५%
नींव बन जाने पर (On rising the plinth level)	३३⅓%	५०%
छत तक बन जाने पर (On reaching roof level)	३३⅓%	२५%

(४) सहकारी समितियों को गृह-निर्माण कार्य में प्रोत्साहन देने के लिए उनको दी जाने वाली ऋण राशि लागत के ५०% कर दी गई है, जिसका भुगतान २५ वर्ष की किश्तों में किया जा सकेगा। पहिले यही राशि लागत के ३७½% तथा भुगतान की अवधि १५ वर्ष थी। (५) पहिली योजना में मकानों के स्वामित्व के सम्बन्ध में शंका थी, जिस कारण सहकारी समितियों एवं नियोक्ताओं ने योजना से विशेष लाभ नहीं उठाया, इसलिए अब इस शंका का समाधान भी कर दिया गया है। जो मकान सहकारी समितियों एवं नियोक्ताओं द्वारा बनाये जायेंगे उन पर उन्हीं का स्वामित्व रहेगा, परन्तु उनको सरकारी समझौते की शर्तें पूरी करनी होंगी। (६) किराये के सम्बन्ध में भी स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे बम्बई एवं कलकत्ते में विभिन्न प्रकार के मकानों का किराया १०) से ३० रुपये मासिक तथा अन्य शहरों में १०) से १६) रुपये तक होगा, जिसमें नगरपालिका एवं अन्य करों का समावेश है।[1]

इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने ३१ दिसम्बर सन् १९५८ तक निम्न सहायता दी :—[2]

(करोड़ रुपये में)

माध्यम	ऋण	सहायता	योग	स्वीकृत गृहों की संख्या
राज्य सरकारें	१६·७७	१६·०६	३२·८३	९६,८६२
नियोक्ता	१·६२	१·२९	२·९१	१६,७७२
श्रम सहकारिताएं	०·४०	०·२०	०·६०	२,४६७
योग	१८·७९	१७·५५	३६·३४	१,४६,१०१

इनमें से दिसम्बर सन् १९५९ तक ८५,९८८ मकान बन चुके हैं तथा शेष विभिन्न निर्माण-अवस्था में हैं।

प्रथम पंच वर्षीय योजना में औद्योगिक श्रमिकों के गृह-निर्माण के हेतु ४८·२४

1. Hindustan Standard. 25-7-1953.
2. India 1960.

करोड रु० का आयोजन था, जिसमे केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो का भाग क्रमशः ३८·५ तथा १०·१६ करोड रु० था। इस राशि का नियोजन केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३-५४ मे सन् १९५५-५६ के बजट में पूर्ण कर दिया है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे गृह निर्माण के लिए १२० करोड रु० का आयोजन[1] है, जिसमे से औद्योगिक श्रमिको के गृह निर्माण के लिए ४५ करोड रुपये का १,२८,००० घरो के निर्माण मे योजना अवधि मे व्यय होगा। इसी प्रकार २० करोड रु० श्रमिको की गन्दी बस्तियो के उद्धार के लिये व्यय होगे। इस राशि मे ५०,००० श्रमिक परिवारो को अच्छे मकान दिये जायेंगे तथा ५०,००० परिवारों को विकसित भूमि दी जायगी, जहाँ वे निजी मकान बना सकेंगे।

दूसरी पच-वर्षीय योजना के प्रथम ४ वर्षों मे श्रमिको के लिए ४६,५८० मकान बनाने की अनुमति दी गई थी। दिसम्बर सन् १९५९ के अन्त तक ४४,६२६ मकान बनाए गए थे।[2] इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त मे १ लाख मकान बन चुके होगे तथा २०,००० निर्माण की विभिन्न सीढियो पर होगे, ऐसा अनुमान है।[3] चूँकि योजना-काल मे योजना के अन्तर्गत अपेक्षित प्रगति नही हुई इसलिए राज्य सरकार, नियोक्ता एव श्रमिको की सलाह से इस योजना का परीक्षण एक पेनल (Panel) करेगी। तीसरी योजना काल मे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, कानपुर और अहमदाबाद की गन्दी श्रमिक बस्तियो की सफाई की जायगी, जिसके लिए सरकारी सहायता का अंश ५०% से ६२½% बढाया गया। इसमें केन्द्रीय सरकार का हिस्सा २५% से बढा कर ३७½% किया गया है। तीसरी योजना मे आवास एव निर्माण कार्यों पर १,१२५ करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है।

कोयला खान एवं अन्य औद्योगिक श्रमिकों के लिए—

केन्द्रीय सरकार की दूसरी योजना कोयले की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिए ५०,००० मकान बनाने की है। इसके सिवा कोयला खान श्रमिको की संशोधित गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ३०,००० मकानो के निर्माण की स्वीकृति दी गई है। साथ ही, एक नवीन गृह-निर्माण योजना भी लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत ३०,००० मकानो का निर्माण होगा। इस हेतु १·१४ करोड रुपये का आयोजन कोयला खान श्रम-कल्याण निधि से किया गया है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत इसी कोष से गृह निर्माण के हेतु ८ करोड रुपया व्यय किया जायगा। इस योजना के अन्तर्गत २,०५० मकान बनाए गए है। तथा ११३ निर्माण अवस्था मे है। इसी प्रकार नवीन गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ६,६३५ मकानो का निर्माण हो रहा है।[4]

---

१. सन् १९५८-५९ में इसे घटाकर ८४ करोड रु० किया गया।
२. भारतीय समाचार—जून १, १९६०।
3. Third Five Year Plan—A Draft Outline
4. India 1960.

प्लाटेशन लेबर एक्ट, १९५१ के अनुसार दक्षिण भारत में सन् १९५१ में ४,६१५ तथा उत्तरी भारत में १०,१८३ मकान ३० सितम्बर सन् १९५१ तक बनाये गए हैं, जो चाय, कॉफी आदि बगीचों के श्रमिकों को दिए गए हैं। इसी प्रकार सन् १९५६ में १०० लाख रु० लागत की एक और औद्योगिक गृह निर्माण योजना सभी राज्यों में लागू की गई है। इसकी पूर्ति का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर है, जो इस योजना के लिए केन्द्रीय सरकार से लागत का ८०% रु० ऋण ले सकती हैं। अभी तक इस योजना का लाभ १० राज्यों ने उठाया है। ये मकान मजदूरों को किराये पर दिये जाते हैं, जो लागत के अनुसार निश्चित किया गया है। इसमें नियोक्ताओं को भी लागत का कुछ हिस्सा देना पड़ता है। दूसरी योजना में ११,००० गृह-निर्माण की योजना है, जिस हेतु केन्द्र सरकार ने सहायता के लिए २ करोड़ रु० का आयोजन किया है। दूसरी योजना अवधि में इसके अन्तर्गत ३०० मकानों के लिए ५·१ लाख रु० सितम्बर सन् १९५८ तक स्वीकृत किए गए, जिनमें से केवल २० मकान बने हैं। भारतीय प्लाटस संघ के ६२ सदस्यों ने सन् १९५८ में ५० बंगाल की तराई क्षेत्र में ८०४, दुआर क्षेत्र में ५,६८६ तथा आसाम में १,०३६ मकान बनवाए हैं।*

गन्दी बस्तियों में गृह निर्माण के हेतु राष्ट्रीय विकास परिषद् की योजना समिति ने एक योजना टोली बनाई थी, जिसने सन् १९५८ में अपना प्रतिवेदन दिया। इसकी प्रमुख बातें निम्न हैं :—

(१) गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए वैधानिक निगम मण्डलों की स्थापना हो, जो अपने कार्यक्रम की पूर्ति एवं योजनाओं की नीति निर्धारित करने में स्वतन्त्र हो।

(२) गृह निर्माण की योजना-राशि केन्द्रीय गृह निगम की स्थापना कर उसे दी जाय। इसी प्रकार राज्यों में भी गृह निगम संगठित किए जायें, जिनके माध्यम से गृह-निर्माण हो। ये निगम राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन से सम्पर्क स्थापित करें। यदि ऐसे निगमों की स्थापना सम्भव न हो तो गृह निर्माण की सभी योजनायें एक ही केन्द्रीय मन्त्रालय के नियन्त्रण में रखी जायें।

(३) गन्दी बस्तियों का प्रसार रोकने के लिए गाँव से शहरों की ओर आने की प्रवृत्ति को रोका जाय। साथ ही, स्थानीय संस्थाओं की स्वीकृति के बिना किसी शहर में नये उद्योग की स्थापना की स्वीकृति न दी जाय।

जन-संख्या का अधिक घनत्व रोकने के लिए नये शहर बसाए जायें तथा नवीन उद्योग गाँवों में स्थापित हों। वर्तमान गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए एक विशाल योजना बनाई जाय तथा इन बस्तियों के मकानों की जाँच हो।

---

* India—1960.

उपसंहार—

गन्दी बस्तियो की सफाई का कार्य सामाजिक संस्थाओ को सौंपा जाय तथा देश के विद्यार्थी एवं शिक्षक समुदाय का ग्रीष्म अवकाश का उपयोग इस हेतु किया जाना चाहिये। साथ ही, प्रत्येक उद्योग में एक गृह निर्माण समिति होनी चाहिए, जिसमे सरकार, नियोक्ता एवं श्रमिको के प्रतिनिधि हो, जो इस कार्य को तेजी से सम्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हो।

अध्याय ६

औद्योगिक सम्बन्ध—कलह और श्रम संघ

(Industrial Relations—Disputes and Trade Unions)

"श्रमसंघ का मूल हेतु सामान्य मनुष्य को स्वतन्त्रता तथा साथियों में उचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। क्या प्रजातन्त्र का भी प्रमुख हेतु यह नहीं है?"

—श्री अर्नेस्ट बेविन (M. P.)।

"समाजवादी लोकतन्त्र मे देश की उन्नति मे श्रमिक पूर्ण साझेदार है। मजदूर और उद्योगपति दोनों को अपनी जिम्मेदारी समझना है। मजदूर और शिल्पियों को प्रबन्ध मे भाग लेना है। यदि हम अमल औद्योगिक उन्नति करना चाहते है तो औद्योगिक शान्ति को भी कायम रखना होगा।"

—औद्योगिक नीति घोषणा सन् १९५६।

(अ) औद्योगिक कलह
(Industrial Disputes)

श्रम एवं पूँजी के अच्छे सम्बन्धो से ही देश का औद्योगिक विकास तीव्र गति से होकर देश की आर्थिक नींव सुदृढ हो सकती है। औद्योगिक शान्ति के लिए औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे होने चाहिए, जो तीन पक्षों पर निर्भर रहता है। सरकार अपने अधिनियम, श्रम कल्याण विधान द्वारा श्रमिको की भलाई की ओर देखकर औद्योगिक सम्बन्धो को सुचारु रखने का प्रयत्न करती है। श्रम संघ श्रमिको का प्रतिनिधित्व करते है तथा संघर्ष होने पर श्रमिको की भलाई की दृष्टि से उनको समुचित रूप से निपटाने का प्रयत्न करते है। नियोक्ता औद्योगिक संगठन के कुशल कर्णधार होने के नाते इनमे एवं सरकार तथा श्रमिको मे अच्छे सम्बन्ध होना औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक

होता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध एवं औद्योगिक शान्ति के लिए निम्न बातों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है :—

(अ) औद्योगिक कलह एवं औद्योगिक कलह अधिनियम।

(ब) श्रम संघ (Trade Unionism)।

विश्व में सबसे पहले श्रमिकों ने सामूहिक रूप में हड़ताल कब और कहाँ की, यह सही सही नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि श्रमिकों एवं मिल-मालिकों के परस्पर झगड़ों का प्रारम्भ इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुआ, जब मजदूरों ने यन्त्रों के उपयोग के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। उनका यह विरोध स्थायी नहीं रहा। भारत में सन् १८७० तक हड़तालों का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता। इस अवधि में यदि श्रमिकों द्वारा विरोध प्रकट किया गया होगा तो सम्भवतः 'काम रोको' घटनाओं के रूप में होगा। परन्तु श्रमिकों के सामूहिक संगठन के अभाव में श्रमिकों को हानि ही होती थी, क्योंकि या तो उन पर जुर्माना अथवा उनकी मजदूरी कम की जाती थी। साधारणतः यह संघर्ष शान्तिपूर्ण ढङ्ग से मिट जाते थे। सबसे पहली हड़ताल भारत में सन् १८७७ में एम्प्रेस मिल के मजदूरों ने की, परन्तु उसे वास्तव में हड़ताल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें श्रमिक अपनी नौकरी छोड़कर दूसरी मिल में नौकरी कर लेते थे।

हड़तालों का वास्तविक रूप हमको तभी से देखने को मिलता है, जब श्रमिक अपनी सामूहिक शक्ति पहिचान कर श्रम संघ के झण्डे के नीचे एकत्र हुए और उन्होंने सामूहिक रूप से अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ किया तथा हड़तालें सफल होने लगीं। सन् १९२१ में गाँधीजी के नेतृत्व में जो असहयोग आन्दोलन छिड़ा, उससे मजदूरों ने सामूहिक शक्ति का महत्त्व जाना। तभी से राजकीय और औद्योगिक अशान्ति की धारा एक ही दिशा में प्रवाहित होने लगी।

औद्योगिक झगड़ों के कारण—

औद्योगिक झगड़ों में लगभग ५७% झगड़े केवल आर्थिक कारणों से हुए। इन कारणों में वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतें, मजदूरी कम करने की ओर मिल-मालिकों की प्रवृत्ति, प्रथम विश्व युद्ध के बाद की छँटनी आदि प्रमुख थे। इसके अलावा कुछ हड़तालें काम करने की कष्टमय परिस्थिति के कारण भी हुईं, जैसे—काम के घण्टे कम करना, गृह-समस्या, श्रमिकों के लिए फैक्टरी में पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था आदि। इन कारणों से सन् १९१८ से सन् १९२९ तक लगभग १,१०० हड़तालें हुईं।

इसके बाद सन् १९२९ में जो हड़तालें हुईं वे छँटनी के विरोध में की गई थीं। इस प्रकार सन् १९२९ से सन् १९३९ तक १६० हड़तालें छँटनी एवं आर्थिक कारणों के कारण हुईं। इनका उद्देश्य छँटनी को रोकना तथा आर्थिक मन्दी के समय कम की हुई भृति को पुनः उसी स्तर पर लाना था।

रॉयल श्रम-आयोग के अनुसार सन् १९१८ से सन् १९३० तक हड़तालों के कारणों में आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, परन्तु इसके बाद की हड़तालों में व्यक्तिगत

कारणों की प्रमुखता थी। जैसे—श्रम-संघों में काम करने वाले श्रमिकों का निकाला जाना, प्रबन्धकों का श्रमिकों के साथ बुरा बर्ताव, हड़तालों में शामिल होने वाले श्रमिकों को निकाल देना इत्यादि। सरकारी विश्लेषण के अनुसार सन् १९२१ से सन् १९४२ तक ४,६६४ हड़तालें हुईं, जिनमें ५०% हड़तालें अधिक भृति अथवा बोनस देने के लिए मिल-मालिकों के इन्कार करने के कारण, ९४१ हड़तालें निकाले गये श्रमिकों को पुनः काम पर न लेने के कारण, १९८ हड़तालें छुट्टी अथवा काम के घण्टों में कमी के लिए तथा ८६१ हड़तालें ऐसी थीं जिनमें कोई कारण विशेष थे, यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार औद्योगिक कलह के निम्न कारण हैं :—

(१) मजदूरी एवं बोनस बढ़ाने के लिए। 60% strikes

(२) काम के घण्टे कम करने, अधिक छुट्टियों की व्यवस्था होने अथवा काम करने की स्थिति सुधारने के लिए।

(३) श्रम संघों में सम्बन्धित श्रमिकों को निकाल देने के कारण तथा निकाले गये श्रमिकों को फिर से काम पर वापिस न लेने के कारण।

(४) प्रबन्धकों का मजदूरों के साथ दुर्व्यवहार तथा काम करने की कष्टमय परिस्थिति।

(५) विवेकीकरण के विरोध के लिए।

(६) राजनैतिक कारण—(i) किसी नेता का आगमन, जन्म तिथि आदि।
(ii) नेताओं की राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए।
(iii) अन्य मिलों के हड़तालियों के साथ सहानुभूति।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ, जिससे सन् १९४४ तक औद्योगिक शान्ति बनी रही, परन्तु सन् १९४५ में हड़तालों का तांता फिर प्रारम्भ हुआ, जिसमें सन् १९४७ और १९४८ में सबसे अधिक हड़तालें हुईं :—

वर्ष	झगड़ों की संख्या	श्रमिक संख्या	व्यक्ति दिनों की हानि*
१९४७	१,८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९४८	१,८११	१०,५०,१२०	७८,३७,१७३
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,८७,६०८
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८
१९५४	८४०	४,७७,१३८	३३,७२,६३०
१९५५	१,१६६	५,२७,७६७	५६,९७,८४८
१९५६	१,२०३	७,१५,०००	६९,९२,०००
१९५७	१,६३०	८,८९,०००	६४,२९,०००
१९५८	१,५२४	९,२९,०००	७७,९८,०००
१९५९	१,२३६	५,३२,०००	५६,८५,०००

* India 1960.

इन सभी हड़तालों में विशेषतः उक्त कारणों में से कोई न कोई कारण ही प्रमुख रहा है। सन् १६५४ मे औद्योगिक झगड़ो के निम्न कारण बताए गए थे :—*

मजदूरी एवं भत्ता	३०·० प्रतिशत
बोनस	६·७ ,,
भर्ती, छँटनी एवं पदोन्नति	३७·० ,,
छुट्टियाँ एवं काम के घण्टे	१०·० ,,
अन्य	१६·३ ,,
योग	१००·० ,,

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश झगड़ो का कारण छँटनी, भर्ती की पद्धति, पदोन्नति अथवा मजदूरी एवं भत्ता है।

औद्योगिक शान्ति की व्यवस्था—

हड़तालों को रोकने के लिए सन् १६२१ तक कोई भी सरकारी प्रयत्न नही हुए, अपितु आपसी समझौते द्वारा ही उनको रोका जा सकता था। परन्तु सन् १६२६ मे बम्बई की वस्त्र-उद्योग की हड़ताल ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और इसके कारणो की जाँच के लिए बम्बई सरकार ने फॉसेट समिति नियुक्ति की। इसकी सिफारिशो के अनुसार सन् १६२६ मे ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट पास हुआ। इस कानून के अनुसार हड़ताल की घोषणा होने के पहिले १४ दिन की सूचना देना आवश्यक किया गया और झगड़ों को मिटाने एवं उनके कारणों की जाँच के लिए समुचित व्यवस्था की गई। सर्वप्रथम यह कानून केवल ५ वर्ष के लिए था, परन्तु सन् १६३४ मे यह स्थायी हो गया। इस कानून के अनुसार एक स्थायी समझौता-सभा का निर्माण हुआ, परन्तु इसके निर्णय अनिवार्य रूप से लागू करने की व्यवस्था नही थी और न इनका उपयोग ही साधारणतः राज्य सरकारो ने किया। विशेषतः ऐच्छिक समझौते की व्यवस्था करना ही इसका उद्देश्य था।

सन् १६३७ मे बॉम्बे ट्रेड समझौता डिस्प्यूट्स एक्ट भी पास हुआ। इस कानून मे झगड़ो के कारणो की जाँच अनिवार्य कर दी गई तथा झगड़ो को टालने के लिए तत्कालीन कार्यवाही की व्यवस्था की गई। जब तक यह कार्यवाही चालू रहेगी, तब तक हड़ताल अथवा तालेबन्दी करना अवैध घोषित किया गया। इस कानून से कोई भी स्थायी व्यवस्था नही की गई थी और न यही अनिवार्य था कि वे औद्योगिक झगड़े समझौता-समिति के विचारार्थ प्रस्तुत करें। अखिल भारतीय ढंग पर औद्योगिक शान्ति के लिए कोई व्यवस्था नही थी।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे हड़तालो को रोक कर औद्योगिक उत्पादन में बाधा न आने देने की दृष्टि से भारत सुरक्षा-कानून की धारा ८१-अ लागू की गई। अखिल

* *Recent Developments in certain aspects of Indian Economy.* Vol. II. p. 14.

भारतीय ढंग पर औद्योगिक शान्ति का यह पहला कदम था। इसके अनुसार सरकार किसी भी उद्योग से सम्बन्धित हड़तालो को रोक सकती थी अथवा उन झगड़ो के कारणो की जांच करने के लिए पंचो को सौंप सकती थी। इन पंचो का निर्णय श्रमिक एवं नियोक्ता दोनो पक्षो को मान्य करना अनिवार्य था। युद्ध समाप्त होते ही यह धारा समाप्त हो गई।

स्वतन्त्र भारत में—

औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए केन्द्रीय सरकार ने दिसम्बर सन् १९४७ में एक त्रिदल सम्मेलन बुलाया, जिसमें सरकार, श्रमिक एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधि थे। इस सम्मेलन मे औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसे सरकार ने अपनी सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे मान्यता दी। इस प्रस्ताव के अनुसार एक केन्द्रीय श्रमिक सलाहकार समिति बनाई गई, जिसमे सरकार, श्रमिक एवं नियोक्ताओ के प्रतिनिधि थे। इसके अलावा औद्योगिक झगड़ो की स्थायी व्यवस्था के लिये मार्च सन् १९४७ मे औद्योगिक कलह अधिनियम स्वीकृत हुआ, जो अखिल भारतीय ढंग पर पहला प्रयास है।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स अधिनियम सन १९४७—

मार्च सन् १९४७ मे यह अधिनियम स्वीकृत हुआ एवं इसमें सन् १९४९ से सन् १९५३ तक आवश्यक संशोधन किये गये। इसकी प्रमुख बातें निम्न है :—

(१) सौ या सौ से अधिक श्रमिक काम करने वाले सभी कारखानो को लागू होगा। ऐसे उद्योगो मे वकर्स समितियो की स्थापना होना अनिवार्य है। इन समितियों का उद्देश्य श्रम एवं प्रबन्ध मे सहकारितापूर्ण सम्बन्ध रखकर औद्योगिक शान्ति बनाये रखना है।

(२) जन-उपयोगी उद्योगो में हड़ताल के पूर्व ६ सप्ताह की सूचना देना अनिवार्य है, अन्यथा ऐसी हड़ताल अवैध होगी। पचो के पास झगड़ा विचाराधीन होने की अवस्था में अथवा निर्णय के ७ दिन तक अथवा न्यायालयीन कार्यवाही के बीच में अथवा निर्णय होने के २ माह तक हड़ताल या तालाबन्दी अवैध और दण्डनीय होगी। इसमें ऐसी हड़ताल मे भाग न लेने वाले श्रमिकों की सुरक्षा की भी व्यवस्था है।

(३) इस अधिनियम मे औद्योगिक न्यायालयो की स्थापना का आयोजन है। इसमें हाईकोर्ट जज या जिला जज के पद के दो अथवा दो मे अधिक सदस्य होगे। हड़ताल करने के पूर्व झगड़ा समझौता अधिकारी (Conciliation Officer) को सौंपा जायगा। झगड़े का निर्णय निश्चित अवधि मे होना चाहिये और यदि समझौते का प्रयत्न असफल होता है तो समझौता अधिकारी १४ दिन मे सरकार को अपनी रिपोर्ट देगा। सरकार को अधिकार है कि वह इस झगड़े को औद्योगिक न्यायालय अथवा निर्णयात्मक संस्था के पास भेज दे, जिसका निर्णय दोनो ही पक्षो को मान्य करना होगा।

औद्योगिक कलह (अपील अदालत) अधिनियम (सन् १९५०)—

विभिन्न श्रम अदालतों द्वारा दिए गए विभिन्न निर्णयों की विविधता से जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती थी उनको सुलझाने के लिए गई सन् १९५० में एक इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (एपेलेट ट्रिब्यूनल) अधिनियम स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम से राज्य सरकारों को जाँच अदालतों के निर्णय लागू करने के अधिकार दिये गये तथा वकीलों आदि को औद्योगिक कलहों के सम्बन्ध में न्यायालय अथवा ट्रिब्यूनल के सामने प्रस्तुत होने पर प्रतिबन्ध लगाए गए। इस अधिनियम के अन्तर्गत अगस्त सन् १९५० में बम्बई में लेबर एपेलेट ट्रिब्युनल की स्थापना हुई।

इसी प्रकार के अपील न्यायालय कलकत्ता, लखनऊ और मद्रास में हैं। अपील न्यायालय का हैडक्वार्टर कलकत्ते में है। इन अपील न्यायालयों को अन्य किसी संस्था के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है, परन्तु ऐसी अपील दो बातों से सम्बन्धित होनी चाहिये—(१) निर्णय में कोई वैधानिक बात उठाई गई हो अथवा (२) निर्णय का सम्बन्ध मजदूरी, बोनस आदि कानून के अन्तर्गत बनाये गये किसी अन्य नियम से हो।

इस अधिनियम में साधारण और जनोपयोगी उद्योगों में अन्तर किया गया है। क्योंकि जनोपयोगी उद्योगों के कलहों में सरकार सभी स्थितियों में हस्तक्षेप करेगी और शान्ति के लिए आवश्यक कार्य करेगी। परन्तु अन्य उद्योगों में सरकार तभी हस्तक्षेप कर सकती है, जब सम्बन्धित उद्योग के दोनों पक्षों के बहु-संख्य व्यक्ति इस हेतु सरकार से आवेदन करें। सन् १९५५ के संशोधन से अपील न्यायालयों को भंग कर दिया गया है।

अप्रैल सन् १९४९ में इन्डस्ट्रियल बैंकिंग और बीमा कम्पनी अध्यादेश लागू किया गया, जिसका विस्थापन दिसम्बर सन् १९४९ में एक अधिनियम से हुआ। फलस्वरूप ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट सन् १९४७ का संशोधन हो गया। इस संशोधन से बैंक और बीमा कम्पनियों के आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए न्यायालय, ट्रिब्यूनल अथवा सभाएँ बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार का, हो गया। इसी अधिकार के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने बैंकिंग कम्पनियों के लिये सन् १९४९ में औद्योगिक ट्रिब्यूनल की स्थापना की। सन् १९५३ के एक संशोधन से निकाले गए श्रमिकों की हानि पूर्ति की व्यवस्था की गई।

सन् १९४७ के औद्योगिक कलह अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने औद्योगिक संस्थानों को वर्क्स कमेटियाँ स्थापित करने के आदेश दिये हैं।

पंच-वर्षीय योजना में—

योजना आयोग ने श्रम-नीति, श्रमिक एवं नियोक्ताओं के सम्बन्धों को ठीक रखने के लिए त्रिदल-सभा की स्थापना का सुझाव दिया है, जिसमें सरकार, नियोक्ता एवं श्रमिकों का प्रतिनिधित्व हो। यदि इस त्रिदल सभा में औद्योगिक कलहों

के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का समझौता नही होता तो सरकार द्वारा उसका निपटारा किया जाय। ऐसे समझौतो के निर्णय औद्योगिक न्यायालयो और ट्रिब्यूनलो को सूचनार्थ भेजे जायें, जो उन पर कार्य करने के लिए बाध्य हो।

औद्योगिक कलहो को रोकने के लिए नियोक्ताओ एवं श्रमिको की जिम्मेदारी तथा कर्तव्यो की निश्चित शर्तें बनाई जायें तथा प्रत्येक औद्योगिक सस्था मे श्रमिको की जिम्मेदारी आदि की सूची रखी जाय तथा उनकी तकलीफो को दूर करने के लिए समुचित आयोजन हो। इसके साथ ही श्रमिको को उद्योग की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया जाय तथा उनके हितो को प्रभावित करने वाले परिवर्तनो की जानकारी उनको दी जाय। इसके अलावा नियोक्ताओ को, श्रमिको के काम करने की दशा में कौनसे सुधार किए जायें, इससे परिचित कराने के लिए समुचित आयोजन हो। इतने सुधारो के साथ यदि कोई सीधी कार्यवाही की जाती है तो वह वैधानिक रीति से दण्डनीय घोषित की जाय।

औद्योगिक शान्ति की आदर्श व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव आपसी समझौतो से विवाद का प्रश्न ही मिट जाय, इसलिए योजना आयोग ने वर्क्स कमेटियो की स्थापना की सिफारिश की है—इसमे नियोक्ता एव श्रमिको के परस्पर सम्बन्ध अच्छे रह सकते है। इस योजना के अनुसार भारत मे ३० सितम्बर सन् १९५७ को निजी उद्योगो में २,०९५ तथा केन्द्रीय उद्योगो मे ७४५ वर्क्स समितियाँ थी। इनमे श्रमिक एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधि है। ये समितियाँ परस्पर सद्भावना के लिए प्रयत्न करती है।*

द्वितीय पच-वर्षीय योजना की अवधि मे भी यही श्रम नीति रहेगी, परन्तु समाजवादी समाज रचना के लिए इसमे कुछ परिवर्तन किये गये है। इस हेतु सन् १९५५ मे योजना आयोग ने श्रमिको के प्रतिनिधिक पेनल की स्थापना की है, जिसने श्रमिक व नियोक्ताओ के झगडो का निपटारा ऐच्छिक रूप से परस्पर वार्तालाप द्वारा करने का सुझाव दिया है। औद्योगिक सम्बन्धो को अच्छा बनाने के लिये प्रबन्ध मे श्रमिको का सहयोग आवश्यक समझा गया है। प्रत्येक उद्योग मे प्रबन्ध परिषद की स्थापना की सिफारिश की गई है। इसमे श्रमिक एवं नियोक्ताओ का समान प्रतिनिधित्व रहेगा। आर्थिक मामलो को छोड कर अन्य सब बातो की जानकारी इस परिषद् के उद्योग के प्रबन्धको को देनी होगी। इस नीति को प्रभावी पद्धति से कार्यान्वित करने पर आशा है कि दूसरी योजना की अवधि मे औद्योगिक सम्बन्धो मे और भी सुधार हो सकेगा।

दूसरी योजना की अवधि मे सन् १९५६ मे औद्योगिक कलह अधिनियम मे पुनः सशोधन करके समझौते की कार्यवाही मे सरलता लाई गई है। इस सशोधन के अनुसार ५०० रु० से कम मासिक आय वाले सभी कर्मचारियो का समावेश श्रमिको

* India 1960

की श्रेणी में होगा। दूसरे, श्रम अपील अदालतों को भंग किया गया तथा त्रिमुखी न्यायालयीन व्यवस्था की गई :—(अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय तथा (स) राष्ट्रीय न्यायालय तथा इन तीनों के क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार को इन निर्णयों में परिवर्तन करने का अधिकार है तथा ऐसे परिवर्तन की आज्ञाएँ केन्द्रीय सरकार को संसद के समक्ष १५ दिन में प्रस्तुत करना होगा, जिन्हें मान्यता देने, न देने का अधिकार संसद को है। इस प्रकार अन्तिम निर्णायक संसद ही है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित के आधार पर ही कर सकेगी।

इस संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना लखनऊ में तथा औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना धनबाद और नागपुर में की गई है। नागपुर का न्यायालय श्रम न्यायालय का कार्य भी करता है। इसके अलावा दिल्ली में भी एक एड-हॉक औद्योगिक न्यायालय है। राज्य सरकारों के क्षेत्र में उनके न्यायालय तथा श्रम न्यायालय हैं।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

औद्योगिक सम्बन्धों को अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग लेने की नीति की योजना में सिफारिश की गई थी, इसलिए इसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल विदेशों में भेजा गया था। इस दल की सिफारिशों पर जुलाई सन् १९५७ में भारत श्रम-सम्मेलन में विचार हुआ तथा उनको कार्य रूप में लाने के लिए सन् १९५८ जनवरी फरवरी में एक प्रतिनिधिक सेमिनार में एक आदर्श समझौता किया गया।

इस समय २३ उद्योगों में ऐसी व्यवस्था है तथा १५ उद्योग प्रयोगात्मक तौर पर इसे अपनाने के लिए सहमत हुए हैं।* इस हेतु उत्तर-प्रदेश में प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था भी की गई है।

औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार के लिए जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं उनसे यह विश्वास है कि परिस्थिति में अवश्य सुधार होगा।

(ब) श्रम-संघ
(Trade Unions)

श्रम की अनेक विशेषताओं में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि श्रम एक स्थायी वस्तु नहीं है, जिसको संग्रह किया जा सके। प्रत्येक श्रमिक को अपना श्रम प्रति दिन किसी न किसी कार्य के लिये करना ही होगा। यदि वह यह चाहे कि आज मजदूरी न करते हुए इकट्ठा कल ही कर ले तो यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि बीते हुए कल की मजदूरी खत्म हो जाती है। इस विशेषता के कारण श्रमिकों में सौदा

* India 1960.

करने मे कमजोरी आती है। पूंजीपति अथवा नियोक्ता अपनी राशि का उपयोग भविष्य मे कभी भी कर सकता है। परन्तु श्रमिक को अपने प्रत्येक दिन का उपयोग करना ही होगा, अन्यथा उसके उस दिन के श्रम बेकार हो जावेंगे। इस कमजोरी को दूर करने एव उनमे सामूहिक सौदा शक्ति लाने के लिए श्रमिको का सगठन अपने लाभ के लिये होने लगा। इस कारण इनको श्रमिक सगठन कहते है। इस प्रकार श्रमिक-सगठन श्रमिको की काम करने की दशा सुधारने एव उनका कल्याण करने के लिये *श्रमिको का बनाया हुआ सघ है, जिससे उनमे एकता की भावना पैदा हो* और उन्हे सामूहिक सौदा करने की शक्ति मिले।*

उद्देश्य—

(अ) सघ के सदस्यो मे एकता की भावना निर्माण करना।

(आ) सघ के सदस्यो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

(इ) सघ के सदस्यो की काम करने की दशा मे सुधार करना।

(ई) सघ के सदस्यो का जीवन स्तर उठाने के लिए उनके हेतु चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, वाचनालय, मनोरजन आदि सुविधाओ का प्रबन्ध करना।

(उ) श्रमिक एव नियोक्ताओ के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाना, जिससे यथासम्भव कलह न हो। यदि कलह होते भी है तो मजदूरो की ओर से वार्तालाप कर शान्ति प्रस्थापित करना और असफलता की हालत में हड़ताल करना।

(ऊ) श्रमिको को वैधानिक कार्यवाही करने के लिए आर्थिक सहायता देना।

(ए) श्रमिको को उचित वेतन दिलाना तथा उनकी कार्यक्षमता बढाने के लिए अन्य आवश्यक कार्य करना।

(ऐ) श्रमिको की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक एव शारीरिक उन्नति करना।

स्पष्ट है कि श्रमिक-सघो का मूल हेतु श्रमिको की मजदूरी एव कार्य दशा मे सुधार करना तथा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति करना है। इन दो कारणों से ही श्रमिक सघ अन्य कार्य करते है। इस प्रकार यह विचार कि श्रमिक सघो का हेतु हड़तालें करना है, गलत है। हाँ, शान्तिपूर्ण ढग से मजदूर एव नियोक्ताओ मे समझौता न होने की दशा मे श्रमिक-सघ हड़तालो को अपनाते हैं। उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए श्रमिक सघ अन्य कार्य करते है, जिससे मजदूरो की सामूहिक शक्ति बढे तथा वे अपना सगठन सफल बना सके। इसलिए श्रमिक सघ भिन्न-भिन्न देशो के श्रमिको की स्थिति, काम करने की दशाओ का अध्ययन, श्रम सम्बन्धी आंकड़े एकत्रित करना आदि कार्य करते हैं। यह कार्य करने के लिए वे सदस्य-श्रमिको से मासिक

---

* Trade Unionism by Cunnisson,

	प्रथम योजना (१९५१-५६)	दूसरी योजना (अनुमानित) (१९५६-६१)	योग (१९५१-६१)
सरकारी क्षेत्र में व्यय	१,९६०	४,६००	६,५६०
,, ,, में पूँजी नियोजन	१,५६०	३,६५०	४,२१०
निजी क्षेत्र में पूँजी-नियोजन	१,८००[1]	३,१००[1]	४,९००
कुल पूँजी विनियोजन	३,३६०	६,७५०	१०,११०

राष्ट्रीय आय में वृद्धि—

पहिली योजना में विशेषतः कृषि उत्पादन में वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय १८% बढ़ी। दूसरी योजना में पहिली योजना की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अधिक तथा व्यापक प्रयत्न किये गये। आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय में लगभग २०% वृद्धि होगी। अर्थात् सन् १९५१ से सन् १९६१ के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग ४२% बढ़ेगी। प्रति व्यक्ति आय में लगभग २०% और प्रति व्यक्ति व्यय में लगभग १६% वृद्धि होगी। कृषि उत्पादन ४०%, औद्योगिक उत्पादन १२०% बढ़ जायगा।

निम्न तालिका में सन् १९४९-५० से कृषि उपज की वृद्धि है :—

कृषि-उपज का सूचक अङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमान)
सभी वस्तुयें (Commodities)	९५·६	११६·८	१३२·०	१३५·०
खाद्यान्न	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य उपज	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०

कृषि-उपज में वृद्धि की प्रवृत्ति होते हुए भी विभिन्न वर्षों में पर्याप्त अन्तर रहा :

		१९५०–५१	१९६०–६१ (अनुमानित वृद्धि)
अनाज (गेहूँ, दाल आदि)	लाख टन	५२४[2]	७५०
तिलहन	,,	५१	७२
गन्ना (गुड़ के रूप में)	,,	५६	७२
रुई	लाख गाँठें	२९	५४
पटसन	,,	३३	५५

1. ये अनुमान पूर्ण सूचनाओं के आधार पर संशोधित हैं और प्रथम योजना के १,६०० करोड़ रु० और दूसरी योजना के २,००० करोड़ रु० के पहिले अनुमानों के स्थान पर हैं।

2. सन् १९५६-५७ के आँकड़ों में संशोधन के अनुसार उत्पादन का सही अनुमान।

हैं, जो अपने सङ्गठन के उद्देश्यों से विचलित होकर स्वार्थ साधु बन जाते हैं। श्रम-संघ तो वास्तव में श्रमिकों के लिये, देश के लिए एवं उद्योग के लिए अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते है, यदि वे अपने ध्येय के अनुसार उसे प्राप्त करने का वैधानिक मार्ग अपनावें।

भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—

श्रम-संघ श्रमिकों में एकता-भाव एवं सामूहिक-शक्ति जागृत कर परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बनाया हुआ एक संघ है। ऐसे श्रमिक संघ देश में कई हो सकते है—प्रत्येक उद्योग के अलग अलग अथवा अनेक उद्योगों का एक। श्रम-संघों का विकास इङ्गलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों में तो औद्योगिक-क्रान्ति के बाद ही होने लगा था। क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्षेत्र में नई नई समस्याएँ पैदा कीं, जिनमें से एक श्रम-संघों की भी थी। परन्तु भारत में श्रम संघों का उगम और विकास केवल गत ३४ वर्षों में ही हुआ है।

श्रम-संघों का उगम एवं विकास—

भारत में श्रमिक संघों के बीज डालने का प्रमुख श्रेय श्री लोखण्डे को है, जिन्होंने सन् १८८४ में बम्बई के कारखाने के श्रमिकों का एक सम्मेलन कराया तथा श्रमिकों की ओर से तत्कालीन श्रमिक आयोग (Labour Commission) के समक्ष मजदूरों की मांगे प्रस्तुत कीं। इन मांगों में श्रमिकों का एक दिन का साप्ताहिक विश्राम, दोपहर में आधा घन्टे का विश्राम तथा श्रमिकों की हानि पूर्ति करने की मांगें प्रमुख थीं। इसके बाद सन् १८६० में बम्बई में मिलहैण्ड्स् एसोसियेशन नामक श्रमिक-संगठन श्री लोखण्डे के सभापतित्व में बनाया गया। परन्तु इसके बाद औद्योगिक मन्दी आ जाने के कारण श्रमिक संगठनों में शिथिलता आ गई और एक तरह से इस आन्दोलन को पूर्ण विराम हो मिला। इसके बाद सन् १६०४ में जब औद्योगिक समृद्धि पुनः होने लगी तो इस आन्दोलन को बढ़ावा मिला और सन् १६१० में कामगार-कल्याण संघ की स्थापना हुई। इन्होंने कामगार समाचार नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित किया। इस प्रकार आरम्भ में जो श्रमिक-संगठन हुए, उनका हेतु श्रमिक-आयोग अथवा श्रमिक समितियों के समक्ष श्रमिकों की मांगें प्रस्तुत करना ही रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिक-आन्दोलन का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जब श्रमिक संगठनों ने नियोक्ताओं के विरुद्ध अपनी मांगें पूरी करने के लिए सामूहिक मोर्चा लेना शुरू किया। इस समय श्रमिकों की काम करने की दशाएँ अच्छी नहीं थीं, कीमतें बढ़ रही थीं और मजदूरी कम थी तथा विश्व में श्रमिक आन्दोलन का जोर था। इधर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोरों पर था। इन विशेष परिस्थितियों के कारण श्रमिकों को अपनी निष्क्रियता एवं अयोग्यता की जानकारी हुई और सन् १६१८ में श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास में पहला लेबर यूनियन स्थापित किया, जिसके सदस्य सूती वस्त्र उद्योग के कामगार थे। इस संगठन ने श्रमिकों का दुःख दर्द

वस्तुएँ	१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमान)
तैयार इस्पात	१० लाख टन	२६ लाख टन
अल्युमिनियम	३'७ हजार टन	१७ हजार टन
डीजल इञ्जन	५'५ „	३३ „
बिजली के तार	१,६७४ टन	१८ „
रेल्वे इञ्जन	३ (संख्या)	२९५ संख्या
नाइट्रोजन खाद	९ हजार टन	२१० हजार टन
गंधक का तेजाब	९९ „	४०० „
सीमेन्ट	२७ लाख टन	८८ लाख टन
कोयला	३२० „	५३० „
खनिज लोहा	३० „	१२० „

इसी प्रकार सूती वस्त्र, शक्कर, साइकिल तथा मोटर गाड़ियों जैसी उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई है।

देश में पहिली बार कुछ वस्तुओं का निर्माण प्रारम्भ किया गया। जैसे बायलर, पिसाई की मशीनें, मशीनी-औजार, विस्फोटक पदार्थ, सल्फा और एन्टिबायोटिक औषधियाँ, डी० डी० टी०, न्यूजप्रिंट पेपर आदि।

लघु तथा ग्रामोद्योग—

इस अवधि में इस क्षेत्र में भी काफी विकास हुआ है। सन् १९५०-५१ से सन् १९६०-६१ में हाथकर्घे के कपड़े का उत्पादन ७,४२० लाख गज से २१२'५० करोड़ गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड़ गज, कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु उद्योगों में जैसे हाथ के औजार, सिलाई की मशीनें, बिजली के पंखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगों में भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यों में लघु उद्योग सहायक संस्थायें निर्मित की गई हैं। इनके अलावा ४२ विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बस जावेंगी, जिनमे ७०० छोटे कारखाने होंगे।

विद्युत—

विद्युत की उत्पादन क्षमता जो सन् १९५०-५१ में २३ लाख किलोवाट थी, से सन् १९६०-६१ तक ५८ लाख किलोवाट हो जावेगी। इसी प्रकार सन् १९५०-५१ में ३,६८७ गाँवों में बिजली थी वह सन् १९६०-६१ के अन्त तक १९,००० गाँवों में लग चुकी होगी।

यातायात—

पहिली योजना का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल में रेल्वे की क्षति को पूरा करना था। दूसरी में आयोजित औद्योगिक विकास की बढ़ती हुई यातायात आवश्यकताओं

इसके बाद सन् १९२९ में उन्होंने दूसरी विशाल हड़ताल की, जिसके लिए जांच-अदालत भी बनाई गई। इस अदालत ने गिरणी कामगार संघ को हड़ताल के लिये जिम्मेदार ठहराया। इस बदनामी के कारण इस आन्दोलन को गहरी चोट पहुँची। सन् १९२९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पूरी तरह से कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गया। परन्तु आन्तरिक मतभेद के कारण नम्र दल के श्रमिक-संघों ने इस कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्री जोशी की अध्यक्षता में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना की तथा रेल्वेमेंस फेडरेशन भी अलग हो गया। फिर भी एकता के प्रयत्न होते रहे और श्री वी० वी० गिरि (सन् १९३७ में मद्रास के श्रम मन्त्री) के प्रयत्नों से इसका एकीकरण पुनः अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में हुआ।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध हुआ, जिससे इस कांग्रेस में फिर मतभेद होकर श्री एम०एन० राय के नेतृत्व में इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना हुई, जिसने सरकार को सहयोग देकर हड़तालों को रोका। पहली कांग्रेस (A.I T U.C.) पर फिर भी कम्युनिस्टों का ही अधिकार रहा और युद्ध के बाद उन्होंने हड़ताली रुख धारण किया, जिससे श्रमिक अशान्ति बढ़ी। कांग्रेस ने सन् १९४७ में एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की, जो इस समय सबसे बड़ा श्रमिक-संगठन है। इस संगठन का उद्देश्य हड़तालों की अपेक्षा समझौते की पद्धति में श्रम सुविधायें दिलवाना है। इसके बाद समाजवादी पक्ष के नेतृत्व में हिन्द मजदूर सभा की स्थापना भी हुई। इस बीच इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर का अन्त हो गया, परन्तु इसमें जो श्रम संघ थे तथा जो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये थे वे हिन्द मजदूर सभा में नहीं मिले, अपितु उन्होंने सन् १९४९ में अपना एक अलग संगठन—यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाया।

इस प्रकार भारत में चार प्रमुख अखिल भारतीय श्रम संघ हैं :—

नाम	सम्बन्धित श्रम संघ		सदस्य संख्या*	
	१९५८	१९५९	१९५८	१९५९
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C.)	७२७	६१७	९,१०,२२१	९,७१,७४०
(२) अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I T.U.C)	५०७	५५८	५,३७,५६७	४,२२,८५१
(३) हिन्द मजदूर सभा (H.M.S.)	१५१	११९	१,९२,९४२	२,०३,७९८
(४) युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U.T.U.C)	१८२	२३७	८२,००१	१ ५९,१०९
योग	१८६७	१५३१	१७ २२ ७३१	१७,५०,४६८

* India—1960, Table 257

इनमें से पहिला संघ गांधीयन विचारधारा के अनुसार वैधानिक मार्गों से कार्य करता है। यद्यपि इसकी नीति एवं कार्यक्रमों में अ० भा० कांग्रेस से समानता है, फिर भी यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। हिन्द मजदूर सभा समाजवादी विचारधारा रखने वाले श्रम-संघों का केन्द्रीय संगठन है तथा प्रजा-समाजवादी पक्ष की नीति एवं कार्यक्रमों से प्रभावित है। युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस वाम-पक्षीय विचारधारा वाले श्रम-संघों का केन्द्रीय संगठन है, परन्तु साम्यवादियों से इसका किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्युनिस्टों के अधिकार में ही है, परन्तु सदस्यता की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि मजदूरों का प्रतिनिधि केन्द्रीय संगठन आज इंटक ही है।

श्रम-संघों के कार्य—

भारत में इस समय चार प्रमुख श्रम संघ हैं, जिनमें अभी तक एकता नहीं आ सकी, जिसकी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि श्रम-संघों में एकता आने से वे राजनैतिक दल-बन्दी को छोड़ कर श्रमिकों को सुविधायें देने एवं उनका जीवन-स्तर उन्नत करने की ओर विशेष ध्यान देंगे।

अभी तक श्रम-संघों ने विशेषतः हड़तालें ही की हैं, उन्होंने श्रमिक-जीवन के अन्य पहलुओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अहमदाबाद का टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन एक अपवाद है, जिसने श्रमिक-जीवन के अन्य पहलुओं की ओर ध्यान देकर उनका जीवन स्तर उन्नत करने के लिये सुविधायें दी। इसके अलावा अन्य संघों ने श्रमिकों की उचित मजदूरी, काम के घन्टों की कमी तथा बेकारी एवं छँटनी को रोकने आदि की ओर ही अधिक कार्य किया है। इसका कारण श्रम संघों का बोध ही न होते हुए इनका नया विकास है* और वे अपने अनुभव से भविष्य में जीवन के अन्य क्षेत्र में भी श्रमिकों को सुविधायें देने का प्रयत्न करेंगे, यह आशा की जा सकती है।

श्रमिक-संघों के विकास में बाधाएँ एवं उनके दोष—

(१) श्रमिक-संघों के विकास में सबसे बड़ी त्रुटि है उनके पास धन की कमी। भारतीय श्रमिकों की मजदूरी कम होने के कारण अनेक श्रमिक इसके सदस्य नहीं होते और जो हैं वे समय पर चन्दा नहीं दे पाते। श्रमिकों की कम मजदूरी के कारण उनका चन्दा भी कम होता है। दूसरे, चन्दा वसूल करने में नियोक्ता किसी प्रकार का सहयोग नहीं देते।

(२) भारतीय मजदूर विशेषतः अनपढ़ होने से मजदूर-संघों का एवं सामूहिक समझौते का महत्त्व नहीं समझते और उनमें अनुशासन की कमी होती है।

(३) भारतीय मजदूर अस्थिर प्रकृति के होने के कारण एक ही नियोक्ता के पास नौकरी नहीं करते, जिससे मजदूर-संघों के विकास में बाधायें आती हैं।

---

* The Trade-union Movement in India is still in an infant stage.
—V. V. Giri.

K... (४) आज भी अधिकतर मजदूरों का जीवन ऐसा ही है कि अपने काम के अलावा उन्हें अन्य बातों को सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता। इससे मजदूर-संघ के महत्त्व एवं उसके कार्य को वे नहीं समझ पाते।

(५) श्रम-संघों का नियोक्ताओं में विरोध होता है। वे अपने श्रमिकों को जो किसी श्रम-संघ के सदस्य होते हैं, बहुत परेशान करते हैं एवं उनकी प्रगति में रोड़े अटकाते हैं। इससे श्रम संघों में उनकी रुचि नहीं रहती अथवा उनको बाध्य किया जाता है कि वे रुचि न रखें।

(६) भारत में श्रमिकों का इतना विशाल क्षेत्र है कि अभी तक उसके पूरे-पूरे आँकड़े भी उपलब्ध नहीं हो पाये और न इस ओर सरकार द्वारा ही विशेष प्रयत्न किया गया। इन आँकड़ों को प्राप्त करने का वैधानिक प्रयत्न केवल सन् १९४२ में हुआ, जब इण्डस्ट्रियल स्टेटिस्टिक्स एक्ट पास किया गया।

(७) श्रमिक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी एवं भिन्न धर्मीय होने से उन्हें एक सूत्र में आने में कठिनाई होती है।

(८) अच्छे मजदूर नेताओं का अभाव श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बड़ा दोष है। भारतीय श्रमिक अशिक्षित होने के कारण श्रमिक-संघों के नेता मध्य वर्ग से आते हैं, जो श्रम-जीवन की समस्याओं को उतनी आत्मीयता से नहीं समझ पाते। इतना ही नहीं, अपितु अनेक नेता तो केवल अपने स्वार्थ अथवा राजनैतिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिये ही संघों का नेतृत्व करते हैं।

(९) भारतीय श्रम संघों का नेतृत्व राजनैतिक दलों के हाथ में है, जिससे अपने दल के हित की दृष्टि से वे अपनी नीति रखते हैं, श्रमिकों के हित की दृष्टि से नहीं। यह भारतीय श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बड़ा दोष है।

(१०) श्रम-संघों में वैमनस्य—केन्द्रीय श्रम संघों का संगठन राजनैतिक पक्षों द्वारा किया गया है, जिसमें सदस्यों और विभिन्न श्रम-संघों में जो वैचारिक एकता होनी चाहिए वह नहीं है। अतः केन्द्रीय श्रम संघ राजनैतिक पार्टीबन्दी से अछूते रहने चाहिए।

इन त्रुटियों के कारण भारतीय श्रमिक-आन्दोलन इतना सुदृढ़ एवं मजदूरों के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका, जितना वह विदेशों में है। यहाँ के संघों का उद्देश्य केवल हड़तालें करना एवं उनके संगठन तक ही सीमित रहा है, उन्होंने श्रमिकों की शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक उन्नति की ओर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिकों की सार्वत्रिक उन्नति की ओर ध्यान देकर उनकी कार्यक्षमता तथा जीवन-स्तर उन्नत करने का कार्य श्रम-संघ करें, जिससे भावी औद्योगिक निर्माण में श्रमिकों का भविष्य उज्ज्वल हो।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में—

श्रमिकों के प्रतिनिधिक पेनल (सन् १९५५) ने श्रम-संघों के सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं :—

(१) श्रम-संघों में बाहरी व्यक्तियों का प्रवेश सीमित करना।
(२) निश्चित शर्तों पर श्रम-संघों को वैधानिक मान्यता देना।
(३) श्रम संघों के कार्यकर्त्ताओं की उत्पीड़न (Victimisation) से रक्षा करना।
(४) श्रम-संघों के निजी स्रोतों से उसके आर्थिक आधार में सुधार करना (मजबूती लाना)। इन सुधारों से श्रम-संघों के वर्तमान महत्वपूर्ण दोषों का निवारण हो सकेगा।

राष्ट्र-निर्माण में श्रम-संघ—

राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय श्रम-संघों का गहरा प्रभाव पड़ता है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने ब्रिटेन के विकास में काफी महत्वपूर्ण भाग लिया है। ब्रिटिश लेबर पार्टी का एटली मन्त्रि-मण्डल वहाँ की राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का राजनैतिक पहलू था। इसी प्रकार अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर तथा दी फ्रेंच कॉन्फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स अपने देश के आर्थिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डालते हैं। भारत में भी श्रम-संघ नेता श्री जोशी के प्रयत्नों से ही सन् १९२६ में श्रम संघ अधिनियम पास हुआ। श्रम-संघों ने कुछ हद तक श्रमिकों का शैक्षणिक एवं शारीरिक उन्नति करने में भी सफलता प्राप्त की है तथा आज के चुनाव में भी श्रमिकों का महत्वपूर्ण भाग है। श्रम संघों को चाहिए कि वे श्रमिकों में बचत की आदत निर्माण करने के हेतु सहकारी समितियों की स्थापना करें। वहाँ से उन्हें जीवनावश्यक वस्तुएँ सस्ती दरों पर दी जायें तथा ये उनको गृह-निर्माण में भी सहायक हों। इसी प्रकार श्रम उपनिवेशों में श्रम-संघ विभिन्न प्रकार के मनोरंजनादि साधनों का आयोजन कर श्रमिकों की लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, श्रमिकों के मानसिक एवं शारीरिक स्तर को उन्नत कर सकते हैं। ऐसे लोकप्रिय श्रम-संघ ही श्रमिकों के हितों में सरकारी नीति को भी झुकाने में सफल हो सकेंगे।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १९२६—

श्रमिक एवं नियोक्ता अथवा नियोक्ता एवं नियोक्ताओं के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के हेतु बनाए गए किसी संघ की रजिस्ट्री कराने का आयोजन इस अधिनियम द्वारा किया गया। दो अथवा दो से अधिक श्रमिकों के फेडरेशन की रजिस्ट्री भी इस अधिनियम के अन्तर्गत हो सकती है। रजिस्टर्ड श्रम संघों को निम्न अधिकार हैं :—

(१) रजिस्टर्ड संघों का समामेलित अस्तित्व एवं स्थायी उत्तराधिकार हो जाता है। ऐसे श्रम संघ चल एवं अचल सम्पत्ति रख सकते हैं तथा अनुबन्ध भी कर सकते हैं।
(२) रजिस्टर्ड श्रम-संघ किसी समझौते से सम्बन्धित किसी षड्यन्त्र या

अपराध की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अपराध या षड्यन्त्र किसी कलह को चलाने अथवा व्यापार या उद्योग को रोकने के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिये।

(३) रजिस्टर्ड संघ के सदस्यों के विरुद्ध संघ के वैधानिक उद्देश्यों की पूर्ति के सम्बन्ध में किए गये किसी भी कार्य के सम्बन्ध में सिविल कोर्ट दावा स्वीकार नहीं करेगा।

(४) श्रमिक संघ अपने सदस्यों से ऐच्छिक रूप में दिया हुआ धन उनकी की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक भलाई के लिए स्वीकार कर सकता है।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १९४७—

उक्त अधिनियम में नियोक्ताओं द्वारा श्रम-संघों की मान्यता के सम्बन्ध में कोई आयोजन नहीं था, अतः इस अधिनियम में प्रतिनिधित्व श्रम संघों को नियोक्ताओं द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रकार मान्य श्रम संघों तथा नियोक्ताओं द्वारा कुछ कार्यों को करना अनुचित एवं दण्डनीय घोषित किया गया है परन्तु यह अधिनियम लागू नहीं किया गया।[1]

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में जो आयोजन है उसमें यह विश्वास है कि वर्तमान दोषों का निवारण हो सकेगा। मई सन् १९५८ के १६वें श्रम-सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि श्रम संघों को नियमित करने की व्यवस्था की जाये। इस हेतु श्रम संघों को मान्यता देने के कुछ सिद्धान्त भी बनाये गये हैं। इससे श्रमिक आन्दोलन को लाभ होगा और श्रम संघों की बाढ़ पर भी रोक लगेगी। इन सिद्धान्तों में प्रमुख सिद्धान्त यह है कि केवल उन्हीं श्रम-संघों को मान्यता दी जाय जो नियोक्ता और श्रमिकों द्वारा अनुमोदित अनुशासन के नियमों[2] का पालन करें। इन नियमों को सन् १९५८ में लागू किया गया है। इनमें प्रबन्ध एवं श्रमिकों के उत्तरदायित्वों को इस हेतु से निश्चित किया गया है जिससे सभी स्तरों पर इनके प्रतिनिधियों में सक्रिय सहकारिता को प्रोत्साहन मिले। इनका पालन हो रहा है अथवा नहीं, यह देखने के लिए केन्द्र एवं राज्यों में आवश्यक व्यवस्था भी की गई है। इसी आधार पर तृतीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्यक्रम एवं नीति का निर्धारण किया जा रहा है।[3] श्रम-संघों की सुदृढ़ता एवं औद्योगिक शान्ति के लिए यह वाञ्छनीय कदम है।

---

1. Amrit Bazar Patrika, page XIX dated 15-8-195[illegible]
2. Code of Discipline in Industry
3. The Third Five Year Plan—A Draft Outline, page 85 89.

अध्याय १०

श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security)

"मजदूरी के अलावा श्रमिकों के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तर में सुधार करने के हेतु उनके आराम, मनोरंजन आदि की जो सुविधाएँ, वैधानिक अनिवार्यता के बिना उद्योग देता है उनका समावेश श्रम-कल्याण में होता है।"

"सामाजिक सुरक्षा का अर्थ इतना व्यापक है, जिसमें दरिद्रता का उन्मूलन करने के किन्हीं भी प्रयत्नों का समावेश होता है।"

(१) श्रम-कल्याण

'श्रम कल्याण' की समुचित और सरल परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों मे होता है। शाही श्रम आयोग के अनुसार श्रम-कल्याण की परिभाषा मे लोच होनी चाहिए, जो प्रत्येक देश मे वहा की सामाजिक स्थिति, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिको के शैक्षणिक विकास के स्तर के अनुसार होगी। परन्तु साधारणतः "श्रम कल्याण उन क्रियाओ को कहते है जो किसी उद्योग के आस पास अथवा उद्योग के क्षेत्र मे श्रमिक स्वच्छ एव स्वास्थ्यकर वातावरण मे काम करते हुए अपने स्वास्थ्य एव नीति के स्तर को अच्छा रख सकें।"* आजकल श्रम-कल्याण कार्य केवल उद्योग की व्यवस्था मे श्रमिको को आवश्यक सुविधाएँ देने तक ही सीमित नहीं है, वरन् श्रमिको को कारखाने के बाहर भी सुविधाएँ देने तक विस्तृत है। इस अर्थ मे श्रमिको का स्वास्थ्य सुधार, शिक्षा की व्यवस्था, रहन सहन की सुविधायें, फैक्टरी मे काम करने की अच्छी स्थिति, काम करते समय उनके मनोरञ्जन की सुविधाओं का आयोजन, कैन्टीन, स्नानगृह आदि की व्यवस्था का समावेश श्रम-कल्याण कार्य मे होता है। श्रम कल्याण की मान्य परिभाषा के अनुसार :—"मजदूरी के अलावा श्रमिको के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तर मे सुधार करने के लिए उनके आराम, मनोरञ्जन आदि की जो सुविधाएँ उद्योग द्वारा बिना किसी वैधानिक अनिवार्यता के दी जाती है, उनका समावेश श्रम-कल्याण कार्य मे होगा।" इस प्रकार श्रम-कल्याण कार्य वैधानिक अनिवार्यता न होते हुए श्रमिको की दशा सुधारने तथा उनको अधिक कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिए श्रमिकों के प्रति नियोक्ता की सद्भावना के द्योतक है, जो वे स्वेच्छा से देते हैं। श्रम-सम्बन्धी कल्याण कार्य दो प्रकार से किया

* Report II of the I. L. O. Asian Regional Conference, p. 3.

जाता है : नियोक्ताओं की इच्छा से तथा कानूनी अनिवार्यता से । इसके अलावा सरकार स्वयं औद्योगिक श्रमिकों के लिये सुविधाएँ दे सकती है तथा ऐसी सुविधाओं का आयोजन श्रम-संघ एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा भी किया जा सकता है ।

भारत में आवश्यकता क्यों ?—

श्रम सुधार कार्य केवल भारत में ही आवश्यक नहीं, परन्तु यह सम्पूर्ण औद्योगिक विश्व में औद्योगिक शान्ति, श्रमिकों का जीवन स्तर उन्नत करने तथा उनके अधिक कार्यक्षम बनाने के लिये एक आर्थिक आवश्यकता है । भारत में श्रम सुधार कार्य का महत्त्व न्यूनतम था, क्योंकि सम्पूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में—देश एवं विदेश के—यह भ्रममूलक धारणा थी कि श्रम कल्याण पर किसी प्रकार का व्यय नियोक्ताओं के निजी लाभ पर कर है अथवा उनसे वस्तुओं का उत्पादन व्यय बढ़ जाता है । परन्तु उनकी यह धारणा गलत थी, क्योंकि यदि श्रमिकों की मानसिक एवं शारीरिक उन्नति के लिए नियोक्ता व्यय करते है तो उनको कुशल एवं स्वस्थ श्रमिक मिलते है । इससे उत्पादन व्यय बढ़ने की जगह कम हो जाता है तथा ऐसी स्वेच्छात्मक सुविधाओं से श्रम एवं नियोक्ताओं के सम्बन्ध अच्छे होकर औद्योगिक शान्ति का बीजारोपण होता है । भारत में श्रम सुधार कार्य की ओर प्रथम विश्व युद्ध में प्रयत्न किए जाने लगे, तब जनता, नियोक्ता एवं सरकार ने यह पहिचाना कि सन्तुष्ट एवं स्थायी श्रम शक्ति से ही देश की औद्योगिक उन्नति हो सकती है, क्योंकि श्रम कल्याण कार्य से—(१) श्रमिकों का मानसिक, शारीरिक एवं सांस्कृतिक विकास होता है, जिससे वे अपनी भलाई समझ सकते है एवं जीवन का आनन्द ले सकते है । जितनी अधिक श्रम-कल्याण सुविधाएँ श्रमिकों को मिलेंगी उतना ही आकर्षण कारखानों के प्रति अधिक होकर कारखाना-जीवन की नीरसता कम होगी तथा श्रमिकों का नैतिक स्तर उन्नत होगा । (२) सन्तुष्ट श्रमिक वर्ग ही अपनी अधिकतम् कार्यक्षमता उद्योग को दे सकता है, जिससे उत्पादन की लागत कम हो कर उपभोक्ताओं को सस्ते दामों में वस्तुएँ मिल कर उद्योग का विकास हो सकता है । (३) श्रमिकों में नागरिक जिम्मेवारी की भावना जागृत हो कर वे देश के अच्छे नागरिक बन सकते है ।

इन लाभों की दृष्टि से श्रम कल्याण कार्य नियोक्ताओं के लाभ पर कर न होते हुये उनके लाभ बढ़ाने एवं देश की औद्योगिक प्रगति का एक साधन है । इसीलिए टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने कहा था:—कार्यक्षमता का उन्नत स्तर केवल वहीं हो सकता है, जहाँ श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हो। इसका तात्पर्य यह है कि केवल वहीं श्रमिक जिनके लिये शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो, कुशल हो सकते है । इसी दृष्टि से भारत में बम्बई यूनिवर्सिटी ने श्रम-समस्याओं एवं श्रम-कल्याण कार्य के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया है । श्री टाटा ने स्कूल ऑफ सोशल साइन्सेज, बम्बई की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से की थी ।

श्रम-कल्याण-कार्य की व्याप्ति—

श्रम-कल्याण कार्य के विस्तार का स्पष्टीकरण श्रम-जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में किया है। "श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के कार्यों का समावेश होना चाहिये। ये कार्य चाहे नियोक्ता, सरकार या अन्य संस्थाओं द्वारा किए जायें तथा साधारण अनुबन्धनात्मक सम्बन्ध अथवा विधान के अन्तर्गत जो श्रमिकों को मिलना चाहिए, उसके अलावा किए गए हों। इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत हम आवास व्यवस्था, चिकित्सा एवं शिक्षा सुविधाएँ, अच्छा भोजन (कैन्टीन के आयोजन सहित), आराम एवं मनोरंजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, प्रसूत गृह एवं झूले, शौचालय, सवेतन छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड, सेवा-निवृत्त वेतन आदि सुविधाओं का समावेश कर सकते हैं।"*

भारत में श्रम-कल्याण—

भारत में अभी तक जितना भी कल्याण-कार्य किया गया है, उसमें तीन संस्थाएँ प्रमुख हैं:— नियोक्ता, सामाजिक संस्थाएँ तथा सरकार। कुछ अंश में श्रम-संघों ने भी कल्याण-कार्य में हाथ बँटाया है। नियोक्ताओं की ओर से स्वेच्छा से बहुत ही कम फैक्टरियों में श्रमिकों को सुविधाएँ दी गई हैं और जहाँ वे दी भी गई हैं वे परिस्थिति से विवश हो कर अथवा वैधानिक अनिवार्यता के कारण। सामाजिक संस्थाओं ने अवश्य ही इस दिशा में कार्य किया है, परन्तु यह कार्य केवल बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास तक ही सीमित है।

नियोक्ता—

नियोक्ताओं के स्वेच्छापूर्ण कल्याण-कार्य में ई० डी० ससून समूह की मिलों में तथा टाटा एण्ड सन्स की प्रबन्धित मिलों में श्रमिकों को औपचारोपचार सुविधाएँ, प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरंजन की सुविधाएँ प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरंजन की सुविधायें दी गई हैं। मद्रास की बिन्नी एण्ड क० की मिलों में, कानपुर के ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन के प्रबन्धित कारखानों में श्रमिकों को आवास, मनोरंजन आदि की सुविधाएँ दी गई हैं। टाटा एवं बिन्नी एण्ड कम्पनी का श्रम-कल्याण-कार्य विस्तृत एवं योजनाबद्ध है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अपने श्रमिकों के लिए अच्छी आवास-व्यवस्था, शिक्षा, औषधालय, काम करने के बाद मनोरंजन, कैंटीन, मनोरंजन क्लब, खेल-कूद के मैदान, गृह खेलों (Indoor games) की व्यवस्था आदि का आयोजन किया है। इसी प्रकार की व्यवस्था एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज की निर्माणियों में तथा जियाजीराव कॉटन मिल्स, ग्वालियर में देखने को मिलती है। श्रम-कल्याण कार्य को योजनाबद्धता एवं

---

* Labour Investigation Committee's Report, p. 345.

तृतीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया जायगा, जिससे विदेशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़े।

आयोग ने तृतीय योजना काल के लिए प्राथमिकताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं:—

(१) द्वितीय योजना की शेष परिकल्पनाओं को पूरा करना ;

(२) इञ्जीनियरिंग और भारी मशीनें बनाने वाले उद्योगों का विस्तार और उनके उत्पादन मे विविधता लाना तथा मिश्रित धातुओं के औजार, विशेष इस्पात, लोहा, इस्पात और लौह-मिश्रण एवं रसायनिक खाद तैयार करना ;

(३) अल्युमिनियम, खनिज तेल, रसायन आदि तैयार करना ;

(४) मौजूदा क्षमताओं का पूर्ण उपयोग;

(५) देशी उद्योगों से अधिक मात्रा में दवाइयाँ, कागज, कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल और घर बनाने का सामान तैयार करना।

तृतीय योजना मे उद्योग और खान-कार्यक्रमों पर २१ अरब रुपया खर्च करने की व्यवस्था है। इस राशि में ११ अरब सार्वजनिक और १० अरब रुपया निजी क्षेत्र पर खर्च किया जायगा।

नेवेली योजना—

नेवेली योजना मे उष्णता से प्राप्त बिजली के लिए ३५ लाख टन लिगनाइट प्रति वर्ष खनन की कल्पना की गयी है। इसके अतिरिक्त ७० हजार टन नाइट्रोजन के समान खाद के उत्पादन और ३ लाख ८० हजार टन के कार्बनाइज्ड ब्रिकेटेस का उत्पादन भी होगा।

तृतीय योजना मे उष्णता प्राप्त बिजली उत्पादन की क्षमता चार लाख किलोवाट कर दी जायगी। बढाए गए बिजली संयन्त्र की आवश्यकता के लिये खनिज उत्पादन ३५ लाख टन से बढ़ाकर ४८ लाख टन कर दिया जायगा।

औद्योगिक मशीनरी—

ढलाई भट्ठी की क्षमता मशीनरी योजनाओं के लिए अनिवार्य है। ढलाई की कुल शक्ति का वितरण निम्नलिखित ढंग से किया जायगा:—(१) रांची की ढलाई भट्ठी मे (तृतीय चरण मे) ३८ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ४५ हजार टन इस्पात की ढलाई और ६६ हजार ७ सौ टन स्टील फोर्जिंग; (२) दुर्गापुर खान मशीनरी योजना मे ११ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ६ हजार टन इस्पात की ढलाई और ८ हजार टन स्टील फोर्जिंग; (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, बंगलोर मे २ हजार ५ सौ टन भूरे लोहे की ढलाई; (४) चितरंजन लोकोमोटिव कारखाने मे ३ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और ७ हजार टन इस्पात की ढलाई; (५) दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला इस्पात कारखाने मे ७५ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और १५ हजार टन

अनेक सराहनीय कार्य किये गये, जिनमे श्रम कल्याण भी एक है। इसी के साथ सर्व प्रथम सरकार ने श्रमिको के सार्वजनिक कल्याण की ओर सरकारी रूप मे पग उठाया।

बम्बई में—

बम्बई मे सर्व-प्रथम सन् १९३९ मे इस ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही की गई और तब सन् १९३९-४० के बजट मे १,२०,००० रुपये का आयोजन श्रम-कल्याण-कार्य के लिये किया गया। इस कार्य पर सन् १९४०-५० में कुल व्यय १०,९८,०८३ रुपये था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना मे बम्बई राज्य ने श्रम-कल्याण कार्य के लिये ३ करोड़ रुपये का आयोजन किया। श्रम-कल्याण कार्य का निरीक्षण श्रम-कल्याण, डिप्टी कलेक्टर करता है, जिसके नियन्त्रण मे सन् १९५० मे ५० कल्याण केन्द्र थे, जिनमें अ, ब, स तथा द वर्ग के क्रमशः ५, १०, ३३ एवं २ केन्द्र थे। इनके अलावा गत वर्षों मे २० केन्द्रो की स्थापना और हो चुकी है। इन केन्द्रो का विभाजन वहाँ पर उपलब्ध सुविधाओं के अनुसार चार श्रेणियो मे किया गया है। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग में से ही श्रम संघों के नेताओं का निर्माण करने के लिए बम्बई राज्य ने बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर मे प्रशिक्षण वर्ग खोले है, जहाँ श्रमिको को श्रम-संघवाद एव नागरिकता की शिक्षा दी जाती है। श्रम-कल्याण केन्द्रो की क्रियाओं का सहयोग सरकारी शिक्षा एव श्रम विभाजन तथा शराबबन्दी सभा के साथ स्थापित किया गया है, जिससे इनकी क्रियाओं के सामंजस्य से श्रमिक अधिकतम लाभ उठा सकें। श्रम-कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिये सन् १९५३ में लेबर वेलफेयर फण्ड अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार श्रम कल्याण सभा की स्थापना की गई है। जुलाई सन् १९५३ से यह सभा श्रम-कल्याण केन्द्रों की व्यवस्था के लिए जिम्मेवार है।

मध्य-प्रदेश में—

मध्य-प्रदेश मे अधिक कारखानो मे श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन तथा हिंगनघाट और बाडनेरा में श्रम-कल्याण केन्द्रो की स्थापना की गई है। इसके अलावा सरकार ने सन् १९५३-५४ मे नागपुर, जबलपुर और अकोला में श्रम-कल्याण केन्द्र खोले हैं। श्रमिको को श्रम संघवाद की शिक्षा देने के लिए सन् १९५३-५४ में नागपुर मे एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला है, जहाँ ६५ श्रमिको की शिक्षा का आयोजन है, जिसमें से अब नागपुर का समावेश महाराष्ट्र प्रदेश मे हो गया है।

पंजाब में—

पंजाब में महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रो मे श्रम-विभाग के नियन्त्रण में श्रम-कल्याण केन्द्रो का संचालन हो रहा है। ये केन्द्र अमृतसर, बटाला, लुधियाना, जालन्धर, अम्बाला, अब्दुल्लापुर और बलरामपुर में हैं। यहा पर श्रमिको को शिक्षा एवं मनोरंजन की वस्तुएँ उपलब्ध है।

उत्तर-प्रदेश में—

उत्तर-प्रदेश मे श्रम-कमिश्नर के नियन्त्रण में श्रम विभाग का कार्य होता है,

जहाँ पर श्रम कल्याण कार्य की देख-रेख के लिए १ स्त्री तथा १ पुरुष निरीक्षक होता है। स्त्री निरीक्षक स्त्री श्रमिकों के सम्बन्ध के कल्याण कार्यों, जैसे—प्रसूति गृह, धायगृह आदि का निरीक्षण करती है। सम्पूर्ण राज्य में सन् १६५८ मे ४६ श्रम-कल्याण-केन्द्र हैं।* इसके अलावा शक्कर उद्योग के श्रमिको के लिए मोलेसेज (Molosses) की कीमत ।)। प्रति मन निश्चित कर दी गई है, जिसमे अधिक दाम पर बिक्री होने से अतिरिक्त राशि एक अलग 'निधि' में जमा होती है। इसका उपयोग इस उद्योग के श्रमिको को गृह सुविधाएं एवं श्रम-कल्याण कार्य के लिए होता है। इसके अलावा कानपुर की नई श्रम बस्तियो मे २ तथा ऐशबाग लखनऊ मे एक श्रम-कल्याण केन्द्र खोले गये हैं।

बंगाल राज्य में—

बगाल राज्य मे सन् १६३६ में श्रम-कल्याण कार्य का श्रीगणेश हुआ तथा सन् १६५४ में राज्य के विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में २७ कल्याण केन्द्र थे। इसी प्रकार बिहार मे २, असम मे १६ तथा सौराष्ट्र २० कल्याण-केन्द्र हैं। इन राज्यो के अलावा अन्य प्रान्तो मे भी श्रम कल्याण के लिए विशेष आयोजन हो रहा है।

वैधानिक श्रम-कल्याण कार्य—

भारत सरकार के श्रम-कल्याण कार्य का आधार वैधानिक है, जिसमे कानून द्वारा नियोक्ताओं को श्रमिको की मानसिक, शारीरिक एव आर्थिक उन्नति के लिए उनको अन्य उचित सुविधाएं देने का आयोजन किया गया है। इन विधानो मे कारखानो के अन्दर झूलों की व्यवस्था, प्रकाश, हवा तथा मशीनो के आस पास तार का घेरा आदि लगाने का आयोजन, स्नानगृह, शौचालय आदि का प्रबन्ध, चिकित्सालयो का आयोजन, गृह-निर्माण योजना, रोजगार संस्थाएं, सामाजिक बीमा, प्रॉवीडेन्ट फंड आदि योजनाओं का समावेश होता है।

भारत में केन्द्रीय सरकार ने सर्व प्रथम वैधानिक अनिवार्यताओं के अलावा अपनी स्वेच्छा से सुधार-कार्य का श्रीगणेश ऑर्डीनेन्स फैक्टरियो से किया। यहाँ युद्ध-काल में श्रमिको के लिए कैन्टीन की व्यवस्था, प्राथमिक चिकित्सा आदि का आयोजन किया। इसके अलावा फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत अस्पतालो का आयोजन तो था ही। युद्धोत्तर-काल में इन सुविधाओं का विकास हुआ तथा इसी प्रकार की सुविधाओं का आयोजन अन्य सरकारी औद्योगिक संस्थाओं मे भी किया गया। फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत २५० से अधिक व्यक्ति काम करने वाले उद्योगो को कैंटीन की सुविधायें देना अनिवार्य किया गया।

फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्य समुचित हवा, प्रकाश एवं सफाई, यन्त्रो से सुरक्षा के लिए उनके आस-पास घेरे बनाना, बनावटी नमी से श्रमिको की सुरक्षा का आयोजन, प्राथमिक चिकित्सा, झूले (Creches), शौचगृह, आरामगृह

* Amrit Bazar Patrika 26-1-58

की व्यवस्था नियोक्ताओं को करना अनिवार्य हो गया। श्रम-कल्याण कार्य के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। श्रमिकों को काम करते समय किसी भी प्रकार की दुर्घटना से क्षति हो जाने पर उसकी पूर्ति करने की जिम्मेदारी नियोक्ताओं पर डाल दी गई, जिसके लिए इसके पूर्व कोई भी आयोजन नहीं था। इसी प्रकार वैधानिक सुधारों में बालक बन्धक अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम तथा सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम आदि विधानों द्वारा श्रमिकों की सुरक्षा एवं भावी कल्याण का प्रबन्ध किया गया।

सन् १९४४ में कोयला खान श्रमिकों के कल्याण कार्य के लिए कल्याण-कोष निर्माण किया गया। कोयला खानों के श्रमिकों के लिए कल्याण केन्द्र, चिकित्सा, प्रसूतिगृह आदि की व्यवस्था के लिए इस कोष का उपयोग होता है। इसी फण्ड की सहायता से २ केन्द्रीय अस्पताल, ६ प्रादेशिक अस्पताल, २ चलते-फिरते दवाखाने तथा २ टी० बी० रुग्णालय चलाये जाते हैं। प्रादेशिक अस्पतालों में प्रसूति तथा शिशु कल्याण की सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इसी प्रकार कोयले की खानों के श्रमिकों के लिए नौगांव तथा पैंडारोड सेनिटोरियम में क्रमशः ५ और ४ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। मलेरिया विरोधी और बी० सी० जी० आन्दोलन भी इसी कोष की सहायता से इन क्षेत्रों में चलाये जा रहे हैं। झरिया खानों की स्वास्थ्य सभा के लिए 'कण्डकुइया' में एक स्नायुजन्य रोगियों के हेतु रुग्णालय खोलने की स्वीकृति भी दी गई है। इसी कोष से श्रमिकों के गृह निर्माण की भी व्यवस्था है। इस कोष की वार्षिक आय १,७६,५५,४८४ रु० तथा व्यय १·७० करोड़ रु० है।

अभ्रक खान मजदूरों के लिए कल्याण कोष सन् १९४७ में बनाया गया है। इस निधि का लाभ बिहार, आन्ध्र, राजस्थान तथा अजमेर की अभ्रक की खानों में काम करने वाले मजदूरों को मिलेगा। इस राशि से कल्याण सुविधाओं के लिए दिये जाने वाले वार्षिक बजट की राशि आय प्रान्तों के लिए क्रमशः १३·६०, ४·३३, १·२६ तथा ०·४४ लाख रुपये है। इन मजदूरों को कोयला खान मजदूरों की भांति चिकित्सा, शिक्षा मनोरंजन एवं आवास की सुविधाओं का आयोजन किया गया है। इस कोष से कर्मा (बिहार) और कालीचेडु (आंध्र) में दो तथा गंगापुर में एक अस्पताल खोले गये हैं। इसके सिवा अनेक दवाखाने निर्माण अवस्था में हैं, जिनमें प्रसूति एवं शिशु कल्याण की व्यवस्था होगी, कोष द्वारा २ चलते फिरते दवाखानों का संचालन भी होता है। सन् १९५९-६० में कोष से बिहार को १०·४२, आंध्र को ४·०० तथा राजस्थान को ४·३७ लाख रुपये श्रम-कल्याण के लिए दिये गये।* लेबर ऑफिसर्स की शिक्षा का प्रबन्ध भी सन् १९५३-५४ से कलकत्ता विश्वविद्यालय में किया गया है।

बगीचा उद्योग में मजदूरों को बगीचा श्रम अधिनियम के अन्तर्गत स्थायी

---

* India 1960.

श्रमिकों को आवास व्यवस्था दी जाती है तथा अस्पताल और दवाखाने बगीचा उद्योग को रखना अनिवार्य है। कुछ बगीचा उद्योगों ने श्रमिकों के बालकों को शिक्षा, मनोरंजन सुविधाएँ तथा दस्तकारी शिक्षा का आयोजन भी किया है। भर्ती की कागड़ी पद्धति का अन्त करने की कार्यवाही की गई है। दुर्घटनाओं को कम करने के लिए खान अधिनियम सन् १९५२ का कड़ाई से पालन होने के लिए आवश्यक कार्यवाही की गई है।

इसी अनुभव के आधार पर सन् १९५२-५३ से कर्मचारी भविष्य निधि योजना प्रारम्भिक अवस्था में सीमेंट, सिगरेट, विद्युत, लोहा एवं इस्पात, कागज, कपड़ा तथा इंजीनियरिंग उद्योगों में लागू की गई थी। यह अब सभी कारखानों को जिनको ३ वर्ष पूरे हो चुके हैं तथा जहाँ ५० से अधिक मजदूर कार्य करते हैं, लागू होती है। सन् १९५८-५९ में इस योजना का लाभ ७,०२४ कारखानों के २५·४३ लाख मजदूरों को मिल रहा था तथा इसी तिथि को उनके चन्दे की राशि लगभग १३२ करोड़ रु० थी। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को आय के ८⅓% चन्दा देना पड़ता है तथा यह ऐसे सभी श्रमिकों को जिनकी आय ५०० रु० मासिक से कम है, लागू होती है। कोयला खान श्रमिकों के प्रॉविडेन्ट फण्ड की राशि अक्तूबर सन् १९५८ के अन्त में १७ करोड़ रु० थी।*

अन्य—

इसके अलावा आम जनता के कल्याण के लिए अगस्त सन् १९५३ में एक स्वास्थ्य केन्द्रीय कल्याण सभा (Central Welfare Board) की स्थापना की गई। इसके कार्यक्रम में बालवाड़ी, प्रसूति एवं शिशु-स्वास्थ्य सेवाएँ, स्त्रियों की सामाजिक शिक्षा एवं मनोरंजन आदि की व्यवस्था है।

इसके नियन्त्रण में ३० सितम्बर सन् १९५९ को ४३२ कल्याण विस्तार प्रोजेक्ट चालू थे, जिनमें २,१२४ कल्याण-केन्द्र थे। इनका लाभ १०,८९२ गाँवों की १६०·७४ लाख जन संख्या को होता है।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक केन्द्रीय कल्याण सभा का लक्ष्य ९६० कल्याण विस्तार प्रोजेक्टों की स्थापना का है, जिनमें ६,६०० कल्याण केन्द्र होंगे। फलतः ६६,००० गाँवों की ५७६ लाख जनता को लाभ होगा। योजना का कुल व्यय १,५०३ लाख रुपया होगा, जिसमें केन्द्रीय कल्याण सभा का भाग ७३९ लाख रुपया होगा।

इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ के नियन्त्रण में अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष (Unicef) भारत में कार्य कर रहा है, जिसका सामंजस्य उक्त संस्था से स्थापित किया गया है।

---

* India 1960 and भारतीय समाचार · जून १, १९६०।

जिससे सम्पूर्ण भारत में रेलवे का जाल बिछाया जा सके । उसके बाद ७ मई सन् १८४३ को भारतीय गवर्नर जनरल ने रेलवे की आवश्यकता को शासकीय मान्यता दी, जिससे विभिन्न कम्पनियों के साथ वार्ता होने लगी । फलस्वरूप १७ अगस्त सन् १८४९ में प्राथमिक वैधानिक समझौते पर भारत सरकार, ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला तथा ईस्ट इण्डियन रेलवेज के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हो गये तथा भारत में गारन्टी पद्धति पर रेलवे का श्रीगणेश हुआ । इस समझौते की प्रमुख शर्तें थी :—

(१) भारत के निश्चित रेलवे का आकार एव उनकी पूर्णता की जिम्मेवारी संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों को सौंप दी गई ।

(२) भारत सरकार ने कम्पनियों द्वारा प्राप्त पूँजी पर ब्याज की जमानत दी, परन्तु साथ ही कम्पनियों के खर्चों एवं क्रियाओं पर नियन्त्रण रखा । यह ब्याज ९९ वर्ष के लिए ४½% से ५% की दर से देना निश्चित हुआ था ।

(३) रेलवे कम्पनियों को भारत में निःशुल्क जमीन दी गई ।

(४) *निश्चित दर (४½% से ५%) अधिक लाभ होने पर आधा लाभ सरकार को जमानत के रूप में ब्याज की पूर्णता के लिए दी हुई राशि के भुगतान के उपयोग में लाया जायगा तथा शेष ५०% हिस्सेदारों में बाँटा जायगा, यह निश्चित हुआ ।*

(५) भारत सरकार २५ अथवा ५० वर्ष बाद अपनी इच्छा से यदि चाहे तो रेलवे, रेलवे का सामान (Rolling Stock) आदि समुचित मूल्यांकन से खरीद सकती थी । इस समझौते से रेलवे निर्माण के प्रारम्भ की ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही। आरम्भ हो गई ।

रेलवे निर्माण—

रेलवे में प्रयोग के लिए सबसे पहले सन् १८४५ में कलकत्ते से रानीगंज के लिए १२० मील का लौह मार्ग बनाया गया । इसके बाद समझौता होने के पश्चात् ही अन्य मार्गों का निर्माण हुआ, जिनमें बम्बई से कल्याण का ३६ मील का फरवरी सन् १८५१ में, दूसरा बम्बई से थाना तक २० मील का लौह मार्ग १६ अप्रैल सन् १८५३ तथा ३६ मील का तीसरा मार्ग कलकत्ता से पंडुआ तक का आरम्भ हुआ । ये तीनों मार्ग रेलवे की उपयोगिता एवं सफलता को आँकने के लिए बनाये गये थे । इसके बाद सन् १८५३ के प्रारम्भ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत के विविध रेलवे इञ्जीनियरों तथा विशेषज्ञों की रिपोर्टों के परिशीलन के बाद रेलवे निर्माण के सम्बन्ध में अपना नोट इङ्गलैंड में भेजा । इसमें व्यापारिक, औद्योगिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारत में रेलवे के महत्त्व का परिचय देते हुए ट्रंक रेलवे के निर्माण पर जोर दिया । इस प्रकार वास्तव में सन् १८५३ में ही रेलवे के निर्माण का प्रारम्भ हुआ । तब से रेलवे का विकास काफी हुआ और आज भारत में ३४,४४६ मील के रेल मार्ग है, जो

स्त्री श्रम सम्बन्धी) उनको रोजगार देने की प्रवृत्ति कम हो जाती है, जिसका प्रमाण उत्तर-प्रदेश के आंकड़ों से मिलता है। सन् १९३९ मे उत्तर-प्रदेश मे स्त्री मजदूरो की संख्या ४,८०३ थी, जो सन् १९५० मे केवल २,३९७ रह गई, क्योकि नियोक्ता प्रसूति की सुविधाएँ नही देना चाहते। परन्तु बीमा अधिनियम के आयोजन से व्यय मे तीनो का हिस्सा होने के कारण नियोक्ताओं का नैतिक स्तर उन्नत होता है तथा *सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए मजदूर भी अधिकार से माँग कर सकते है।* इसलिये सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४७ मे स्वीकृत हुआ तथा ६ अक्टूबर सन् १९४८ मे बीमा कॉर्पोरेशन का उद्घाटन हुआ।

शासन प्रबन्ध —

इस प्रमण्डल मे शासकीय प्रमण्डल के ३८ सदस्य हैं, जिसमे केन्द्रीय एवं राज्य सरकारो, नियोक्ताओं एवं मजदूरो के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार इसमे केन्द्रीय संसद तथा डॉक्टरी पेशे के प्रतिनिधि भी है। कॉर्पोरेशन का शासन-प्रबन्ध स्थायी समिति करती है, जिसमे १३ सदस्य होते है, जो इन्ही ३८ सदस्यो में से चुने जाते है। इस स्थायी समिति पर मजदूर एवं नियोक्ताओं का समान प्रतिनिधित्व होता है। इसी प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत औपधोपचार एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का आयोजन करने तथा सलाह देने के लिए सन् १९४८ मे डॉक्टरो की भी एक परिषद् बनाई गई है। इस औपधोपचार लाभ-परिषद् के २८ सदस्य हैं। बीमा प्रमण्डल के प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति तथा लेखा-जोखा रखना एवं उसकी जाँच कराने का *अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। इस कॉर्पोरेशन के शासन की जिम्मेवारी प्रमुख* संचालक पर है, जिसकी सहायता के लिए चार प्रमुख अधिकारी है। प्रमुख संचालक सम्पूर्ण शासकीय कार्यवाही प्रादेशिक तथा स्थानीय कार्यालयो के माध्यम से करता है। इस कार्य की प्रादेशिक सलाहकार सभाएँ भी हैं, जिनमे नियोक्ता, मजदूर एवं प्रान्तीय सरकारो के प्रतिनिधि हैं।

अधिनियम से मिलने वाले लाभ—

यह अधिनियम उन सभी कारखानो पर लागू होता है जो १२ मास काम करते हो, बिजली से चलते हो और जिनमे २० या इससे अधिक कर्मचारी हो, जिनकी मासिक मजदूरी ४००) रु० से कम हो। सितम्बर सन् १९५१ मे औद्योगिक मजदूरों को स्वास्थ्य एवं औषधि सम्बन्धी लाभ देने के लिए इस अधिनियम मे संशोधन किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति मे केवल स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ दी जायेंगी, जो निम्न हैं:—

(१) चिकित्सा तथा औषधि एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ।

(२) औद्योगिक मजदूरो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे अधिकृत जानकारी एकत्रित करने के लिए शासकीय व्यवस्था की जायगी। इस व्यवस्था का हेतु सरकार का ध्यान मजदूरो के स्वास्थ्य की ओर आकर्पित करना तथा उसको सुधारने के लिए आव-

श्यक सलाह देने का है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक अभाव के कारण प्रत्यक्ष कार्य नहीं हो सकेगा।

संशोधित योजना के अनुसार एक बीमा-निधि बनेगा। सम्पूर्ण योजना लागू होने पर मजदूरों एवं नियोक्ताओं के चन्दे से मिलाकर इस निधि की वार्षिक आय २·०५ करोड़ रुपया होगी, जिसमें से मजदूरों का चन्दा ४१ लाख तथा नियोक्ताओं का चन्दा १६४ लाख रुपये होगा।

अन्य सुविधाएँ—

अधिनियम पूर्ण रूप से लागू होने पर औद्योगिक मजदूरों को निम्न सुविधाएँ मिलेंगी :—

सुविधाएँ	समय	लाभ की दर
(१) बीमारी सम्बन्धी सुविधाएँ।	प्रत्येक वर्ष में ८ सप्ताह तक	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ अंश की दर से।
(२) जच्चे सम्बन्धी सुविधाएँ।	१२ सप्ताह तक।	१२ आने प्रति दिन की दर से अथवा बीमारी सम्बन्धी सुविधाओं की दर से (जो अधिक हो)।
(३) अयोग्य मजदूरों के लिए सुविधाएँ।		
(i) स्थायी अयोग्यता की दशा में।		
(अ) सम्पूर्ण क्षति के लिए	आजीवन	साप्ताहिक मजदूरी के ७/१२ भाग की दर से।
(ब) आंशिक अयोग्यता के लिए	इस दशा में अयोग्यता के अनुसार वर्कमेंस कम्पेन्सेशन एक्ट के अनुसार भृति की राशि मजदूर को मिलेगी।	
(ii) अस्थायी अयोग्यता के लिए	अयोग्यता जब तक रहे तब तक।	साप्ताहिक भृति के १/२ अंश के हिसाब से।
(४) मजदूरों पर आश्रित व्यक्तियों के लिए	(अ) मजदूर पर आश्रित उसकी विधवा स्त्री के लिए, उसकी मृत्यु तक अथवा पुनर्विवाह की अवधि तक।	उसकी भृति के ३/५ की दर से। यदि मृतक की दो विधवाएँ हैं तो उन्हें इस दर का आधा-आधा।
	(ब) उसके वैधानिक वारिस के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु तक और यदि वह शिक्षा ले रहा है तो उसकी १८ वर्ष की आयु तक।	मृतक की भृति के २/५ की दर से प्रत्येक लड़के को।

	(ख) मृतक की वैधानिक लड़की के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु अथवा उसके विवाह होने तक (इनमें जो भी कम हो) और यदि वह पढ़ रही है तो १७ वर्ष की आयु तक।	मृतक की भृत्ति के ⅖ की दर से प्रत्येक लड़की को।
(५) औषधि एवं इलाज सम्बन्धी सुविधाएँ।	इसके अनुसार मजदूरों को साधारण औषधालयों को सुविधा मिलेगी।	

कर्मचारी राज्य बीमा निगम का अर्थ प्रबन्ध—

कॉरपोरेशन के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओं पर जो व्यय होगा उसकी व्यवस्था के लिए सेवायुक्त-सरकारी बीमा निधि बनाया गया है। इसमें नियोक्ता एवं मजदूरों का चन्दा तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारें सहायता के रूप में जो राशि देंगे, वह जमा होगी। इसी प्रकार धर्मार्थ सहायता की राशि भी इसी निधि में जमा होगी। मजदूर एवं नियोक्ताओं के चन्दे की दर उनकी राय के अनुसार निश्चित की गई है। मजदूरों को चन्दा देने के लिए उनकी राय के अनुसार मजदूरों का विभाजन ८ वर्गों में किया गया है, जिसके अनुसार नियोक्ताओं का चन्दा भी होगा। चन्दे की दरें निम्न हैं :—

भृत्तिसमूह	मजदूरों का चन्दा	नियोक्ताओं का चन्दा	योग
(१) दैनिक वेतन १) से कम	—	०- ७-०	०- ७-०
(२) ,, १) से १॥) तक	०- २-०	० ७-०	०- ६-०
(३) ,, १॥) से २) तक	०- ४-०	०- ८ ०	०-१२-०
(४) ,, २) से ३) तक	०- ६-०	०-१२-०	१- २ ०
(५) ,, ३) से ४) तक	० ८-०	१- ०-०	१- ८-०
(६) ,, ४) से ६) तक	०-११-०	१- ६-०	२- १-०
(७) ,, ६) से ८) तक	०-१५-०	१-१४-०	२ १३-०
(८) ,, ८) से अधिक किन्तु ४००) मासिक से कम	१- ४-०	२- ८ ०	३ १२ ०

अधिनियम के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओं का वार्षिक व्यय मजदूरों एवं नियोक्ताओं के चन्दे से लिया जायगा, परन्तु शासकीय व्यय की जिम्मेवारी नियोक्ताओं की है। परन्तु प्रथम पांच वर्ष में औषधोपचार सुविधायें देने के लिये जो शासकीय व्यय

होगा वह केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें ६६⅔% तथा ३३⅓% अनुपात मे देंगी। उपरोक्त दरो के अनुसार नियोक्ताओ को चन्दा देना अनिवार्य है।

प्रारम्भिक स्थिति मे अस्थाई रूप से नियोक्ताओ की दरो मे संशोधित अधिनियम से परिवर्तन किये गये हैं, जिसके अनुसार सभी नियोक्ताओ को अपने कारखाने मे दी जाने वाली कुल मजदूरी के ०·७५% चन्दा देना पड़ता है। जिन क्षेत्रो मे सुविधायें दी जा रही है वहां के नियोक्ताओ के लिए यही चन्दा सम्पूर्ण मजदूरी के १·२५% है। नियोक्ताओ को बीमा योजना वाले क्षेत्रो मे मजदूर क्षति पूर्ति अधिनियम तथा मातृत्व लाभ अधिनियम के अन्तर्गत सुविधायें देने की आवश्यकता नही है, इसलिए उनके चन्दे की दर ½% से अधिक है।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम की क्रियाएँ—

इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा योजना सर्व प्रथम २४ फरवरी सन् १९५२ को दिल्ली और कानपुर में आरम्भ की गई थी। क्रमशः इस योजना का विस्तार देश के अन्य औद्योगिक केन्द्रों में भी किया गया, जिससे १४·४३ लाख औद्योगिक श्रमिको को लाभ मिल रहा है। इस समय यह योजना दिल्ली, कलकत्ता एवं हावड़ा के औद्योगिक केन्द्रों में, आन्ध्र राज्य के ९, उत्तर-प्रदेश के ४, मध्य-प्रदेश, केरल और मद्रास के पाँच पाँच, पंजाब के ७ और राजस्थान के ६, आसाम, बिहार तथा मैसूर के औद्योगिक केन्द्रों के श्रमिको को लागू होता है। २७ मार्च सन् १९६० से आन्ध्रप्रदेश मे सिरपुर, बिहार मे डालमियानगर बजारी आदि, मद्रास में डालमियापुरम तथा मैसूर मे हुबली मे इस योजना का विस्तार किया गया है, जिससे १६,४५० श्रमिको को लाभ मिलेगा।[१]

सन् १९५८-५९ वर्षान्त मे श्रमिको का चन्दा ३·८१ करोड़ रुपये और नियोक्ताओ का चन्दा ६·९० करोड़ रुपये रहा। इसी अवधि मे बीमित व्यक्तियो को निम्न के लाभ दिए गए :—

बीमारी सम्बन्धी सुविधायें	१८५ लाख रु०
प्रसूति सम्बन्धी सुविधायें	१०·२६ ,,
अयोग्यता सुविधायें	४०·७१ ,,
आश्रित सम्बन्धी सुविधायें	९·३२ ,,
योग	२४५·२६ लाख रु०[२]

इसी वर्ष मे योजना के अन्तर्गत आन्ध्र, आसाम, बिहार, मैसूर, मध्य-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश तथा दिल्ली के क्षेत्रो में बीमित व्यक्तियो के ४·१० लाख परिवारो को चिकित्सा सुविधाओ का विस्तार किया गया है।

१. भारतीय समाचार अप्रैल १५, सन् १९६०
2 India—1960.

इस प्रकार राज्य कर्मचारी बीमा निगम अधिकाधिक सुविधायें देने के लिए प्रयत्नशील है। इस निगम का यही प्रयास है कि श्रमिक परिवारों को सभी राज्यों में चिकित्सा की समान सुविधायें मिलें।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) एवं श्रमिक—

हमारे श्रमिकों के लिए प्रारंभिक अवस्था में जो भी विधान स्वीकृत हुए एवं सुधार किये गये उनका बहुत सा श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को है। इसी संगठन के वार्षिक अधिवेशनों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि अपने-अपने देश के श्रमिकों की चर्चा कर उसमें सुधार करने के लिए प्रस्ताव स्वीकार करते हैं एवं किन देशों में उन पर कार्यवाही हो रही है, इसकी जाँच भी करते हैं। इस संगठन की स्थापना (सन् १९१९) के समय से ही भारत इसका सदस्य है एवं उसकी शासकीय सभा पर सन् १९२२ से अपना स्थायी रूप में एक प्रतिनिधि रखने का भारत को अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के ९० प्रस्तावों (Conventions) में से भारत ने २३ प्रस्तावों का अवलम्ब कर मजदूर-अधिनियमों में आवश्यक संशोधन किये हैं।

इनमें से निम्न प्रतिज्ञा प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण हैं :—

(अ) औद्योगिक संस्थानों के काम के घन्टे सीमित करना,
(आ) स्त्रियों एवं १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को रात पाली में काम देने पर रोक,
(इ) दुर्घटना अथवा मृत्यु की दशा में श्रमिक की हानिपूर्ति,
(ई) डॉक-श्रमिकों की दुर्घटनाओं से सुरक्षा,
(उ) किसी प्रकार के अनिवार्य श्रम (बेगार) पर रोक,
(ऊ) श्रम-परीक्षण की पद्धति, तथा
(ए) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।

इस संस्था के दो सम्मेलन भारत में हुए, पहिला सन् १९४७ में तथा दूसरा नवम्बर सन् १९५७ में। इसके सिवा इस संगठन से भारत को विशेषज्ञों की सुविधाएँ तथा प्रशिक्षण सुविधायें भी मिलती हैं।

उपसंहार—

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने नये नये विधानों द्वारा गत ५ वर्षों में पर्याप्त सुविधाएँ दी हैं और मजदूरों ने भी सरकार के हाथ मजबूत बनाने में सहयोग दिया है। क्योंकि औद्योगिक कलहों की संख्या कम हो रही है। अब मजदूरों को यह विश्वास है कि वे नियोक्ताओं की दया पर ही निर्भर नहीं हैं, अपितु देश की औद्योगिक प्रगति में उनका भी उतना ही हिस्सा है, जितना मिल मालिकों का। भारत के औद्योगीकरण की नवीन योजनाओं के साथ मजदूरों की माँग भी बढ़ेगी और उनका महत्त्व बढ़ता जायगा। देश की कोई भी औद्योगिक योजना तब तक सफल नहीं होगी

विभिन्न यातायात-साधनों में सामञ्जस्य लाने के लिए युद्ध यातायात सभा की स्थापना हुई। इसके सामने तीन समस्यायें थी :—

(अ) रेल्वे से अधिक से अधिक युद्ध सामग्री एवं सेना को भेजना।

(ब) यातायात के अन्य साधनों को प्राप्त करना।

(क) उपरोक्त शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक आयोजन करना।

इस सभा की सिफारिश के अनुसार फरवरी सन् १९४२ में केन्द्रीय यातायात-सगठन का निर्माण किया गया तथा इसके साथ सामजस्य करने के लिए प्रान्तीय प्रादेशिक यातायात सभाओं का निर्माण भी हुआ। इन सभाओं का काम रेलों पर भीड़ कम करना था। इसलिये ये अन्य मार्गों से माल आदि के यातायात को भेजने का प्रयत्न करते थे। फिर भी समस्या का हल नहीं हुआ। इसलिए प्राथमिकता-पद्धति अपनाई गई, जिसके अनुसार केवल आवश्यक वस्तुओं को ही रेल द्वारा यातायात में प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी रेल्वे में भीड़ कम नहीं हुई। माल के यातायात के दर भी बढ़ाये गये, परन्तु इसमें भी कमी नहीं आई। सन् १९३९-४० में जहाँ यात्रियों की संख्या ५३ करोड़ थी वह सन् १९४४-४५ में ९३ करोड़ हो गई। इसी प्रकार माल यातायात में जहाँ सन् १९३९-४० में रेल द्वारा ९·२० करोड़ टन भेजा जाता था वहीं सन् १९४४-४५ में १०·२ करोड़ भेजा जाने लगा। ऐसी स्थिति में भी भारतीय रेलों ने देश की सैनिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की, जो सराहनीय है।

युद्धोत्तर-काल में

सैनिकों का विस्थापन, अतिरिक्त सैनिक सामग्री का तथा कमी वाले प्रदेशों में अन्न अन्न का यातायात करने की जिम्मेवारी रेल्वे पर आ गई। इसने रेल्वे यातायात की दशा और भी खराब हो गई। क्योंकि युद्धोत्तर-काल में रेल्वे की समस्यायें ऐसी थी जिनका तत्कालीन हल सम्भव नहीं था, जैसे—रेल्वे के इञ्जनों का नवीनीकरण आदि। साथ ही, सन् १९४७ में देश विभाजन ने समस्या को और भी गम्भीर बना दिया।

देश का विभाजन होने के कारण भारतीय रेल मार्गों का बहुत सा भाग पाकिस्तानी प्रदेश में गया। जो रेल मार्ग विभाजन से विशेष प्रभावित हुए उनमें नॉर्थ-वेस्टर्न रेल्वे, आसाम रेल्वे, बंगाल एवं आसाम रेल्वे तथा जोधपुर रेल्वे थी, जिनका ७,००० मील लम्बाई का मार्ग पाकिस्तानी हिस्से में गया। विभाजन से भारतीय रेलों की स्थिति निम्न हो गई :—

	भारत	पाकिस्तान
रेल्वे इञ्जन	७,२४८	१,३३९
सवारी डिब्बे	२०,१६६	४,२८०
माल के डिब्बे	२,१०,०९९	४०,२२१
रेल मार्ग	३०,०१७ मील	६,९५७ मील
रेलों में लगी हुई पूँजी	९६७·७३ करोड़ रु०	१३६ करोड़ रु०

होने लगी, इसलिए उन्होने भारत-सचिव पर इस बात का दबाव डाला कि वे भारत मे कारखानो के नियन्त्रण के लिए ब्रिटिश फैक्टरी एक्ट लागू करें। फलस्वरूप सन् १८७६ मे फैक्टरी आयोग की नियुक्ति हुई तथा भारत में सन् १८८१ मे पहला फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इस कानून की प्रमुख बातें निम्नलिखित थी :—

(१) यह अधिनियम उन समस्त कारखानो पर लागू होता था, जिनमें १०० से अधिक मजदूर काम करते हो एवं शक्ति का उपयोग होता हो। [बगीचा उद्योग इसमे नही था]।

(२) ७ वर्ष से कम आयु के बच्चे फैक्टरी मे काम नही कर सकते थे तथा ७ से १२ वर्ष की आयु के बच्चो से प्रति दिन ९ घन्टे से अधिक काम नही लिया जा सकता था, जिसमे १ घन्टे का अवकाश भी सम्मिलित था। ऐसे बालकों को मासिक चार छुट्टियाँ देना अनिवार्य कर दिया गया।

इस अधिनियम से किसी को भी सन्तोष न हुआ। इसके बाद सन् १८८२ में फैक्टरी निरीक्षक श्री जिन्स की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोट मे श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये, अतएव बम्बई सरकार ने सन् १८८४ मे एक समिति की नियुक्ति की, जिसका कार्य इन सिफारिशो को फैक्टरी मे लागू करने के सम्बन्ध मे विचार करना था। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन भी हुआ तथा मैन्चेस्टर के वस्त्र उद्योगपतियो ने भारत मे अंग्रेजी फैक्टरी विधान लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला। फलस्वरूप सन् १८९१ में दूसरा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी प्रमुख धाराएँ :—

(१) यह विधान ५० से अधिक मजदूर काम करने वाले एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानो पर लागू होता था। स्थानीय सरकार को यह अधिकार दिया गया था कि वह यह विधान २० व्यक्ति तक काम करने वाले कारखानो पर लागू कर सके।

(२) बच्चो की न्यूनतम् एवं अधिकतम् आयु ९ से १४ वर्ष कर दी गई तथा उनके काम के ७ घन्टे प्रति दिन नियमित किये गये।

(३) स्त्री मजदूरो से प्रति दिन ११ घन्टे से अधिक काम नही लिया जा सकता था, जिसमे १½ घन्टे का विश्राम भी देना था। परन्तु स्त्रियों से प्रातः ५ बजे से पूर्व एवं सायंकाल ७ बजे के बाद काम नहीं लिया जा सकता था।

(४) पुरुष-मजदूरों को ½ घन्टे का अवकाश एवं १ साप्ताहिक छुट्टी की व्यवस्था की गई। इसके अलावा फैक्टरी के सुधार के लिए भी आयोजन किया गया था।

कुछ वर्षों बाद सन् १९०४ में आर्थिक तेजी आई जिससे वस्त्र-उद्योग में अधिक घन्टे अतिरिक्त काम लिया जाने लगा। पटसन व्यवसाय की भी प्रगति होने

लगी। लड्काशायर के वस्त्र-व्यवसायियों एवं डंडी के पटसन व्यवसायियों की दृष्टि से यह अधिनियम सन्तोषजनक नहीं था। इसलिए भारत सरकार ने सन् १६०७ में एक आयोग की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १६११ का फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ थीं :—

(१) यह विधान मौसमी कारखानों पर भी लागू किया गया।

(२) बच्चों के काम के ६ घन्टे प्रति दिन निर्धारित किये गये तथा उनकी आयु एवं शारीरिक योग्यता का प्रमाण आवश्यक कर दिया गया।

(३) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् घन्टे १२ निश्चित किये गये, जिसमें ½ घन्टे का विश्राम सम्मिलित था।

(४) स्त्री मजदूरों से धुनाई कारखानों के अतिरिक्त अन्य कारखानों में रात को काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) इस अधिनियम से मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए भी काफी व्यवस्था की गई।

इस विधान को सन् १६१४-१६१६ के युद्ध-काल में कुछ शिथिल कर दिया गया था, परन्तु युद्धोत्तर-काल में श्रम-सङ्घ आन्दोलन ने जोर पकड़ा तथा सन् १६२० में भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ का सदस्य बना। इन दोनों घटनाओं से मजदूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए कानून की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलतः सन् १६२२ में चौथा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ :—

(१) २० अथवा इससे अधिक मजदूर एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानों पर यह लागू होता था।

(२) स्थानीय सरकार को अधिकार था कि वह इस विधान को किसी भी कारखाने पर लागू कर सकती थी, जिसमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हों।

(३) बच्चों की कार्य करने की आयु १२ से १५ वर्ष तक निश्चित कर दी गई।

(४) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् दैनिक घन्टे ११ तथा साप्ताहिक घन्टे ६० निश्चित किये गये।

(५) सभी मजदूरों के लिए एक घन्टा दैनिक विश्राम निश्चित किया गया तथा कोई भी मजदूर लगातार १० दिन से अधिक दिन बिना छुट्टी के गैर हाजिर नहीं रह सकता था। साधारणतः १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई।

(६) इसी प्रकार खतरनाक उद्योगों में १७ वर्ष से कम आयु के बच्चे एवं स्त्री मजदूरों से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इस विधान में कुछ थोड़े से संशोधन सन् १६२३ एवं सन् १६२६ में किए गये। तदुपरान्त मजदूरों की फैक्टरी में काम करने की स्थिति एवं तत्कालीन फैक्टरी

विधान का अध्ययन करने के उपरान्त सुझाव प्रस्तुत करने के लिए व्हिटले कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। फलस्वरूप पाँचवाँ फैक्टरी एक्ट सन् १९३४ पास हुआ। इसकी मुख्य विशेषताएँ :—

(१) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानों में काम पर नहीं रखे जा सकते थे, परन्तु जो १२-१५ वर्ष आयु के होते थे उन्हें खतरनाक उद्योगों में नियुक्त नहीं किया जा सकता था।

(२) बाल-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे ५ निश्चित किए गये तथा उनसे रात में काम लेने पर रोक लगाई गई।

(३) वयस्क-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे १० तथा कुल साप्ताहिक घन्टे ५४ निश्चित किए गये। परन्तु दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने वाले कारखानों के लिए साप्ताहिक घन्टे ५६ नियत किए गये। मौसमी कारखानों के लिए साप्ताहिक काम के घन्टे ६० निश्चित किए गये। इस प्रकार इस अधिनियम ने स्थायी एवं मौसमी कारखानों को विभक्त किया गया।

(४) १५ से १७ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों को 'युवा' की श्रेणी में रखा गया तथा डॉक्टरी प्रमाण-पत्र के बिना इनसे वयस्क व्यक्तियों का काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए अन्य आयोजन किए गये, जैसे— (अ) पीने के लिए स्वच्छ पानी, (ब) प्राथमिक औषधोपचार, (स) ५० से अधिक स्त्री मजदूर काम करने वाले कारखानों में झूले (Creches) लगाना, (द) कारखानों में नमी रखने (Artificial Humidity) का प्रबन्ध इत्यादि।

सन् १९३४ के फैक्टरी एक्ट में संशोधन करने के लिए सन् १९४६ में फैक्टरी संशोधन विधान पास हुआ। इस विधान के अनुसार :—

(१) स्थायी कारखानों के काम के साप्ताहिक घन्टे ४८ तथा मौसमी कारखानों के साप्ताहिक घन्टे ५० कर दिए गये।

(२) 'फैलाव' (Spread-over) का सिद्धान्त जो सन् १९३४ के फैक्टरी विधान द्वारा लागू किया गया था, उसका समय स्थायी कारखानों में एवं मौसमी कारखानों में क्रमशः १० और ११ घंटे कर दिया गया।

(३) अतिरिक्त मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अतिरिक्त मजदूरी की दर औसत मजदूरी की दुगुनी कर दी गई।

तदुपरान्त सन् १९४८ में उन सब फैक्टरी-एक्टों को रद्द कर दिया गया, जो उस समय तक पास किये गये थे तथा उनका एकत्रित कर नया फैक्टरी विधान बनाया। इस नये विधान की प्रमुख बातें हैं :—

(१) यह विधान सभी औद्योगिक संस्थाओं को, जिनमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हों एवं शक्ति का उपयोग होता हो तथा जहाँ २० से अधिक मजदूर कार्य करते हों, किन्तु शक्ति का उपयोग न होता हो, लागू होगा।

(२) इस विधान से स्थायी एवं मौसमी कारखानों का भेद समाप्त कर दिया गया।

(३) बाल श्रमिकों की न्यूनतम आयु १४ वर्ष निश्चित की गई है तथा 'युवा' के लिये अधिकतम आयु १७ वर्ष कर दी गई।

(४) वयस्क श्रमिकों के लिये काम के साप्ताहिक घण्टे ४८ तथा दैनिक घण्टे ८ निश्चित कर दिये गए। 'फैलाव' दिन में १०½ घण्टे निश्चित किया गया है।

(५) बाल एवं युवा मजदूरों के लिये काम के दैनिक घण्टे ४½ तथा फैलाव ५ घण्टे निश्चित किया गया है।

(६) कोई भी वयस्क श्रमिक ½ घण्टे का विश्राम लिये बिना लगातार ५ घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(७) स्त्री एवं बाल मजदूरों से सायं ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक काम नहीं लिया जा सकता।

(८) अतिरिक्त काम के लिये मजदूरों को उनकी साधारण मजदूरी की दुगुनी मजदूरी देने की व्यवस्था की गई है।

(९) मजदूरों के लिये १ दिन के साप्ताहिक अवकाश की व्यवस्था की गई। इसके अलावा लगातार १२ माह की नौकरी करने वाले वयस्क मजदूर को प्रति २० दिन के पीछे १ दिन की सवेतन छुट्टी लेने का अधिकार मिला, परन्तु न्यूनतम १० दिन की सवेतन छुट्टी वह एक वर्ष में ले सकेगा। बाल-मजदूरों के लिये प्रति १५ दिन पीछे १ छुट्टी, परन्तु न्यूनतम १४ दिन सवेतन छुट्टी वह ले सकेगा।

(१०) स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं श्रम-सुधार कार्य के लिये स्पष्ट रूप से पर्याप्त प्रबन्ध किया गया।

(११) यह विधान भारत के सभी प्रान्तों एवं विलीन राज्यों को लागू होगा तथा राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिये गये हैं।

खान में काम करने वाले श्रमिकों के लिये—

खान में काम करने वाले श्रमिकों के लिए सर्व प्रथम सन् १९०१ में वैधानिक आयोजन किया गया, जब भारतीय खान विधान १९०१ पास हुआ। इस विधान से खान-निरीक्षकों की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया। सन् १९२३ में इस विधान में मूलगामी परिवर्तन हुए, जिनके अनुसार :—

(१) जमीन के नीचे १३ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लेने के लिये रोक लगा दी गई।

(२) जमीन के ऊपर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों से साप्ताहिक ६० घण्टे से अधिक तथा जमीन के नीचे काम करने वाले वयस्क-श्रमिकों से ५४ साप्ताहिक घण्टों से अधिक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(३) स्थानीय सरकारों को यह अधिकार मिला कि वे स्त्री-मजदूरों को जमीन के नीचे काम कराने पर रोक लगा सकती थी।

इसके बाद ह्विटले कमीशन की सिफारिशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सन् १९३५ में खान-विधान में पुनः संशोधन किये गये। इसके अनुसार :—

(१) जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम के साप्ताहिक घण्टे ५४ तथा दैनिक १० घण्टे निश्चित किये गये।

(२) जमीन के नीचे काम करने वाले खान मजदूरों के दैनिक घण्टे ९ निश्चित किये गये और साप्ताहिक घण्टों की सीमा हटा दी गई।

(३) खान में अथवा खान पर काम करने वाले बाल श्रमिकों की न्यूनतम आयु १५ वर्ष निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार १५ से १७ वर्ष तक की आयु वाले श्रमिकों को बिना डाक्टरी प्रमाण पत्र के खानों में काम पर लेने की रोक लगा दी गई।

इस विधान में सन् १९३६, १९३७, १९४० तथा १९४६ में संशोधन हुए। इन संशोधनों के अनुसार :—

(१) यह विधान सभी खानों पर लागू होगा। इस विधान में 'खान' की स्पष्ट परिभाषा भी दी गई है।

(२) जमीन पर काम करने वाले खान श्रमिकों के दैनिक घण्टे १० तथा अधिकतम फैलाव १२ घण्टे निश्चित किया गया, जिसमें ६ घण्टे काम के बाद १ घण्टे का विश्राम भी सम्मिलित है। जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिकों के लिये यही समय ९ घण्टे है।

(३) सभी खान श्रमिकों के साप्ताहिक घण्टों की सीमा ५४ निश्चित की गई है। कोई भी व्यक्ति खान में एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता।

(४) स्त्री एवं पुरुष श्रमिकों के लिए अलग अलग लॉकर रूम एवं स्नान-गृहों का प्रबन्ध कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को मिला है। तदनुसार भारत सरकार ने आदर्श नियम (Pit Headbath Rules) बनाये हैं।

इन सम्पूर्ण विधानों का एकीकरण करने तथा उनको फैक्टरीज एक्ट सन् १९४८ के बराबरी में रखने के लिए, भारतीय खान अधिनियम सन् १९५२ में स्वीकृत

हुआ। इस अधिनियम में उपरोक्त विभिन्न विधानों की सभी धाराओं का समावेश किया गया है। साथ ही :—

(१) १५ वर्ष से कम आयु के बालकों को खानों मे काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया है।

(२) कोई भी व्यक्ति, जिसकी आयु १७ वर्ष की है, खानो में तब तक काम पर नहीं लिया जा सकता, जब तक उसके पास योग्यता सम्बन्धी डाक्टरी प्रमाण-पत्र न हो।

बगीचा-उद्योग —

बगीचा-उद्योग में काम करने वाले मजदूरों के सम्बन्ध में सबसे पहिला अधिनियम सन् १९३२ में बनाया गया। यह विशेष रूप से बगीचे पर काम करने के लिए मजदूरों की भर्ती करने के सम्बन्ध मे ही है। इस अधिनियम के अनुसार :—

(१) चाय के बगीचों मे काम करने वाले मजदूर एवं उनके कुटुम्बियों को प्रत्येक तीन वर्ष के अन्त में अपने घर जाने का व्यय नियोक्ताओं से प्राप्त करने का अधिकार मिला।

(२) प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे किसी भी क्षेत्र को नियन्त्रित क्षेत्र (Controlled Emigration) घोषित कर सकते हैं।

(३) मजदूर नियन्त्रणकर्त्ता (Controller of Emigrant Labour) की नियुक्ति का आयोजन किया गया।

(४) कोई भी १६ वर्ष से कम आयु का बालक अपने सम्बन्धियों अथवा माता पिता के साथ ही आसाम में जा सकता था। इसी प्रकार विवाहित स्त्री अपने पति के साथ होने पर ही आसाम में बगीचों मे काम करने के लिए जा सकती थी, अन्य नहीं।

इस विधान के पश्चात् दूसरा बगीचा-मजदूर-विधान सन् १९५१ मे बनाया गया, जो चाय, रबर सिनकोना आदि सभी बगीचे के उद्योगो पर लागू होता है, जिनमें न्यूनतम् ३० श्रमिक काम करते हो और जिनका क्षेत्र २५ एकड़ या अधिक हो। इस विधान के अनुसार :—

(१) वयस्क श्रमिकों के काम के साप्ताहिक घन्टे ५४ तथा अवयस्कों के ४० घन्टे अधिकतम निश्चित किए गये।

(२) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चों को नियुक्ति नहीं की जा सकेगी।

(३) स्त्री श्रमिक एवं बच्चों से सायं ७ से प्रातः ६ बजे तक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(४) इसके अलावा श्रमिकों के स्वास्थ्य, कल्याण कार्य, शिक्षा, छुट्टियाँ तथा अवकाश के नियमन की भी व्यवस्था की गई।

यातायात-उद्योग—

रेल कर्मचारियों के काम के घण्टे तथा विश्राम का समय निश्चित एवं नियमित करने हेतु इण्डियन रेल्वेज एक्ट सन् १८६० के ६वें अध्याय में सन् १९३० में संशोधन किया गया। इस संशोधित कानून के अनुसार फैक्टरी एक्ट तथा खान के एक्ट के अन्तर्गत आने वाले रेल कर्मचारियों को छोड़ कर अन्य सभी रेलों के कर्मचारियों के काम के घण्टे ८४ प्रति सप्ताह तथा अन्य कार्य के लिए ६० घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किए गए। इसके अनुसार मजदूरों को दो वर्गों में बांटा गया :—एक वे जो लगातार काम करते हैं तथा दूसरे वर्ग में वे जो आवश्यक रूप से पारी-पारी (Intermittant) में काम करने वाले हैं। काम के समय आवश्यक विश्राम व सुविधाएँ देने का एवं उसकी देखभाल करने का भी उचित प्रबन्ध इस कानून से किया गया। सन् १९४६ से इस कानून के पालन की जिम्मेदारी प्रमुख श्रम कमिश्नर (केन्द्रीय) की हो गई है।

व्यापारी जहाजों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए सन् १९२३ में 'इण्डियन मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट' बनाया गया। इस विधान में सन् १९३१ में संशोधन हुआ, जिसके अनुसार जहाजों एवं समुद्र पर काम करने वाले बालकों की, युवकों की ट्रिमर्स एवं स्टोकर्स के लिए भरती करने की कम से कम आयु, बेकारी की दशा में हानि-पूर्ति, शारीरिक योग्यता की जाँच एवं प्रमाण-पत्र, जहाज से माल उतारने वाले एवं लादने वाले श्रमिकों की सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था की गई।

इसके पश्चात् बन्दरगाहों पर काम करने वाले संयोगिक श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए सन् १९४८ में 'डॉक वर्कर्स (एम्पलॉयमेन्ट ऑफ रेग्यूलेशन) एक्ट' बनाया गया। इस कानून से केन्द्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों को बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिकों की सुविधाओं आदि के लिए तथा उनको नियमित रोजगार देने के लिए आवश्यक नियम बनाने के अधिकार मिले।

अन्य अधिनियम—

श्रमिक क्षति पूर्ति अधिनियम सन् १९२३—

सन् १९२३ में यह अधिनियम प्रथम बार बना, जिसमें क्रमशः सन् १९२६, सन् १९२९ सन् १९३१ तथा सन् १९३३ में निम्न संशोधन किये गये थे:—

(१) किसी भी रोजगार पर होने वाली क्षति, रोजगार सम्बन्धी बीमारी अथवा ऐसी बीमारी एवं क्षति से होने वाली मृत्यु से किसी व्यक्ति की हानि से क्षतिपूर्ति करने का दायित्व नियोक्ता पर होगा। परन्तु क्षति पूर्ति का अधिकार किसी भी व्यक्ति को तभी मिलता है, जब उसकी कोई भी चोट अथवा उसकी मृत्यु काम करने के समय हुई हो। यदि व्यक्ति को नशे की हालत में अथवा अपने कार्य की उपेक्षा से अथवा सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की अवहेलना से हानि होती है तो नियोक्ता उसकी क्षति पूर्ति के लिए बाध्य नहीं है। तीसरे, यदि चोट में अथवा बीमारी से होने

निर्माण से जनता की गत ३२ वर्ष की माँग पूरी होकर देश हित में भाड़ा-नीति हो सकती है।

रेलों का अर्थ-प्रबन्ध—

रेलों के विकास के प्रारम्भ से ही रेलों की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की वित्त व्यवस्था का एक अंग थी। प्रारम्भ से सन् १८९८ तक रेलवे यातायात से सरकार को गारन्टी के कारण प्रति वर्ष हानि होती रही, जिसकी कुल राशि ५८ करोड़ रु० थी। सन् १८९८ में ही सर्व प्रथम रेल यातायात लाभकर साधन हुआ, जिसके बाद अपवाद के लिए सन् १९०८ और १९२१ के वर्षों के अलावा रेलें लाभकर प्रमाणित होती गईं।

रेलों की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऑक्वर्थ समिति ने सन् १९२१ में जाँच की और साधारण बजट से रेल-बजट को पृथक करने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश की पृष्ठभूमि में अनेक कारण थे, जैसे—

(१) रेलों का वित्तीय प्रशासन के लिये साधारण बजट पर निर्भर रहना, जिससे रेलों का प्रबन्ध विशुद्ध वाणिज्य सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता था, फलतः उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती थी।

(२) रेलों का वित्तीय प्रबन्ध पृथक होने से साधारण बजट में जो अनिश्चितता थी वह भी दूर हो जाती, क्योंकि रेलों के लाभ का सही अनुमान लगाना असम्भव था, जो व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति पर निर्भर था।

(३) सरकारी वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव रेल के वित्तीय प्रशासन पर होने से रेलों की वित्तीय नीति में समानता नहीं रह सकती थी। अतः उनको पृथक कर देना साधारण बजट एवं रेलों के वित्तीय प्रशासन के लिए वांछनीय समझा गया।

इस सिफारिश के अनुसार सन् १९२४ में संसद में रेलों की वित्तीय व्यवस्था के पृथक्त्व का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार रेल-बजट से भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि मिलना तय हुआ। यह राशि देशी राज्यों अथवा कम्पनियों की विनियोजित पूँजी को छोड़कर व्यापारिक रेलों की कुल पूँजी पर १% तथा भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित राशि देकर जो शेष रहे उसका २०% होगी। भारत सरकार को दी जाने वाली राशि चुकाने के बाद जो राशि बच रहेगी वह रेल संचित कोष में जमा होगी। ऐसी राशि ३ करोड़ रु० से अधिक होने पर अधिक राशि का ⅔ भाग संचित निधि तथा ⅓ भाग केन्द्रीय सरकार को दिया जावेगा। इस निधि को सरकार को वार्षिक निश्चित राशि का भुगतान करने, घिसावट की राशि, पूँजी की वापिसी तथा भारतीय रेलों की सुदृढ़ता के लिये व्यय किया जा सकता है। इसके अलावा रेलों की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक स्थायी वित्त समिति का निर्माण होगा, जिसमें एक सरकारी पदाधिकारी सभापति होगा तथा शेष ११ सदस्य केन्द्रीय संसद के मनोनीत व्यक्ति होंगे।

है । यह अधिनियम रेल्वे, खान, कारखाने, बगीचे तथा यातायात की कुछ श्रेणियों में लागू होता है ।

न्यूनतम् मजदूरी अधिनियम सन् १९४८—

भारतीय मजदूरों के लिए समय-समय पर जो अधिनियम बने उनमें किसी भी प्रकार के मजदूरों की न्यूनतम् मजदूरी का आयोजन नहीं था । इस कारण मजदूरों का नियोक्ताओं द्वारा शोषण होता रहा । इस शोषण का अन्त करने तथा मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी नियत करने के लिए सर्व प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने सन् १९२८ में प्रस्ताव पास किया । इसी आधार पर भारत में व्हाइट श्रम आयोग (सन् १९३१) ने न्यूनतम् मजदूरी नियत करने की सिफारिश की, परन्तु विदेशी सरकार ने इस दिशा में कुछ न किया । भारत स्वतन्त्र होते ही सन् १९४८ में न्यूनतम् भृति अधिनियम पास हुआ :—

(१) यह ऐसे सब कारखानों पर लागू होता है, जहाँ १,००० या इससे अधिक मजदूर काम करते हैं ।

(२) अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम् समय मजदूरी, न्यूनतम् कार्य मजदूरी, गारंटीड समय मजदूरी तथा उद्योग, क्षेत्र एवं कार्य की विभिन्नता के अनुसार समुचित अतिरिक्त मजदूरी (Overtime wage) नियत करने का आयोजन है ।

(३) यह अधिनियम अनुसूचित उद्योगों में ही लागू होगा, परन्तु राज्य सरकारें तीन मास की सूचना देकर इसे अन्य किसी भी उद्योग में लागू कर सकेंगी ।

(४) न्यूनतम् भृत्ति निश्चित करने के लिए सरकार को समितियाँ एवं उप-समितियाँ बनाने का अधिकार है । इनकी क्रियाओं में सामंजस्य लाने के लिये केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय सलाहकार समितियाँ नियुक्त करेगी, जिनमें सरकार, नियोक्ता एवं मजदूरों के प्रतिनिधि होंगे ।

इस अधिनियम के अनुसार अधिकांश अनुसूचित उद्योगों की न्यूनतम् भृत्ति दरें निश्चित की गई हैं । सन् १९५७ के संशोधन से ३१ दिसम्बर सन् १९५९ के अन्त तक कृषि तथा अनुसूचित उद्योगों के श्रमिकों की प्रारम्भिक न्यूनतम् दरें निश्चित हो जावेंगी ।*

उचित भृत्ति—

उचित-मजदूरी-समिति की सिफारिशों के अनुसार अगस्त सन् १९५० में एक विधेयक भारतीय संसद में प्रस्तुत किया गया था । उचित मजदूरी की दर न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं होगी । उचित भृत्ति निम्न बातों पर निर्भर रहेगी:—(१) राष्ट्रीय

* India—1960

आय, (२) मजदूरी की वर्तमान दरें, (३) उद्योग की उत्पादनशीलता तथा (४) मजदूरों की कार्य क्षमता, परन्तु यह विधेयक पास नहीं हो सका।

कुछ भी हो, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से मजदूरों को न्यायोचित मजदूरी देना समय की मांग है। यह मजदूरी निश्चित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि देश में रोजगारी के अवसर अधिकतम् हो। साथ ही, वर्तमान मजदूरी की दरें एक दम न बढ़ाते हुए क्रमशः बढ़ानी चाहिए, जिससे मूल्यस्तर में स्थिरता रहे।

समुचित मजदूरी की दरें निश्चित करते समय योजना आयोग के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) श्रमिकों को राष्ट्रीय आय का उचित भाग मिले, इसलिये मजदूरी सम्बन्धी सभी सुधार सामाजिक सिद्धान्तों के अनुकूल हों तथा उनका हेतु आर्थिक विषमता अधिकतम् सीमा तक दूर करने का हो।

(२) जीवन मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिकों की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, मानसिक एवं शारीरिक आवश्यकताएँ, खतरों आदि की ओर ध्यान दिया जाय।

(३) विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों के कार्यभार का वैज्ञानिक निर्धारण किया जाय।

(४) इस सम्बन्ध में पिछड़े हुए क्षेत्रों को प्रधानता दी जाय।

(५) त्रिदल पद्धति पर केन्द्र एवं प्रान्तों में स्थायी-युक्त सभाएँ बनाई जायें, जो मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं का हल एवं परिस्थिति के अनुसार मजदूरी का मिलान करें।

उपसंहार—

इन अधिनियमों के होते हुए भी इनमें कतिपय दोष हैं, जैसे—एक ही विषय पर केन्द्रीय एवं राज्य अधिनियमों में विषमता, अधिनियमों का कड़ाई से पालन न होना। अतः इस सम्बन्ध में केन्द्रीय आधार पर ही अधिनियम बनाये जायें तो अच्छा होगा तथा कम्पनी लॉ प्रशासन की तरह ही श्रम अधिनियम प्रशासन का निर्माण किया जाय तो इन अधिनियमों का कड़ाई से एवं पूरी तरह पालन हो सकेगा।

अध्याय १२

पंच-वर्षीय योजना में श्रम-नीति एवं कार्यक्रम

(Labour Policy & its Programme in Five-Year Plan)

प्रथम पंच वर्षीय योजना की श्रम-नीति में नए अधिनियम बनाने की अपेक्षा तत्कालीन अधिनियमों के प्रभावी प्रशासन पर जोर दिया गया था। औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए विभिन्न स्तरों पर संयुक्त परामर्श प्रस्तावित किया गया था। योजनाकाल में श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी में सुधार करने का विचार था। इसी के साथ श्रमिक राजकीय बीमा, श्रमिकों का प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा सहायता गृह निर्माण योजना आदि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित करने का लक्ष्य था। कारखाने, बगीचे एवं खानों के श्रमिकों की काम करने की दशाओं में भी सुधार करना था। श्रमिकों की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्पादन की समस्याओं का यथाविधि अध्ययन करने के लिए केन्द्रीय श्रम इन्स्टीट्यूट की स्थापना तथा कुछ उद्योगों की उत्पादनशीलता का अध्ययन करने का निश्चय लिया गया था। साथ ही, अनेक प्रान्तों में श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना भी करनी थी।

इस अवधि में औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार हुआ है तथा इस योजना में विभिन्न प्रस्तावों के अनुसार सरकार, उद्योग एवं श्रमिकों के सहयोग से कार्य किया गया है। नियोक्ताओं ने काम करने की दशा सुधारने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता दिखलाई है तथा श्रमिक वर्ग ने भी राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने में अपना योग देने की तत्परता का परिचय दिया है।

दूसरी योजना में श्रम-नीति—

प्रथम पंच वर्षीय योजना में निर्धारित श्रम-नीति तथा औद्योगिक सम्बन्धों के विषय के दृष्टिकोण की प्रमुख बातें दूसरी योजना की अवधि में भी लागू होंगी। यद्यपि समाजवादी पद्धति की समाज रचना करने के निश्चय के कारण इस नीति में कुछ परिवर्तन एवं अनुकूलता लाई गई थी। सरकारी क्षेत्र के विस्तार से इस क्षेत्र के मजदूरों पर अधिक जिम्मेवारी आ गई है। सरकारी क्षेत्र के कारखानों में काम करने की दशाओं में निजी क्षेत्र के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने की यदि हम आशा करें तो सरकारी कारखानों के प्रबन्धकों को मजदूरों के हित के प्रति विशेष जागरूकता रखनी होगी। अतः ऐसी श्रम नीति का निर्धारण मजदूरों के प्रतिनिधि पनेल के सुझावों के

अनुसार किया गया था, जिससे सम्बन्धित पक्षों का समर्थन प्राप्त करे तथा उक्त उद्देश्यों की पूर्ति करे। इस पनेल का निर्माण सन् १९५५ में योजना आयोग ने किया था।

दूसरी योजना की अवधि में श्रमनीति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय विकास हुये। निजी एवं सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के लिए अनुशासन के आदर्श नियम (Code of discipline) बनाये गये हैं, जो स्वेच्छा से नियोक्ता एवं श्रमिकों के केन्द्रीय सगठनों ने स्वीकार किये है तथा सन् १९५८ के मध्य से लागू हैं। इन नियमों के अनुसार श्रमिक एवं नियोक्ताओं की परस्पर जिम्मेवारियों को निश्चित किया गया है, जिसमें सभी स्तरों पर परस्पर सहयोग एवं सद्भावना बढ़े तथा उत्पादन में रुकावट न आवे। श्रम कलहों का निपटारा आपसी समझौतों से हो, जिससे श्रम संघों का स्वतन्त्र गति से विकास हो सके। साथ ही मजदूर काम करने में उपेक्षा न करें और नियोक्ताओं की ओर से श्रमिकों के प्रति हिंसात्मक अथवा अनुचित दबाव-पूर्ण व्यवहार न हो। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार हुआ है तथा आपसी वैमनस्य कुछ अंश तक कम हुआ है। फिर भी निर्णय एवं समझौतों का पालन न होने की शिकायत दोनों ही पक्षों की ओर से हैं और यदि ये चालू रहती हैं तो "आदर्श नियमों" के मूल हेतु पर ही कुठाराघात होगा। इसलिए वैधानिक अथवा आदर्श नियम एवं समझौतों के कारण आने वाली जिम्मेवारियों की पूर्ति हो रही है। इसकी देख-रेख करने के लिये केन्द्र एवं राज्यों में मूल्यांकन एवं कार्यान्वयन के हेतु व्यवस्था की गई है।

दूसरे श्रमिकों का प्रशिक्षण एवं उनका प्रबन्ध में हिस्सा दिलाने के सम्बन्ध में पर्याप्त उन्नति हुई है। उक्त बातों की उपयोगिता दूसरी योजना में प्रमाणित हो चुकी है, जिसका पूर्ण प्रभाव तीसरी योजना के पांच वर्षों में होगा।

तीसरी योजना में—

योजना में श्रम सम्बन्धी नीति का निर्धारण श्रम एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों के संयुक्त समझौतों एवं सलाह से किया गया है। इसी आधार पर तीसरी योजना में श्रम नीति एवं कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार हो रहा है और अनेक मामलों में इस सम्बन्ध में निश्चित हो चुका है।

औद्योगिक कलहों का निपटारा न्यायालय तथा ट्रिब्यूनल्स के माध्यम से न्यूनतम करने के प्रयत्न होंगे, जिससे झगड़ों के निपटारे में अनावश्यक विलंब नहीं होगा। आपसी झगड़ों के निपटारे के लिये ऐच्छिक मध्यस्थ (arbitration) के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग करने की पद्धति का आयोजन होगा। अन्य क्षेत्रों में श्रम सम्बन्धी मामलों के प्रजातांत्रिक प्रशासन के लिये सक्रिय साधन बनाने के लिये वर्क्स समितियों को शक्तिशाली बनाया जायगा। साथ ही, सभी औद्योगिक संस्थानों में लागू करने के लिये उचित शिकायत-पद्धति (Grievance Procedure) का अवलंब होगा।

श्रम-संघों का आपसी वैमनस्य दूर करने के लिये कार्यवाही की जायगी। श्रमिकों का स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली संघ होना ही चाहिये, जिससे सामूहिक सौदेबाजी को औद्यो-

गिक सम्बन्धो मे उचित स्थान मिले। क्योंकि इसी पर देश के आर्थिक जीवन में श्रमिक के सक्रियता की क्षमता तथा उनकी स्थिति निर्भर है।

श्रमिकों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम दूसरी योजना मे अर्द्ध-स्वायत्त सभा के द्वारा सरकार ने प्रारम्भ किया था, जिसमे श्रमिक एवं नियोक्ताओं का पूर्ण सहयोग है। तीसरी योजना में इसका बड़े पैमाने पर विस्तार होगा। इसमे आशा है कि औद्योगिक प्रजातन्त्र सुदृढ होकर विकासशील अर्थव्यवस्था की उन्नति होगी।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

उद्योग हमारा है, इस भावना की वृद्धि कर उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिये श्रमिकों को प्रबन्ध मे भाग देने की व्यवस्था की गई थी, जो इस समय २४ उद्योगों मे संयुक्त प्रबन्ध परिषदों मे लागू है। इनका प्रमुख कार्य औद्योगिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण विषयों पर परस्पर विचार-विनिमय से निर्णय लेना है। मार्च सन् १९६० में इस पद्धति का परीक्षण किया गया तथा इसका क्रमशः विस्तार किया जायगा, जिसमे यह पद्धति औद्योगिक संगठन का एक साधारण अंग बने। श्रमिकों के जीवन स्तर, उत्पादनशीलता एवं औद्योगिक शान्ति की उन्नति इस पद्धति की सफलता का परिचय देगी।

उत्पादनशीलता का स्तर बढ़ाने के लिये "श्रम-कल्याण एवं कार्यक्षमता" के आदर्श नियम (Code of efficiency and Welfare of the Workers) बनाने का प्रस्ताव है। इसमे इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए श्रम एवं प्रबन्ध की जिम्मेवारियों का स्पष्टीकरण होगा तथा श्रम एवं प्रबन्ध में सही दृष्टिकोण का विकास होगा।

न्यूनतम् भृति अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम् भृति निर्धारण करने की जिम्मेवारी सरकार पर है। दूसरी योजना मे उद्योगों के बड़े क्षेत्रों के लिये भृत्ति सभाओं की स्थापना की सिफारिश थी तथा शेष क्षेत्रों में मध्यस्थता, सामूहिक सौदेबाजी आदि से भृत्ति का निर्धारण होना था। अभी तक वस्त्र, सीमेंट, एवं शक्कर उद्योगों मे न्यूनतम् भृत्ति लागू की गई है तथा परिस्थिति के अनुसार अन्य उद्योगों मे इसका विस्तार होगा। श्रम एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों ने इस नीति की पुनः पुष्टि (re affirmed) की है तथा उनका मत है कि भृत्ति सभा की सिफारिशों को पूरी तरह लागू किया जाय। समुचित भृत्ति समिति की रिपोर्ट में भृत्ति निर्धारण के व्यापक सिद्धान्त दिये है। इन महमति के अनुसार भृत्ति सम्बन्धी कलहों के निपटारे के लिये भारतीय श्रम सम्मेलन ने आवश्यक-आधारभूत न्यूनतम् भृत्ति का विश्लेषण (Contents of need-based minimum wage) संकेत किया है। इसका परीक्षण पुनः किया गया है और यह अनुभव किया गया है कि कुशल एवं अकुशल श्रमिकों की भृत्ति की असमानता इतनी कम हो गई है कि कुशलता के प्रलोभन अर्थहीन हो रहे है। जिन पहलुओं पर अध्ययन का संगठन प्रभावित है वे है :—

(१) भृत्ति-विषमताएँ (Differentials),

(ii) भृत्ति को उत्पादकता से सम्बन्धित करने के उपाय,
(iii) उत्पादकता को मापने की तकनीक तथा
(iv) वह स्तर जिस आधार पर उत्पादकता के लाभों का विभाजन होना है।

सामाजिक सुरक्षा—

वर्तमान सामाजिक सुरक्षा के साधनों के समन्वीकरण की योजना बनाने की सिफारिश एक अध्ययन दल ने की है; जिसका निर्माण होना है। भविष्य निधि योजना की दर ६¼% से ८⅓% करने की सिफारिश को सरकार ने मान्य किया है तथा कुछ उद्योगों में इसे लागू भी किया है, परन्तु उद्योगों की क्षमता में विभिन्नता होने से एक तकनीकी समिति का निर्माण किया गया है। यह समिति इस बात का निश्चय करेगी कि कौन से उद्योग इस अतिरिक्त भार को सहन नहीं कर सकेंगे। कर्मचारी राजकीय बीमा योजना के क्षेत्र का विस्तार किया जायगा तथा आवश्यकतानुसार विशेष अस्पतालों की सुविधाओं की व्यवस्था तीसरी योजना में की जायगी। बीमारी रोकने की ओर अधिक ध्यान एवं स्रोत दिये जायेंगे।

कृषि श्रमिकों के जीवन एवं कार्य करने की दशा पर सन् १९५०-५१ एवं सन् १९५६-५७ की कृषि श्रमिक जांच समितियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास योजनाओं के परिणामों को दूसरी जांच समिति ने आंका है। तदनुसार कृषि श्रमिकों को आर्थिक प्रगति के लाभों का उचित भाग दिलाने के लिए उनकी आवश्यकताएँ एवं समस्याओं की ओर तीसरी योजना में अधिक ध्यान दिया जायगा।

प्रशिक्षण—

तीसरी योजना में अधिक शिल्पियों की मांग की पूर्ति करनी होगी। इस हेतु शिल्प-प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जायगा। दूसरी योजना के प्रारम्भ में प्रशिक्षण क्षमता १०,५०० प्रशिक्षितों के लिए थी, जो सन् १९६०-६१ तक ४०,००० और तीसरी योजना के अन्त तक १ लाख प्रशिक्षितों की होगी। तीसरी योजना में प्रशिक्षण सुविधाओं के सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा। उम्मेदवारी प्रशिक्षण के सन्दर्भ में वैधानिक आयोजन अभी विचाराधीन है।

श्रमिकों की परिस्थिति एवं समस्याओं को समझने के लिए तथा वर्तमान सूचनाओं में जो कमी (gaps) है उसे दूर करने के लिए खोज-सुविधाओं का विस्तार करने की योजनाएँ विचाराधीन हैं।

उक्त श्रम-नीति से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार श्रमिकों को अधिकाधिक सुविधाएँ देने के लिए प्रयत्नशील है। परन्तु साथ ही उनसे वृद्धिगत उत्पादनशीलता एवं कार्य-क्षमता की अपेक्षा करती है। इसीलिए तीसरी योजना में उत्पादनशीलता तथा कुशलता बढ़ाने, औद्योगिक शान्ति आदि के लिए भी आवश्यक व्यवस्था करने का लक्ष्य है। अतः श्रमिकों एवं नियोक्ताओं को भी अपनी कर्तव्यपरायणता का परिचय देकर राष्ट्रीय सरकार को प्रोत्साहन देना चाहिए।

अध्याय १२

भारत में आर्थिक नियोजन

(Economic Planning in India)

"आर्थिक नियोजन का अर्थ ऐसे आर्थिक संगठन के निर्माण से है जिसमें निश्चित अवधि में जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए सभी उपलब्ध साधनों का नियन्त्रित उपयोग हो।"

आर्थिक नियोजन का अर्थ एवं उद्देश्य—

श्री एल० लॉविन के अनुसार नियोजन से तात्पर्य ऐसी आर्थिक संगठन प्रणाली के निर्माण से है जिसमें निश्चित अवधि में जनता का जीवन स्तर उन्नत करने के लिए समस्त उपलब्ध साधनों का नियन्त्रित उपयोग हो सके। अर्थात् नियोजन में कुछ निश्चित लक्ष्य होना, उसकी पूर्ति के लिए देश के उपलब्ध साधनों की पूर्ण जानकारी एवं उनके अधिकतम् प्रभावी उपयोग के लिए सुव्यवस्थित एवं नियन्त्रित कार्यक्रम होना चाहिए। आर्थिक योजना एवं नियोजित अर्थ-व्यवस्था में अन्तर है, यद्यपि दोनों शब्दों का प्रयोग विस्तृत रूप से एक ही अर्थ में किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक जीवन के यदि सम्पूर्ण नहीं तो कुछ विशेष पहलुओं के सरकार द्वारा नियन्त्रित एवं नियमबद्ध सचालन को नियोजन कहा जा सकता है।

नियोजन का उपयोग पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही अर्थ व्यवस्थाओं में होता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में योजना का कार्यक्रम इस दृष्टि से किया जाता है, जिसमें पूँजीवादी प्रथा के दोषों का निवारण हो। परन्तु साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में सरकार विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों का नियन्त्रण इस हेतु करती है, जिससे देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए आर्थिक साधनों का उपयोग हो सके तथा वितरण की विषमता का अन्त होकर सामाजिक जीवन सुखी हो।

इस प्रकार नियोजन का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित जीवन-स्तर प्रदान करना तथा उसके लिए आवश्यक भोजन, कपड़ा, आवास आदि आवश्यक सुविधाओं की अधिकतम् उपलब्धि कराना होता है।

भारत में नियोजन—

आज का युग योजनाओं का है, जिसमें कोई भी देश एवं व्यक्ति योजना बनाए बिना स्पर्धाशील विश्व में प्रगति नहीं कर सकता। योजना तो हमारे दैनिक जीवन का एक अग है। प्रत्येक कुटुम्ब में हम थोड़ा बहुत नियोजन करके ही अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था करते हैं। देश भी तो एक बड़ा कुटुम्ब ही है, उसमें तो योजना की आव-

श्यकता अत्यधिक है। क्योंकि जहाँ कौटुम्बिक नियोजन में कर्त्ता को केवल कुटुम्ब के ४-६ सदस्यों की अधिकतम भलाई देखना है, वहाँ देश की सरकार को सम्पूर्ण देश-वासियों की भलाई का ध्यान रखना है। योजना से देशवासियों की प्रगति को गति मिलती है, जिसका उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है। इसलिये, निश्चित सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये देश के साधनों का अनुमान लगाकर उनका उपयोग करने का अच्छा साधन नियोजन है।

भारत में देशव्यापी योजना की आवश्यकता तो पहिले से ही थी, परन्तु इस ओर सन् १९३७ में ध्यान दिया गया, जब देश में कांग्रेस मन्त्रि मण्डलों की स्थापना हुई। इस विचारधारा को अक्टूबर सन् १९३८ में रचनात्मक रूप मिला और श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण हुआ। इससे देश की आम जनता का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ। सितम्बर सन् १९३९ में युद्ध आरम्भ होने से तथा इस समिति के सदस्यों की गिरफ्तारी के कारण योजना समिति के कार्य में अनेक रुकावटें आईं। फिर भी समिति ने देश के विभिन्न आर्थिक पहलुओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री अपनी रिपोर्टों में प्रकाशित की है। फलस्वरूप आगे देश में अनेक योजनाएँ बनीं, जैसे—बम्बई योजना, पीपुल्स प्लान, गाँधीवादी योजना आदि, जिनका अब कोई महत्त्व नहीं है। भारतीय स्वतन्त्रता के बाद सन् १९५१ में आई स्वतन्त्र भारत की प्रथम पंच-वर्षीय योजना।

सन् १९४६ में सलाहकार योजना सभा का निर्माण योजना की दिशा में महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय कदम था। इस सभा के सभापति श्री के० सी० नियोगी थे। इसका उद्देश्य देश में बनाई गई विभिन्न योजनाओं की समालोचना कर उस सम्बन्ध में सिफारिश करना, कार्यक्रमों की प्राथमिकता तथा योजना-यन्त्र के सामंजस्य के सम्बन्ध में सिफारिश करना था। इस सभा ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४६ के अन्त में प्रस्तुत की, जिसमें योजना का प्रमुख हेतु सामान्य जीवन-स्तर को उन्नत करना तथा सबके लिए उपयुक्त रोजगार देना बताया गया। साथ ही, रिपोर्ट में देश के स्रोतों का अधिकतम विकास तथा उससे निर्मित सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर दिया। परन्तु उसने कोई भी निश्चित लक्ष्यों की सिफारिश नहीं की। इस सम्बन्ध में सभा का मत था:—"वर्तमान समय में भारत में पर्याप्त एवं कोऑर्डिनेटेड ज्ञान तथा आर्थिक क्रियाओं पर पर्याप्त एवं विस्तृत नियन्त्रण नहीं है, जिससे योजना अथवा शासकीय योजनाएँ बनाई जा सकें, जिनका संयुक्त प्रभाव निश्चित राशि से प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि हो सके।"[1] इसके अलावा सभा ने प्राथमिकता के सम्बन्ध में यह सिफारिश की थी कि सुरक्षा उद्योग तथा प्राथमिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित उद्योगों[2] को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। सिंचाई, जल विद्युत, लोहा एवं स्पात तथा रसायनों को

1. Report of the Advisory Planning Board (1947), p. 4.
2. Food, Clothing, Housing, Coal and Transport.

भी इतनी ही प्राथमिकता देनी चाहिए। इसके अलावा केन्द्रीय योजना आयोग, केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय, स्थायी प्रशुल्क सभा तथा प्राथमिकता सभा की स्थापना की सिफारिश की थी।"

सन् १६४७ मे देश के विभाजन से नई-नई समस्याएँ उपस्थित हो गई जैसे — खाद्य-समस्या की तीव्रता, रुई एवं पटसन का अभाव, विस्थापितो की समस्या आदि। इसके साथ ही भारत के सविधान से केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र का विस्तार तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय क्षेत्र मे अनेक योजनाओ पर कार्य हो रहा था, जिनमे परस्पर सामञ्जस्य न था। इन विभिन्न चालू योजनाओ मे दामोदर घाटी, तुङ्गभद्रा तथा भाकरा बांध योजनाएँ महत्त्वपूर्ण थी।[1] इसलिए तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप योजना बनाना आवश्यक हो गया।

योजना आयोग सन् १६५०—

विभिन्न प्रान्तो तथा केन्द्रीय सरकार की चालू योजनाओ में सामञ्जस्य लाने, बदली हुई आर्थिक परिस्थिति तथा सविधान एव सन् १६४८ की औद्योगिक नीति को ध्यान मे रखते हुए देश के विकास की योजना बनाने के लिए मार्च सन् १६५० मे श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे योजना आयोग का निर्माण हुआ। इसका निम्न कार्य था :—

(१) देश की पूँजी, वस्तु एव मानवी स्रोतो का अनुमान लगाना तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार न्यून स्रोतो की वृद्धि करने की सम्भावना की जाँच करना।

(२) देश के स्रोतो के सन्तुलित एव प्रभावी उपयोग के लिये योजना बनाना।

(३) प्राथमिकता, योजना कार्यान्वित करने की सीढियाँ तथा प्रत्येक सीढी की पूर्ति के लिये साधनो का बँटवारा निश्चित करना।

(४) आर्थिक विकास मे बाधक घटको की ओर सकेत तथा योजना की सफलता के लिये वर्तमान सामाजिक एव राजकीय स्थिति मे आवश्यक शर्तें निश्चित करना।

(५) योजना की सफलता के लिए आवश्यक शासकीय प्रबन्ध निश्चित करना।

(६) योजना की सामयिक प्रगति का परिशीलन कर, आवश्यक हो तो नीति एव साधनो मे आवश्यक मिलान करने के सम्बन्ध मे सिफारिश करना।

(७) अन्य बातो पर सिफारिस करना, जो केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारें आयोग के विचारार्थ भेजें।[2]

---

1. The Five Year Plan—A criticism—Wadia & Merchant, p. 7.
2. The First Five Year Plan—A Summary, p (iii).

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—ये वे सडकें होगी, जो प्रान्तीय एव रियासती राजधानियो, बन्दरगाहो तथा विदेशी मार्गों से सम्बन्ध करेंगी तथा देश के सचार की प्रमुख धमनियाँ होंगी।

(२) जिला सडकें—ये सडकें उत्पादन क्षेत्र एवं बाजारो को राष्ट्रीय राजमार्ग से अथवा किसी रेल से सम्बद्ध करेंगी तथा आस-पास के प्रमुख हैडक्वार्टरो के सम्बन्ध की प्रमुख कडी होगी।

(३) ग्रामीण सडकें—लघु जिला सडकें एव ग्राम सडकें विशेषतः ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ को पूरा करेंगी।

(४) प्रान्तीय राजमार्ग—ये सडकें प्रत्येक प्रान्त एव रियासत की प्रमुख सडकें होंगी तथा इनमे सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सडको का समावेश भी होगा।

इस योजना मे तत्कालीन सडको के सुधार एव नवीन सडको के निर्माण का भी आयोजन है। योजना के अनुसार कुल मील लम्बाई तथा लागत निम्न हैं :—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)	२२,००० मी०	४७ करोड रु०
(२) ,, ,, (National Trails)	३,००० ,,	३ ,, ,,
(३) प्रांतीय राजमार्ग (Provincial Highways)	६५,००० ,,	१२१ ,, ,,
(४) वृहत् जिला सडकें (Major District Roads)	६०,००० ,,	६२ ,, ,,
(५) जिला सडकें अन्य (District Roads other)	१,००,००० ,,	८० ,, ,,
(६) ग्राम सडकें (Village Roads)	१,५०,००० ,,	३० ,, ,,
(७) युद्धकालीन वर्षों का शेष (Arrears of war years)	—	१० ,, ,,
(८) पुल निर्माण (Bridging)	—	४५ ,, ,,
(९) भूमि प्राप्ति (Land Acquisition)	—	५० ,, ,,
कुल	४,००,००० मील	४४८ ,, ,,

यह योजना अविभाजित भारत के लिये थी, परन्तु विभाजित भारत के लिए ३३१ हजार मील की सडको का निम्नवत निर्माण होना था :—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील	३६ करोड रु०
राष्ट्रीय सडकें	४,१५० ,,	२·५ ,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,६५० ,,	१००·३ ,,
जिला एवं ग्राम सडकें	२,५६,३०० ,,	१४२·५ ,,

इस प्रकार भारत सघ मे १,२३,००० मील पक्की सडकें और २,०८,००० मील की कच्ची सडको के निर्माण का लक्ष्य था। इस पर कुल २७१·५ करोड रु० व्यय होना था।

(२) विकास के लिए देशी स्रोतो की उपलब्धता।
(३) निजी एवं सरकारी क्षेत्रो मे स्रोतो की आवश्यकता एव विकास की गति मे घनिष्ट सम्पर्क।
(४) योजना लागू होने के पूर्व केन्द्रीय एव राज्य सरकारो की विभिन्न चालू योजनाओ की पूर्ति की आवश्यक्ता।
(५) युद्ध एवं देश विभाजन के कारण देश की अर्थ व्यवस्था मे होने वाले असन्तुलन को ठीक करना।

विकास कार्यक्रम में प्राथमिकता—

प्राथमिकता का अर्थ यह है कि योजना के विभिन्न विकास कार्यक्रमो में कौनसा कार्यक्रम पहिले किया जाय तथा कौनसा बाद मे। प्राथमिकता निश्चित करते समय देश की आवश्यकताओ को प्रमुख स्थान दिया जाता है। भारत की अधिकाश जनसख्या का प्रमुख व्यवसाय कृषि होने से कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। विभाजन के कारण देश मे औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढाने के लिए भी यह प्राथमिकता आवश्यक ही थी। प्राथमिकता के सम्बन्ध मे साभान्य क्रम निम्न है :—

(अ) उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योग (जैसे—पटसन एव प्लाईवुड) तथा उपभोक्ताओ की दृष्टि से आवश्यक, (जैसे—वस्त्र, शक्कर, साबुन एव वनस्पति) उद्योगो की वर्तमान उत्पादन क्षमता का पूर्णतम् उपयोग।
(ब) पूंजीगत उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि, जैसे—लोहा एव इस्पात, अल्यूमिनियम, सीमेंट, खाद, भारी रसायन, मशीन टूल्स आदि।
(स) जिन औद्योगिक इकाइयो पर काफी मात्रा में पूंजी व्यय हो चुकी है, उनकी पूर्ति।
(द) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मूलभूत वस्तुओ के प्रदाय से सम्बन्धित नए उद्योगो की स्थापना, जैसे—जिप्सम से गन्धक का निर्माण, रेयन के लिए लुगदी आदि।*

परन्तु तत्कालीन पच-वर्षीय अवधि मे कृषि, सिंचाई एव शक्ति स्रोतो के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जावेगी, जिस पर योजना की लगभग ४५% राशि का व्यय होगा। आयोग के विचार से औद्योगिक विकास की गति तब तक नही बढ सकती, जब तक देश मे पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक कच्चा माल एव खाद्यान्न का उत्पादन न हो, इसलिए यह प्राथमिकता है। दूसरे, जिन योजनाओ पर पहिले से ही काम हो रहा है, वे योजनाए तथा कृषि के लिए पूरक योजनाओ पर कार्य चालू रहेगा। इस

* Blue Print of the Five Year Plan—Amrit Bazar Patrika, 10-12-52.

प्रकार देश के उपलब्ध साधन, तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से प्राथमिकता का क्रम रखा गया है।

योजना की मुख्य बातें—

उत्पादन सामग्री एवं अर्थ-व्यवस्था—

योजना मे विभिन्न मदो पर कुल २,०६६ करोड रुपये का व्यय होगा। इस व्यय की विशेषता यह है कि भविष्य मे व्यक्तिगत एव सरकारी क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में उत्पादक सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इस व्यय का वितरण निम्न प्रकार से होगा :—

(१) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की उत्पादक पूंजी में वृद्धि के लिए होने वाला व्यय	१,१९९ करोड़ रुपये
(२) व्यक्तिगत क्षेत्र में उत्पादक पूंजी में वृद्धि के लिए व्यय:—	
(अ) ग्रामीण विकास एवं कृषि पर (इसमें सामुदायिक विकास योजना के व्यय का समावेश नहीं है)	२४४ करोड़ रुपये
(ब) यातायात एव उद्योगों को ऋण देने में	४७ करोड़ रुपये
(स) स्थानीय विकास को प्रोत्साहन देने में (सामुदायिक) एवं स्थानीय विकास योजनाएं	१०५ करोड़ रुपये
(३) सामाजिक पूंजी के लिए व्यय	४२५ करोड़ रुपये
(४) अन्य व्यय* (जिसका समावेश ऊपर नहीं है)	४६ करोड़ रुपये
कुल	२,०६६ करोड़ रुपये

इस व्यय का वितरण केन्द्र एवं राज्य सरकारों में निम्न है:—

केन्द्रीय सरकार (रेल्वे को सम्मिलित करते हुए) १,२४१ करोड़ रुपये, राज्य सरकारें :—

'अ' विभाग	६१० करोड़ रुपये
'ब' विभाग	१७३ ,,
'स' विभाग	३२ ,,
जम्मू एव काश्मीर	१३ ,,
कुल	२,०६९ करोड़ रुपये

इस प्रकार विभिन्न मदो पर प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकार के व्ययों की संक्षिप्त तालिका निम्न है :—

* इसमें अभावग्रस्त क्षेत्रों की सहायतार्थ व्यय सम्मिलित है।

इसमे जम्मू एवं काश्मीर के भाग का १३ करोड रुपये का समावेश नहीं है।

मद	केन्द्र	'अ' राज्य	'ब' राज्य	'स' राज्य
कृषि एव सामुदायिक विकास	१८६·३	१२७·३	३७·६	८·७
सिंचाई एव विद्युत	२६५·९	२०६·१	८१·५	३·५
यातायात एव सवादवाहन साधन	४०९·५	५६·५	१७·४	८·८
उद्योग	१४६·७	१७·९	७·१	०·५
सामाजिक सेवाएं एव पुनर्निवास	१९१·४	१९२·३	२८·९	१०·४
विविध	४०·७	१०·०	०·७	४·३
योग	१,२४०·५	६१०·१	१७३·२	३६·२

अर्थ-प्रबन्ध—

योजना की सफलता समुचित अर्थ-व्यवस्था अथवा उसके आर्थिक आधार पर निर्भर रहती है। यह आर्थिक आधार निश्चित करते समय योजना आयोग ने देश मे उपलब्ध साधन, विदेशी सहायता तथा विदेशी ऋणो का अनुमान लगाया है। इसमे देश में बजट से १,२५८ करोड रुपये उपलब्ध होगे और १५६ करोड रुपये विदेशी ऋणो एव सहायता के रूप मे प्राप्त हो चुके हैं। शेष ६५५ करोड रुपये की राशि का प्रबन्ध आन्तरिक ऋणो से, बचत से तथा हीनार्थ प्रबन्ध से करना होगा, जिसकी राशि २९० करोड रुपये आंकी गई है। इसी हेतु राष्ट्रीय योजना एव ऋण प्रमाण पत्र बेचे गये थे। इस प्रकार योजना का आर्थिक आधार निम्न है :—

(करोड रुपयों में)

	केन्द्र	प्रान्त	कुल
योजना की कुल लागत	१,२४१	८२८	२,०६९
बजट के साधन—			
(१) वर्तमान आय से बचत	३३०	४०८	७३८
(२) पूंजीगत प्राप्ति (इसमें निधि से ली जाने वाली राशि नही है)	३९६*	१२४*	५२०
(३) केन्द्रीय सहायता	−२२६	२२६	[illegible]
बाहरी सहायता जो प्राप्त हो चुकी है	१५६	—	१५६
कुल	६५३	७६१	१,४१४

इस प्रकार योजना की अर्थ व्यवस्था मे कुल ६५५ करोड रुपये की कमी है, जिसके लिए २९० करोड रु० का आयोजन हीनार्थ-प्रबन्ध से होगा तथा शेष राष्ट्रीय-

* This includes public loans, small savings etc.

योजना-ऋण एवं प्रमाण-पत्रों से तथा कर-वृद्धि द्वारा। सम्पूर्ण योजना पर केवल सरकार की ओर से २,०६९ करोड़ रुपये व्यय होगा। इसमें निजी क्षेत्र में होने वाले व्यय का समावेश नहीं है।

योजना में कृषि—

योजना के विभिन्न विकास कार्यक्रमों में कृषि को प्रधानता दी गई है। यह कृषि विकास, सिंचाई की योजनाओं एवं विद्युत संचालन पर होने वाले व्यय से स्पष्ट है, जो कि योजना की लागत के ४१·८% है। सिंचाई एवं विद्युत योजनाएँ यह कृषि का ही एक भाग है, क्योंकि सिंचाई से कृषि की उन्नति होती है। इस प्रकार *कृषि सिंचाई एवं विद्युत पर होने वाले व्यय की राशि* (३६०·४३+५६१·४१) ९२१·८४ करोड़ रुपये है। कृषि को प्रधानता इसलिए दी गई है, जिससे खाद्यान्न आदि के आयात में व्यय होने वाले विदेशी विनिमय की बचत हो सके तथा कृषि उत्पादन निर्यात के लिए उपलब्ध होकर विदेशी विनिमय प्राप्त हो सके। इस प्रकार बचाये हुए विदेशी विनिमय से औद्योगिक विकास के हेतु पूँजीगत वस्तुओं का आयात हो सकेगा, जिससे हमारे खनिज एवं औद्योगिक साधनों का विदोहन सम्भव होगा।

योजना की अवधि में खाद्यान्न का उत्पादन ७६ लाख टन से अथवा १४% से बढ़ेगा। इसी प्रकार औद्योगिक कच्चे माल में रुई की उपज ४२% तथा पटसन की ६३%, गन्ने की ७% एवं तिलहन की उपज ८% से बढ़ाई जावेगी। इस प्रकार रुई, पटसन, गन्ना तथा तिलहन का उत्पादन क्रमशः १२·६ लाख गाँठें, २०·९ लाख गाँठें, ७ लाख एवं ४ लाख टन बढ़ेगा।*

सिंचाई एवं विद्युत—

इस मद पर होने वाला कुल व्यय ५६१ करोड़ रुपये है, जो कुल लागत के ३०% है। इन योजनाओं में चालू योजनाओं पर होने वाला व्यय ५ वर्ष में ५१८ करोड़ रुपये आँका गया है, जिससे १,६६,४२,००० अतिरिक्त भूमि की सिंचाई तथा १४,६५,००० किलोवाट बिजली का अधिक उत्पादन होगा। इन योजनाओं की कुल अनुमानित लागत ७६५ *करोड़ रुपये है।*

उद्योग—

योजना आयोग का मत है कि अभी तक उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों का ही विकास हुआ है तथा आधारभूत उद्योगों का विकास बहुत कम है। इसलिए भविष्य में पूँजीगत उद्योगों का विकास करना होगा, जिससे भारतीय औद्योगिक कलेवर मजबूत हो सके। उद्योगों में आधारभूत उद्योगों के विकास को *प्राथमिकता दी जायगी* तथा अन्य आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों की वर्तमान उत्पादनक्षमता बढ़ाई जायगी। औद्योगिक विकास देश की औद्योगिक नीति के अनुसार ही होगा।

---

* Five Year P[illegible] Summary.

योजना में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की औद्योगिक योजनाओं के लिए ६४ करोड रुपए की व्यवस्था है, जिसमें चालू योजनाओं की पूर्ति होगी। इसके अलावा १५ करोड रुपए का आयोजन एक नये लोहे एवं इस्पात के कारखाने की स्थापना के लिए है तथा शेष राशि निजी स्रोतों से प्राप्त की जायगी। सरकारी क्षेत्र में अधिकतर योजनाएं पूंजीगत उद्योगों की अथवा ऐसी आवश्यक वस्तुओं की है, जो भावी औद्योगिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ६० करोड रुपये राशि के साथ ही आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए ५० करोड रुपये का अतिरिक्त आयोजन है।

इस योजना में ४२ उद्योगों के लक्ष्य निश्चित किये गये हैं, जिनकी पूर्ति के लिए ५ वर्ष में ३२७ करोड रु० व्यय का अनुमान है। इसमें ६४ करोड रुपये सरकारी क्षेत्र में तथा २३३ करोड रुपये व्यक्तिगत क्षेत्र में व्यय होंगे। इसके साथ ही वर्तमान उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिए १५० करोड रुपये व्यय होंगे। इस प्रकार इनमें आवश्यक पूंजी की मात्रा तथा अन्य बातों का समावेश किया जाय तो कुल ७०७ करोड रुपये की राशि होगी। इस राशि की पूर्ति निजी उद्योगों को अपने साधनों से करनी होगी। इसके साथ ही कुटीर एवं ग्राम्य उद्योगों के विकास को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया तथा कुटीर उद्योगों के लिए उत्पादन क्षेत्र को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है, जिससे कुटीर उद्योग अपना सुदृढ़ संगठन बना सकें।

यातायात एवं सम्वादवाहन—

यातायात एवं सम्वादवाहन साधनों के विकास के लिए कुल ४६७'१० करोड रुपये का आयोजन है, जिसमें से रेल्वे के विकास पर लगभग ४०० करोड रुपये व्यय होगा। इस व्यय में ८० करोड रुपये केन्द्रीय सरकार देगी तथा शेष रेल्वे को अपने निजी साधनों से प्राप्त करना होगा। जहाजरानी के समुद्रतटीय व्यापार का लक्ष्य सन् १९५५-५६ में ६ लाख टन रखा गया है। इसी प्रकार जहाजी कम्पनियों को जहाज आदि खरीदने के लिए १५ करोड रुपये के केन्द्रीय ऋण की व्यवस्था है।

वर्तमान बन्दरगाहों के विकास एवं काडला पोर्ट की स्थापना के लिए ८ करोड रुपये तथा बन्दरगाहों के आधुनिकीकरण के लिए १२ करोड का प्रबन्ध है। इसके अलावा बन्दरगाही अधिकारियों का व्यय १५'५ करोड रुपये होगा, ऐसा अनुमान है। सडकों के विकास के लिए २७ करोड रुपये तथा कुछ विशेष सडकों के विकास के लिए ४ करोड रुपये का प्रबन्ध है। साथ ही २१'१५ लाख रुपये की लागत से केन्द्रीय सडक अनुसंधान-शाला की स्थापना होगी। योजना के अनुसार योजना अवधि में ४५० मील नई सडकें, २,२०० मील सडकों का सुधार तथा ४,३०० वृहत् पुलों का निर्माण होगा।

वायु यातायात का विकास नया होने के कारण उसमें कम कम्पनियाँ अधिक अच्छी तरह से काम कर सकती है, ऐसा आयोग का विचार है। हवाई यातायात के लिए ६'५ करोड़ रुपये की व्यवस्था है।

अन्य—

इसके अलावा सामाजिक सुविधायें, डाक घर एवं तार विभाग की सुविधाएँ, गृह-निर्माण, पुनर्निवास व्यवस्था, कुटुम्ब नियोजन आदि विषयों की योजना भी बनाई गई है। आयोग का मत है कि योजना की सफलता एवं देश की समृद्धि के लिए हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या को रोकना होगा, इसलिए कौटुम्बिक नियोजन की योजना भी प्रस्तुत की है, जिसके लिए ६५ लाख रुपये का आयोजन है। इस राशि से जनता को सन्तति निरोधक उपाय बताना, सन्तति निरोधक शल्य क्रियायें आदि का आयोजन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इन उपायों का प्रसार एवं जानकारी एकत्रित की जावेगी।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना—

प्रथम योजना की सफलता की पृष्ठभूमि में दूसरी योजना बनाई गई है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं:—

(१) देश के रहन-सहन का स्तर उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि।

(२) द्रुतगति से औद्योगीकरण, जिसमें आधारभूत एवं मूल उद्योगों पर विशेष जोर दिया जायगा।

(३) रोजगारी के अवसरों का विस्तार करना।

(४) आय एवं सम्पत्ति की असमानता को कम करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण प्राप्त करना।

ये उद्देश्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, क्योंकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं रहन-सहन का स्तर तब तक उन्नत नहीं हो सकता जब तक उत्पादन और विनियोग में काफी वृद्धि न हो।

आर्थिक पहलू—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की कुल लागत ७,२०० करोड़ रु० है, जिसमें से ३,८०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में तथा २,४०० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में व्यय होंगे तथा १,००० करोड़ रु० चालू विकास व्यय है। यह राशि पहिली योजना की राशि से काफी अधिक है, क्योंकि (अ) पहली योजना की पूर्ति के समय हमारी आर्थिक अवस्था में स्थिरता आ गई थी, जो पहली योजना के आरम्भ में न थी। (ब) दूसरी योजना बनाते समय पहिली योजना के अनुभूति की पृष्ठभूमि थी। योजना की ४,८०० करोड़ रु० की राशि का २,५५६ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा २,२४० करोड़ रु० प्रान्तीय सरकारें व्यय करेंगी।

योजना की रूपरेखा—

विभिन्न मदों पर व्यय का वितरण[1]

(करोड़ रुपये)

	पहिला योजना	%	द्वितीय योजना	%
कृषि एवं सामुदायिक विकास	३५७	१५.१	५६८	११.८
सिंचाई एवं शक्ति	६६१	२८.१	९१३	१९.०
उद्योग एवं खान	१७९	७.६	८९०	१८.५
यातायात एवं सम्वादवाहन	५५७	२३.६	१,३८५	२८.९
सामाजिक सेवाएँ	५३३	२२.६	९४५	१९.७
विविध	६९	३.०	९९	२.१
	२,३५६	१००.०	३,८००	१००.०

योजना की इस राशि में स्थानीय सस्थाओं के विकास योजना की राशि सम्मिलित नहीं है, परन्तु राज्य सरकारों द्वारा इन सस्थाओं को दी जाने वाली राशि का समावेश है। इसी प्रकार स्थानीय विकास कार्यक्रमों के लिए स्थानीय जनता द्वारा दी जाने वाली राशि अथवा श्रम की लागत का समावेश नहीं है। यद्यपि राष्ट्रीय विनियोग की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं।

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा व्यय[2]

(करोड़ रुपये में)

	केन्द्र	राज्य	योग	विनियोग	चालू व्यय
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६५	५०३	५६८	३३८	२३०
सिंचाई एवं शक्ति	१५०	८०८	९१३	८६३	५०
उद्योग एवं खान	७४७	१४३	८९०	७९०	१००
यातायात एवं सम्वादवाहन	१,२०३	१८२	१,३८५	१,३३५	५०
सामाजिक सेवाएँ	३९६	५४९	९४५	४५५	४९०
विविध	४३	५६	९९	१९	८०
योग	२,५५९	२,२४०	४,८००	३,८००	१,०००

राशि का बँटवारा—

उक्त तालिकाओं से विभिन्न मदों पर व्यय होने वाली राशि तथा पहली योजना

1. Second Five Year Plan, p. 51.
2. Second Five Year Plan, p. 5.

में व्यय की गई राशि के आंकड़े हैं। इन आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मद पर पहली योजना की अपेक्षा अधिक व्यय का आयोजन है, परन्तु विभिन्न मदों पर होने वाले व्यय तथा योजना की कुल लागत को देखने से पता चलता है कि दूसरी योजना के ढाँचों में मूलभूत परिवर्तन है। पहिली योजना में जहाँ 'उद्योग एवं खान' तथा 'यातायात एवं सम्वादवाहन' की मदों पर क्रमशः ७% और २४% राशि का आयोजन था वहाँ दूसरी योजना में उनका व्यय १८% और २९% है। यह संकेत है कि इस योजना में औद्योगिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उद्योगों के लिए ८९० करोड़ रु० हैं, उसमें से ६९० करोड़ रु० बड़े उद्योगों तथा खानों पर और शेष लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए हैं।

यातायात एवं सम्वादवाहन साधनों के लिए १,३८५ करोड़ रुपए का आयोजन है, जिसमें ९०० करोड़ रु० अथवा १८·८% रेल्वे पर व्यय होगा तथा अन्य मदों के अनुपात में उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं है। इससे जैसा कि योजना आयोग ने स्वयं ही लिखा है कि रेल्वे विकास के लिए कम राशि का आयोजन है, जिसमें रेल्वे की कार्य-क्षमता में वृद्धि न होने पर नियोजित रेल्वे का विकास योजना में नियोजित वहन शक्ति के लिए अपर्याप्त होगा, क्योंकि यातायात के अन्य साधन अपर्याप्त हैं।

सिंचाई एवं शक्ति पर १९%, खाद्यान्न एवं सामुदायिक विकास पर ११·८% राशि का आयोजन है, जिससे इन पाँच वर्षों में देश में खाद्यान्न एवं औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढ़ती रहेगी। सिंचाई एवं शक्ति की योजना दीर्घकालीन योजना के रूप में है, जिससे आगामी १५ वर्ष में सिंचाई की सुविधाएँ दुगुनी तथा शक्ति का ६ गुना विकास होगा।

योजना में विनियोग—

सरकारी क्षेत्र—

योजना के कुल ४,८०० करोड़ रु० में से ३,८०० करोड़ रु० का विनियोग स्थायी उत्पादक सम्पत्ति (Productive Assets) पर होगा तथा १,००० करोड़ रु० का व्यय तत्कालीन उपभोगी विकास कार्यों पर होगा :— (करोड़ रुपये)

	विनियोग	तत्कालीन कार्यों पर	योग
(१) [अ] कृषि	१८१	१६०	३४१
[ब] राष्ट्रीय सेवा विस्तार एवं सामुदायिक विकास	१५७	७०	२२७
(२) [अ] सिंचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण	४५६	३०	४८६
[ब] शक्ति	४०७	२०	४२७
(३) बड़े एवं मध्यम उद्योग तथा खानें	६७०	२०	६९०
ग्राम एवं लघु उद्योग	१२०	८०	२००
(४) यातायात एवं सम्वादवाहन	१,३३५	५०	१,३८५
(५) सामाजिक सेवाएँ	४५५	४९०	९४५
(६) विविध	१९	८०	[illegible]
योग	३,८००	१,०००	[illegible]

निजी क्षेत्र—

उक्त विनियोग के अलावा निजी क्षेत्र में २,४०० करोड रु० के विनियोग का अनुमान लगाया गया है। द्वितीय योजना के विकास एवं उत्पादन कार्य-क्रम का लक्ष्य सरकारी एवं निजी क्षेत्र के संयुक्त विनियोग से ही पूरा होगा। यह अनुमान गत पाँच वर्षों में जो विनियोग हुआ उस पर आधारित है, क्योंकि निजी क्षेत्र के विनियोग सम्बन्धी निश्चित आँकडे उपलब्ध नहीं है। यह विनियोग विभिन्न मदों पर निम्न प्रकार से होगा :—

(१) संगठित उद्योग एवं खानें	५७५	करोड रु०
(२) बगीचा, बिजली तथा यातायात*	१२५	,,
(३) निर्माण	१,०००	,,
(४) कृषि तथा ग्राम एवं लघु उद्योग	३००	,,
(५) संग्रह (Stocks)	४००	,,
योग	२,४००	,,

प्रथम योजना में ३,१०० करोड रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ, ऐसा अनुमान है, जिसमें से लगभग आधी से अधिक पूँजी का विनियोग निजी क्षेत्र में हुआ। दूसरी योजना में ६,२०० करोड रु० की पूँजी का विनियोग होगा, जिसमें सरकारी क्षेत्र में ६१% तथा ३९% निजी क्षेत्र में व्यय होगा। अर्थात् सरकारी क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में पहिले की अपेक्षा क्रमशः २½ गुना एवं ५०% अधिक विनियोग होगा।

कृषि एवं सिंचाई—

इस योजना की अवधि में कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि होगी तथा उपज को बढाने के लिये सिंचाई की सुविधायें, अच्छे बीज आदि का प्रबन्ध किया जायगा। खाद्यान्न का लक्ष्य १० मि० टन रखा गया है, अर्थात् सन् १९६०-६१ में खाद्यान्न का उत्पादन ७५ मि० टन होगा, जिसमें खाद्यान्न का प्रति व्यक्ति उपभोग वर्तमान १७·२ औंस से बढकर १८·३ औंस हो जायगा। इसी प्रकार रुई, गन्ना, तिलहन तथा पटसन में भी क्रमशः ३१, २२, २७ तथा २५% की वृद्धि करने का लक्ष्य है। सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि कर लगभग १ मि० एकड गन्ने की खेती बढाई जायगी।

वर्तमान सिंचाई सुविधायें ६७ मि० एकड भूमि को मिलती हैं, जिनमें सन् १९६०-६१ तक २१ मि० एकड की वृद्धि होगी। इसमें से बडी तथा मध्यम योजनाओं द्वारा १२ मि० एकड तथा छोटी योजनाओं से ९ मि० एकड भूमि की सिंचाई होगी। सिंचाई क्षेत्र में प्रथम तीन वर्ष में २ मि० एकड़ की दर से तथा अन्तिम २ वर्ष में ३ एकड प्रति वर्ष की दर से वृद्धि होगी।

बिजली का उत्पादन ३·५ मि० किलोवाट से बढाने का लक्ष्य है, जिससे सन् १९६०-६१ में बिजली का कुल उत्पादन ६·९ मि० किलोवाट हो जायगा।

* इसमें रेल यातायात का समावेश नहीं है।

औद्योगिक विकास—

इस योजना की विशेषता है कि इसमे औद्योगिक एवं खान क्षेत्र मे सरकारी क्षेत्र को प्रधानता दी गई है और वास्तव मे योजना मे आयोजित ६६० करोड़ रु० की पूर्ण राशि का विनियोग आधारभूत उद्योगो के विकास के लिये होगा। इस राशि से इस्पात के १० लाख टन उत्पादन क्षमता वाले ३ कारखाने, क्रमशः रूरकेला, भिलाई और दुर्गापुर मे चालू हो जायेंगे तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की उत्पादन क्षमता १ लाख टन से बढ़ेगी। चितरञ्जन की फैक्टरी मे भारी स्टील फाउण्ड्री की स्थापना होगी तथा चितरञ्जन कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता १२५ इञ्जनों की जगह ३०० इञ्जन हो जायगी। पैराम्बूर (मद्रास) की कोच फैक्ट्री की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५९ तक ३५० डिब्बो की हो जायगी। खाद बनाने के दो नये कारखाने तथा सिंद्री कारखाने का विस्तार होगा। खनिज सम्पत्ति के उत्पादन मे ५८% की वृद्धि होगी। कोयले का वर्तमान उत्पादन ३८ मि० टन है, जिसमे २२ मि० टन की वृद्धि होगी। यह वृद्धि सरकारी क्षेत्र में १२ मि० टन से तथा १० मि० टन से निजी क्षेत्र मे होगी। इसके अलावा अनेक उद्योगो का विकास होगा। निजी क्षेत्र मे इस्पात की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५८ तक २ ३ मि० टन तथा सीमेन्ट की उत्पादन क्षमता १६ मि० टन हो जायगी। साथ ही, देश मे कागज, टेक्सटाइल्स, पटसन, सीमेन्ट, कृषि आदि उद्योगो के लिए आवश्यक यन्त्रो के उत्पादन मे वृद्धि की जायगी। उपभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगो का भी विकास होगा।

यातायात एवं सम्वादवाहन—

इस मद के अन्तर्गत रेल्वे पर ९०० करोड़ रु० तथा पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए २२५ करोड़ रु० का व्यय होगा। इससे १,६७० मील सवारी गाड़ियों की लम्बाई बढेगी तथा २६५ मील मीटर गेज का परिवर्तन ब्रॉडगेज मे होगा। ८,००० मील लम्बे मार्ग का नवकरण (Renenal) तथा ८२६ मील मार्ग की रेलों का बिजलीकरण होगा। नागपुर योजना के अनुसार सड़को का विकास कार्यक्रम सन् १९६०-६१ मे पूरा होगा। जहाजरानी का टनेज ६ लाख जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० होगा। डाकखानों की संख्या ५५,००० से ७५,००० तथा टेलीफोनो की संख्या २७० हजार से ४५० हजार होगी। इसी मे १०० किलोवाट शक्ति का शॉर्ट वेव ट्रांसमीटर और १०० किलोवाट शक्ति का मीडियम वेव ट्रांसमीटर दिल्ली मे तथा ५० किलोवाट शक्ति के ट्रांसमीटर्स कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे लगाये जायेंगे। ग्रामीण क्षेत्र में ७२,००० सामूहिक रेडियो लगाये जायेंगे।

सामाजिक सेवायें—

सन् १९६०-६१ तक ६ से ११ वर्ष की आयु के ६३% तथा ११ से १४ वर्ष की आयु के २२·५% बालकों को शिक्षा सुविधायें मिलने लगेंगी। इससे प्राथमिक स्तर एवं माध्यमिक स्तर के क्रमशः ७७ मि० एवं १·३ मि० विद्यार्थियों की वृद्धि

होगी, जिनके लिये क्रमशः ५३,००० प्राथमिक शालायें तथा ३५,००० माध्यमिक विद्यालय खोले जायेंगे। बहुमुखी विद्यालयों की संख्या २५० से बढ़कर १,२०० होगी। शिल्पिकों की शिक्षा के हेतु इञ्जीनियरिंग कॉलेजों की संख्या ४५ से ५४ तथा इञ्जीनियरिंग विद्यालयों की संख्या ८३ से १०४ की जायगी। इसके अलावा ३ नये उच्च शिल्पिक इन्स्टीट्यूटों की स्थापना उत्तरी, दक्षिणी तथा पश्चिमी प्रदेशों में होगी एवं दिल्ली पोलिटेकनिक, खड़गपुर इन्स्टीट्यूट और धनबाद के खान विद्यालयों का विकास होगा।

स्वास्थ्य की दिशा में डॉक्टरों, नर्सों एवं परिचारिकाओं की संख्या में क्रमशः १८·४१ और ४५% की तथा वर्तमान अस्पतालों में २८% बिस्तरों की वृद्धि होगी। साथ ही, ३०० शहरी और २,००० ग्रामीण अस्पतालों की स्थापना होगी।

योजना के अनुसार १३ लाख गृहों का निर्माण होगा, जिनके लिए १२० करोड़ रु० का प्रबन्ध है। रोजगार संस्थाओं की संख्या भी १३६ से २५६ की जायगी।

राष्ट्रीय आय—

प्रथम योजना काल में सन् १९५२-५४ की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय में ११% की वृद्धि हुई, अर्थात् आय ६,११० करोड़ (सन् १९५०-५१) से बढ़कर सन् १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रु० तथा इन्हीं वर्षों में प्रति व्यक्ति आय २५३ रु० से २८१ हो गई। दूसरी योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय १३,४८० करोड़ रु० तथा प्रति व्यक्ति आय ३३१ रु० होगी, अर्थात् सन् १९५०-५१ की तुलना में १८% और सन् १९५५-५६ की तुलना में २५% से बढ़ेगी।

राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ ही राष्ट्रीय उपभोग में भी वृद्धि होगी, परन्तु वह उसी अनुपात में नहीं होगी। योजना के लिये आवश्यक ६,२०० करोड़ रु० की राशि प्राप्त करने के लिये बचत का वर्तमान स्तर, जो सन् १९५०-५१ में राष्ट्रीय आय के ७% था, सन् १९६०-६१ तक १०% करना होगा। विदेशी स्रोतों से १,१०० करोड़ रु० मिलेंगे, इस अनुमान पर बचत की यह वृद्धि आधारित है। यदि विदेशी स्रोतों से इतनी राशि नहीं मिली तो उपभोग पर होने वाले व्यय को सीमित करना होगा।

रोजगार—

द्वितीय पंच वर्षीय योजना में कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में ८० लाख अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा। इसके अलावा भूमि की सफाई (Reclamation) आदि कार्यों से अर्द्ध रोजगारी की समस्या का हल, कृषि-उपज की वृद्धि तथा अन्य सद्योग धन्धों के विकास से कृषि श्रमिकों की अर्द्ध रोजगारी की समस्या कम होगी तथा नए व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा। अनुमान है कि योजना अवधि में कुल १ करोड़ अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा, फिर भी बेकारी की समस्या का पूर्ण हल नहीं हो सकेगा। कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों से कितने अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा, यह निम्न तालिका में है :—

	लाख
निर्माण	२१·००
विद्युत और सिंचाई	०·५१
रेल्वे	२·५१
अन्य यातायात एवं संवादवाहन	१·८०
उद्योग और खानें	७·५०
लघु एवं कुटीर उद्योग	४·५०
वन, मच्छीमारी, राष्ट्रीय सेवा विस्तार तथा सम्बंधित योजनाएं	४·१३
शिक्षा	३·१०
स्वास्थ्य	१·१६
अन्य सामाजिक सेवाएं	१·४२
सरकारी नौकरियाँ	४·३४
अन्य *(जिसमे वाणिज्य एवं व्यापार का समावेश है)*	२७·०४
योग	७९·०३

अर्थ प्रबन्ध—

योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमों पर ४,८०० करोड़ रु० का व्यय सरकारी क्षेत्र मे होगा। इस राशि का प्रबन्ध निम्न साधनों से होगा :—

		(करोड़ रु०)
(१) चालू आय से प्राप्त अधिक राशि		८००
(अ) वर्तमान कर की दरों से	३५०	
(ब) अतिरिक्त करों से	४५०	
(२) जनता से ऋण—		
बाजार से ऋण	७००	
बचत	५००	१,२००
(३) बजट के अन्य स्रोत—		
रेल्वे का भाग	१५०	
प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा अन्य जमा	२५०	४००
(४) विदेशी सहायता से		८००
(५) हीन-अर्थप्रबन्ध से		१,२००
(६) निजी स्रोतों को बढ़ाकर अतिरिक्त साधनों से पूरी होने वाली कमी		४००
	योग	४,८००

(१) अतिरिक्त कर लगाने से प्राप्त होने वाली वार्षिक आय १६० करोड रु० आकी गई है, जो योजना मे अनुमानित आय वृद्धि की तुलना मे कम प्रतीत होती है। फिर भी अतिरिक्त करो का भार ऐसे व्यक्तियो पर अधिक पडेगा जिनकी आय में अधिक वृद्धि नहीं होती। कर जॉच समिति की सिफारिशो के अनुसार ४५० करोड रु० की अतिरिक्त आय का न्यूनतम लक्ष्य रखा गया है तथा इसकी पूर्ति के लिए शीघ्र ही कार्यवाही होगी। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि करो से होने वाली आय का लक्ष्य, कर जांच समिति की अतिरिक्त कर आय की ३५० करोड़ रु० की सम्भाव्य सीमा, दूसरी योजना के अनुसार अधिक बचत तथा दर बढाने की उच्चतम सीमा तक पहुच चुकी है, इन तथ्यो से सम्बन्धित है। स्पष्ट है कि द्वितीय योजना काल में अप्रत्यक्ष करो का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।*

(२) जनता से ऋण रूप मे जो राशि प्राप्त होगी उसमे से ७०० करोड़ रु० अथवा १४० करोड रु० वार्षिक ऋण बाजार मे प्रसारित करने से तथा ५०० करोड रु० जनता की बचत मे प्राप्त होगे। अब जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण से बीमा निधि का विनियोग सरकारी ऋणो मे अधिक होगा। अल्प-बचत योजना का विस्तृत कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। इसी प्रकार सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड योजना आदि का पूर्ण लाभ उठाया जायगा।

(३) योजना के अर्थ प्रबन्ध मे रेल्वे का भाग १५० करोड रुपया है। गत पॉच वर्षो म रेल्वे का भाग ११५ करोड रुपया अथवा वार्षिक २३ करोड रुपया था। अतः रेल्वे को इस योजना के लिए अपना वार्षिक लाभ ७ करोड रुपए से बढाना होगा।

अन्य बजट के स्रोतो से जो २५० करोड रुपए प्राप्त होने हैं उनमे प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो के कर्मचारियो की प्रॉविडेट फण्ड की राशि है, जो सन् १९५५-५६ मे २३·६ करोड रुपए थी। इस राशि मे योजना अवधि मे वार्षिक वृद्धि होगी, जिसमे १५० करोड रुपया ५ वर्ष मे मिल सकेंगे। शेष १०० करोड रुपया प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो द्वारा दिये गये ऋणो के भुगतान से तथा अन्य पूंजीगत प्राप्ति से मिलेगा।

इस प्रकार उक्त तीन स्रोतो से २,४०० करोड रुपए की राशि मिल सकेगी। यह राशि हमारे प्रयत्न, इच्छा एव आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। शेष २,४०० करोड रुपए की राशि अन्य स्रोतो से प्राप्त होगी, जो अनिश्चित है।

(४) विदेशी सहायता—८०० करोड रुपये विदेशी सहायता एव स्रोतो से प्राप्त होगे, ऐसा अनुमान है। विदशी सहायता के रूप में गत पांच वर्षो में ३०७ करोड़ रुपये मिले, जिसमे से केवल २०० करोड रुपये का उपयोग हो सका और शेष राशि इस योजना मे काम आवेगी। इसमे एशिया तथा यू० के० इस्पात कारखानो की राशि

---

* Amrit Bazar Patrika, Free Enterprize Supplement, Sept 56.

का समावेश नहीं होगा, क्योंकि इसकी व्यवस्था पहिले से ही हो चुकी है। अतः यह राशि हमारी योजना की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती है, यह अनुमान है। सन् १९५६-५७ में अमेरिकी सहायता की राशि ६०० लाख डालर (२८·५ करोड़ रुपए) होगी, जो आगे भी रहेगी। शेष राशि का आयोजन दो बातों पर निर्भर रहेगा :—(१) संयुक्त सहकारिता के आधार पर किये जाने वाले कार्यक्रमों की संख्या एवं लागत तथा (२) भारत एवं अन्य प्रमुख देशों की राजकीय एवं आर्थिक स्थिति, अतः इसमें ८०० करोड़ रुपए की प्राप्ति का निराशापूर्ण आशावाद है।

(५) शेष १,६०० करोड़ रु० की राशि में १,२०० करोड़ रुपये हीनार्थ प्रबन्ध से प्राप्त होंगे और ४०० करोड़ रुपये के लिए निजी स्रोतों में वृद्धि होगी। हीनार्थ प्रबन्धन की राशि बहुत मालूम होती है, क्योंकि कृषि मूल्य बढ़ रहे हैं तथा उद्योगों की उत्पादनशीलता भी पूर्ण क्षमता तक पहुँच चुकी है। इसी प्रकार अर्थशास्त्रियों ने भी हीनार्थ प्रबन्धन की अधिकतम सीमा १,००० करोड़ रुपए रखी है। अधिक मात्रा में हीनार्थ प्रबन्ध होने से विभिन्न आय वाले व्यक्तियों की आय प्रभावित होती है, जिसमें अल्प बचत का लक्ष्य प्रभावित होगा, अतः इस ओर सतर्कता की आवश्यकता है। फिर भी योजना में ४०० करोड़ रु० की कमी रहती है। इसका आयोजन किस प्रकार होगा, इस सम्बन्ध में योजना में कुछ नहीं है। निजी क्षेत्र के २,४०० करोड़ रु० निजी साहस द्वारा पूँजी एवं विनियोग बाजार से प्राप्त किये जायेंगे। इन दोनों ही बाजारों की स्थिति अच्छी होने से निजी क्षेत्रों में १,२०० करोड़ रु० के विनियोग होने की आशा है।

योजना की प्रगति (सन् १९५१-१९६१)—

प्रथम एवं दूसरी योजना भारत के आयोजित आर्थिक एवं सामाजिक विकास के पहिले चरण हैं। योजना के प्रथम १० वर्षों में राष्ट्रीय आय, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हुई है और भारत के जन-साधन का भी विकास हुआ है। इस अवधि में राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का काफी तेजी से विकास हुआ है। रोजगार की सुविधा बढ़ाने, आय तथा सम्पत्ति की विषमतायें घटाने तथा आर्थिक साधनों को केवल कुछ लोगों के हाथ में आने से रोकने पर जोर दिया गया है।

योजना व्यय एवं पूँजी विनियोजन—

प्रथम दो योजनाओं में १०,००० करोड़ रु० से अधिक का विनियोजन हुआ है, जिसमें से सरकारी क्षेत्र में लगभग ६,५६० करोड़ रु० लगे हैं :—

	प्रथम योजना (१६५१ ५६)	दूसरी योजना (अनुमानित) (१६५६-६१)	योग (१६५१-६१)
सरकारी क्षेत्र मे व्यय	१,६६०	४,६००	६,५६०
,, ,, मे पूँजी नियोजन	१,५६०	३,६५०	४,२१०
निजी क्षेत्र मे पूँजी-नियोजन	१,८००[1]	३,१००[1]	४,६००
कुल पूँजी विनियोजन	३,३६०	६,७५०	१०,११०

राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—

पहिली योजना में विशेषतः कृषि उत्पादन से वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय १८% बढी । दूसरी योजना में पहिली योजना की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अधिक तथा व्यापक प्रयत्न किये गये । आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे लगभग २०% वृद्धि होगी । अर्थात् सन् १६५१ से सन् १६६१ के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग ४२% बढेगी । प्रति व्यक्ति आय मे लगभग २०% और प्रति व्यक्ति व्यय मे लगभग १६% वृद्धि होगी । कृषि उत्पादन ४०%, औद्योगिक उत्पादन १२०% बढ जायगा ।

निम्न तालिका में सन् १६४६-५० से कृषि उपज की वृद्धि है :—

कृषि-उपज का सूचक अङ्क (१६४६-५० = १००)

	१६५०-५१	१६५५-५६	१६५८-५६	१६६०-६१ (अनुमान)
सभी वस्तुयें (Commodities)	६५'६	११६'६	१३२'०	१३५'०
खाद्यान्न	६०'५	११५'३	१३०'०	१३१'०
अन्य उपज	१०५'६	१२०'१	१३६'०	१४३'०

कृषि-उपज मे वृद्धि की प्रवृत्ति होते हुए भी विभिन्न वर्षों मे पर्याप्त अन्तर रहा :

		१६५०-५१	१६६०-६१ (अनुमानित वृद्धि)
अनाज (गेहूँ, दाल आदि)	लाख टन	५२४[2]	७५०
तिलहन	,,	५१	७२
गन्ना (गुड के रूप मे)	,,	५६	७२
रुई	लाख गाठे	२६	५४
पटसन	,,	३३	५५

1. ये अनुमान पूर्ण सूचनाओं के आधार पर संशोधित हैं और प्रथम योजना के १,६०० करोड रु० और दूसरी योजना के २,००० करोड रु० के पहिले अनुमानों के स्थान पर हैं।

2. सन् १६५६-५७ के आँकड़ों मे संशोधन के अनुसार उत्पादन का सही अनुमान ।

प्रथम योजना में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि सामुदायिक विकास कार्य-क्रम के अन्तर्गत देश भर में विस्तार-सेवा प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। अक्टूबर सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम देश के सभी गाँवों में पहुँच जायगा। दूसरी योजना के अन्त तक विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत विकास-खण्डों तथा गाँवों में लगभग ३१,००० ग्राम सेवक और लगभग २८,००० विकास अधिकारी, कृषि, पशु पालन तथा अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए काम कर रहे होंगे।

सन् १९५१ से सन् १९५९ तक प्रारम्भिक कृषि समितियों की संख्या १०५ हजार से १८३ हजार, इनकी सदस्य संख्या ४४ लाख से १२० लाख हो गई है। ग्राम पंचायतों की संख्या लगभग दुगुनी से बढ़कर १७८ हजार हो गई है।

सन् १९५०-५१ में ५१५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होती थी, सन् १९६०-६१ तक ७ करोड़ एकड़ भूमि में सिंचाई होने लगेगी। दूसरी योजना में सिंचाई-सुविधा-प्राप्त सभी क्षेत्रों को अच्छे बीज प्रदाय करने के कार्यक्रम के अनुसार ४ हजार बीज फार्म खोले जा रहे हैं। सन् १९५०-५१ में ५५ हजार टन नाइट्रोजन खाद का उपयोग हो रहा था, जो सन् १९६०-६१ तक ३६० हजार टन हो जावेगा। कृषि विकास [redacted] अन्य कार्यक्रमों में भी पर्याप्त प्रगति हुई है, ४० लाख एकड़ भूमि को सुधार कर कृषि योग्य बनाया गया है, २२ लाख एकड़ भूमि में हरी खाद (Green manure) का प्रयोग प्रारम्भ किया है तथा २७ लाख एकड़ भूमि में भूमि कटाव रोकने की व्यवस्था की गई है।

उद्योग और खनिज—

गत वर्षों में आधारभूत और मशीन निर्माण उद्योग तथा उत्पादकों के लिए माल तैयार करने वाले उद्योगों [redacted] काफी प्रगति हुई है। मशीनें तथा इञ्जीनियरिङ्ग उद्योगों में यह प्रगति विशेष उल्लेखनीय है। सरकारी क्षेत्र में तीन नये इस्पात कारखानों के चालू होने से इस्पात की उत्पादन क्षमता ४५ लाख टन हो गई है, जो प्रथम एवं दूसरी योजना के प्रारम्भ में क्रमशः १० लाख और १३ लाख टन थी। सीमेण्ट, कोयला, अल्यूमिनियम आदि आवश्यक औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। मशीन निर्माण उद्योग में सन् १९५१ में ११ करोड़ मूल्य की मशीनें बनाई गई थीं, जबकि सन् १९५८ में ७९ करोड़ रु० मूल्य की मशीनों का निर्माण हुआ। दूसरी योजना के अन्त तक रेलों के लिए आवश्यक अधिकांश उपकरण देश में ही तैयार होने लगेंगे।

बिजली का भारी सामान भी देश में बनाना प्रारम्भ हो गया है। रसायनिक पदार्थ, दवा, खाद आदि के उद्योगों में भी वृद्धि हुई है। दूसरी योजना-अवधि में जूट तथा कपड़ा मिलों के आधुनिकीकरण कार्यक्रम प्रारम्भ हो गये हैं।

निम्न तालिका में दूसरे उद्योगों के काम में आने वाली मुख्य वस्तुओं [redacted] सन् १९६०-६१ में अनुमानित उत्पादन के आँकड़े हैं:—

वस्तुएँ	१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमान)
तैयार इस्पात	१० लाख टन	२६ लाख टन
अल्यूमिनियम	३·७ हजार टन	१७ हजार टन
डीजल इञ्जन	५·५ „	३३ „
बिजली के तार	१,६७४ टन	१८ „
रेल्वे इञ्जन	३ (सख्या)	२९५ सख्या
नाइट्रोजन खाद	९ हजार टन	२१० हजार टन
गंधक का तेजाब	९९ „	४०० „
सीमेन्ट	२७ लाख टन	८८ लाख टन
कोयला	३२० „	५३० „
खनिज लोहा	३० „	१२० „

इसी प्रकार सूती वस्त्र, शक्कर, साइकिल तथा मोटर गाडियो जैसी उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई है।

देश मे पहिली बार कुछ वस्तुओ का निर्माण प्रारम्भ किया गया। जैसे बायलर, पिसाई की मशीनें, मशीनी-औजार, विस्फोटक पदार्थ, सल्फा और एन्टिबायोटिक औषधियाँ, डी० डी० टी०, न्यूजप्रिंट पेपर आदि।

लघु तथा ग्रामोद्योग—

इस अवधि में इस क्षेत्र मे भी काफी विकास हुआ है। सन् १९५०-५१ से सन् १९६०-६१ मे हाथकर्घे के कपडे का उत्पादन ७,४२० लाख गज से २१२·५० करोड गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड गज, कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु उद्योगो मे जैसे हाथ के औजार, सिलाई की मशीनें, बिजली के पखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यो मे लघु उद्योग सहायक सस्थायें निर्मित की गई हैं। इनके अलावा ४२ विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बस जावेंगी, जिनमे ७०० छोटे कारखाने होंगे।

विद्युत—

विद्युत की उत्पादन क्षमता जो सन् १९५०-५१ मे २३ लाख किलोवाट थी, से सन् १९६०-६१ तक ५८ लाख किलोवाट हो जावेगी। इसी प्रकार सन् १९५०-५१ मे ३,६८७ गाँवो मे बिजली थी वह सन् १९६०-६१ के अन्त तक १९,००० गाँवो में लग चुकी होगी।

यातायात—

पहिली योजना का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल मे रेल्वे की क्षति को पूरा करना था। दूसरी मे आयोजित औद्योगिक विकास की बढती हुई यातायात आवश्यकताओं

की पूर्ति करना था। तदनुसार सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बी रेल-लाइनें बिछ जावेंगी, १,३०० मील रेल-मार्गों का दुहराकरण, ८८० मील रेल-मार्गों का विद्युतीकरण हो चुका होगा। माल यातायात में सन् १९५०-५१ की अपेक्षा ८०% वृद्धि होगी अर्थात् सन् १९५० ५१ में ९१० लाख टन माल यातायात हुआ था, जो सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,६२० लाख टन हो जायगा। रेलवे इञ्जनों की संख्या जो दूसरी योजना के प्रारम्भ में ८,२०० थी, योजना के अन्त तक १०,६००, रेल-डिब्बों की संख्या १९,२०० से २८,६०० और माल-डिब्बों की संख्या १,९९,१०० से बढ़कर ३,५४,१०० हो जावेगी।

जहाजों का टन भार ३,९०,००० जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० हो जायगा।

पहिली योजना के प्रारम्भ में ९७,५०० मील सड़कें थी, जो सन् १९६०-६१ तक १४४ हजार मील तक बढ़ जावेंगी। रोजगार के सम्बन्ध में दूसरी योजना में कृषि के अतिरिक्त विकास कार्यक्रमों से ८० लाख लोगों को रोजगार देने का लक्ष्य था। परन्तु अनुमान है कि इस अवधि में ६५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार मिल सकेगा। क्योंकि योजना अवधि में रोजगार के साधनों में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई जितनी कि रोजगार चाहने वालों की संख्या बढ़ी है।*

योजना का पुनर्मूल्यांकन—

मई सन् १९५८ में विकास परिषद योजना का पुनर्मूल्यांकन किया तथा योजना राशि का पुनः बँटवारा किया :— (करोड़ रु०)

	संशोधित राशि	कुल लागत का प्रतिशत		योजना का 'अ' भाग	('अ भाग) कुल लागत का %
		मूल	संशोधित		
कृषि एवं सामुदायिक विकास	५६८	११·८	११·८	५१०	११·३
सिंचाई एवं शक्ति	८६०	१९·०	१७·९	८२०	१८·२
ग्राम एवं लघु उद्योग	२००	४·२	४·२	१६०	३·६
उद्योग और खानें	८८०	१४·४	१८·४	७९०	१७·५
यातायात एवं संवादवाहन	१,३४५	२८·९	२८·०	१,३४०	२९·८
सामाजिक सेवाएँ	८६३	१९·७	१८·०	८१०	१८·०
विविध	८४	२·०	१·७	७०	१·६
योग	४,८००	१००	१००	४,५००	१००

इसके अनुसार योजना के 'अ' भाग पर कुल व्यय ४,५०० करोड़ रु० होना है, जिसमें से २,५१२ करोड़ रु० केन्द्र एवं केन्द्र-शासित प्रदेश तथा १,९८८ करोड़ राज्यों द्वारा व्यय किए जायेंगे।

* उद्योग व्यापार-पत्रिका—अगस्त १९६० & Third Five Year Plan.

सन् १९५६-६० की अवधि में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के आर्थिक स्रोतों से निम्न व्यय हुआ :—

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९ (संशोधित अनुमान)	१९५९-६० बजट	१९५६-६० (अपेक्षित योग)
योजना लागत (Outlay)	६४१	८६३	१,०६४	१,०९२	३,६६०
देशी बजट स्रोत	३६४	३२०	५३६	५१३	१,७३३
विदेशी सहायता	३८	४७	२६०	३३७	६८२
कुल स्रोत	४०२	३६७	७९६	८५०	२,४१५
हीनार्थ प्रबन्धन	२३९	४९६	२६८	२४२	१,२४५

विभिन्न मदों पर व्यय की राशि निम्नवत है :—

(करोड़ रुपये)

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९ संशोधित अनुमान	प्रथम ४ वर्ष का योग— १९५६-६० अपेक्षित
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६७	८७	१२३	४१९
सिंचाई एवं शक्ति	१५५	१५८	१७१	६६६
ग्राम एवं लघु-उद्योग	२८	३३	४१	१४६
उद्योग एवं खनिज	७५	१६४	२५७	७२५
यातायात एवं संवादवाहन	२१६	२७०	२६४	१,०९२
सामाजिक सेवाएं	८६	१०८	१५८	५६९
विविध	१३	१३	२०	७३
योग	६४१	८६३	१,०६४	३,६६०

योजना के प्रथम तीन वर्षों में ८८५ करोड़ रु० का हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया तथा १३६ करोड़ रु० का सन् १९५८-५९ में होगा, ऐसा अनुमान है। योजना के अन्तिम दो वर्षों में १०० करोड़ रु० वार्षिक हीनार्थ प्रबन्धन की सीमा रखी गई थी। साथ ही, भुगतान की विषमता योजना अवधि में २,००० करोड़ रु० मानी गई थी, परन्तु सितम्बर सन् १९५९ तक यह विषमता १,२६९ करोड़ रु० की वास्तविक थी। इससे हमारे विदेशी विनिमय स्रोत प्रभावित हो रहे थे। मार्च सन् १९५९ तक ३५० मि०

डॉलर की विदेशी सहायता के सम्बन्ध में वायदे थे और योजना की शेष अवधि के लिए ६५०.मि० डॉलर का विदेशी विनिमय लगेगा, ऐसा अनुमान है।[1]

वर्तमान स्थिति—

दूसरी योजना की समाप्ति में केवल ६ माह शेष हैं, परन्तु निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति इस अवधि मे होने की आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि मुख्य बाधा विदेशी मुद्रा की है। भारत सरकार का विदेशी मुद्रा कोष न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुका है। इसलिए जब तक पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त न हो तब तक तीसरी योजना के प्रारम्भ में दूसरी योजना के अधूरी रहने की ही आशंका है।"[2] दूसरी योजना के तीसरे वर्ष में भारत की वैदेशिक मुद्रा की आवश्यकता को कुछ मित्र देशों ने तीव्रता से अनुभव किया था। फलस्वरूप विश्व बैंक के नेतृत्व में भारत सहायता क्लब की स्थापना हुई। इस समय के अनुमान के अनुसार हमारी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ५१० करोड रु० थी और क्लब ने ४५० करोड रु० की विदेशी मुद्रा देने का आश्वासन दिया था। इस सबके बावजूद भी वर्तमान स्थिति यह है कि भारत को अपनी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा के लिए भटकना पड रहा है।

इस क्लब ने भारत को सन् १९५८ और ५९ वर्ष मे ६० करोड़ डॉलर की विदेशी मुद्रा दी, परन्तु योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा इस समय नहीं मिल पा रही है। अतः ऐसी अधूरी सहायता का क्या लाभ हो सकता है जो तीसरी योजना के लिए उपयुक्त आधार न बना सके। भारत सहायता क्लब की अगली बैठक फरवरी सन् १९६१ मे हो रही है, जिसका लाभ तीसरी योजना को ही मिल सकता है। किन्तु वर्तमान समस्या है दूसरी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता की, जिस ओर सहायता के इच्छुक राष्ट्रों को गम्भीरता से देखना होगा। साथ ही भारत को भी आगामी योजना में विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचना होगा कि कहाँ तक इस प्रकार से हम परमुखापेक्षी बन अपनी प्रगति सुदृढ आधार पर कर सकते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि—

दो पंच वर्षीय आयोजनाओं में से एक तो पूरी हो चुकी है और दूसरी पूरी होने ही वाली है। निश्चित रूप से इन आयोजनाओं के फलस्वरूप हमारा औद्योगिक और कृषि-उत्पादन बढ़ा है। आँकडों के हिसाब से पिछले १० वर्ष मे हमारी राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत बढ़ी है। फिर भी देश का बहु संख्यक वर्ग इस वृद्धि का लाभ उठाने से वंचित रह गया है। यद्यपि इस स्थिति की जांच के लिए एक कमीशन

---

1. India 1960.
२. नवभारत टाइम्स (सम्पादकीय) ११ सितम्बर १९६०।
३. नवभारत टाइम्स सितम्बर १७, १९६०।

बैठाने का निर्णय किया गया है, तथापि कमीशन बैठाना समस्या का हल नहीं है, मसला उलझ जरूर सकता है।

इस विषम स्थिति का मूल कारण है विकास-कार्यों के प्रति जन-जागरण का प्रभाव। और इसी से सत्तारूढ वर्ग में सिद्धान्त और व्यवहार का आन्तरिक संघर्ष उठ खडा हुआ। लोकतन्त्र और अधिनायकवाद, दोनों एक साथ नहीं चल सकते। लेकिन वस्तुतः हमारे देश में लोकतन्त्र और अधिनायकवाद को परोक्ष रूप से ही सही—एक साँचे में ढालने का असफल प्रयास हो रहा है। न चाहते हुए भी परिस्थितियों ने *हमारे देश में आयोजना का काम ऊपर से शुरू करने को बाध्य कर दिया। होना यह* चाहिए था कि वह ग्राम-स्तर से प्रारम्भ होता। कुछ समय पूर्व श्री नेहरू ने कहा था कि "भारतीय जनता में सब कुछ ऊपर से किये जाने की आशा करने की आदत सी पड़ गयी है। इसलिये शायद कार्यवाही ऊपर से ही करनी पड़े। लेकिन साथ ही जनता का अपना काम खुद भी किया जायेगा। इस काम का श्रीगणेश गाँव और पंचायत से होगा।"

वास्तव में जिस समय हमने आयोजित आर्थिक विकास का संकल्प लिया था, उस समय परिस्थितियां कुछ ऐसी थी कि काम ऊपर से ही शुरू करना पड़ा। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रथम दो आयोजनाओं के अन्तर्गत श्री नेहरू के विचार के दूसरे अंश—अपना काम खुद करने के लिए जनता के प्रशिक्षण को पूरा करने की दिशा में पर्याप्त कार्रवाई नहीं की गयी है। वस्तुतः स्वाधीनता के प्रथम १३ वर्ष में हमारी आयोजित अर्थ व्यवस्था का प्रभाव और कुप्रभाव इतना व्यापक रहा है कि जनता पहले से अधिक परमुखापेक्षी बन गई है। हमारे आयोजना निर्माता एक साथ अपनी सामर्थ्य से बड़ा निवाला काटने के प्रयास में रहे है।

पिछले दस वर्ष की अवधि में प्राकृतिक साधनों के उपयोग, उद्योग-निर्माण, कृषि विस्तार और सुधार, सड़क तथा अन्य संचार और परिवहन सुविधाओं के उन्नयन और शिक्षा-प्रसार में जो सफलता हमें मिली है, वह प्रशंसनीय और हर्ष का विषय ही मानी जायेगी। त्रुटि सिर्फ यह रही कि यह सब कुछ अपेक्षित पद्धति से नहीं हुआ। जनता की आवश्यकताएँ हमारी विकास योजनाओं का आधार नहीं बन सकीं।

यदि हमारी आयोजना का केन्द्र गाँव होता, तो इसके दो लाभ होते। एक तो यह कि आयोजना के प्रति जनता की अभिरुचि जगती, जिससे लोगों में परिश्रम करने की जीवन्त भावना का निर्माण होता और दूसरे, योजना-प्राथमिकताओं का एक सिलसिला बँध जाता, जिसमें आर्थिक विकास का एक समरूप आधार तैयार होता। उदाहरणार्थ, पहली आवश्यकता है खाद्य। यदि गाँव अथवा गाँव समूह को एक इकाई मान कर उसके लिए खाद्योत्पादन का एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता, तो एक पन्थ दो काज की कहावत चरितार्थ हो जाती। जन-जन में जागरण की लहर दौड़ती और उनको आत्मनिर्भरता की ओर पग उठाने का प्रोत्साहन मिलता।

तार ने रस्से, आग बुझाने के उपकरण आदि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की है।* ये सभी विचाराधीन है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जहाजी उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होकर उसकी नींव सुदृढ़ हो गई है। अतः विश्वास है कि भविष्य मे जहाजी व्यवसाय एवं जहाज निर्माण उद्योग गत गौरव को प्राप्त करने मे सफल होगा।

अध्याय १७

वायु-यातायात

(Air Transport)

"यह केवल वायु यातायात की ही विशेषता है कि उसके वर्तमान स्तर के विकास का श्रेय दो महायुद्धों को है।"

भारत के विभिन्न यातायात साधनो मे हवाई यातायात का विकास नया है, फिर भी इसकी प्रगति नियमितता, समय एवं सुरक्षा के सम्बन्ध मे अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। भारत मे हवाई यातायात के पर्याप्त विकास के लिए काफी गुञ्जाइश है, क्योंकि भारत पूर्व-पश्चिम वायु मार्गों का मिलन स्थान होने से पूर्व-पश्चिमी वायु मार्गों मे भारत को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। दूसरे, उसकी विस्तृत दूरी तथा सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल जलवायु के कारण वायु मार्गों के विकास के लिए भारत एक आदर्श देश है। साथ ही, व्यापारिक, राजनैतिक एवं सुरक्षा की दृष्टि से नागरिक वायु यातायात का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण आजकल सभी उन्नत देशो मे वायु-यातायात की कार्यक्षम व्यवस्था है। यद्यपि हवाई यातायात अन्य यातायात साधनो की तुलना मे अधिक खर्चीला है, फिर भी देश एवं समाज के लिए उसकी विशेष उपयोगिता है। वायुयानों के लिए न तो सड़कों और रेल मार्गों की आवश्यकता होती है और उड़ान मे उसके मार्ग मे मौसम के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की बाधाएँ न होने से वह कहीं भी जा सकता है। अन्य सब यातायात साधनो की अपेक्षा *आकाश यातायात में उसकी अधिक गति के कारण किसी भी स्थान पर पहुँचने में कम* समय लगता है। परन्तु आकाश यातायात की कुछ सीमाएँ भी हैं :—संचालन व्यय

---

* भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।

इस योजना की उल्लेखनीय बातें हैं। दूसरी योजना में पहिली योजना की नीतियों को रखते हुए उत्पादन में वृद्धि, विकास में अधिक विनियोजन और जनता को अधिक रोजगार सुविधाएँ देने के प्रयत्न किए गए। इसमे आर्थिक उन्नति की गति बढाने पर, आय और धन की विषमता कम करने और इने-गिने हाथों मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण रोकने पर बल दिया गया था। पहिली योजना मे राष्ट्रीय आय में वार्षिक ३½% और दूसरी मे ५% की दर से वृद्धि हुई है।

तीसरी योजना के उद्देश्य—

(१) आगामी ५ वर्ष मे राष्ट्रीय आय मे वार्षिक ५% से अधिक की वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में रुपया लगवाना जिसकी वृद्धि का यही क्रम आगे भी चालू रहे।

(२) अनाज की उपज में आत्म निर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढाना कि उससे हमारे उद्योगो की आवश्यकता भी पूरी हो और निर्यात भी हो सके।

(३) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगो को बढाना और मशीन बनाने के कारखाने कायम करना, जिससे १० वर्ष मे अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश मे ही बनाई जा सकें।

(४) देश की जन या श्रम-शक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगो को रोजगार के अधिक साधन देना। तथा

(५) धन और आय की विषमता को घटाना और सपत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।*

स्वयंस्फूर्त विकास—

स्वयंस्फूर्त विकास का अर्थ है कि देश के लोग इतना धन बचाते और विनियोजित करते रहें जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति और आय बराबर बढती रहे। इसलिए यह आवश्यक है कि देश मे पूँजीगत माल और मशीनें आदि बनाने का प्रबन्ध हो, जिससे नये उद्योग-धन्धों में पूँजी लगती रहे। तीसरी योजना में किस उद्योग मे कितना पूँजी विनियोग हो, इसका निर्धारण इसी बात को ध्यान मे रखकर किया गया है।

स्वयंस्फूर्त विकास तभी सम्भव है जब खेती और उद्योग दोनों की समुचित उन्नति हो। औद्योगीकरण के बिना न तो आय बढ सकती है और न रोजगारी के अवसर हीं। साथ ही, कृषि-उपज की वृद्धि बिना औद्योगीकरण भी नहीं हो सकता। इसलिए तीसरी योजना मे अन्न और कच्चे माल की उपज बढाने और उद्योग का आधार सुदृढ करने पर समान रूप से बल दिया गया है। अपने देश मे लोगो को पूर्ण रोजगार नहीं मिलता है, इसलिए रोजगार के साधन बढाना बहुत आवश्यक है। जनता को अधिक काम देने मे उत्पादन बढता है। इसलिए तीसरी योजना मे रोजगारी के

* Third Five Year Plan Page 11.

अवसर बढाने पर भी बहुत जोर दिया गया है। इस प्रकार स्वयस्फूर्त विकास भी तीसरी योजना का एक उद्देश्य है।

समाजवादी ढांचा—

योजना का उद्देश्य धन और आय की विषमता को कम करने का है, जिससे समाजवादी ढंग की समाज रचना हो सके, जिसमें सब लोगों को पूरी उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए योजना के अन्तर्गत अनेक उपाय करने पड़ेंगे और वर्तमान कलेवर में परिवर्तन करने पड़ेंगे। इनमें राज्य के उद्योग और आर्थिक कार्य, देश में साधन जुटाने और विकास में विनियोजन के लिए वित्तीय उपाय, समाज सेवाओं का विस्तार, भूमि-सुधार, सहकारी संस्थाओं का विस्तार आदि का समावेश है। ये उपाय ऐसे ढङ्ग से होने चाहिए कि निम्न श्रेणी की आर्थिक उन्नति हो और उन्हें अधिक अवसर मिले तथा उच्च श्रेणियों का धन और अधिकार कम हो।

योजना की लागत—

योजना की कुल लागत १०,२०० करोड रु० है, जिसमें से ६,२०० करोड रु० सरकारी क्षेत्र में और ४,००० करोड रु० निजी क्षेत्र में व्यय होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागत ७,२५० करोड रु० होगी। इसमें १,०५० करोड़ रु० चालू लागत का समावेश है। २०० करोड रुपये की राशि सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र में बदलने की सम्भावना है, जिससे निजी क्षेत्र में पूँजी-निर्माण हो सके। निम्न तालिका में दूसरी योजना की लागत और पूँजी के साथ तीसरी योजना के कुल व्यय और पूँजी की तुलना है :—

(करोड रु०)

	सरकारी क्षेत्र			निजी क्षेत्र	कुल पूँजी
	योजना का व्यय	चालू व्यय	पूँजी		
दूसरी योजना	४,६००	६५०	३,६५०	३,१००*	६,७५०
तीसरी योजना	७,२५०	१,०५०	६,२००	४,०००*	१०,२००

तीसरी योजना में प्रायः उन्हीं कामों पर पूँजी विनियोजन होगा जिन पर दूसरी योजना में हुआ था, परन्तु सहकारी क्षेत्र में कृषि, उद्योग, बिजली और कुछ सामाजिक सेवाओं पर अधिक बल दिया जायगा। दूसरी और तीसरी योजना में सहकारी क्षेत्र को निम्नवत बाँटा गया है :—

* सरकारी क्षेत्र से जो २०० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में दिए जायेंगे उनका समावेश इसमें नहीं है।

(करोड रुपये)

	व्यय		प्रतिशत	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि और छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६'९	८'६
(२) सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४'६	५'५
(३) बड़ी और मध्य सिंचाई योजनाएँ	४५०	६५०	९'८	९'०
(४) .... योग १, २, ३,	९८०	१,६७५	२१'३	२३'१
(५) बिजली	४१०	९२५	८'९	१२'८
(६) ग्राम एवं लघु उद्योग	१८०	२५०	३'९	३'४
(७) उद्योग और खनिज	८८०	१,५००	१९'१	२०'७
(८) परिवहन और संचार	१,२६०	१,४५०	२७'१	२०'०
(९) योग ५ से [illegible]	२,७६०	४,१२५	६०'१	५६'९
(१०) सामाजिक सेवाएँ	८६०	१,२५०	१८'७	१७'२
(११) उत्पादन में रुकावट न आवे इसलिए कच्चा या अर्द्ध निर्मित माल का संग्रह	—	२००	—	२'८
(१२) सकल योग	४,६००	७,२५०	१००	१००

सरकारी क्षेत्र में जो व्यय ७,२५० रु० का होता है उसमें से ३,६०० करोड रु० केन्द्र और ३,६५० करोड रु० राज्य सरकारें खर्च करेंगी। केन्द्र द्वारा राज्यों का २,५०० करोड रु० दिए जाने का अनुमान है।

योजना के लिए आर्थिक साधन –

दूसरी योजना की कुल ६,७५० करोड रु० लागत की तुलना में तीसरी योजना में १०,२०० करोड रु० की पूँजी लगाने के लिए घरेलू साधन जुटाने में गहन प्रयत्न करना होगा। तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय ५% वार्षिक की दर से बढ़ने की आशा है। अधिक पूँजी विनियोजन के लिए इसी साधन से धन प्राप्त करना होगा।

योजना का उद्देश्य है कि तीसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय का १४% अर्थ व्यवस्था में विनियोजित हो? दूसरी योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय का ११% हमारी अर्थ-व्यवस्था [illegible] लगा हुआ होगा। इस समय बचत की दर राष्ट्रीय आय के ८% है, जिसे तीसरी योजना के अन्त तक बढ़ाकर ११% करना होगा।

पहिली दो योजनाओं की भाँति तीसरी योजना के प्रारम्भ में भी विदेशी मुद्रा कम रहेगी तथा विदेशी मुद्रा कोष में धन लेने की भविष्य में गुञ्जाइश नहीं है। साथ ही, मूल्य-स्तर दूसरी योजना के प्रारम्भ की अपेक्षा अब २०% अधिक है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसे व्यय न किए जाएँ जिनसे मुद्रा-स्फीति हो।

कम्पनियो को जो सेवा शुल्क मिला उससे इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया तथा भारत मे वायु यातायात का विकास भी काफी हुआ। फलस्वरूप भारत मे अनेक स्थानो पर नये हवाई अड्डे बने तथा वायु उडान का नया तन्त्र विकसित हुआ। इससे वायु मार्गों की सुरक्षा बढी एव जनता को उनकी उपयोगिता का अनुभव मिला। साथ ही, अनेक भारतीयो को हवाई-उडान की यान्त्रिक एव तान्त्रिक शिक्षा तथा अनुभव मिला, जो भारत के भावी वायु मार्गों के विकास के लिए आवश्यक ही था।

युद्ध समाप्त होने पर जनता का वायु मार्गों की सुरक्षा एव उपयोगिता मे विश्वास बढने के साथ साथ यात्रियो एव माल के यातायात का परिमाण बढा। इसके साथ अनेक डाकोटा वायुयान जो अब सैनिक दृष्टि से अनावश्यक थे वे मिट्टी मोल बेचे गये। फलतः भारत मे अनेक नई वायु-सेवा कम्पनियो की स्थापना हुई तथा ऐसी ११ कम्पनियो को लाइसेन्स दिये गये।* यद्यपि यात्रियो एव माल यातायात का परिमाण बढ रहा था, फिर भी बढते हुए सचालन व्यय के कारण अनेक कम्पनियो की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई तथा उन्होने सरकारी सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप १ मार्च सन् १९४९ से वायु यातायात कम्पनियो को सरकारी सहायता मिलने लगी, जिसका संशोधन १ अक्टूबर सन् १९५१ मे किया गया।

वायु यातायात जाँच समिति सन् १९५०—

इसी समय बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में वायु सेवाओ की व्यय प्रणाली की जांच तथा वायु यातायात उद्योग की सुदृढता के हेतु सिफारिशें करने के लिए एक जांच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने यह राय दी कि वर्तमान वायु कम्पनियो का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। यात्री एव माल के यातायात को देखते हुये कम्पनियो की सख्या अधिक है। इसलिए समिति ने उनके कार्य व्यय मे कमी तथा उनका पुनर्गठन कर उनको चालू रखने की सिफारिश की। इसके साथ ही समिति ने राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। परन्तु राष्ट्रीयकरण के लिए वह समय उपयुक्त न होने से ५ वर्ष के लिए उसे स्थगित किया जाय, यह भी कहा।

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे इस समिति ने निम्न दलीलें दी :—

(१) देश की विभिन्न वायुयान कम्पनियो के नियन्त्रण के लिए एक कॉर्पोरेशन बनाया जाय, जिससे वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग हो सके। यह कॉर्पोरेशन व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी नीति व्यवहार में लाये, किन्तु प्रमुख नीति पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त हितकर है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत वायुयानो की सेवाएँ सस्ती दरो पर एव किसी भी समय उपयोग मे ली जा सकती है।

---

* Hindustan Year Book—1954

(३) सरकारी वायुयान कॉर्पोरेशन की स्थापना होने से उसका हेतु केवल लाभ कमाना नहीं रहेगा, जिससे जनता को सस्ते दरों पर आकाश यातायात की सेवाएँ मिल सकेंगी। कारण, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होने से दुहरी क्रियाएँ नहीं रहेंगी एवं व्यय में मितव्ययिता होगी।

(४) व्यक्तिगत वायु यातायात कम्पनियों की सफलता के लिए सरकारी सहायता देनी होगी (जो उस समय सरकार दे रही थी). ऐसी दशा में इनका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक वाञ्छनीय होगा।

वायु मार्ग कॉर्पोरेशन योजना (Airways Cooperative Scheme)—

इसके बाद सन् १९५२ में योजना आयोग ने वायु यातायात प्रमण्डलों को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा उनको प्रति वर्ष दी जाने वाली ४० लाख रुपए की अप्रत्यक्ष सहायता, इन दोनों पहलुओं पर विचार कर यह निर्णय लिया कि वायु यातायात कम्पनियों की अधिकता देश के हित में नहीं है। इसलिए आयोग ने एक एअरवेज कॉर्पोरेशन का निर्माण कर उसमें वर्तमान वायु यातायात कम्पनियों के एकीकरण की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार वर्तमान कम्पनियों के अंशधारियों को उनकी पूँजी के बदले नवनिर्मित एअरवेज कॉर्पोरेशन के अंश देने का प्रस्ताव रखा। सरकार इस कॉर्पोरेशन पर अपना प्रबन्ध एवं नियन्त्रण रखने में सफल हो, इसलिए सरकारी अंश सबसे अधिक परिमाण में रहेंगे। इस कार्य के लिए तथा १३ वायुयानों के क्रय के लिए ९·५० करोड़ रुपए का आयोजन भी किया गया।

राष्ट्रीयकरण हो गया—

फलस्वरूप यातायात मन्त्री एवं वर्तमान वायु यातायात प्रमण्डलों के साथ अनेक बार विचार-विनिमय होकर वायु यातायात राष्ट्रीयकरण अधिनियम सन् १९५३ बना। इस अधिनियम से १ अगस्त सन् १९५३ को वायु-यातायात उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो गया। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप १ अगस्त सन् १९५३ में आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए 'इण्डियन एअरलाइन्स कॉर्पोरेशन' तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु सेवाएँ प्रदान करने के लिए 'एअर इण्डिया इन्टरनेशनल कॉर्पोरेशन' का निर्माण हुआ।

इन वैधानिक निगमों के निर्माण से लाभ—

(१) वायु-यातायात सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री, वर्कशॉप क्षमता तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों का देश हित में अधिकतम् उपयोग होगा।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण निश्चित रूप में वांछनीय ही था, जो अब सरकारी निगमों के निर्माण से पूर्ण हो गया है।

(३) वायु-यातायात जन-उपयोगी साधन होने से उसका विकास देश हित में एवं जन-हित में होगा।

(४) वर्तमान यन्त्र-युग में वायु यातायात क्षेत्र में तीव्र गति से तान्त्रिक

विकास हो रहा है, जिसका पूर्णतम लाभ सरकारी निगम अपने असीमित साधनों के कारण ले सकेगा।

राष्ट्रीयकरण होने से इण्डियन एयर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने देश के आन्तरिक वायु मार्गों पर सुविधाएँ देने वाली आठ वायु यातायात कम्पनियों को अपने नियन्त्रण एवं प्रबन्ध में ले लिया है। इसी प्रकार एअर इण्डिया इण्टरनेशनल ने तत्कालीन वायु यातायात कम्पनियों को, जो अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों पर सेवाएँ दे रही थी, अधिकार एवं नियन्त्रण में लिया है। केन्द्रीय सरकार को देश हित में दोनों ही निगमों को आदेश देने का अधिकार है। ये दोनों निगम केन्द्रीय सरकार को आर्थिक अनुमान के साथ अपनी क्रियाओं की वार्षिक योजनाएँ देंगे तथा इनकी लेखा पुस्तकों की जाँच ऑडिटर जनरल एवं कण्ट्रोलर करेगा, जिसकी रिपोर्ट संसद में रखी जायेगी।

इन दोनों निगमों की क्रियाओं से सामंजस्य लाने के लिए अप्रैल सन् १९५५ में वायु यातायात परिषद् की स्थापना की गई है, जो भाड़े की दरें, किराया, डाक-शुल्क तथा वायु मार्ग सुविधाओं की पूर्णता एवं कार्यक्षमता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देती है। इसके साथ ही दोनों निगमों की पृथक सलाहकार समितियाँ हैं, जिनमें वायु यातायात के उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व भी है, जिससे वे प्रबन्धकों के सामने दृष्टिकोण रख सकेंगे।

प्रत्येक वायु-यातायात कम्पनी को दी जाने वाली हानि पूर्ति की राशि अधिनियम में निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ६·०१ करोड़ निश्चित की गई है। हानि पूर्ति की राशि का भुगतान ३½% के बांडों में किया गया है, जो बेचान साध्य एवं ५ वर्ष बाद देय हैं।

राष्ट्रीयकरण के बाद—

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण की विभिन्न क्षेत्रों से कटु आलोचना की गई थी तथा कहा गया था कि राष्ट्रीयकृत वायु परिवहन में कार्यक्षमता की हानि के साथ ही आर्थिक हानि भी बढ़ेगी। फलतः रेल परिवहन की भाँति वायु-सेवाओं में भाड़े की वृद्धि होगी, परन्तु कॉर्पोरेशन की गत वर्षों की क्रियाओं से यह स्पष्ट होता है कि इन आलोचनाओं में कोई तथ्य नहीं था।

राष्ट्रीयकरण के प्रथम वर्ष में अवश्य ही यात्रियों की संख्या तथा माल का यातायात कम और डाक अधिक भेजी गई थी, परन्तु इसके बाद के वर्षों में वायु परिवहन प्रगति कर रहा है :—

इस विषय मे जो नीति है उसका लक्ष्य है कि इन अवसरो से छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगपति लाभ उठावें और अधिक शक्ति थोडे से लोगो के हाथ मे केन्द्रित होने क प्रवृत्ति पर आरम्भ से ही अकुश रहे ।*

उत्पादन एव विकास के लक्ष्य—

कृषि योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता है। अनाज मे आत्म निर्भरता और उद्योगो तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढाना तासरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना में कृषि एव सामुदायिक विकास के लिए सरकारी क्षेत्र मे १,०२५ करोड रु०, सिंचाई को बडी और मध्यम योजनाओ के लिए ६५० करोड रु० का आयोजन है। साथ ही, निजी और से भी इन कार्यों मे ८०० करोड रु० के विनियोजन का अनुमान है। कृषि की उपज मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलो के उत्पादन लक्ष्य हैं :—

		वार्षिक उत्पादन	
		१९६०–६१ (अनुमान)	१९६५–६६ लक्ष्य
अनाज (लाख टन)		७५०	१,००० से १,०५०
तिलहन ,,		७२	९२ से ९५
गन्ना (गुड क रूप मे)	(लाख टन)	७२	९० से ९२
रुई	(लाख गाँठें)	५४	७१
पटसन	(,,)	५५	६५

औद्योगिक उत्पादन—

तृतीय योजना के लक्ष्यो और प्राथमिकताओ के बारे मे योजना आयोग ने कहा है कि सन् १९६१ ६६ की औद्योगिक परियोजना का लक्ष्य एक ऐसी नींव रखना होना चाहिए जिसमे अगले पन्द्रह वर्ष तक देश का तेजी से विकास हो सके। राष्ट्रीय आय मे अपेक्षित वृद्धि और रोजगार की सुविधाएं प्रदान करने की दृष्टि से भी यह बहुत जरूरी है।

मूल मशीनें और उपभोक्ता सामग्री तैयार करने वाले उद्योगो और आवश्यक टेकनिकल ज्ञान, डिजाइन तैयार करने की क्षमता आदि तैयार करने पर आयोग ने विशेष बल दिया है जिससे बिजली, परिवहन, उद्योग, खनिज-उत्पादन आदि के क्षेत्र मे राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का विकास हो सके और देश को विदेशो पर निर्भर न रहना पडे।

तृतीय योजना काल मे निजी और सार्वजनिक उद्योगो को परस्पर सहयोग से काम करना होगा। नेत्रजनयुक्त रसायनिक खाद तैयार करने के क्षेत्र मे यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता प्राप्त हो चुकी है, तथापि योजना काल में निजी क्षेत्र को भी यहां बढने का मौका दिया जायगा।

* उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।

तृतीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया जायगा, जिससे विदेशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़े।

आयोग ने तृतीय योजना काल के लिए प्राथमिकताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं :—

(१) द्वितीय योजना की शेष परिकल्पनाओं को पूरा करना ;

(२) इञ्जीनियरिंग और भारी मशीनें बनाने वाले उद्योगों का विस्तार और उनके उत्पादन में विविधता लाना तथा मिश्रित धातुओं के औजार, विशेष इस्पात, लोहा, इस्पात और लौह-मिश्रण एवं रसायनिक खाद तैयार करना ;

(३) अल्युमिनियम, खनिज तेल, रसायन आदि तैयार करना ;

(४) मौजूदा क्षमताओं का पूर्ण उपयोग;

(५) देशी उद्योगों से अधिक मात्रा में दवाइयाँ, कागज, कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल और घर बनाने का सामान तैयार करना।

तृतीय योजना में उद्योग और खान-कार्यक्रमों पर २५ अरब रुपया खर्च करने की व्यवस्था है। इस राशि में १५ अरब सार्वजनिक और १० अरब रुपया निजी क्षेत्र पर खर्च किया जायगा।

नेवेली योजना—

नेवेली योजना में उष्णता से प्राप्त बिजली के लिए ३५ लाख टन लिगनाइट प्रति वर्ष खनन की कल्पना की गयी है। इसके अतिरिक्त ७० हजार टन नाइट्रोजन के समान खाद के उत्पादन और ३ लाख ८० हजार टन के कार्बनाइज्ड ब्रिकेटेस का उत्पादन भी होगा।

तृतीय योजना में उष्णता प्राप्त बिजली उत्पादन की क्षमता चार लाख किलोवाट कर दी जायगी। बढ़ाए गए बिजली संयन्त्र की आवश्यकता के लिये खनिज उत्पादन ३५ लाख टन से बढ़ाकर ४८ लाख टन कर दिया जयगा।

औद्योगिक मशीनरी—

ढलाई भट्टी की क्षमता मशीनरी योजनाओं के लिए अनिवार्य है। ढलाई की कुल शक्ति का वितरण निम्नलिखित ढंग से किया जायगा :—(१) रांची की ढलाई भट्टी में (तृतीय चरण में) ३८ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ४५ हजार टन इस्पात की ढलाई और ६६ हजार ७ सौ टन स्टील फोर्जिंग; (२) दुर्गापुर खान मशीनरी योजना में ११ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ६ हजार टन इस्पात की ढलाई और ८ हजार टन स्टील फोर्जिंग; (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, बंगलोर में २ हजार ५ सौ टन भूरे लोहे की ढलाई; (४) चितरंजन लोकोमोटिव कारखाने में ३ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और ७ हजार टन इस्पात की ढलाई; (५) दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला इस्पात कारखाने में ७५ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और १५ हजार टन

इस्पात की ढलाई और (६) रेलवे कारखानों से सम्बन्धित ढलाई भट्टियों को छोड़कर शेष अन्य कारखानों में ६ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई।

रांची में बड़े यन्त्रों के उत्पादन के लिए एक संयन्त्र है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८० हजार टन है। इसका विस्तार होने वाला है। इसके विस्तृत हो जाने पर इस्पात तैयार करने की क्षमता प्रति वर्ष १० लाख टन करने के लिए आवश्यक प्रसाधनों में अधिकांश प्रसाधनों की पूर्ति इसी कारखाने से हो सकेगी।

फिलहाल मशीन के औजारों की मांग २० करोड़ रुपए की कीमत तक है, लेकिन सन् १९६५-६६ तक यह मांग बढ़कर ५० करोड़ रुपए तक की कीमत तक पहुँच जायगी।

खनिज तेल—

सन् १९५९ ई० में खनिज तेल के बने सामानों की मांग ६२ लाख ८० हजार टन थी। इसके मुकाबले में तीसरी योजना के अन्त में १ करोड़ टन से भी अधिक खनिज तेल के सामानों की मांग होने की आशा है।

आयल इण्डिया लिमिटेड कम्पनी नहरकटिया की खान से तेल निकालेगी। आशा है कि यहाँ से प्रति वर्ष २७ लाख ५० हजार टन तेल निकल सकेगा। सन् १९६२ ई० में तेल साफ करने का पहला कारखाना बनाकर तैयार हो जायगा। ऐसी आशा है कि तेल साफ करने के कारखाने की स्थापना का काम पूरा होते ही सन् १९६० ई० से कच्चे तेल की पाइपिंग शुरू हो जायगी।

और अधिक तेल की खोज के लिए तीसरी योजना में १ अरब १५ करोड़ रुपये की धनराशि निर्धारित की गयी है और सार्वजनिक क्षेत्र में तेल के वितरण की व्यवस्था के लिए भी ५ करोड़ रुपए की धनराशि निर्धारित की गयी है।

उर्वरक का उत्पादन—

नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन बढ़ा कर ८ लाख टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यह लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र के लिए है। इसी प्रकार निजी उद्योग के लिए भी २ लाख टन नाइट्रोजन उर्वरक तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। फिलहाल १ लाख ४४ हजार टन नाइट्रोजन उर्वरक तैयार करने की क्षमता है। करीब-करीब यह सारा उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र का है। एफ० ए० सी० टी० और नंगल कारखाने के विस्तार से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दूसरी योजना के अन्त तक नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन करीब-करीब २ लाख ३४ हजार टन हो जायगा।

अन्य उत्पादन लक्ष्य निम्न हैं :—

		१९६०-६१	१९६५-६६
अल्यूमिनियम	('००० टन)	१७·०	७५·०
सीमेंट	(लाख टन)	८८	१३०
कागज	('००० टन)	३२०	७००

गन्धक का तेजाब	('००० टन)	४००	१,२५०
कास्टिक सोडा	('००० टन)	१२५	३४०
शक्कर	(लाख टन)	२५	३०
कपड़ा (मिलों का)	(लाख गज)	५०,०००	५८,०००
साइकिल (कारखानों में)	(हजार)	१,०५०	२,०००
सिलाई की मशीनें	(हजार)	३००	४५०
मोटरें	(संख्या)	५३,५००	१,००,०००

अन्य क्षेत्रों के विकास के लक्ष्य यथास्थान दिए गए हैं, अतः दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

आलोचनाएँ—

(१) तीसरी योजना में विदेशी सहायता पर अधिक निर्भरता है, जो कुल लागत के १०% है। विशेषतः ऐसी स्थिति में जब विदेशी सहायता के सम्बन्ध में निश्चित कोई आश्वासन नहीं है और यदि यह सहायता न मिली तो विकास अवरुद्ध होगा, जो योजना की महान त्रुटि है।

(२) दूसरी योजना के अन्तर्गत दिए गए ऋण एवं ब्याज के भुगतान की राशि जो तीसरी योजना में चुकानी होगी, ५०० करोड़ रु० हैं। इससे तथा आगामी ऋणों से हमारी अर्थ व्यवस्था पर अधिक भार होगा, जिससे हमारी विकास योजनाओं को सदैव खतरा बना रहेगा।

(३) दूसरी योजना में अल्प बचत से ५०० करोड़ रु० प्राप्त होने का लक्ष्य था, परन्तु वास्तव में ३८० करोड़ रु० ही मिले। ऐसी अवस्था में तीसरी योजना के अन्तर्गत अल्प बचत के लक्ष्य की पूर्ति के लिए गहन प्रयत्नों की आवश्यकता है।

(४) अतिरिक्त कर बढ़ाने का लक्ष्य १,६५० करोड़ रु० है। इसमें सरकारी क्षेत्र के उद्योगों का लाभ बढ़ाने से जो राशि प्राप्त होगी उसका भी समावेश है। परन्तु कितनी राशि अतिरिक्त करों से और कितनी राशि सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की लाभ-वृद्धि में प्राप्त होगी, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान नहीं है। साथ ही, सरकारी उपक्रमों के लाभ की राशि ४४० करोड़ रु० आकी गई है, जो वर्तमान स्थिति को देखते हुए योजनाकारों का एक अव्यावहारिक आशावाद प्रतीत होता है। "कर वृद्धि में राज्यों को अधिक प्रयत्न करना होगा।" परन्तु कुछ राज्यों ने तो अभी से "कर वृद्धि सम्भव नहीं" यह कहना प्रारम्भ कर दिया है। ऐसी अवस्था में योजना के अन्तर्गत कुछ विकास कार्यक्रम खटाई में पड़ जाएँगे।*

इन आलोचनाओं के होते हुए भी योजना के लक्ष्य समुचित हैं और यह आशा की जा सकती है कि योजना के अन्तिम रूप में इन त्रुटियों का निवारण करने का प्रयत्न किया जायगा और साथ ही द्वितीय योजना की भूलों को सुधारने का प्रयास भी किया जायगा।

* Commerce, Aug. 27, 1960.

अध्याय १४

यातायात : रेल-यातायात

(*Transport : Railways*)

"यातायात पद्धति हमारे शरीर की धमनियों की भांति है, जिनके बिना देश का आर्थिक विकास असम्भव है।"

यातायात का अर्थ—

यातायात अथवा आवागमन "सब तान्त्रिक साधनों एवं सङ्गठनों का योग है, जो व्यक्ति, वस्तुओं अथवा समाचारों को दूरी पर अधिकार देते हैं।"* इस प्रकार सामान्य शब्दों में, जो साधन मानव, समाचार एवं वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाने में सहायक होते हैं उन साधनों को हम यातायात कह सकते हैं। हमारे अध्ययन के के लिए समाचारों का सम्बन्ध विशेष रूप से नहीं आता, अतः हम यहाँ उन आवागमन के साधनों को देखेंगे जो वस्तु एवं मानव को स्थान दूरी कम करने में सहायक होते हैं। ये साधन विभिन्न होते हैं—स्थल यातायात, जल यातायात एवं वायु यातायात। स्थल यातायात में रेल्वे, मोटरें, बैलगाड़ी, खच्चर आदि सभी साधनों का समावेश होता है, जो स्थल मार्ग की दूरी कम करने में सहायक होते हैं। जल यातायात में नाव, जहाज, तथा स्टीमरों का समावेश होता है, जो नहरों, नदियों, समुद्र आदि द्वारा वस्तु एवं मानव के यातायात के लिए सहायक होते हैं। वायु यातायात में हवाई जहाज का समावेश होता है, जो स्थान की दूरी हवाई उड़ान से कम करने में सहायक होते हैं।

यातायात और आर्थिक प्रभाव—

किसी भी देश का यातायात विकास वहाँ की जलवायु, स्थल रचना, नदियों की बहुलता एवं समुद्र की समीपता के ऊपर निर्भर रहता है। फिर भी प्रत्येक देश में साधारणतः सभी प्रकार के यातायात साधन उपलब्ध हैं, जिनकी अधिकता वहाँ की नैसर्गिक एवं भौगोलिक स्थिति पर निर्भर होती है। यातायात के साधन देश के औद्योगिक कलेवर में रक्त वाहिनी का काम करते हैं तथा आर्थिक विकास की किसी भी

* "Transportations is the sum of all technical instruments *and organisations designed to enable* persons, commodities and news to master space"

Kurt Widenfield—Quoted from Transport by K P. Bhatnager and Others

श्रेणी में हमको यातायात के कोई न कोई साधन दिखाई देते ही हैं। प्रारम्भिक काल में मानव एवं पशुओं द्वारा यातायात होता था तो आज के बहु-परिमाण उत्पादन के काल में रेलें, हवाई जहाज, जहाज आदि साधनों से माल एवं मानव का आवागमन होता है। इस प्रकार यातायात के साधन देश की आर्थिक प्रगति का परिचय देते हैं।

यातायात के साधनों का प्रत्येक देश के औद्योगिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि (१) यातायात साधनों के होने से देश के उद्योगों को कच्चा माल सुगमता से एवं सस्ती कीमत पर उपलब्ध होकर देश के विभिन्न भागों में उसका वितरण सुगम होता है। (२) यातायात साधनों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क, देश का विदेशी व्यापार एवं देश की सभ्यता तथा सांस्कृतिक विकास होता है। (३) विभिन्न देशों के साथ सम्पर्क होने से वैज्ञानिक प्रगति को बल मिलता है, जिससे देश की औद्योगिक एवं कृषि सम्बन्धी प्रगति होती है तथा संकुचित विचारधारा का अन्त होकर मानवी जीवन विकसित होता है। (४) देश में बाजार क्षेत्रों का विकास होकर पूँजी एवं श्रम की गतिशीलता बढ़ती है। (५) इस प्रकार यातायात साधनों से देश के विभिन्न स्रोतों का उपयोग अधिक अच्छी तरह सम्भव होता है और शीघ्र नाशवान वस्तुओं का उपयोग भी हो सकता है। राजनैतिक दृष्टि से भी यातायात साधनों का भाग कम नहीं है, क्योंकि सुरक्षा के लिए शीघ्र यातायात ही आवश्यक होते हैं।

रेल-यातायात—

आवागमन के विभिन्न साधनों में रेलवे अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यापारिक एवं औद्योगिक दृष्टि से यातायात का यही साधन अधिक उपयोगी है। यातायात साधनों में कितने ही वैज्ञानिक आविष्कार क्यों न हो जायं, रेलों का महत्व कायम ही रहेगा। यही एक ऐसा साधन है जिससे भारी माल किसी भी संख्या अथवा वजन में एवं कम खर्च पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। इसीलिए स्थल यातायात में रेलों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है।

भारत में रेलवे का विकास—

भारत में रेलवे का प्रारम्भ वास्तव में सन् १८४१ के लगभग हुआ, जब रेलवे योजना के सम्बन्ध में इन्जीनियर तथा इंगलैंड के व्यक्तिगत पूँजीपतियों की चर्चा हो रही थी। इसके दो वर्ष बाद ही निश्चित रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास प्रस्ताव रखे गये। रेलवे निर्माण की उपयोगिता के विषय में इङ्गलैंड एवं भारत की जनता निश्चित थी। परन्तु सवाल केवल उसके लिए आवश्यक पूँजी का था, जिसके विनियोग के लिए इङ्गलैंड के पूँजीपतियों को प्रलोभन देना आवश्यक था। सन् १८४३ में तत्कालीन गवर्नर जार्ज आर्थर के निमन्त्रण से श्री जी० टी० क्लार्क नामक रेलवे इन्जीनियर बम्बई आए। इनके आने का उद्देश्य रेलवे निर्माण की सम्भावना का स्थानीय अध्ययन करना था। भारत से जाने के बाद श्री क्लार्क अपनी योजना बनाने में तथा इस कार्य के लिए एक कम्पनी का निर्माण करने में व्यस्त हो गये,

जिससे सम्पूर्ण भारत में रेलवे का जाल बिछाया जा सके । उसके बाद ७ मई सन् १८४३ को भारतीय गवर्नर जनरल ने रेलवे की आवश्यकता को शासकीय मान्यता दी, जिससे विभिन्न कम्पनियों के साथ वार्ता होने लगी । फलस्वरूप १७ अगस्त सन् १८४९ मे प्राथमिक वैधानिक समझौते पर भारत सरकार, ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला तथा ईस्ट इण्डियन रेलवेज के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हो गये तथा भारत मे गारन्टी पद्धति पर रेल्वे का श्रीगणेश हुआ । इस समझौते की प्रमुख शर्तें थी :—

(१) भारत के निश्चित रेलवे का आकार एवं उनकी पूर्णता की जिम्मेवारी संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों को सौंप दी गई ।

(२) भारत सरकार ने कम्पनियों द्वारा प्राप्त पूँजी पर ब्याज की जमानत दी, परन्तु साथ ही कम्पनियों के खर्चों एवं क्रियाओं पर नियन्त्रण रखा । यह ब्याज ९९ वर्ष के लिए ४½% से ५% की दर से देना निश्चित हुआ था ।

(३) रेल्वे कम्पनियों को भारत मे निःशुल्क जमीन दी गई ।

(४) निश्चित दर (४½% से ५%) अधिक लाभ होने पर आधा लाभ सरकार को जमानत के रूप में ब्याज की पूर्णता के लिए दी हुई राशि के भुगतान के उपयोग में लाया जायगा तथा शेष ५०% हिस्सेदारों में बाँटा जायगा, यह निश्चित हुआ ।

(५) भारत सरकार २५ अथवा ५० वर्ष बाद अपनी इच्छा से यदि चाहे तो रेल्वे, रेल्वे का सामान (Rolling Stock) आदि समुचित मूल्यांकन से खरीद सकती थी । इस समझौते से रेल्वे निर्माण के प्रारम्भ की ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही आरम्भ हो गई ।

रेल्वे निर्माण—

रेल्वे में प्रयोग के लिए सबसे पहले सन् १८४५ में कलकत्ते से रानीगंज के लिए १२० मील का लौह मार्ग बनाया गया । इसके बाद समझौता होने के पश्चात् ही अन्य मार्गों का निर्माण हुआ, जिनमे बम्बई से कल्याण का ३६ मील का फरवरी सन् १८५१ में, दूसरा बम्बई से थाना तक २० मील का लौह मार्ग १६ अप्रैल सन् १८५३ तथा ३९ मील का तीसरा मार्ग कलकत्ता से पडुआ तक का आरम्भ हुआ । ये तीनों मार्ग रेल्वे की उपयोगिता एवं सफलता को आँकने के लिए बनाये गये थे । इसके बाद सन् १८५३ के प्रारम्भ मे तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत के विविध रेल्वे इञ्जीनियरों तथा विशेषज्ञों की रिपोर्टों के परिशीलन के बाद रेल्वे निर्माण के सम्बन्ध में अपना नोट इङ्गलैंड में भेजा । इसमें व्यापारिक, औद्योगिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारत में रेलवे के महत्त्व का परिचय देते हुए ट्रंक रेलवे के निर्माण पर जोर दिया । इस प्रकार वास्तव में सन् १८५३ से ही रेल्वे के निर्माण का प्रारम्भ हुआ । तब से रेलवे का विकास काफी हुआ और आज भारत मे ३४,४४६ मील के रेल मार्ग है, जो

देश के राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, खनिज, कृषि एवं धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण स्थानों में हैं।

गारन्टी पद्धति के दोष—

उक्त पद्धति में अनेक दोष होने के कारण वह सफलता से कार्य न कर सकी तथा केवल २० वर्ष ही (सन् १८४९-१८६९) कार्य में रही। इस अवधि में ४,२५५ मील के रेल मार्ग बनाए गए, जिनकी लागत ८६ करोड़ रुपये थी। इस पद्धति से सन् १८६९ तक सरकार को १०७ करोड़ रुपये की हानि हुई, जिससे इस पद्धति की तीव्र आलोचना होने लगी। क्योंकि "भारतीय गारन्टी मितव्ययिता की भार रूप हुई, फिजूल-खर्ची को प्रोत्साहन मिला तथा जनता की शक्ति से अधिक प्रथम समय की आवश्यकता से अनुचित दायित्व को बढ़ा दिया।"* इस नीति के दोषों की ओर संकेत करते हुए गवर्नर जनरल लार्ड लारेन्स ने कहा था :— "सम्पूर्ण लाभ कम्पनियों को मिलता है और सम्पूर्ण हानि सरकार को।" इसलिए इस नीति में परिवर्तन होना आवश्यक है। इस पद्धति के प्रमुख दोष निम्न थे :—

(१) गारन्टीड ब्याज की दर बहुत अधिक है, इससे कम्पनियों को लाभ की निश्चितता रहने के कारण वे मितव्ययिता के लिए कोई प्रयत्न नहीं करतीं और साथ ही ब्याज की यह दर इङ्गलैंड की मुद्रा मण्डी की स्थिति को देखते हुए न्यायोचित नहीं थी।

(२) सरकार का नियन्त्रण रेलवे कम्पनियों पर एवं सूक्ष्म मामलों पर भी बहुत कठोर होता है, जिससे रेलवे की कार्यक्षमता में बाधा पहुँचती है। साथ ही , रेल्वे कम्पनियों पर दुहरा नियन्त्रण होने से कभी-कभी तो कार्य स्थिरता भी आ जाती है।

(३) सरकार की ओर से दी गई गारन्टी अनुचित थी, क्योंकि नई पूंजी के विनियोग की सरकार ने गारन्टी दी थी। इस कारण जैसे-जैसे पूंजी का विनियोग बढ़ता जाता था, सरकार का दायित्व भी बढ़ता था।

अतः लॉर्ड लारेन्स ने इस नीति में परिवर्तन करना आवश्यक समझा तथा सरकार ने रेल्वे निर्माण की जिम्मेवारी एवं स्वामित्व स्वयं ले लिया।

सरकार द्वारा रेल-निर्माण सन् १८६९-१८७९—

सन् १८६९ से रेलों की जिम्मेवारी भारत सरकार की हो गई, परन्तु यह नीति अपेक्षित सफलता प्राप्त न कर सकी। क्योंकि समय की आवश्यकता के अनुसार सरकारी पूंजी अन्य दिशाओं में लगाना आवश्यक हो गया। इसी समय (सन् १८७४-७६ में) भीषण एवं देशव्यापी अकाल पड़ा, जिसके लिए खाद्यान्न की पूर्ति की ओर सरकार को ध्यान देना पड़ा। दूसरे, अफगान युद्ध के कारण राजनैतिक दृष्टि से रेल्वे

* Development of Indian Railways—Sanyal.

का शीघ्र निर्माण करना आवश्यक हो गया। इस अवधि मे (सन् १८६६ मे सन् १८७६) भारत सरकार ने २,१७५ मील रेल मार्गों का निर्माण १०,६०० पौंड प्रति मील की लागत से किया। अकाल की जाँच के लिए नियुक्त अकाल-आयोग (सन् १८७६) ने रेलो के शीघ्र विस्तार की सिफारिश की, जिससे खाद्यान्न का यातायात दुर्भिक्ष के समय शीघ्रता से हो सके। इस कार्य के लिए उन्होंने कम से कम ५,००० मील के रेल मार्ग बढाने की सिफारिश की। सरकार के पूँजीगत साधन इस कार्य के लिए अपर्याप्त होने से कम्पनियो का सहयोग आवश्यक हो गया। अतः फिर गारन्टी पद्धति अपनाई गई।

नई गारन्टी पद्धति सन् १८८०-१६००—

इस अवधि मे सरकार द्वारा सन् १८७६ मे खरीदी गई ईस्ट इण्डियन रेल्वेज उसी कम्पनी की व्यवस्था मे दी गई तथा नई शर्तों पर गारन्टी पद्धति अपनाई गई। ये शर्तें पहिले की शर्तों से सरकार को अधिक अनुकूल थी। नई गारन्टी की शर्तें निम्न थी:—

(१) पूँजी पर ३½% ब्याज की गारन्टी सरकार ने दी।

(२) कम्पनियो को ३½% से अधिक लाभ होने पर ६०% भारत सरकार को मिलेगा तथा शेष हिस्सेदारो में बाँटा जा सकेगा।

(३) भारत में कम्पनियो द्वारा निर्मित रेल मार्गों पर भारत सचिव का अधिकार रहेगा।

(४) सरकार २५ वर्ष के बाद या प्रत्येक १० वर्ष के बाद पूँजी की वापिसी पर अधिकार कर सकेगी। इण्डियन मिडलेंड तथा बङ्गाल-नागपुर रेल्वे कम्पनियो के लिए यही ब्याज की दर ४% रखी गई थी तथा लाभ मे सरकारी भाग ७५% रखा गया था।

इस अवधि में सदर्न मराठा रेल्वे, इण्डियन मिडलेंड रेल्वे, बङ्गाल-नागपुर रेल्वे आदि कम्पनियो का निर्माण हुआ। रेल्वे का विस्तार ७३३ मील प्रति वर्ष के हिसाब से हुआ। छोटी और बडी ३३ रेल्वे कम्पनियाँ तथा रेल-मार्गों की लम्बाई २४,७५२ मील हो गई।

सन् १८६३ तक लगभग प्रमुख रेल मार्गों का निर्माण होता रहा, परन्तु सहायक मार्गों (Branch & Feeder Lines) के निर्माण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इसलिए इनके निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने सहायक कम्पनियो को विशेष सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया, जैसे बिना मूल्य के भूमि, सरकारी व्यय से भूमि की पैमाइश (Survey), सरकारी रेलो द्वारा माल के याता-मे भाडे की छूट आदि। इन सुविधाओं पर सन् १८६३ से सन् १८६६ के बीच अनुबन्ध हुए। परन्तु ये शर्तें कम्पनियो को विशेष आकर्षक न होने से सन् १८६६ मे कम्पनियो की छूट एव ब्याज की दरें बढाई गई। इस नीति की आलोचना आँकवर्थ समिति ने

करते हुए कहा था कि ऐसे सहायक रेल मार्गों का निर्माण सरकार को स्वयं अपने अधिकार मे लेना चाहिए। सरकार ने सन् १९२५ से यह कार्य अपने अधिकार एवं स्वामित्व मे लिया। इस अवधि में सहायक रेल-मार्गों का विस्तार सन्तोषप्रद नही था।

युद्धपूर्व काल में (सन् १९००-१९१४)—

रेल्वे निर्माण के प्रारम्भ से ही सरकार को घाटा हो रहा था, परन्तु सन् १९०० के बाद रेल्वे कम्पनियाँ लाभकर हो गईं। इसके लिए सन् १९०८-०९ का वर्ष अपवाद था, क्योंकि इस वर्ष न्यूयार्क के आर्थिक संकट तथा देशी फसल खराब हो जाने से सरकार को रेल्वे से १२,४०,२०० पौंड की हानि हुई। सन् १९०२ तक लगभग सभी रेल्वे सरकार के स्वामित्व में आ गई थीं, परन्तु उनका प्रबन्ध कम्पनियों द्वारा होता था, जिन पर सरकार का नियन्त्रण था। इस अवधि की दो महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं :—(१) रेल्वे का निर्माण लाभकर होना, तथा (२) देश में सरकारी एवं कम्पनियों के प्रबन्ध में रेल्वे का तेजी से विकास होना।

इस अवधि में रेल्वे की प्रगति की जाँच करने के लिए सन् १९०१ मे रॉबर्टसन तथा सन् १९०७ मे मैके कमीशन की नियुक्ति हुई। इनमें से राबर्टसन ने रेल्वे के विकास के लिये रेल्वे कोष तथा रेल्वे-सभा की स्थापना की सिफारिश की। इन सिफारिशो के अनुसार सन् १९०५ मे वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय के आधीन रेल्वे सभा की स्थापना की गई, परन्तु रेल्वे कोष का निर्माण नही किया गया। इसके अलावा रेल्वे की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए, प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण करने के लिए रेल्वे प्रबन्ध कम्पनियों के हाथ में सौंपने की सिफारिश भी श्री रॉबर्टसन ने की थी, परन्तु इसे ताक में रखा गया। सन् १९०७ मे मैके आयोग ने अपनी रिपोर्ट में रेल्वे का अधिक विस्तार करने पर जोर देते हुये कहा कि देश में १०,००० मील रेल मार्ग और बनना चाहिए तथा इस कार्य के लिए १८·७५ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय करने की सिफारिश की। सहायक रेल मार्गों का निर्माण छोटी-छोटी कम्पनियों द्वारा न होते हुए यह कार्य सरकार को स्वयं करने की सिफारिश भी इस आयोग ने की। इन सिफारिशों से भारत में रेल निर्माण कार्य को प्रोत्साहन मिला, जिससे सन् १९०८-१३ के ६ वर्षों में यद्यपि सिफारिश के अनुसार वार्षिक व्यय नहीं किया गया, फिर भी ९२ करोड़ रुपये का व्यय हुआ और ४०,००० मील से अधिक सहायक रेल मार्गों का निर्माण किया गया। फलतः सन् १९१४ में भारत मे कुल रेल मार्गों की लम्बाई ३४,६५६ मील तथा रेल्वे मे विनियोजित पूँजी ४९५ करोड़ रुपये हो गई थी। इसके साथ ही देशी रियासतों में भी रेल मार्गों का निर्माण हो रहा था।

प्रथम महायुद्ध काल से (सन् १९१४ से १९४३)—

सन् १९१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध का आरम्भ होते ही रेल्वे पर युद्ध सम्बन्धी माल एवं सेना के यातायात की महान् जिम्मेवारी आ जाने से रेल्वे उसी कार्य में पूर्णरूपेण व्यस्त रहीं। इस अवधि में नये रेल मार्गों का निर्माण असम्भव हो गया,

क्योंकि भारत मे विदेशी आयात बन्द होने से रेल्वे के लिये आवश्यक सामग्री बाहर से आना बन्द हो गई। युद्ध सचालन के लिये पूर्वी अफ्रीका, मैसोपोटामिया, फिनस्तीन में रेलो का जाल बिछाने के लिये कुछ सामान, जैसे—पटरियाँ, रेलो के डिब्बे, इञ्जन आदि भारत से भेजे गये। इस कारण जनता एवं माल के आन्तरिक यातायात की सुविधाओ मे कमी आ गई। साथ ही, राजनैतिक दृष्टि से युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक नये रेल मार्ग भी बनाये गये थे। युद्ध-काल मे रेल्वे पर काफी उत्तरदायित्व होने एव उनका अधिकतम् उपयोग होने के कारण उनका बदलना आवश्यक हो गया था, इसलिये यदि रॉबर्टसन की सिफारिशो के अनुसार कोष बनाया होता तो उसका उपयोग हो सकता था, परन्तु कोई भी आयोजन नही था, इसीलिए ऑकवर्थ समिति ने कहा था :—"अनेक पुल इतने कमजोर हो गये थे कि वे भारी वजन वाली रैलो का बोझ नही सह सकते थे। अनेक मील लम्बे रेल मार्ग, सैकडो इञ्जन तथा हजारो डिब्बे काफी समय से दुरुस्ती की प्रतीक्षा में थे।" फलतः रेलो की कडी आलोचना हो रही थी। युद्धकाल मे सामरिक महत्त्व की दृष्टि से नये रेल मार्ग बनने से सन् १९१९-२० मे रेल मार्गों की लम्बाई ३६,७३५ मील तथा उनमें लगी हुई पूँजी ५६६·३७ करोड रुपये हो गई।

ऑकवर्थ समिति—

जनता की तीव्र आलोचना के कारण रेल्वे प्रबन्ध के सम्बन्ध में सन् १९१९ से वाद उपस्थित हो गया कि यह प्रबन्ध सरकार करे अथवा कम्पनियाँ। साथ ही, रेल्वे की आलोचना हो रही थी। इन समस्याओ की जाँच कर रेल्वे सम्बन्धी भावी नीति निर्धारित करने के लिए सन् १९२० में ऑकवर्थ समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति ने सरकार वि० कम्पनियो द्वारा रेल प्रबन्ध की समस्या का परीक्षण किया तथा सरकारी प्रबन्ध के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। समिति के परीक्षण मे दोनो ही पक्षो ने अपनी अपनी दलीलें दी, परन्तु फिर भी सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में अध्यक्ष श्री विलियम ऑकवर्थ के निर्णायात्मक मत से बहुमत हुआ। फलतः सन् १९२३ में भारतीय ससद में सरकारी प्रबन्ध सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार हुआ और यह निर्णय लिया गया कि कम्पनियो के साथ अनुबन्धो का अन्त होते ही सरकार रेलो का प्रबन्ध अपने अधिकार में ले ले। इस नीति के अनुसार जनवरी सन् १९२५ तथा जुलाई सन् १९२६ मे ईस्ट इण्डियन तथा जी० आई० पी० रेल्वे का प्रबन्ध सरकार के अधिकार में आ गया और कम्पनियो के रेल-मार्गों का स्वामित्व सरकार का हो गया। सन् १९२५ मे रेल्वे मे लगी हुई पूँजी ७३३·३७ करोड रुपया तथा रेल मार्गों की लम्बाई ३८,२७० मील थी।

इस समिति की अन्य सिफारिशो में प्रमुख सिफारिशें निम्न थी :—(१) साधारण बजट से रेल्वे बजट अलग किया जावे तथा रेल्वे की आय का कुछ भाग साधारण आय मे दिया जावे। (२) रेल्वे तथा जनता में होने वाले कलहो के निर्णय के लिए दर-भाडा निर्णायक ट्रिब्यूनल की स्थापना की जाय। ऑकवर्थ समिति की

सिफारिशों ने भारत की रेलों के सरकारी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण की नींव डाली, जिनके आधार पर भविष्य में भारतीय रेलों का विकास हुआ।

सन् १९२५-२६ की अवधि में रेल्वे अर्थ प्रबन्ध का सामान्य अर्थ प्रबन्ध से पृथक्करण किया गया, जिससे रेल्वे को अनिश्चित आय के प्रभाव से साधारण बजट मुक्त रहे तथा रेल्वे का संचालन व्यापारिक दृष्टि से सम्भव हो। साथ ही, रेल्वे की आय का एक निश्चित भाग साधारण बजट के लिए अनिवार्य रूप से मिलना भी निश्चित हुआ। इस प्रकार का पहला बजट सन् १९२७-२८ का बजट था। इसके साथ ही रेल्वे की घिसावट आदि से हानि की व्यवस्था एवं पुनः स्थापना के लिए एक घिसावट-कोष के निर्माण की भी व्यवस्था की गई। सन् १९२९ की विश्व-व्यापी मन्दी से देश का आयात-निर्यात एवं आन्तरिक व्यापार प्रभावित हुआ और रेल्वे की आय कम हो गई। साथ ही, रेल रोड स्पर्धा से भी रेलों को हानि होती ही थी। इस कारण रेल्वे साधारण बजट को अपनी निश्चित राशि न दे सकी, जो सन् १९३९-४० में ३९.२ करोड़ रुपये हो गई थी। इसके अलावा रेलों को भूकम्प एवं बाढ़ों से भी काफी हानि हुई। रेल्वे की यह स्थिति सन् १९२९ से सन् १९३५ तक रही। परन्तु सन् १९३६ में व्यापारिक समृद्धि एवं कीमतों के स्तर में सुधार होते ही रेल्वे की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी, जिससे सन् १९३६-३७ से सन् १९३९-४० के वर्षों में रेल्वे की आय क्रमशः १.२१, २.७५, १.३७ तथा ४.३३ करोड़ रुपये से व्यय की अपेक्षा बढ़ गई।

द्वितीय विश्व युद्ध काल (सन् १९३९-१९४५)—

द्वितीय विश्व युद्ध काल रेल्वे के इतिहास में समस्याओं का था। इस अवधि में व्यापारिक समृद्धि एवं औद्योगिक विकास के साथ रेल द्वारा माल का यातायात बढ़ गया। फलतः रेलों की आय में वृद्धि हुई, परन्तु युद्ध के पूर्वार्द्ध में रेल्वे की कठिनाइयाँ एवं अभावों के होते हुए भी इञ्जन, डिब्बे तथा रेलों का सामान मध्यपूर्व को देना पड़ा। मीटरगेज के लगभग ८% इञ्जन, १५% डिब्बे, ४,००० मील लम्बाई की पटरियाँ तथा ४० लाख स्लीपर मध्यपूर्व तथा सैनिक योजनाओं के लिए दिये गये। युद्ध के उत्तरार्द्ध में जबकि जापान ने ब्रह्मा तथा पूर्वी देशों पर धावा किया तब रेल्वे का बोझ और भी बढ़ गया, जिससे रेल यातायात नष्ट प्रायः स्थिति पर आ पहुँचा था। रेल्वे के पूँजीगत माल की काफी घिसावट हो चुकी थी और दुरस्ती के लिए वर्कशॉप की सुविधायें कम हो गई थी। क्योंकि रेल्वे के बड़े-बड़े वर्कशॉप युद्ध सामग्री बनाने के लिए ले लिए गये थे और विदेशों से रेल्वे निर्माण की सामग्री का आयात बन्द हो गया था। दूसरे, सैनिक यातायात बढ़ जाने से जनता एवं माल के यातायात की सुविधाएँ कम कर दी गई थी, जिससे रेलों द्वारा दी जाने वाली भाड़े में छूट आदि का अन्त कर दिया गया। साथ ही, सरकार ने कम यात्रा (Travel-less) का प्रचार भी किया, परन्तु यात्रियों की संख्या कम न होते हुए बढ़ ही रही था। रेल-सुविधाएँ समाप्त कर दी गई थी। अतः यातायात की समस्या को सुलझाने तथा

विभिन्न यातायात-साधनो में सामञ्जस्य लाने के लिए युद्ध यातायात सभा की स्थापना हुई। इसके सामने तीन समस्यायें थी :—

(अ) रेल्वे से अधिक से अधिक युद्ध सामग्री एव सेना को भेजना।

(ब) यातायात के अन्य साधनो को प्राप्त करना।

(क) उपरोक्त शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक आयोजन करना।

इस सभा की सिफारिश के अनुसार फरवरी सन् १६४२ में केन्द्रीय यातायात-सगठन का निर्माण किया गया तथा इसके साथ सामजस्य करने के लिए प्रान्तीय प्रादेशिक यातायात सभाओ का निर्माण भी हुआ। इन सभाओ का काम रेलो पर भीड कम करना था। इसलिये ये अन्य मार्गों से माल आदि के यातायात को भेजने का प्रयत्न करते थे। फिर भी समस्या का हल नही हुआ। इसलिए प्राथमिकता-पद्धति अपनाई गई, जिसके अनुसार केवल आवश्यक वस्तुओ को ही रेल द्वारा यातायात में प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी रेल्वे में भीड कम नही हुई। माल के यातायात के दर भी बढाये गये, परन्तु इसमे भी कमी नही आई। सन् १६३६-४० में जहाँ यात्रियो की सख्या ५३ करोड़ थी वह सन् १६४४-४५ में ६३ करोड हो गई। इसी प्रकार माल यातायात मे जहाँ सन् १६३६-४० मे रेल द्वारा ६·२० करोड टन भेजा जाता था वही सन् १६४४-४५ मे १०·२ करोड भेजा जाने लगा। ऐसी स्थिति मे भी भारतीय रेलो ने देश की सैनिक एव अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति की, जो सराहनीय है।

युद्धोत्तर-काल में

सैनिको का विस्थापन, अतिरिक्त सैनिक सामग्री का तथा कमी वाले प्रदेशों मे अन्न आदि का यातायात करने की जिम्मेवारी रेल्वे पर आ गई। इसने रेल्वे यातायात की दशा और भी खराब हो गई। क्योंकि युद्धोत्तर-काल मे रेल्वे की समस्यायें ऐसी थी जिनका तत्कालीन हल सम्भव नही था, जैसे—रेल्वे के इञ्जनो का नवीनीकरण आदि। साथ ही, सन् १६४७ मे देश विभाजन ने समस्या को और भी गम्भीर बना दिया।

देश का विभाजन होने के कारण भारतीय रेल मार्गों का बहुत सा भाग पाकिस्तानी प्रदेश मे गया। जो रेल मार्ग विभाजन से विशेष प्रभावित हुए उनमे नॉर्थ-वेस्टर्न रेल्वे, आसाम रेल्वे, बगाल एव आसाम रेल्वे तथा जोधपुर रेल्वे थी, जिनका ७,००० मील लम्बाई का मार्ग पाकिस्तानी हिस्से मे गया। विभाजन से भारतीय रेलो की स्थिति निम्न हो गई :—

	भारत	पाकिस्तान
रेल्वे इञ्जन	७,२४८	१,३३६
सवारी डिब्बे	२०,१६६	४,२८०
माल के डिब्बे	२,१०,०६६	४०,२२१
रेल मार्ग	३०,०१७ मील	६,६५७ मील
रेलो मे लगी हुई पूँजी	५६७·७३ करोड रु०	१३६ करोड़ रु०

विभाजन के पूर्व रेल्वे के सामने अनेक समस्याएं थी ही, जिनमे कर्मचारियों के वेतन-वृद्धि, मंहगाई में वृद्धि आदि श्रमिकों सम्बन्धी समस्याएं हैं। इन सब समस्याओं पर विचार करने, रेल्वे की कार्यक्षमता बढाने एवं रेल्वे के व्यय में मितव्ययिता लाने के हेतु सिफारिशें करने के लिये सन् १६४६ मे रेल्वे जांच समिति—कुंजरू समिति—की नियुक्ति हो चुकी थी। इस समिति के कार्य मे भारत विभाजन से बाधा आई तथा समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १६४६ मे प्रस्तुत की।

विभाजन के कारण भारतीय रेलो के बँटवारे के साथ ही अन्य अनेक दोष भी आ गये, जैसे—(१) कर्मचारियों की अदला-बदली। इस अदला-बदली का परिणाम भारतीय रेल्वे पर बुरा हुआ। (२) तान्त्रिक कार्य मे मुस्लिम कर्मचारियों की सख्या ही अधिक थी। पाकिस्तान से आने वाले कर्मचारियों मे क्लर्कों की अधिकता थी, जिनको काम देने का प्रश्न उपस्थित हो गया। (३) करांची बन्दरगाह भारत से निकल जाने से बम्बई बन्दरगाह से माल के यातायात मे वृद्धि हो गई। (४) विस्थापितो के आवागमन की जिम्मेवारी भी भारतीय रेलों पर आ गई। इन सब कारणो से रेल्वे व्यय बढ गया। (५) कञ्चनपारा और मुगलपुरा के सुसज्जित वर्कशॉप भी पाकिस्तान को मिले (६) हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही एव काश्मीर युद्ध ने परिस्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। परन्तु सन् १६४६-५० से रेल्वे की स्थिति मे सुधार हो गया तथा यात्रियो एव माल के यातायात को अधिक सुविधाएं दी जाने लगी और प्राथमिकता पद्धति का अन्त किया गया। इसी प्रकार ३१ मार्च सन् १६५१ मे भारतीय रेल मार्गों की लम्बाई ३४,०७६ मील (Route Miles), कुल आय २६,४६१ लाख रुपये थी तथा विनियोग की हुई पूंजी ८३,८१७ लाख रुपये थी।*

कुंजरू समिति की सन् १६४६ की प्रमुख सिफारिशें निम्न थी :—

(१) रेल्वे कर्मचारियो की सख्या अधिक है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता कम है।

(२) वर्तमान रेल्वे बोर्ड द्वारा रेलो के प्रबन्ध के स्थान पर वैधानिक अधिकारी के हाथ में प्रबन्ध एव नियन्त्रण दिया जाय।

(३) रेल्वे बोर्ड की अर्थ-प्रबन्धन शाखा मे एक पृथक इकाई हो, जो रेल्वे की आय बढाने के साधनो की खोज करे।

(४) रेल्वे की कुल वार्षिक आय का 1% एक विशेष कोष मे रखा जाय, जिसकी राशि ६८ करोड़ रुपया हो।

(५) वर्तमान समय में रेल्वे अपनी आय का जो भाग साधारण आय में देती है वह अस्थायी रूप से चालू रखा जाय, जब तक कि रेल्वे की भावी स्थिति के बारे मे विस्तार से कुछ नही कहा जा सकता।

---

* Facts About India - Government of India Publication.

(६) कर्मचारियो की कुशलता बढाने के लिए उनकी शिल्पिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तथा रेल्वे की विभिन्न क्रियाओ मे विश्लेषण (Job-analysis) द्वारा कर्मचारियो को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) रेलो की सामूहीकरण योजना ५ वर्ष के लिए स्थगित की जाय।

(८) रेल्वे कर्मचारियो को मिलने वाली खाद्यान्न सम्बन्धी सुविधाएँ बन्द कर मँहगाई भत्ता बढा दिया जाय।

(९) कोई भी पूँजी व्यय गहन आर्थिक विचार के बिना तब तक न किया जाय जब तक महत्वपूर्ण बातो की दृष्टि से आवश्यक न हो।

केन्द्रीय सरकार ने रेल्वे के सामूहीकरण की तथा ग्रेनशॉप बन्द करने की सिफारिशो को छोडकर अन्य सिफारिशें स्वीकार कर ली।

रेल्वे के इञ्जनो तथा अन्य आवश्यक सामान के नवीनीकरण के लिये भारत ने सन् १६४६ मे विश्व बेंक से ३४ मि० डालर का ऋण लिया था।[1] विभाजन के कारण रेल्वे मे आये हुए दोपो को दूर करने एव तृतीय श्रेणी के यात्रियो की सुविधाएँ बढाने के लिए यातायात मन्त्रालय कटिबद्ध है। इसी दृष्टि से सन् १६५१ मे १६८ नई रेलें चालू की गई तथा ७५ रेल सेवाओं का विस्तार किया गया। इसके साथ ही केवल तीसरी श्रेणी के यात्रियो को सुविधाओं के लिए ही १८ जनता एक्सप्रेसें चालू की गई।[2] इस प्रकार ३१ मार्च सन् १६५१ को रेलों का विस्तार ३४,०७६ मील और उनकी लागत ८३८'१७ करोड रु० हो गई।

रेलों का सामूहीकरण (Regrouping of Railways)—

रेलो पर केन्द्रीय सरकार का स्वामित्व एव प्रबन्ध आ जाने से तथा रियासतो की रेलो का विलीयन केन्द्र मे हो जाने से उनकी व्यवस्था में वैज्ञानिकन (Rationalisation) की आवश्यकता प्रतीत हुई। भारत मे रेल्वे का प्रारम्भ मे ही जो विकास हुआ था वह किसी पूर्व-योजना के अनुसार नही था, अपितु प्रारम्भ मे केवल ब्रिटिश औद्योगिक हितो एव राजनैतिक हितो से किया गया था। (२) रेल एव सडक प्रतियोगिता थी ही। (३) प्रबन्ध एव शासन की दृष्टि से प्रत्येक रेल्वे प्रणाली मे विभिन्नता थी और कुछ रेल्वे जो बहुत छोटी थी उनमे प्रबन्ध की मितव्ययिता एव कुशलता का अभाव था। (४) इसके साथ ही रियासतो की रेलो के विलीनीकरण के बाद उनका समन्वय किसी न किसी बडे प्रबन्ध के अन्तर्गत करना आवश्यक था। (५) विभाजन की समस्याओ से विभिन्न रेलो की यातायात दरो की विभिन्नता, कर्मचारियो की अकुशलता आदि के निवारण के लिए रेल्वे मे वैज्ञानिकन के लिए सामूहीकरण की आवश्यकता थी, अतः सन् १६४६ मे यह प्रश्न कुंजरू समिति के सामने विचारार्थ रखा गया था, परन्तु इस समिति ने पाच वर्ष के

1 Ibid.

२. इसम से ३२ = मि० डॉलर से इजन एवं अन्य सामग्री खरीदी गई तथा शेष १२ मि० डालर का ऋण निरस्त किया गया।

लिए सामूहीकरण को स्थगित करने का सुझाव दिया। इसके बाद सन् १६५० में रेल्वे सभा ने इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिए एक जाँच समिति नियुक्ति की, जिसने प्रादेशिक आधार पर रेलवे का विभाजन करने की सिफारिश की। इस सिफारिश द्वारा आवश्यक संशोधनों के उपरान्त रेलों का सामूहीकरण किया गया।

प्रारम्भिक अवस्था में भारतीय रेल्वे का विभाजन ६ समूहों में किया गया था, परन्तु रेल यातायात की बढ़ती हुई माग, माल तथा यात्रियों का रेलों पर बढ़ता हुआ प्रभाव एवं योजना में नियोजित रेलों का विकास इन कारणों से इन ६ समूहों का पुनर्विभाजन आवश्यक हो गया। इस प्रकार वर्तमान समय में ८ रेल्वे समूह हैं :—

नाम एवं तिथि	समाविष्ट रेलें	प्रधान कार्यालय	रेल मार्ग	
१. दक्षिण रेल्वे	एम० एम० एम० रेल्वे	मद्रास	ब्रॉड गेज	१,८६६·१
१४–४–१६५१	सदर्न इण्डियन रेल्वे		मीटर ,,	४,२०६·८
	मैसूर रेल्वे		नैरो ,,	६५·७
२. मध्य रेल्वे	जी० आई० पी० रेल्वे	बम्बई	ब्रॉड गेज	३,८२०·७
५-११-१६५१	निजाम स्टेट रेल्वे		मीटर ,,	८२३·१
	सिंधिया स्टेट रेल्वे		नैरो ,,	७२५·०
	धौलपुर रेल्वे			
३. पश्चिम रेल्वे	बी०बी० एण्ड सी०आई० रेल्वे	बम्बई	ब्रॉड गेज	१,७६६·६
५-११-१६५१	सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान		मीटर ,,	३,७२२·८
	और जयपुर रेल्वे		नैरो ,,	७५६·७
४. उत्तरी रेल्वे	ई० पी० रेल्वे	दिल्ली	ब्रॉड गेज	४,१६६·४
१४-४-१६५२	जोधपुर, बीकानेर तथा ई०		मीटर ,,	२,०५०·१
	आई० आर० के तीन		नैरो ,,	१६१·८
	विभाग			
५. उत्तरी-पूर्वी रेल्वे	ओ० टी० रेल्वे	गोरखपुर		
१४-४-१६५२	बी० बी० एण्ड सी० आई०		मीटर गेज	३,०७८·८
	का फतेगढ़ जिले का विभाग,			
	आसाम रेल्वे			
६. पूर्वी रेल्वे	चौथे समूह को छोड़कर शेष	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	२,३०७·३
१-८-१६५५	ई० आई० रेल्वे		मीटर ,,	—
			नैरो ,,	१७·१

७. दक्षिण-पूर्वी रेल्वे बी० एन० रेल्वे		कलकत्ता	ब्रॉड गेज	२,६५१'९
१-८-१९५५			मीटर ,,	—
			नैरो ,,	९२४'८
८. उत्तर पूर्वी	असम रेल्वे	पाडू	ब्रॉड गेज	२'२
सीमान्त रेलवे	ई० आई० आर० का कुछ भाग		मीटर ,,	१,६७९'२
१५-१-१९५८			नैरो ,,	५२'०

खण्ड-स्तर पद्धति—

वर्तमान रेल समूहों का विभाजन प्रादेशिक आधार पर है, अतः रेलवे की कार्यक्षमता बढ़ाने, विभिन्न खण्ड स्तरों पर रेलवे में सामञ्जस्य लाने तथा अधिकारों के विकेन्द्रीयकरण के लिए रेल समूहों का प्रशासकीय सगठन खण्ड स्तरीय आधार पर करने की नीति को रेलवे सभा ने अधिकारों के विस्तृत विकेन्द्रीयकरण के साथ अपना लिया है। इसका प्रारम्भ केन्द्रीय रेलवे में किया गया है, जहाँ पहिले से ही मिलती-जुलती पद्धति है। सन् १९५६ में इस नवीन नीति का प्रारम्भ हुआ और यह पद्धति सम्पूर्ण रेलवे में लागू हो गई है। इसमें रेल समूह को खण्डों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड का एक प्रमुख अधिकारी होता है, जो प्रधान व्यवस्थापक की भाँति होता है, परन्तु वह समूह के प्रधान व्यवस्थापक के नियन्त्रण में होता है। खण्ड अधिकारियों का विशेष विभागों से, जैसे—स्टोर्स और वर्कशॉप, कोई सम्बन्ध नहीं होता। खण्ड-स्तरीय पद्धति का सार इसमें है कि यह पद्धति एक बड़े क्षेत्र की क्रियाओं तथा अन्य सम्बन्धित रेलवे की क्रियाओं पर इकहरा नियन्त्रण देती है, जिससे एक ही खण्ड के विभिन्न विभागों की क्रियाओं में सामञ्जस्य रखा जाता है। रेलों की कार्यक्षमता के लिए यह आवश्यक भी है।

आलोचनात्मक दृष्टि—

सामूहीकरण को ८ वर्ष पूरे हो गये हैं, अतः उसकी उपयोगिता आक सकते हैं।

प्रथम, सामूहीकरण से बहु-परिमाण सगठन के लाभ प्राप्त होने की अपेक्षा थी, जिससे भाड़ा दरों एवं रेल्वे के प्रशासकीय व्ययों में मितव्ययिता होगी, परन्तु व्यवहार में भाड़ा दरों की वृद्धि विपरीत स्थिति की ओर संकेत करती है। दूसरे, कार्य-व्यय में मितव्ययिता की अपेक्षा वह बढ़ रहा है। कार्यशील खर्चों का कुल आय से प्रतिशत सन् १९५१-५२ में ७८'८ था वह सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के ४ वर्षों में क्रमशः ८१'६, ८५'५, ८१'७७ तथा ८१'६६ रहा, जो अधिक है और वास्तव में रेलों के विस्तार के साथ और कम होना चाहिए था। यह व्यय वृद्धि रेलों की असन्तोषप्रद कार्य पद्धति की परिचायक है।

आय की दृष्टि से देखें तो सन् १९५१-५२ में रेलों की आय २९०'८२ लाख रु० थी, सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के चार वर्षों में क्रमशः २७०'५६, २७२'८१,

२८८·१६ एवं ४१७·५१ रही, अर्थात सन् १९५५-५६ में रेलो की आय बढ़ी। फिर भी लाभ में वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि कार्यशील व्यय बढ़ते गये।

रेल समूहों का पुनर्वर्गीकरण भी सामूहीकरण की असफलता की ओर संकेत है। क्या पंच-वर्षीय योजना-काल में जब सामूहीकरण हुआ तब यह विदित नहीं था कि आगामी योजनाओं मे जो औद्योगिक एवं परिवहन का विकास होगा उससे रेलों के किए जाने वाले समूह प्रशासकीय दृष्टि से बहुत बड़े होंगे? अर्थात् सामूहीकरण का अवलम्ब सूझबूझ से नहीं हुआ। फलतः अगस्त सन् १९५५ में पूर्वी रेल्वे का विभाजन दो समूहों में हुआ और जनवरी सन् १९५८ को आठवां रेल्वे समूह बनाया गया।

बढ़ती हुई रेल-दुर्घटनाएँ भी रेलो की कार्यक्षमता मे कमी की ओर संकेत हैं। इन दुर्घटनाओं की जाँच शाहनवाज समिति ने की थी, जिसकी (सन् १९५४) रिपोर्ट के सुझावों को लागू करने पर भी दुर्घटनाओं में कोई कमी नहीं हुई। रेल दुर्घटनाओं की समीक्षा में बताया गया है कि दुर्घटनाओं का कुछ सम्बन्ध रेल यातायात की विशालता से भी है। इन दुर्घटनाओं के कारणों में ४१·८% दुर्घटनाएँ रेल कर्मचारियों की असावधानी से, १९·८% गाड़ियों या पटरियों में खराबी से तथा ११·२% गाड़ी टूटने के कारण अर्थात् ७२·८% दुर्घटनाएँ रेलों की प्रशासकीय अक्षमता से हुई है।*

यद्यपि ये तथ्य सामूहीकरण की असफलता की ओर संकेत करते हैं। फिर भी इसकी जिम्मेवारी केवल सामूहीकरण पर ही नहीं है। रेल्वे की कार्यक्षमता में कमी होने का प्रमुख कारण जीर्ण-शीर्ण यन्त्र-उपयन्त्रादि एवं घिसे-पिटे रेल-मार्ग हैं, जिनके नवीनकरण की आवश्यकता है। साथ ही, बढ़ते हुए रेल यातायात के साथ रेल्वे की कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिए रेल सामग्री का आधुनिकीकरण होना चाहिए। परन्तु यह मार्ग जितना सोचा जाता है उतना सरल नहीं है, क्योंकि इस समय भारत को विदेशी विनिमय स्रोतों की कमी है। सम्भवतः यह कार्य तीसरी योजना में पूरा होगा, जब रेल उद्योग साधारण स्थिति में आ जायगा और हम उससे पूर्ण कार्यक्षमता की अपेक्षा कर सकते हैं। वर्तमान सीमित साधनों से जो सफलता रेल उद्योग को मिल रही है वह निसन्देह सराहनीय है।

रेलों का प्रशासन—

रेल यातायात का प्रबन्ध एवं प्रशासन प्रारम्भ से ही केन्द्रीय जन-कार्य विभाग (P. W. D.) के नियन्त्रण में था। परन्तु जैसे-जैसे रेलो का विकास होता गया वैसे-वैसे इस विभाग के लिए उनका नियन्त्रण भार रूप प्रतीत होने लगा। इसलिए सन् १९०५ में सर्व प्रथम रेलों के प्रबन्ध को पृथक करने तथा उसे विशेषज्ञों के अधि-

* भारतीय समाचार : सितम्बर १५, १९५८।

वार मे देने के हेतु सन् १६०५ रॉबटसन समिति की सिफारिश के अनुसार रेल सभा का निर्माण किया गया। इस सभा के सभापति महित तीन सदस्य थे। इस सभा का सभापति गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य बनाया गया। यह सभा अपनी शासकीय कार्यवाही के सम्बन्ध में केन्द्रीय वाणिज्य एव उद्योग विभाग पर निर्भर थी। इस सभा की कार्यवाही मे वाणिज्य एव उद्योग मन्त्रालय का अवाछनीय हस्तक्षेप होने से सन् १६०८ में सभापति के अधिकार बढाये गये, परन्तु इससे विशेष लाभ नही हुआ। इसके बाद प्रॉकवर्थ समिति ने इस सभा के पुनगठन के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। इन सुझावो मे स्वतन्त्र यातायात विभाग खोलने की सिफारिश की गई थी। सभा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए उसे विशेषज्ञो की अधिक सहायता प्रदान करने की सिफारिश भी की थी तथा सभा के प्रशासन एव प्रबन्ध को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए उसको स्वतन्त्रता मे कार्य करने का सुझाव भी रखा गया था।

इन सुझावो के अनुसार सन् १६२१ तथा सन् १६२४ मे सभा का पुनर्गठन हुआ, जिसमे एक चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया। सभा की सदस्य सख्या ३ से ४ कर दी गई। रेल नीति निर्धारण के लिए चीफ कमिश्नर जिम्मेवार था तथा इसकी सहायता के लिए प्रारम्भ मे केवल २ तथा सन् १६२४ मे वित्त सदस्य मिलाकर ३ अन्य सदस्य थे, जो अपने अपने विषय के जिम्मेवार थे। इस सभा की अपनी कार्यवाही स्वतन्त्रता से कर सकने के लिए तथा विभिन्न कार्यों के निरीक्षण के लिए अनेक सचालक तथा उप-सचालको की नियुक्ति भी की गई, जो रेल सभा के प्रति उत्तरदायी होते है। सन् १६२६ मे श्रम सम्बन्धी समस्याओ के हल के लिए एक श्रम सदस्य और बढा दिया गया, जिससे चीफ कमिश्नर सहित रेल सभा के सदस्यो की सख्या ५ हो गई। रेल सभा के सहायक अधिकारियो की सख्या समय समय पर आवश्यकतानुसार बढा दी गई।

इसके बाद सन् १६४६ मे कुँजरू समिति ने यातायात के प्रबन्ध एव समन्वय के लिये केन्द्रीय नियन्त्रण-अधिकारी निर्माण करने की सिफारिश की, जिसका निर्माण हो चुका है। फिर भी सन् १६५१ मे रेल मन्त्री द्वारा रेल सभा का पुनगठन किया गया, जिसमे अब १ वित्त कमिश्नर तथा ३ कार्यकारी सदस्य है। सभा का एक सदस्य सभापति का कार्य करेगा और वही यातायात मन्त्रालय का सचिव रहेगा। इस सभा का काय रेल मन्त्री को रेल यातायात सम्बन्धी सलाह देना तथा प्रबन्ध सम्बन्धी आवश्यक आदेश देना है।

रेल सभा के अलावा रेलो के शासन प्रबन्ध के लिए स्थायी वित्त समिति, केन्द्रीय सलाहकार समिति तथा रेल भाडा-समिति है, जिनमें से वित्त समिति रेलो के अर्थ-प्रबन्ध एव रेलों की आवश्यक सामग्री के क्रय के लिए तथा रेल्वे बजट स्वीकृत कराने के लिए जिम्मेवार है। केन्द्रीय सलाहकार समिति का कार्य रेल-नीति को निश्चित करना, यात्रियो को सुविधायें देने के सम्बन्ध मे तथा कर्मचारियो आदि

सम्बन्धी सामान्य व्यापारिक समस्याओं पर सलाह देना है। इस समिति में व्यापार एवं उद्योग का प्रतिनिधित्व रहता है। इसके साथ प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं पर विचार करने के लिए स्थानीय सलाहकार समितियाँ भी हैं। रेल्वे भाड़ा समिति रेल के वस्तु एव व्यक्तियों के भाड़े की दरों सम्बन्धी सलाह देने, जनता की शिकायतों पर रिपोर्ट देने तथा माल भेजने की पद्धति में सुधार करने के लिये उत्तरदायी है। १ जनवरी सन् १९५८ से खंड स्तरीय सलाहकार समितियों का रेल्वे के प्रत्येक खंड में निर्माण किया गया है।

रेलों के भाड़े—

कम्पनी के प्रबन्ध मे जब तक रेलों का सचालन हो रहा था तब तक कम्पनियाँ अपने भाड़े की दरें निश्चित करने में स्वतन्त्र थीं। सरकार केवल भाड़े की न्यूनतम तथा अधिकतम दर निश्चित कर देती थी। इस कारण विभिन्न रेलों के भाड़े की दरों में विभिन्नता थी, जिससे भारतीय जनता में असन्तोष था। इस असन्तोष के लिये केवल रेल भाड़ों की दरों की विभिन्नता ही कारण न होते हुए भाड़े की दरों का इस प्रकार निश्चित करना मूल कारण था। इससे भारत से केवल कच्चे माल एवं खाद्यान्न के निर्यात को तथा विदेशी निर्मित माल के आयात को प्रोत्साहन मिलता था। इस ओर औद्योगिक आयोग तथा उटकर आयोग ने सकेत किया था तथा उनमे समानता लाने की सिफारिश की थी। इसके बाद ऑकवर्थ समिति ने इस सम्बन्ध मे छानबीन कर भाड़े की दरों में समानता लाने तथा भाड़े सम्बन्धी पक्षपातपूर्ण नीति का अन्त करने के लिये एक स्वतन्त्र रेल्वे भाड़ा समिति की नियुक्ति की सिफारिश की थी। परन्तु इस ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इस समिति में रेल्वे तथा व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधियों के एक-एक सदस्य तथा एक सभापति (कुल ३ सदस्य) रखने की सिफारिश ऑकवर्थ समिति ने की थी। इस समिति द्वारा यह सम्भव था कि सरकार को आर्थिक हानि उठानी पड़ती। इसलिये ऐसी स्वतन्त्र भाड़ा समिति का निर्माण न होते हुये सन् १९२६ में सरकार ने रेल भाड़ा सलाहकार समिति का निर्माण किया। फिर भी जनता का असन्तोष समाप्त नहीं हुआ और न उसने कोई उल्लेखनीय कार्य ही किया।

परन्तु सन् १९४८ में भारतीय रेल्वे की भाड़ा नीति में महत्वपूर्ण कदम उठाया गया, जब स्वतन्त्र रेल्वे भाड़ा समिति का निर्माण हुआ। यह समिति केवल रेलों के भाड़ों सम्बन्धी मामलों की जाँच करेगी तथा सलाह देगी। इस समिति में १ सभापति तथा २ सदस्य हैं, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। इस समिति को वैधानिक अधिकार प्राप्त होने के कारण समिति का सदस्य किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश अथवा जो इस योग्य हो वही हो सकता है। अपने निर्णय देते समय समिति ऐसेसर्स की सहायता लेती है, जिनकी अधिकतम संख्या ६० हो सकती है। इसमें व्यापार, उद्योग एवं कृषि का समान प्रतिनिधित्व रहता है। इस प्रकार इस समिति

निर्माण से जनता की गत ३२ वर्ष की माँग पूरी होकर देश हित में भाड़ा-नीति हो सकी है।

रेलों का अर्थ-प्रबन्ध—

रेलों के विकास के प्रारम्भ से ही रेलों की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की वित्त व्यवस्था का एक अंग थी। प्रारम्भ से सन् १८९८ तक रेलवे यातायात से सरकार को गारन्टी के कारण प्रति वर्ष हानि होती रही, जिसकी कुल राशि ५८ करोड़ रु० थी। सन् १८९८ में ही सर्व प्रथम रेल यातायात लाभकर साधन हुआ, जिसके बाद अपवाद के लिए सन् १९०८ और १९२१ के वर्षों के अलावा रेलें लाभकर प्रमाणित होती गईं।

रेलों की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऑकवर्थ समिति ने सन् १९२१ में जाँच की और साधारण बजट से रेल-बजट को पृथक करने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश की पृष्ठभूमि में अनेक कारण थे, जैसे—

(१) रेलों का वित्तीय प्रशासन के लिये साधारण बजट पर निर्भर रहना, जिससे रेलों का प्रबन्ध विशुद्ध वाणिज्य सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता था, फलतः उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती थी।

(२) रेलों का वित्तीय प्रबन्ध पृथक होने से साधारण बजट में जो अनिश्चितता थी वह भी दूर हो जाती, क्योंकि रेलों के लाभ का सही अनुमान लगाना असम्भव था, जो व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति पर निर्भर था।

(३) सरकारी वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव रेल के वित्तीय प्रशासन पर होने से रेलों की वित्तीय नीति में समानता नहीं रह सकती थी। अतः उनको पृथक कर देना साधारण बजट एवं रेलों के वित्तीय प्रशासन के लिए वांछनीय समझा गया।

इस सिफारिश के अनुसार सन् १९२४ में संसद में रेलों की वित्तीय व्यवस्था के पृथकत्व का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार रेल-बजट से भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि मिलना तय हुआ। यह राशि देशी राज्यों अथवा कम्पनियों की विनियोजित पूँजी को छोड़कर व्यापारिक रेलों की कुल पूँजी पर १% तथा भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित राशि देकर जो शेष रहे उसका २०% होगी। भारत सरकार को दी जाने वाली राशि चुकाने के बाद जो राशि बच रहेगी वह रेल संचित कोष में जमा होगी। ऐसी राशि ३ करोड़ रु० से अधिक होने पर अधिक राशि का $\frac{2}{3}$ भाग संचित निधि तथा $\frac{1}{3}$ भाग केन्द्रीय सरकार को दिया जावेगा। इस निधि को सरकार को वार्षिक निश्चित राशि का भुगतान करने, घिसावट की राशि, पूँजी की वापिसी तथा भारतीय रेलों की सुदृढ़ता के लिये व्यय किया जा सकता है। इसके अलावा रेलों की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक स्थायी वित्त समिति का निर्माण होगा, जिसमें एक सरकारी पदाधिकारी सभापति होगा तथा शेष ११ सदस्य केन्द्रीय संसद के मनोनीत व्यक्ति होंगे।

इस प्रस्ताव के अनुसार सन् १९२४-२५ में रेल-वित्तीय व्यवस्था साधारण बजट से पृथक कर दी गई तथा रेल-बजट साधारण बजट से पहिले प्रस्तुत करने का आयोजन किया गया। फलस्वरूप सन् १९२४-२५ से सन् १९३०-३१ के छः वर्षों में रेलों का कुल लाभ ५,२६३ लाख रुपया हुआ। इसमें से केन्द्रीय सरकार को साधारण बजट में ३,५९१ लाख रुपया मिला तथा शेष १,६७२ लाख रेल-संचित निधि में जमा किया गया, जो रेल्वे की वित्तीय सफलता का परिचायक है। सन् १९३०-३१ से विश्व आर्थिक मन्दी, देश में नैसर्गिक प्रकोपों तथा रेल रोड प्रतियोगिता के कारण रेलों की आय कम होने लगी। अतः साधारण बजट की कमी पूरी करने के लिए संचित निधि से रुपया निकाला जाने लगा, जिसकी राशि सन् १९२९-३० से सन् १९३१-३२ इन तीनों वर्षों में १७·९६ करोड़ रु० थी। परन्तु इस प्रकार कब तक चलता? इसलिए सन् १९३२-३३ में सरकार को दी जाने वाली राशि स्थगित कर दी गई तथा साधारण बजट के लिए रेलों ने सन् १९३१-३२ से सन् १९३६-३७ के ६ वर्षों में कुछ भी नहीं दिया। किन्तु सन् १९३७ के बाद होने वाले सबके सब लाभ सरकारी निश्चित राशि चुकाने में दिए गए।

द्वितीय विश्व-युद्धकाल में रेलों की आय बढ़ने से उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, जिससे रेलों ने सन् १९४३ तक केन्द्रीय सरकार को दी जाने वाली जो निश्चित राशि थी वह तथा घिसावट-निधि में ली हुई ३१ करोड़ रुपये की राशि का भुगतान कर दिया। सन् १९४५ में युद्ध समाप्ति के साथ ही रेलों के सामने अनेक समस्याएँ आईं। जहाँ एक ओर आमदनी घटी वहाँ युद्ध के बाद रेलों का व्यय भी बढ़ रहा था, जिससे रेलों की आर्थिक दशा बिगड़ गई। सन् १९४७ में विभाजन हुआ, जिसका प्रभाव रेलों की लिक्रिक कार्यक्षमता पर बुरा पड़ा तथा अराजकता के कारण आय भी कम हो गई थी। फलस्वरूप सन् १९४७-४८ में रेल बजट में २·७४ करोड़ रु० का घाटा रहा, जिसे संचित कोष से पूरा किया गया। सन् १९४६-४७ में यात्रियों को अधिक सुविधाएँ देने के लिये १५ करोड़ रु० से एक सुधार कोष बनाया गया।

इस प्रकार सन् १९२४ में साधारण बजट में स्थायित्व तथा रेलों के वित्तीय प्रशासन में लोच लाने के लिए रेलों की वित्तीय व्यवस्था को पृथक किया गया था। परन्तु वह हेतु पूर्ण न हो सका। इसलिए दिसम्बर सन् १९४९ में भारतीय संसद में रेलों की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में संशोधित प्रस्ताव स्वीकृत किया, जो १ अप्रेल सन् १९५० से ५ वर्ष के लिए कार्यरूप में आया। इस प्रस्ताव के अनुसार :—

(१) साधारण बजट तथा रेल बजट के सम्बन्ध में ऐसा परिवर्तन किया गया, जिससे साधारण कर-दाता को एकमेव अंशधारी के नाते सरकार द्वारा रेलों में लगाई हुई ऋण पूंजी पर ४% लाभ मिले।

(२) घिसावट निधि में प्रति वर्ष न्यूनतम १५ करोड़ रु० जमा किए जाएँ, जिसकी राशि सन् १९५१-५२ में बढ़ाकर ३० करोड़ रु० वार्षिक कर दी गई।

(३) रेल सचित कोष के नाम मे परिवर्तन कर उसका नाम आय सचित कोष रख दिया गया। इसका उपयोग भारत सरकार को निश्चित ४% की राशि के भुगतान तथा रेल बजट के घाटे की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।

(४) सुधार कोष के स्थान पर इसी निधि की शेष राशि से विकास कोष का निर्माण किया गया। इसकी राशि यात्रियो को सुविधाएँ, श्रम कल्याण, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी एव आवश्यक योजनाओ की पूर्ति में व्यय होगी।

(५) पूँजीगत तथा आय (Revenue) व्ययो के बँटवारे की नई पद्धति बनाई गई है, जिससे रेलो मे पूँजी आधिक्य (Overcapitalisation) नही हो सके। इसके लिए पहिले कोई आयोजन नही था।

(६) ऋण खाते को स्थायी सम्पत्ति खाते (Block Account) से पृथक कर दिया गया है, जिसमे से पहिला रेलो मे विनियोजित पूँजी तथा दूसरा रेलो की सम्पत्ति बताएगा, फिर वह चाहे ऋण लेकर अथवा रेलो की आय से खरीदी गई हो।

सशोधित प्रतिज्ञा प्रस्ताव सन् १९५४—

सन् १९५० के प्रतिज्ञा प्रस्ताव से साधारण वित्त मे रेलो का जो योगदान है उसमे स्थिरता आ गई है तथा यह राशि प्रति वर्ष बढ रही है। यह प्रतिज्ञा प्रस्ताव ३१ मार्च सन् १९५५ को समाप्त होता था। अतः ३० नवम्बर सन् १९५४ को नवीन सशोधित प्रस्ताव मान्य हुआ, जो १ अप्रैल सन् १९५५ से ५ वर्ष के लिए है :—

(१) रेलो द्वारा साधारण वित्त को पूँजी लागत पर जो ४% लाभांश दिया जाता था वह आगामी ५ वर्षों के लिए इसी दर पर दिया जाय।

(२) रेल्वे पूँजी आधिक्य (Over capitalisation) कितना है, इसका निश्चय रेल सभा करे तथा ऋण-पूँजी के इस भाग पर रेल्वे साधारण वित्त को उसी दर से लाभांश दे जो औसत दर भारत सरकार अन्य व्यापारिक विभागो को दिए जाने वाले ऋणो पर लेती है। यह औसत दर सन् १९५५-५६ मे ३¾% थी। अतः इसमे रेल्वे को लगभग १ करोड रु० का लाभ होगा।

(३) नए रेल मार्गों की पूँजी लागत पर कम लाभाश दिया जाय अर्थात् इस पर लाभाश की दर उक्त २ के अनुसार हो। परन्तु नए रेल मार्गों की विनियोजित पूँजी पर निर्माण अवधि तथा यातायात के लिए रेलमार्ग चालू होने की तिथि से ५ वर्ष तक यह लाभाश स्थगित रखा जाय। इस स्थगित राशि का भुगतान रेल्वे साधारण वित्त को नए रेलमार्गों की आय से चालू वर्ष के लाभाश सहित करे।

(४) घिसावट कोष की वार्षिक राशि आगामी ५ वर्ष के लिए ३० करोड रु० से ३५ करोड रु० तक जमा की जाय।

(५) रेल्वे सम्पत्ति की आयक्षमता को अबाधित रखने के लिए रेलो के हानि-लाभ को न देखते हुए घिसावट का प्रबन्ध सम्बन्धित सम्पत्ति के कार्य जीवन के अनुसार

किया जाय। इसी प्रकार इसका पुनः मूल्यापन भी स्थगित न करते हुए वास्तविक स्थिति के अनुसार घिसावट कोष में किया जाय।

(६) रेल्वे विकास कोष का कार्य क्षेत्र बढ़ाकर इस कोष से सभी रेल यातायात के उपभोक्ताओं को सुविधाएं दी जायें। जैसे गोदामों का सुधार, व्यापारियों के लिए प्रतीक्षा स्थान आदि। इस हेतु न्यूनतम् ३ करोड रु० वार्षिक व्यय हो।

(७) अलाभकर विभागों का निर्माण व्यय सन् १९४९ के प्रस्ताव के अनुसार पहिले विकास-कोष से किया जाता था तथा बाद में उसे पूंजी व्यय में हस्तांतरित किया जाता था। परन्तु इस प्रस्ताव के अनुसार प्रारम्भ से ही ऐसा व्यय पूंजी-व्यय में सम्मिलित किया जायगा।

इस प्रस्ताव से रेलों को यह लाभ है कि नए रेलमार्गों पर पूंजी लागत के साथ ही लाभांश देने का तत्कालीन भार रेल प्रशासन पर नहीं पड़ेगा और न उसका भुगतान ही अपनी आय से करना पड़ेगा। दूसरे, रेलें जनोपयोगी होने के नाते रेल्वे के विकास कोष का उपयोग सभी रेल्वे उपभोक्ताओं के हित में होना वाञ्छनीय ही था।

त्रुटियाँ—

यद्यपि उक्त सभी प्रतिज्ञा प्रस्तावों से रेलों की आर्थिक स्थिति सुधर रही है। फिर भी निम्न त्रुटियाँ देखने में आती हैं:—

(१) सन् १९२४ की मूल प्रतिज्ञा के अनुसार रेल्वे बजट में ही रेल्वे सम्बन्धी कर लगना चाहिए था। परन्तु सामान्य वित्त विधेयक सन् १९५७ से यात्रियों के टिकटों पर जो कर लगाया गया है वह प्रतिज्ञा प्रस्ताव का उल्लंघन है, क्योंकि इससे रेलों की आय न बढ़ते हुए सामान्य आय बढ़ती है।

(२) रेलों को साधारण बजट में अनिवार्य रूप से पूंजी लागत पर ४% वार्षिक लाभांश देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रेल्वे प्रति वर्ष साधारण बजट में अतिरिक्त राशि देती है। यह अतिरिक्त राशि सन् १९५७-५८ के लिए ६·५७ करोड़ रु० थी। गत १० वर्षों से भी अधिक समय तक रेल्वे यह राशि साधारण बजट को देती रही। यह रेल्वे की आय पर अनाधिकृत प्रभार है, जो वास्तव में रेल्वे के विकास एवं विस्तार के उपयोग में ही आना चाहिए।*

पंच-वर्षीय योजना में रेलें—

३१ मार्च सन् १९५१ में २७% डिब्बे, ३०% इंजन तथा ३६% सवारी गाड़ी के डिब्बे ऐसे थे जिनका विस्थापन होना आवश्यक था, परन्तु उनका विस्थापन न हो सका, जिससे रेलों की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव हो रहा था। अतः पहिली योजना में रेल-सामग्री के विस्थापन की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। योजना में ४०० करोड रु० का प्रबन्ध था, परन्तु ४२३·७३ करोड़ रु० व्यय हुआ है। इसमें ३८३·७३ करोड रु० का व्यय रेल्वे के निजी स्रोतों से तथा १४० करोड बजट से हुआ।

* Modern Review—June 1957.

प्रगति—

इस अवधि में ३८० मील के नए रेल मार्गों का निर्माण तथा युद्धकाल में नष्ट ४३० मील के पुराने रेल मार्गों को चालू किया गया। साथ ही, ४६ मील के नैरोगेज के मार्गों का मीटरगेज में परिवर्तन हुआ तथा ४५३ मील नए मार्गों पर कार्य हो रहा है। इसके अलावा ६२८ रेल्वे इञ्जन, ३१,८६७ सवारी के डिब्बे और ३८,३१२ माल के डिब्बे खरीदे गये। डिब्बों की स्वयं निर्भरता प्राप्त करने के हेतु इन्टेग्रल कोच फैक्ट्री में २ अक्टूबर सन् १६५५ से डिब्बे बनने लगे। यहाँ पर सन् १६५६ ६० तक वार्षिक ३५० डिब्बों का निर्माण होने लगेगा। इसमें सन् १६५६-५७ में सन् १६५६ ६० के चार वर्षों में क्रमशः ६०, १५०, २६० और ३५० डिब्बे बनेंगे। चितरञ्जन के इञ्जन कारखाने में इञ्जनों का निर्माण आरम्भ हो गया है, जहाँ अभी तक ५०४* इञ्जन तैयार हुए। आगामी तीन वर्षों में इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०० इञ्जनों तक पहुँच जायेगी। तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी गईं। काफी दूर जाने वाली गाड़ियों में तीसरे दर्जे के यात्रियों को अधिक सोने का स्थान देने के लिए बड़ी लाइन की गाड़ियाँ बढ़ा दी गई, जिससे इन गाड़ियों की संख्या ४ जोड़ी बड़ी लाइन की गाड़ियाँ तथा दो जोड़ी छोटी लाइन की गाड़ियाँ हो गई। साथ ही, २ अक्टूबर सन् १६५५ से कलकत्ता-दिल्ली के बीच एक दालानदार जनता गाड़ी चालू की गई है। १४२ स्टेशनों पर ठण्डे पानी के हेतु विद्युत्संचालित यन्त्र लगाए गये हैं। इसी प्रकार कलकत्ते के आसपास की रेलों के विद्युतीकरण की ११·८४ करोड़ रु० की योजना का प्रारम्भ भी किया गया है।

दूसरी योजना में रेल्वे विकास के लिए ६०० करोड़ रु० का प्रबन्ध है। इसमें से १५० करोड़ रु० रेल्वे की आय में तथा शेष केन्द्रीय बजट से मिलेंगे। इसके अलावा २२५ करोड़ रु० घिसावट कोष से व्यय किये जायेंगे, जिससे रेल्वे पर १,१२५ करोड़ रु० का कुल व्यय होगा। रेल्वे अपनी आय से इस राशि से अधिक व्यय कर सकती है, क्योंकि रेल्वे की मूल योजना १,४८५ करोड़ रु० की थी। इसी अवधि में रेल्वे की माल ढोने की क्षमता सन् १६५५-५६ के १२ करोड़ टन से सन् १६६०-६१ तक १८·१ करोड़ टन बढ़ानी होगी। सवारी गाड़ियों की क्षमता में १५% की वृद्धि होगी। ८४२ मील लम्बाई के नए रेल मार्गों का निर्माण होगा। इस योजना में २,२५८ इञ्जन, १,०७,२४७ माल डिब्बे तथा ११,३६४ सवारी डिब्बे खरीदे जाएंगे, जिनमें से १,३५२ इञ्जन, २३,८५२ माल डिब्बे तथा ६,४४० सवारी डिब्बे पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए हैं। साथ ही, १,६०० मील प्रति वर्ष की दर से रेल मार्गों का विस्थापन होगा। अनुमान समिति के अनुसार यह २,००० मील प्रति वर्ष की दर से होना आवश्यक है, तभी रेल्वे कार्यक्षमता में वृद्धि कर सकती है। साथ ही, १,६०७ मील के रेल मार्गों को दुहरा तथा १६५ मील के मीटरगेज को ब्रॉडगेज में

---

* April 1958 तक

बदला जायगा । १,२६३ मील के मार्ग पर डीजल इञ्जन भी चलेंगे । इस प्रकार इस योजना मे भी पुनर्वास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

दूसरी योजना में प्रगति—

दूसरी योजना में लोहा एवं इस्पात, कोयला और सीमेंट जैसे आधारभूत उद्योगो के विकास की व्यापक योजनाएँ शुरू हो गई हैं। सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बे नए रेल मार्ग बन जाएँगे, १,३०० मील रेल मार्गों का दुहराकरण तथा ८८० मील रेल मार्गों का विद्युतीकरण हो जायगा। माल यातायात जो सन् १९५०-५१ के ९१० लाख टन से बढकर सन् १९६०-६१ के अन्त मे ८०% से बढकर १,६२० लाख टन हो जायगा। रेल इञ्जनो की संख्या जो दूसरी योजना के प्रारम्भ मे ८,२०० थी, बढकर १०,६००; यात्री-डिब्बों की सख्या १९,२०० से २८,६०० और माल-डिब्बों की संख्या १,९६,१०० से बढकर ३,५४,१०० हो जायगी।[1] इसी प्रकार १,२६३ मील रेल मार्गो पर डीजल गाड़ियाँ चलने लगेंगी।[2]

दूसरी योजना मे लक्ष्यो के अनुसार रेल इञ्जन, यात्री डिब्बे तथा माल डिब्बो का लक्ष्य क्रमश २,२६१, ८,७०८ और १,११,७३९ था। तदनुसार १,४६३ इञ्जन, ४,३२२ यात्री डिब्बे और ७५,६१२ माल डिब्बे ३१ मार्च सन् १९५९ तक प्राप्त हो चुके हैं। इस प्रकार सन् १९५८-५९ मे रेल मार्गों की लम्बाई ३५,०८१ मील तथा उनमे विनियोजित पूँजी १,३६,२८९ लाख रुपए हो गई, जो सन् १९५५-५६ में क्रमशः ३४,७३६ मील और ९७,५५० लाख रुपये थी।

सन् १९५७-५८ व १९५८-५९ मे क्रमशः १९८·१४ और १९१·१५ मील तक नये रेल मार्ग चालू किये गये।

इञ्जन, डिब्बे और अन्य उपकरणो को देश में तैयार करने की दिशा मे भी विशेष प्रगति हुई है। चितरञ्जन कारखाना अब पूरी क्षमता से काम कर रहा है, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता १६८ डब्ल्यू० जी० इञ्जन की है। निजी क्षेत्र में टेलको मे प्रति वर्ष मीटर गेज के १०० इञ्जन तैयार होते है। पैराम्बूर कोच फैक्टरी मे दूसरी पाली का काम भी धीरे-धीरे प्रारम्भ किया जा रहा है, जिससे इसमे वार्षिक ६०० डिब्बे तैयार हो सकेंगे। माल डिब्बो का निर्माण निजी क्षेत्र मे होता है, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० डिब्बो की है। यान्त्रिक सिगनल के सभी उपकरण भी देश में ही तैयार किए जा रहे हैं।[3] इस प्रकार दिसम्बर सन् १९५८ के अन्त तक देश में कुल उत्पादन निम्न रहा :—

---

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline. page 21.
2. India 1960.
3. श्रायक समीक्षा, जुलाई ११, १९६०।

चितरंजन कारखाना	१,००० इञ्जन डब्लू० जी०[1]
टेलको	३७१ मीटरगेज इञ्जन
पैराम्बूर कोच फैक्टरी	५६७ सवारी डिब्बे
हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट	१,२८५ ,, ,,
निजी क्षेत्र से	१७,३०० माल डिब्बे (१९५७-५८)

इस प्रकार भारत रेल सामग्री के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर हो रहा है।

तीसरी योजना में—

आशा है कि सन् १९६५-६६ में रेलवे २३·५० करोड़ टन माल-यातायात करेगी, जबकि सन् १९६०-६१ में १६·२० करोड़ टन अपेक्षित है। १,२०० मील के नये रेल मार्ग बनेंगे। रेलवे के विकास के लिए योजना में ८९० करोड़ रु० का आयोजन है। इसके अलावा रेलवे घिसावट कोष से ३३० करोड़ रु० विस्थापन के लिए उपलब्ध होंगे, ऐसी आशा है। इस प्रकार तीसरी योजना में रेलों के विकास पर १,२२० करोड़ रु० व्यय होगा :—

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
१. रौलिंग स्टॉक	३८०	४८२
२. विद्युतीकरण	८०	७०
३. सिग्नल एवं सुरक्षा कार्य	२५	२५
४. नई रेल लाइनें	६६	१२०
५. वर्कशॉप, यन्त्र एवं मयन्त्र	६५	५०
६. रेल मार्गों का नवकरण	१००	१७०
७. रेल मार्ग क्षमता कार्य	१८६	२२८
८. पुल निर्माण कार्य	३३	
९. अन्य निर्माण (Structural) कार्य	—	
१०. अन्य विद्युतीकरण कार्य	—	
११. कर्मचारी आवास एवं कल्याण कार्य	५०	५०
१२. रेल उपभोक्ताओं को सुविधाएँ	१५	१५
१३. सड़क यातायात में योग दान	१२१·५[2]	१०
योग	१,१२१·५	१,२२०

पहिली मद में नवीन आवश्यकताओं तथा वर्तमान सामग्री के विस्थापन का लक्ष्य निम्न है :—

	इञ्जन	यात्री डिब्बे	माल डिब्बे
वृद्धि	१,०३१	४,९८३	८३,१९९
विस्थापन	१४	२,८५४	२६,६९७
योग	१,६४५	७,८३७	१,०९,८९६

1 April 1960, भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।

2- इस राशि में ९ व १० मदों का व्यय भी सम्मिलित है।

रेल लाइन क्षमता कार्यक्रमों में वर्तमान रेल मार्गों का दुहराकरण, विद्युतीकरण, डीजलाइजेशन आदि का समावेश है। साथ ही, दूसरी योजना में जो नई रेल लाइनों का अधूरा काम है उसकी पूर्ति के साथ ही २०० मील के नये रेल मार्ग बनाये जायेंगे, जिससे तीसरी योजना के अन्तर्गत कोयला उद्योग के विकास के साथ ही उसे यातायात सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें।

तीसरी योजना के अन्तर्गत रेल-कार्यक्रम के लिए १३० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा आवश्यक होगी, जबकि दूसरी योजना में ३२० करोड़ रु० की आवश्यकता थी। यह इस बात का संकेत है कि भारत ने आत्मनिर्भरता के सम्बन्ध में कितनी सफलता प्राप्त की है।

अध्याय १५

सड़क यातायात

(Road Transport)

"किसी देश में यदि नवीन कल्पनाएँ एवं आशाओं का संचार है तो वहाँ की नियमित सड़कों से उसका ज्ञान हो सकता है।......सम्पूर्ण सृजन क्रियाएँ चाहे वे सरकार, उद्योग विचार अथवा धर्म सम्बन्धी हों, सड़कों का निर्माण करती हैं।"

सड़कों की तुलना साधारणतः मनुष्य के शरीर की धमनियों से की जाती है, जो सड़कों के राष्ट्रीय महत्त्व की ओर संकेत करता है। सड़कों का महत्त्व जितना ग्रामीण क्षेत्रों में है उतना ही वह शहरों के लिए भी है। सड़कों के महत्त्व के सम्बन्ध में भारतीय सड़क कांग्रेस में तत्कालीन यातायात मन्त्री जान मथाई ने कहा था—'यदि देश के विपुल स्रोत एवं असीमित जनशक्ति का उपयोग साधारण मानव के लिए करना है तो उनका उपयोग उत्पादन के लिए होना चाहिए, जो यातायात साधनों से—विशेषतः सड़क यातायात से—प्रगतिशील बनाये जा सकें।"* "यदि आप यह जानना चाहते हैं कि समाज स्थिर है क्या.......तो आप वहाँ की सड़कों को देखकर

---

* Our Roads-Govt. of India.

प्रथम विश्व युद्ध के बाद सैनिक मोटरें सस्ती कीमतों पर बिकने लगी, जिसमें मोटर बसें तथा मोटर यातायात देश की प्रमुख सड़कों का एक साधारण लक्षण हो गया* तथा उन सड़कों पर भी मोटरें चलने लगी जहाँ पहिले केवल बैलगाड़ियाँ चलती थीं। मोटर यातायात के विकास के साथ सड़कों की दुर्दशा होने लगी तथा उनका मरम्मत व्यय भी बढ़ गया। इसकी पूर्ति के लिए स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक साधन अपर्याप्त थे। इस कारण सड़कों का विकास मोटर-यातायात के विकास के समानान्तर नहीं रहा तथा सड़कों की स्थिति और भी खराब होती गई। इस स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से सन् १९२७ में कौंसिल ऑफ स्टेट में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार सड़कों की स्थिति की जाँच कर उस पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये श्री एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण हुआ, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९२८ में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह संकेत किया गया कि सड़क विकास का भार प्रान्तीय सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं की शक्ति के परे है और चूँकि सड़क यातायात का महत्व बढ़ता जा रहा है, इसलिए इस कार्य में केन्द्रीय सरकार को सहायता देनी चाहिए, अतः समिति ने पेट्रोल-कर लगाकर 'सड़क विकास निधि' बनाने की सिफारिश की, जिसकी राशि सड़कों के विकास पर व्यय की जाये।

इस सिफारिश के अनुसार मार्च सन् १९२९ से सड़क विकास निधि का निर्माण किया गया तथा इस निधि में पेट्रोल कर से प्राप्त होने वाली आय जमा होती थी। इसके साथ ही सड़कों का विकास योजनाबद्ध रीति से करने तथा इस निधि की राशि वर्ष प्रति वर्ष कायम रखने की सिफारिश समिति ने की। इसके अलावा समिति ने केन्द्रीय सरकार के आधीन एक पृथक सड़क विकास विभाग, सूचनाओं को एकत्रित करने एवं संशोधन के लिए एक केन्द्रीय संगठन तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों से एक यातायात सलाहकार समिति बनाने की सिफारिश की। इन सिफारिशों के अनुसार सन् १९३० में केन्द्रीय सड़क संगठन तथा सन् १९३५ में यातायात सलाहकार कौंसिल का निर्माण हुआ है।

सड़क विकास निधि—

सड़क विकास निधि प्रारम्भ में केवल ५ वर्ष के लिए बनाया गया था, परन्तु बाद में यह लगभग स्थायी हो गया। इस निधि पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण था तथा इसका ⅟₆ भाग केन्द्रीय प्रशासन, संशोधन तथा अ० भा० महत्व के कार्यों की पूर्ति के लिए अनुदान देने के लिये सुरक्षित रखा गया था। शेष राशि पेट्रोल कर की आय के अनुसार प्रान्तीय सरकारों एवं रियासतों के विकास में व्यय होती थी। इस निधि से आजकल लगभग ४½ करोड़ रु० की राशि प्रति वर्ष सड़कों के विकास में व्यय होती है। इस निधि के निर्माण के साथ ही आर्थिक मन्दी आई, जिससे प्रान्तीय सरकारों की आय घट गई। इसलिए इस निधि से सड़कों की मरम्मत एवं सुधार के

* Our Roads—Govt. of India Publication.

लिये भी राशि दी जाने लगी। इस निधि के कारण सन् १९३९ तक २५३ लाख रु० की लागत से ३८२ नए पुल बनवाए गये तथा ४२ लाख रुपए सड़कों की मरम्मत एवं सुधार पर खर्च किये गये। इसके अलावा १,२३० मील लम्बी कांक्रीट की १,५०० मील लम्बी पक्की सड़कों (Fair weather Roads) का निर्माण हुआ तथा २,२०० मील मेटल्ड सड़कों का सुधार किया गया। इसके साथ ही २२ लाख रुपया अन्य विविध सड़क सम्बन्धी सुधारों पर व्यय किया गया।

सन् १९३९ के पूर्व सड़क विकास के इतिहास की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना भारतीय सड़क कांग्रेस नामक अर्द्ध सरकारी संस्था का सन् १९३४ में निर्माण था। इसका उद्देश्य सड़क सम्बन्धी तान्त्रिक ज्ञान एवं अनुभव का उपयोग करना था। इस संस्था में सड़क सम्बन्धी इञ्जीनियरों की सदस्यता तथा अन्य व्यक्तियों की, जो सड़कों के निर्माण में रुचि रखते हैं—सदस्यता है। आज इस कांग्रेस के १,००० साधारण सदस्य हैं। यह संस्था सड़कों के विकास के लिए संशोधन आदि करने वाली तथा तान्त्रिक सलाह देने वाली एक ही संस्था है, जिसने सड़कों के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया एवं कर रही है। इस संस्था की क्रियाओं में भारत में सड़कों के पुलों को बनाने की प्रमाप पद्धति तथा प्रमाप स्पेसिफिकेशन्स निश्चित किए हैं, जो भारत में सर्व मान्य है।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध तक सड़कों के विकास की गति धीमी रही, जिससे युद्धकाल में भारत सरकार को यातायात कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध के कारण विशेषतः जापानी हमले से—भारत को यह चेतावनी मिली की सुरक्षा की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में सड़क यातायात के विकास के लिए प्रयत्नों का केन्द्रीयकरण आवश्यक है। युद्धकाल में इस कार्य के लिए प्रान्तीय सरकारों के पास राशि का अभाव था, इसलिए सुरक्षा राशि से सैनिक महत्त्व की सड़कों के विकास एवं निर्माण के लिये अनुदान देकर कार्यवाही प्रारम्भ की गई। इसी समय यह भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि देश में सड़कों का धमनियों की भाँति विस्तार होना अनिवार्य है, जो तभी सम्भव है एवं तभी यह पद्धति ठीक रखी जा सकती है जब उनकी विकास एवं मरम्मत की जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार वहन करे।

नागपुर योजना (सन् १९४३)—

युद्धकाल में भारतीय सड़क कांग्रेस के सुझावों के अनुसार प्रान्त के प्रमुख सड़क इञ्जीनियरों का एक अधिवेशन दिसम्बर सन् १९४३ में बुलाया गया। इसका उद्देश्य भावी सड़क विस्तार एवं विकास के साधनों एवं पद्धति का परिशीलन करना था। इस सम्मेलन का फल नागपुर योजना है। इस योजना के अनुसार युद्धोत्तर २० वर्षों में देश की अनुमानित आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार की सड़कों का इस प्रकार सन्तुलित विकास करना था, जिससे विकसित कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव प्रमुख सड़कों के सम्पर्क में आ सके। इस योजना ने देशी सड़कों को चार श्रेणियों में बाँट दिया है :—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—ये वे सड़कें होंगी, जो प्रान्तीय एवं रियासती राजधानियों, बन्दरगाहों तथा विदेशी मार्गों से सम्बन्ध करेंगी तथा देश के सचार की प्रमुख धमनियां होंगी।

(२) जिला सड़कें—ये सड़कें उत्पादन क्षेत्र एवं बाजारों को राष्ट्रीय राजमार्ग से अथवा किसी रेल से सम्बद्ध करेंगी तथा आस-पास के प्रमुख हैडक्वार्टरों के सम्बन्ध की प्रमुख कड़ी होंगी।

(३) ग्रामीण सड़कें—लघु जिला सड़कें एवं ग्राम सड़कें विशेषतः ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को पूरा करेंगी।

(४) प्रान्तीय राजमार्ग—ये सड़कें प्रत्येक प्रान्त एवं रियासत की प्रमुख सड़कें होंगी तथा इनमें सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सड़कों का समावेश भी होगा।

इस योजना में तत्कालीन सड़कों के सुधार एवं नवीन सड़कों के निर्माण का भी आयोजन है। योजना के अनुसार कुल मील लम्बाई तथा लागत निम्न हैं:—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)	२२,००० मी०	४७ करोड़ रु०	
(२) ,, ,, (National Trails)	३,००० ,,	३ ,,	,,
(३) प्रांतीय राजमार्ग (Provincial Highways)	६५,००० ,,	१२१ ,,	,,
(४) वृहत् जिला सड़कें (Major District Roads)	६०,००० ,,	६२ ,,	,,
(५) जिला सड़कें अन्य (District Roads other)	१,००,००० ,,	८० ,,	,,
(६) ग्राम सड़कें (Village Roads)	१,५०,००० ,,	३० ,,	,,
(७) युद्धकालीन वर्षों का शेष (Arrears of war years)	—	१० ,,	,,
(८) पुल निर्माण (Bridging)	—	४५ ,,	,,
(९) भूमि प्राप्ति (Land Acquisition)	—	५० ,,	,,
कुल	४,००,००० मील	४४८ ,,	,,

यह योजना अविभाजित भारत के लिये थी, परन्तु विभाजित भारत के लिए ३३१ हजार मील की सड़कों का निम्नवत निर्माण होना था:—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील	३६ करोड़ रु०
राष्ट्रीय सड़कें	४,१५० ,,	२·५ ,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,६५० ,,	१००·३ ,,
जिला एवं ग्राम सड़कें	२,५६,३०० ,,	१४२·५ ,,

इस प्रकार भारत संघ में १,२३,००० मील पक्की सड़कें और २,०८,००० मील की कच्ची सड़कों के निर्माण का लक्ष्य था। इस पर कुल २७१·५ करोड़ रु० व्यय होना था।

१,५१,००० मील लम्बाई की कच्ची सड़कें थी। योजना अवधि मे सभी प्रकार की लगभग २४,००० मील पक्की तथा ४४,००० मील कच्ची सडको का निर्माण हुआ। प्रथम योजना के अन्तर्गत सडको के विकास के लिए ११० करोड़ रु० का प्रायोजन था, जिसे बाद मे १३५ करोड रु० कर दिया गया।[1]

पहिली योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता की दृष्टि से राष्ट्रीय सडको की कुल लम्बाई मे १,६०० मील के जो टुकडे बीच बीच मे थे उनमे से ४५० मील टुकडो का निर्माण हुआ। दूसरे, नागपुर योजना के अन्तर्गत ३२० मील लम्बाई की सडक २ं १८ बडे पुलो का निर्माण हो रहा था उसे पूर्ण करना था। तीसरे, सड़को की सतह मे सुधार किया गया, जिससे वे अधिक बोझ सहन कर सकें। योजना के प्रारम्भ मे ऐसी सडको की लम्बाई १,१८,००० मील थी, जिनमे से ७,५०० मील लम्बाई की सडको का सुधार करना था, परन्तु केवल २,२०० मील लम्बाई की सडको का सुधार किया गया। चौथे, पुराने पुलो को अधिक भार योग्य बनाने के लिए उनमे सुधार करना एव राष्ट्रीय सडको पर ११२ पुलो का निर्माण करना था, जिनमे से केवल ४३ बडे पुलो का निर्माण हो सका।

योजना की अवधि मे सडको पर कुल १५६ करोड रुपया व्यय हुआ, जिसमे केन्द्रीय सडक कोष से लिए गये २५ करोड रुपये का व्यय भी सम्मिलित है। फलस्वरूप ३१ मार्च सन् १९५६ को सडको की लम्बाई लगभग ३,१०,५०० मील होगई, जिसमे १,२२,००० मील पक्की तथा १,६८,००० मील कच्ची सडकें थी।[2] सन् १९४७ से सन् १९५१ तक यही व्यय ४८ करोड रुपया था।

दूसरी योजना में राष्ट्रीय राज मार्गों के कार्यक्रम के लिए ८७·५ करोड रु० की राशि निर्धारित की गई है, जिसमे से ७,२०० मील लम्बी नई सडको का निर्माण एव ४,००० मील सडको के विकास का लक्ष्य था। दूसरी योजना के अन्त तक १,२०० मील लम्बाई की नई सडको मे से लगभग ६०० मील लम्बी सडकें तैयार हो जावेंगी और शेष तीसरी योजना के प्रारम्भ मे तैयार हो जावेंगी। ६०० मील की नई सडकों के निर्माण से राष्ट्रीय राज मार्गों की लम्बाई १२,६०० मील से १३,८०० मील हो जावेगी। इस कार्यक्रम पर दूसरी योजना काल मे ५५ करोड रु० व्यय होगा।

राष्ट्रीय राज मार्गों के साथ ही पहिली योजना में भारत सरकार ने अन्य महत्व-पूर्ण सडको का निर्माण प्रारम्भ किया था, जो दूसरी योजना मे भी चालू रहेगा। इस हेतु योजना में ४५६ करोड रु० का प्रायोजन है। इसमे पासी-बदरपुर रोड, वेस्टकोस्ट रोड तथा पठानकोट ऊधमपुर सडक का समावेश है। इनमे से पहिली सड़क लगभग

---

1 Review of the First Five Year Plan, page 235

2 India 1960 & Indian Road Congress Supplement of Hindusthan Times Feb 4, 1960

पूरी हो चुकी है, दूसरी सड़क योजना की अवधि में ७५% तथा तीसरी पूरी हो जायगी। इस प्रकार इस कार्यक्रम के अनुसार १५० मील की नई सड़कों का निर्माण होगा तथा ५०० मील सड़कों की सतह ऊँची की जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सड़कें—

केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५४ में १० करोड़ रु० का अनुदान आर्थिक महत्व की एवं राज्यों को मिलाने वाली सड़कों के लिए स्वीकार किया था। इसके अन्तर्गत दिसम्बर सन् १९५५ तक ६० मील सड़कों का निर्माण और १७५ मील सड़कों का सुधार हुआ। इसी कार्यक्रम को दूसरी योजना में चालू रखने के लिये १८ करोड़ रु० का आयोजन है। इस राशि का ७५% प्रथम योजना के प्रारम्भिक कार्यों पर व्यय होगा। इस कार्यक्रम में पहाड़ी एवं सीमान्त क्षेत्रों में १,००० मील लम्बाई की सड़कों का निर्माण होगा, जिससे यात्री यातायात (Tourist Traffic) का विकास हो सकेगा।

राज्यों का सड़क-विकास कार्यक्रम—

राज्यों के सड़क-विकास के हेतु पहिली योजना में ७३·५ करोड़ रु० का आयोजन था, जिसे क्रमशः ६३ करोड़ रु० करना पड़ा। दूसरी योजना में राज्यों में १६४ करोड़ रु० के व्यय से लगभग १८,००० मील लम्बी सड़कों का निर्माण होगा। इस योजना की अवधि में अविकसित क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा। साथ ही, ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत बनाई गई कच्ची सड़कों का भी सुधार होगा।

इस प्रकार दूसरी योजना काल में अब तक नागपुर योजना के लक्ष्य पूरे हो चुके हैं तथा आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक कच्ची और पक्की सड़कों की लम्बाई क्रमशः २,३५,००० और १,४४,००० मील हो जायगी। सड़क विकास की कल्पना निम्न तालिकाओं से होगी :—[1]

		पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य (मील)		१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १९५१	,,	९८,०००	१,५१,०००
मार्च ३१, १९५६	,,	१,२२,०००	१,९८,०००
मार्च ३१, १९५८	,,	१,३३,६१०	२,२३,६९६
मार्च ३१, १९६१[२]	,,	१,४४,०००	२,३५,०००

1. India 1960.
२. अनुमान

राष्ट्रीय राजमार्गों का विकास

	टूटी हुई सड़कों का निर्माण मील	पुलों का निर्माण (संख्या)	वर्तमान सड़कों का सुधार (मील)	सड़कों को चौड़ा किया गया (मील)
अप्रैल १, १९४७ से मार्च ३१, १९५६	७४६	३३	५,०००	४००
अप्रैल १, १९५६ से दिसम्बर ३१, १९५९	५२०	३१	२,६००	७७५
द्वितीय योजना की अवधि में*	७००	४०	३,५००	८००

नागपुर योजना के अनुसार राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास का लक्ष्य (including national trails) २०,७५० मील रखा गया था। परन्तु केन्द्र सरकार ने केवल १३,८०० मील की जिम्मेवारी ली थी, जिससे आज राष्ट्रीय राजमार्गों की लम्बाई १३,९०० मील हो गई है। राष्ट्रीय राजमार्गों में निम्न सड़कों का समावेश है —आगरा बॉम्बे रोड, बॉम्बे बंगलोर-मद्रास रोड, मद्रास-कलकत्ता, कलकत्ता-नागपुर-बॉम्बे, बनारस-नागपुर-हैदराबाद-कुमारी अन्तरीप, दिल्ली-अहमदाबाद बम्बई, अहमदाबाद से कांडला (पोरबन्दर शाखा सहित निर्माण अवस्था में), अम्बाला-शिमला तिब्बत, दिल्ली-मुरादाबाद-लखनऊ, लखनऊ-मुजफ्फरनगर-बरौनी (नैपाल सीमा तक शाखा सहित), आसाम रोड, आसाम ट्रंक रोड, जिसकी एक शाखा मनीपुर होते हुए बर्मा की सीमा तक है।

राष्ट्रीय राजमार्गों पर जो महत्त्वपूर्ण कार्य चालू हैं उनमें बनिहाल सुरंग उल्लेखनीय है। इससे जम्मू और श्रीनगर की दूरी १८ मील से कम होगी। इसके अलावा हिन्दुस्तान-तिब्बत राजमार्ग पर नरकंडा से चीन तक राजमार्ग को मोटर योग्य बनाने का, बम्बई से अहमदाबाद सड़क को सभी मौसमों के लिए योग्य बनाने का तथा गढ़मुक्तेश्वर में गंगा पुल और अलपुरा में गोतमी-पुल का निर्माण कार्य चालू है। दूसरी योजना में मुकामेह गंगा-पुल (Rail-cum Road bridge) का निर्माण उल्लेखनीय है।

सड़कों का दीर्घकालीन कार्यक्रम—

दूसरी योजना में नागपुर-योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के साथ यह आवश्यकता अनुभव की गई कि तीसरी योजना के प्रारम्भ से लागू करने के लिए सड़कों के विकास का एक दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाय। इस हेतु सन् १९५७ में एक समिति बनाई गई थी, जिसने नवीन अखिल भारतीय सड़क विकास कार्यक्रम २० वर्ष के लिए प्रस्तुत

* अनुमान

किया। इस योजना के अनुसार सड़को की लम्बाई सन् १९६१ के ३·७६ लाख मील से सन् १९८१ मे ६·५५ लाख मील करने का लक्ष्य है। इसके अनुसार राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजमार्गों की लम्बाई १ लाख मील से अधिक हो जायगी तथा शेष जिला एवं ग्राम सड़कें होगी। इस समिति की रिपोर्ट की प्रमुख बातें निम्न हैं :—

(१) भविष्य के सड़क-कलेवर में शहरी क्षेत्रो के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो की ओर उचित ध्यान दिया जाय। इस हेतु ५,००० जन-सख्या तक के ग्रामो का समूह बनाकर सड़क कार्यक्रम चालू हो। इस सम्बन्ध मे परिवहन के ढाचे और गहनता की ओर ध्यान देना चाहिए। भारत मे मोटरो की सख्या १,२१,२८२ (१९४३) से ४,१८,०६७ (१९५५) हो गई है, जो और अधिक बढेगी। सन् १९८०-८१ में मोटरो (automobiles) की सख्या ३,७०,००० होने का अनुमान है, जबकि सन् १९६०-६१ मे ७८,००० अनुमानित है।

(२) भावी सड़क-कलेवर मे अधिक विकसित एव कृषि क्षेत्रों को सेवाएं प्रदान करने के साथ ही अर्द्ध विकसित एव अविकसित क्षेत्रो को सुविधाएं देने का ध्यान रखना चाहिए। देश की प्रतिरक्षात्मक आवश्यकताओ की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

(३) *यद्यपि सड़कों का वर्गीकरण नागपुर-योजना पर ही आधारित है।* फिर भी इस योजना मे जो निश्चित न्यूनतम स्तर की पूर्ति करें, ऐसी ग्राम सड़को पर भी ध्यान दिया गया है। साथ ही, वजनी एवं शीघ्र लम्बे यातायात साधनों में रुकावट न आवे, इसलिए घनी जन संख्या वाले एवं अधिक औद्योगीकृत क्षेत्रों मे राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजमार्गों की कुछ लम्बाई मे "एक्सप्रेस मार्ग" बनाने का लक्ष्य भी रखा गया है।

(४) सीमित राशि की दृष्टि से सड़को की लम्बाई का लक्ष्य नागपुर-योजना के ३,३१००० मील से बढाकर सन् १९८०-८१ मे ६,५७,००० मील करना है। इसकी ४०% पक्की सड़कें होगी, जिससे प्रत्येक १०० वर्ग मील क्षेत्र मे ५२ मील सड़कें हो जावेंगी। इस योजना का उद्देश्य है :—

(i) विकसित एवं कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सड़को के ४ मील तथा अन्य सड़कों के १·५ मील क्षेत्र में हो,

(ii) अर्द्ध विकसित क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सड़को के ८ मील और कच्ची सड़को के ३ मील क्षेत्र मे हो,

(iii) अविकसित एवं गैर-कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सड़कों से १२ मील तथा अन्य कोई सड़क से ५ मील क्षेत्र मे हो।

(५) इस योजना की कुल लागत ५,२०० करोड रुपये है :—†

	मील लम्बाई		राशि—(सुधार एवं नई सडको के लिए) करोड रुपये
	१-४-१९६१ अपेक्षित	योजना मे प्रस्तावित लक्ष्य	
१. राष्ट्रीय राजमार्ग	१३,८००	३२,०००	६८०
२. प्रान्तीय राजमार्ग	२५,०००	७०,०००	१,५८०
३. बडी जिला सडकें	६५,२००	१,५०,०००	१,३६०
४. अन्य जिला सडकें	७८,३००	१,८०,०००	६५०
५. ग्राम सडकें (वर्गीकृत)	१,५६,७००	२,२५,०००	६३०
योग	३,७६,०००	६,५७,०००	५,२००

(६) सडको के भावी निर्माण के लिए ऐसे प्रमाप एवं स्पेसिफिकेशन्स उपयोग हों जिनको सीढी दर सीढी परिवहन की वृद्धि के साथ लागू किया जा सके ।

(७) भारत मे सडक-विकास पर बहुत कम व्यय होता है । अतः सडक-विकास कार्यक्रम को गति देने के लिए *आगामी वर्षों मे व्यय बढाना होगा । योजना के* अनुसार सडक-विकास का व्यय सन् १९६०-६१ के ८० करोड रु० से सन् १९८०-८१ मे ४४० करोड रु० करने का लक्ष्य है ।

(८) सडक *कार्यक्रम के मितव्ययितापूर्ण एवं कार्यक्षम पूर्ति के लिए* अग्र-योजना आवश्यक है । इस हेतु आरम्भ से ही आवश्यक राशि के सम्बन्ध मे निश्चित आश्वासन जरूरी है ।

(९) सडको की मरम्मत एव कार्यक्षम कार्यान्वयन के लिए वर्गीकृत ग्राम सडको के अलावा सभी वर्गीकृत-सडकें राज्य या केन्द्रीय पी० डब्लू० डी० अथवा राज मार्ग विभाग के आधीन होना चाहिये । वर्गीकृत ग्राम सडकें पचायतो के आधीन रहे, जिनको प्रान्तीय पी० डब्लू० डी० आवश्यक तकनीकी सलाह दे ।

(१०) सडक सम्बन्धी अनुसन्धान एव प्रशिक्षण कार्य को अधिक गहन किया जाय ।

(११) आर्टेरियल मार्गो पर टूटे हुए पुलो के निर्माण को प्राथमिकता तथा सडको *को चौडा बनाना, ग्रामीण सडकों को सभी मौसम योग्य बनाना,* इन कार्यों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाय । साथ ही सडको की मरम्मत पर उचित ध्यान दिया जाय । इस हेतु वार्षिक राशि सन् १९६०-६१ के ३० करोड रु० से सन् १९८० ८१ मे १३५ करोड रु० होगी । इसलिए आवश्यक श्रमिको एव तकनीकी व्यक्तियो की संख्या सन् १९६०-६१ के क्रमशः ८ लाख और १,२०० से सन् १९८०-८१ मे ४२ लाख और

† Indian Road Congress Supplement of the Times of India, Feb 4, 1960

२,४०० हो जायगी। इसके सिवा समिति ने सड़क निर्माण सामग्री, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं प्रशासन के सुधार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।[1]

यह योजना अभी विचाराधीन है।[2] लेकिन पंच-वर्षीय योजना में इस कार्य के लिए ५६० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है, जो बहुत कम है। क्योंकि योजना की कुल लागत का २१% अर्थात् १,३०० करोड़ रु० का आयोजन होना चाहिए था।[3] तीसरी योजना के अन्त में (१९६५-६६) में सड़कों की लम्बाई १६४ हजार मील हो जायगी।[4]

सड़कों का शासन प्रबन्ध—

सन् १९१९ से सड़कों की मरम्मत एवं विकास की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारों पर थी तथा केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सड़क निधि से वार्षिक अनुदान स्वीकृत करने के लिए जिम्मेवार थी, परन्तु १ अप्रैल सन् १९४७ से राष्ट्रीय राज मार्गों की मरम्मत एवं निर्माण की सम्पूर्ण जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार ने अपने अधिकार में ले ली है। प्रान्तीय राज मार्गों के निर्माण, मरम्मत एवं विकास की जिम्मेवारी आज भी प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभागों की (प्रान्तों की) है। इसके अलावा जिला एवं स्थानीय सड़कों की मरम्मत, विकास एवं निर्माण का उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं का है, जिनके आर्थिक एवं तान्त्रिक साधन कम होने तथा गत ४ वर्षों में ग्राम सड़कों पर यातायात बढ़ जाने से ग्राम सड़कों की दशा दयनीय हो गई है, इसलिए इनकी व्यवस्था का भार प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभाग को देने के प्रश्न पर विभिन्न प्रान्तीय सरकारें विचार कर रही हैं।

मोटर यातायात एवं बैलगाड़ी—

भारत के प्रतिनिधिक चित्र में बैलगाड़ियों को ही दिखाया जाता है, जो इस बात का प्रतीक है कि भारत में बैलगाड़ियाँ प्राचीन काल से सड़क यातायात का महत्त्वपूर्ण साधन रही हैं और आगे भी रहेंगी। कारण, भारत की कृषि स्थिति में बैलगाड़ियों की तब तक प्रधानता रहेगी जब तक हमारे किसानों को यातायात के अन्य सस्ते एवं सुविधाजनक साधन उपलब्ध नहीं होते।

यद्यपि भारत के सड़क यातायात में मोटरों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है तथा वे क्रमशः बैलगाड़ियों का विस्थापन कर रही हैं, फिर भी भारत की बैलगाड़ियों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि बैलगाड़ियाँ कैसे भी रास्ते पर चलाई जा सकती हैं तथा एक बैल की जोड़ी बैलगाड़ी एवं कृषि-कार्य दोनों के ही उपयोग में

---

1. Indian Road Congress *Supplement of the Times of India* Feb. 4, 1960.
2. India–1960.
३. भारतीय समाचार, अप्रैल १५, १९६० ।
४. उद्योग व्यापार पत्रिका, अगस्त १९६० ।

धानी है, जिससे कृषक को मितव्ययिता होती है। इसी कारण आज मोटर यातायात का विकास होते हुए भी बैलगाड़ियों की ही अधिकता है। भारत में लगभग ८७ लाख बैलगाड़ियाँ हैं, जिनमें ,२६१ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है, जबकि मोटर लॉरियों की संख्या १७६ हजार तथा उनमें लगी हुई पूँजी केवल ६६ करोड रुपए है। इसके साथ ही बैलगाडियों से लगभग १ करोड व्यक्ति तथा दो करोड पशुओं की उपजीविका चलती है और वे प्रति वर्ष १० करोड टन माल का यातायात करती हैं। यह उनके महत्त्व की ओर संकेत करता है। बैलगाड़ियों का ग्रामीण क्षेत्र से उन्मूलन कभी भी सम्भव नहीं है, जैसा कि मोटर यातायात के विकास के समय धारणा थी, क्योंकि थोडी दूरी के लिए बैलगाड़ियों द्वारा यातायात साधन सस्ता होता है, जहाँ मोटरें मध्यम दूरी के लिए तथा रेलें अधिकतम दूरी के लिए सस्ती होती हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वर्तमान ढाँचे की बैलगाडियों से सड़कें बहुत जल्दी खराब होती हैं, इसलिए सड़कों की सुरक्षा की दृष्टि से बैलगाडियों में सुधार के प्रयत्न होने चाहिए।

रेल एवं मोटर प्रतियोगिता—

रेल यातायात का देश में इतना विकास होते हुए भी आज रेल सेवाएँ देश को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है और इसीलिए रेल यातायात के साथ ही सडक यातायात भी देश के लिए आवश्यक है। भारत में सडक यातायात का सबसे बड़ा दोष यह है कि रेल यातायात के विकास के साथ ही सडक यातायात का भी विकास हुआ। परन्तु उसके विकास में सामंजस्य का अभाव रहा है। फलतः भारत की लगभग ½ सड़कें रेल मार्गों के समानान्तर हैं तथा लगभग ४८% सड़कें १० मील तक लौह मार्गों के समानान्तर हैं।* इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषतः समृद्ध कृषि क्षेत्रों में सडकों का विकास ही नहीं हुआ है। वास्तव में सड़क यातायात एवं रेल यातायात, ये दोनों परस्पर पूरक होने के साथ ही प्रतियोगी भी हैं। रेल यातायात के लिए स्टेशन तक यात्रियों एवं माल ढोने के लिए पूरक सडकों की आवश्यकता होती है और किसी भी क्षेत्र में रेल यातायात का विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक उस क्षेत्र में सड़कों का अच्छा जाल न बिछा हो।

परन्तु भारत में जिस परिस्थिति में एवं जिस प्रकार सडक यातायात का विकास हुआ है उस कारण उनमें परस्पर प्रतियोगिता अधिक रहती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि मोटर यातायात मध्यम दूरी के लिए सुविधाजनक एवं सस्ता होता है, क्योंकि रेलों की भाँति उसमें न तो अधिक स्टेशनों, स्टेशन कर्मचारियों एवं अन्य कर्मचारियों की जरूरत होती है। यह प्रतियोगिता प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही क्रमशः बढने लगी परन्तु इसकी तीव्रता का प्रभाव सन् १६२६ की आर्थिक मन्दी में रेल यातायात पर विशेष हुआ। इस काल में रेलों की आय इतनी कम हो गई कि वे साधारण बजट को दी जाने वाली राशि का भुगतान करने में असमर्थ हो गई। रेल सडक प्रतियोगिता

* Report of the Wedgewood Committee.

का निवारण करने एवं उनमें सामजस्य लाने की दृष्टि से सन् १९३२ में मिचेल वर्कनेस समिति की नियुक्ति की गई थी। इस समिति का कथन है :—"रेलों में अधिक भीड़-भाड़ होने का दोष सत्य है। हमें ऐसे बहुत कम स्थान मिले जहाँ से इस सम्बन्ध की *शिकायतें न हों।"* इसके साथ ही समिति ने प्रतियोगिता निवारण के लिए मोटर यातायात में सामंजस्य लाने के लिए यातायात केन्द्रीय सलाहकारी सभा के निर्माण करने की सिफारिश की। इसके अलावा समिति ने यह भी सिफारिश की कि ये दोनों सामाजिक सेवाएं होने के नाते इनमें सामजस्य रखा जाय तथा सड़कों का विकास समुचित रीति से होने के लिए सड़क यातायात का नियन्त्रण हो।

इसके बाद सन् १९३७ में वेजवुड समिति ने भी इस प्रश्न पर विचार किया तथा मोटर यातायात के लाइसेंसिंग, निरीक्षण एवं नियन्त्रण की सिफारिश की, जिससे रेल यातायात के साथ अनुचित प्रतियोगिता का अन्त हो जाय। इस सिफारिश के अनुसार सन् १९३९ में 'मोटर वेहिकल्स अधिनियम' बनाया गया, जिसका उद्देश्य सड़क यातायात का नियन्त्रण एवं सामंजस्य करना है। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य के २ अथवा अधिक प्रादेशिक विभाग बनाए गये हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक प्रादेशिक यातायात अधिकारी है। साथ ही, प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय यातायात अधिकारी है, जो प्रादेशिक यातायात अधिकारियों के साथ सामंजस्य रखता है। इस अधिनियम से प्रत्येक मोटर का बीमा कराना अनिवार्य है। प्रत्येक मोटर को प्रादेशिक अधिकारियों से निश्चित क्षेत्रीय यातायात का परमिट लेना होता है तथा उन पर निश्चित यात्री अथवा माल तथा गति के सम्बन्ध में शर्तों का पालन अनिवार्य है।

रेल सड़क सामंजस्य—

रेल एवं सड़क यातायात की परस्पर प्रतियोगिता समाप्त कर उनको परस्पर पूरक बनाने के लिए उनका सामजस्य ही एक मात्र साधन है। इस दृष्टि से सड़कों का भावी निर्माण एवं विकास योजनाबद्ध रीति से इस प्रकार हो कि रेलों को सड़क यातायात पूरक हो सके। अतः रेल मार्गों के समानान्तर सड़कें नहीं बनाना चाहिये, अपितु उनका विकास अन्य क्षेत्रों में हो, जहाँ यातायात सुविधाओं की कमी है। इससे देशी यातायात साधन बढ़कर सड़क यातायात रेलों के लिये पूरक सड़कों का *कार्य करेंगे एवं अधिक यात्री तथा माल के आवागमन की पृष्ठ-भूमि का विकास करें।* साथ ही, यातायात सुविधाओं के दुहरेपन का यथासम्भव निवारण किया जाय। यद्यपि आजकल यातायात साधनों का राष्ट्रीयकरण हो रहा है, जिससे विभिन्न यातायात साधनों का विकास योजनाबद्ध एवं विभिन्न साधनों में सामंजस्य रखने की दृष्टि से होगा। फिर भी देश के सम्पूर्ण साधनों का राष्ट्रीयकरण असम्भव तो नहीं अपितु वर्तमान स्थिति में कठिन है। अतः विभिन्न साधनों में सामंजस्य के लिए उन पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक है, जिस ओर सरकार ने आवश्यक कार्यवाही की है।

रेल एव सडक यातायात मे प्रभावी सामंजस्य लाने के लिए रेल एव महत्व-पूर्ण यातायान उपक्रमो की वित्तीय व्यवस्था को एक साथ लाने की ओर आवश्यक प्रयत्न किये जा रहे है। बम्बई, उडीसा तथा मध्य-प्रदेश के मोटर उपक्रमों मे रेलें भी हिस्सा ले रही है। योजना आयोग ने सामजस्य स्थापित करने के लिए जहाँ प्रान्तीय मोटर यातायात है वहा निगम बनाने की सिफारिश की है। इस प्रकार के यातायात निगम बम्बई, दिल्ली तथा बिलासपुर (मध्य प्रदेश) में हैं। इस कार्य की प्रगति के लिये सडक यातायात निगम अधिनियम सन् १६५० में बनाया गया था, जो अब बिहार, हैदराबाद, मैसूर तथा कच्छ मे लागू कर दिया गया है, जिससे वहाँ ऐसे यातायात निगमो का निर्माण हो सके। इसके साथ ही रेल एव सडक यातायात मे सामंजस्य लाने एव सडक यातायात के पुनर्गठन कार्य मे काफी प्रगति हो चुकी है, क्योंकि मद्रास, बम्बई, मध्य भारत तथा उत्तर प्रदेश आदि राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—

रेल-सडक प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र मार्ग है, जिसको भारत के लगभग सभी बडे राज्यो मे मान्यता दी गई है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अनेक राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, जिसमें बम्बई, मध्य-प्रदेश, पजाब, मद्रास, उडीसा, पश्चिमी बङ्गाल तथा दिल्ली है, परन्तु इन प्रान्तो में राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्तों मे समानता नही है, जैसे—बम्बई एवं मध्य प्रदेश मे मोटर यातायात का सचालन अर्द्ध सरकारी निगम के रूप में होता है तो उत्तर प्रदेश, मध्य-भारत क्षेत्र तथा मद्रास मे इनका सचालन सरकारी विभागो द्वारा होता है। इसके अलावा अन्य प्रान्तो में सरकार मोटर बसों का सचालन कर रही है, परन्तु अभी तक मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण यात्रियो के यातायात तक ही सीमित है तथा माल ढोने का कार्य निजी मोटर वाले ही करते है।

राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे योजना आयोग के विचार माननीय हैं। यातायात मन्त्रिवालय के परामर्श से योजना आयोग ने सडक यातायात की विशाम समस्याओं का अध्ययन एक विशेष दल से कराया था। इस आधार पर ही योजना आयोग ने देखा कि वर्तमान समय मे लगभग सम्पूर्ण माल का यातायात तथा लगभग २५% यात्रियों का मोटर यातायात निजी मोटर चालकों द्वारा होता है। वर्तमान मोटर यातायात सेवाएँ अपर्याप्त है और गत कुछ वर्षों मे उनका विकास भी धीमी गति से हुआ, जिसका प्रमुख कारण राष्ट्रीयकरण का भय, मोटर यातायात पर करो का उच्च स्तर, अन्तर्राज्य मोटर सेवाओ पर प्रतिबन्ध, थोडे समय के लिए परमिटों की स्वीकृति आदि है।

पहिली योजना मे सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण के लिए १० करोड रु० व्यय किए गए तथा दूसरी योजना मे १३·५ करोड़ रु० का आयोजन है। राज्य सर-

कारों को यह सलाह दी गई है कि वे इस हेतु निगमों की स्थापना करें। रेल्वे भी इन निगमों में साझेदार हो सकती है, जिसके लिए १० करोड रु० का प्रबन्ध योजना में है। इसके अतिरिक्त तीन करोड रु० दिल्ली ट्रांसपोर्ट सर्विसेज के लिए भी हैं। इस प्रकार दूसरी योजना में कुल २७ करोड रु० की व्यवस्था है, जिससे ५,००० अतिरिक्त गाड़ियाँ खरीदी जायेंगी तथा आवश्यक वर्कशॉपों की स्थापना होगी। तीसरी योजना के अन्तर्गत मोटर यातायात का विकास निजी क्षेत्र में होगा। राष्ट्रीयकृत मोटर यात्री यातायात के लिए तीसरी योजना में १८ करोड रु० का आयोजन है, जिससे यात्री-गाड़ियों की संख्या में ५,००० से वृद्धि होगी। रेल्वे द्वारा मोटर यातायात में योगदान देने के लिए तीसरी योजना में १० करोड़ रु० की व्यवस्था है।

सड़क द्वारा माल यातायात का राष्ट्रीयकरण वर्तमान अवस्था में न करने का विचार है। इसलिए मसानी समिति (सड़क यातायात पुनर्गठन समिति) की सिफारिशें मान ली गई हैं, जिनमें से प्रमुख सिफारिशें हैं :—

(१) सड़क यातायात एवं सड़क निर्माण में सामंजस्य।

(२) राज्य यातायात अधिकरण का निर्माण।

(३) राज्य-अधीन न्यायाधिकरणों का निर्माण।

(४) लाइसेंस देने की नीति में उदारता।

(५) ट्रक के साथ ट्रेलरों के उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए देहीकिल कर में ट्रेलर के सम्बन्ध में छूट दी जाय।

इन सिफारिशों का अनुमोदन राज्य यातायात कमिश्नरों के सम्मेलन में किया गया।* इस प्रकार देश में सड़क निर्माण एवं सड़क यातायात के विकास को सीमित साधनों में प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

---

* Journal of Trade & Industry Nov. 1959.

अध्याय १६

जल यातायात

(Water Transport)

"प्रत्येक प्रकार के यातायात का विशेष क्षेत्र एवं कार्य होता है। यह मान्यता है कि जल मार्ग और रेल मार्ग एक दूसरे के प्रतियोगी नहीं बल्कि पूरक हैं।"

प्राचीन काल में भारत समुद्री यातायात में बहुत प्रगति पर था। पश्चिम में ग्रीस तथा मेसीडोनिया तक एवं पूर्व में जावा तक भारत का सम्बन्ध था। इतना ही नहीं, प्रत्युत भारतीय जहाजी कला विश्व के ईर्ष्या का विषय थी। 'युक्तिकल्पतरु' नामक संस्कृत ग्रन्थ में नदी तथा समुद्री यातायात साधनों का निर्माण करना एवं विज्ञान का वर्णन मिलता है, जो प्राचीन भारत में नौवहन (Navigation) कला के महत्व का परिचायक है।

जल यातायात को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) आन्तरिक अथवा नदी द्वारा यातायात, (२) समुद्री यातायात।

(१) नदी यातायात—

भारत में प्राचीन-काल में नदी यातायात का आन्तरिक आवागमन एवं माल ढोने के लिए काफी महत्व था। इसका प्रमाण साँची स्तूप आज भी दे रहा है, जो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इसी प्रकार मेगेस्थनीज, जिसने भारत का २,००८ वर्ष पूर्व भ्रमण किया था, ने गंगा एवं उसकी १७ सहायक नदियों तथा सिंध एवं उसकी १३ सहायक नदियों में नौवहन का उल्लेख किया है। १४वीं शताब्दी में नदी, नहरें तथा अन्य जल स्रोतों में नौवहन भारत का समृद्ध व्यापार था, जिनमें गंगा एवं सिंध उसकी सहायक नदियों द्वारा नदी यातायात का महत्वपूर्ण साधन था। इसके साथ ही सुरक्षा की दृष्टि से भी नदी यातायात महत्वपूर्ण साधन था।* इतना ही नहीं, अपितु आज भी हम बड़ी नावों द्वारा गंगा के आस-पास माल का यातायात देखते हैं।

* 'It opens a communication between the different posts and serves in the capacity of a *military way* through the country and infinitely surpasses the celebrated inland navigation of North America where the carrying places not only obstruct the progress of an army but enable the adversary to determine his place and mode of attack with certainty'—Map of Hindoosthan or the Moghul Empire by Rennell

नदी यातायात का विकास एवं अवनति*—

आधुनिक ढंग पर भाप चालित स्टीमर का प्रयोग भारत में सर्व प्रथम सन् १८२३ में हुआ। जब 'डायना' नामक स्टीमर ने कुलपी रोड से कलकत्ते तक की हुगली नदी पर यात्रा प्रारम्भ की। इसके बाद सन् १८३४ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का माल एवं अधिकारियों के यातायात के लिए कलकत्ता तथा गंगा नदी के स्टेशनों पर नियमित रूप से मासिक यात्रा चालू की गई। इसी समय गंगा तथा ब्रह्मपुत्र नदी पर यातायात सुविधाएं देने के लिए नौवहन कम्पनियों की स्थापना हुई, परन्तु आज भारत तथा पूर्वी पाकिस्तान के जल मार्गों की लम्बाई ५,००० मील है, जबकि ३० वर्ष पूर्व घाघरा नदी से अयोध्या तक जल यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध थी। फिर भी अधिकतर माल का यातायात देशी नावों (Cargo boats) से होता था, जिनकी संख्या कलकत्ता, हुगली तथा पटना में क्रमशः १,७८,६२७, १,२४,५३७ तथा ६१,५७१ थी।

सन् १८५४ में रेल यातायात के विकास के साथ जल यातायात की अवनति होने लगी। प्रारम्भ में प्रमुख रेल मार्ग के कारण जल यातायात रेलों को पूरक रहा, परन्तु जैसे ही जलमार्गों के समानान्तर रेल मार्ग बनाये गए वैसे ही जल यातायात की अवनति होने लगी, क्योंकि जल मार्गों द्वारा होने वाला यातायात रेलों ने छीन लिया। दूसरे, जल यातायात असंगठित एवं असुरक्षित होने के कारण रेलों द्वारा माल के यातायात को प्रोत्साहन मिला। तीसरे, आन्तरिक जल मार्ग के महत्व एवं विकास की ओर सरकार ने किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया। इसके बाद रेलों के साथ ही सिंचाई योजनाओं का प्रारम्भ हुआ, जिससे जल यातायात को गहरा धक्का लगा, क्योंकि नहरों आदि सिंचाई के साधनों के निर्माण से नदियों में नौवहन के लिए पानी की कमी हो गई।

जल यातायात की वर्तमान स्थिति—

रेलों के विकास के साथ जल मार्गों का भारत में महत्व कम होता गया तथा उसके विकास की ओर तत्कालीन सरकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया। फलतः सन् १६०५ में गंगा एवं उसकी सहायक नदियों पर चलने वाली नावों (Cargo boats) की संख्या १,५०० के लगभग रह गई। यद्यपि इनकी संख्या में अब वृद्धि हो चुकी है, फिर भी जल मार्ग देश के केवल ईशान्य भाग में अर्थात् गंगा ब्रह्मपुत्र तक ही सीमित रह गए हैं। बड़े-बड़े स्टीमर्स आज भी गंगा नदी में पूर्वी पाकिस्तान से पटना तक ६२० मील की दूरी पर चलते हैं। पूर्वी भारत में कलकत्ते से डिब्रूगढ़ तक १,१७५ मील दूरी तक स्टीमरों से यातायात होता है, परन्तु स्टीमरों तथा बड़ी नावों के लिए स्थायी एवं बारहमासी जल मार्गों की लम्बाई ४,००० मील है। इसके अलावा छोटी नौकाओं से यातायात के अन्य जल मार्ग उपलब्ध है। गंगा ब्रह्मपुत्र पर वार्षिक

* Water Transport in India—C. W. P. C. Publication पर आधारित।

यातायात ६,२५० टन मील होता है और लगभग इससे दुगुना यातायात देशी नौकाओं द्वारा किया जाता है। सन् १९४९ के आँकड़ों के अनुसार कलकत्ते से होने वाले कुल यातायात का १२वाँ हिस्सा जल मार्गों द्वारा ढोया जाता है। इससे जल यातायात का महत्त्व स्पष्ट होता है।

जल यातायात के विकास की ओर—

रेल यातायात की अपेक्षा जल यातायात भारी से भारी माल ढोने का सस्ता साधन है, परन्तु इसके आवागमन में अधिक समय लगता है। इस कारण जल यातायात एवं रेल यातायात एक दूसरे के प्रतियोगी न होते हुए यदि ठीक रीति से इनका विकास किया गया तो सहायक हैं। कारण, रेल यातायात ऐसी वस्तुओं के लिए सुविधाजनक है जिनके यातायात में नियमितता एवं शीघ्रता की आवश्यकता हो तथा जो वस्तुएँ कम भारशील हों। इसके विपरीत कम कीमत वाली, किन्तु अधिक भारशील वस्तुओं के यातायात के लिए, जिनमें समय का विशेष महत्त्व नहीं है, जल यातायात ही एकमेव साधन है। फिर भी भारत विभाजन तक इसके विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था।

इसके बाद भारत की राष्ट्रीय सरकार ने इस ओर ध्यान दिया तथा देश के जल यातायात का विकास एवं योजना का भार केन्द्रीय जल एवं शक्ति आयोग को सौंपा गया। आन्तरिक जल यातायात सम्मेलन से नियुक्त यातायात सर्वे समिति ने यह राय दी थी :—"भारत में कलकत्ते से होने वाला सब आयात का उत्तर-प्रदेश को होने वाला यातायात जल मार्गों से ही किया जाय।" इस समिति ने जल यातायात की उन्नति के लिये जल मार्गों के आस पास अधिक औद्योगिक विकास करने की सिफारिश भी की थी। आन्तरिक जल मार्गों के विकास के लिए भारत सरकार के निमन्त्रण पर नौवहन विशेषज्ञ श्री ऑटो पॉपर सन् १९५० में भारत आए थे, जिन्होंने यह सम्मति दी कि यदि भारत के जल मार्गों का सगठित ढंग पर विदोहन होता है तो वे रेल यातायात के समान हिस्सेदार होकर सिंचाई के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं।

आन्तरिक जल मार्गों के विकास के लिए केन्द्रीय जल एवं शक्ति आयोग ने काफी काम किया है, जिसके अनुसार दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत हुगली का रानीगंज कोयले की खानों से सम्बन्ध करने के लिए एक नहर का निर्माण होगा। बम्बई में काकरपारा योजना के अन्तर्गत सूरत से काकरपारा बाँध तक जल मार्ग बनाया जायगा। इसी प्रकार हीराकुण्ड बाँध योजना की पूर्ति पर महानदी योजना ३०० मील लम्बाई तक जल यातायात के लिए उपयुक्त बनाई जायगी। इसके अलावा गंगा-बराज योजना के निर्माण का अनुसन्धान कार्य भी पूर्णता पर है, जिससे मुर्शिदाबाद जिले से उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की गंगा पद्धति में जल मार्ग उपलब्ध हो सकेंगे। इस योजना से कलकत्ते से बिहार की दूरी ५०० मील से कम हो जायगी। इन योजनाओं के अलावा गंगा, सोन, रिहंद तथा नर्मदा नदी पर बाँध तथा तालों

(Locks) द्वारा एक नहर पद्धति से भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तट के जोड़ने की दीर्घकालीन योजना है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जल मार्गों की उपयोगिता बढ़ाने के लिये वर्तमान नदियों की गहराई बढ़ाई जायगी तथा उनमें नौवहन की दृष्टि से सुधार किया जायगा।

इन योजनाओं के साथ जल सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए पूना में एक केन्द्रीय जल संशोधन केन्द्र की स्थापना हो चुकी है।

देश के आन्तरिक जल यातायात के विकास की ओर गंगा-ब्रह्मपुत्र जल यातायात सभा की सन् १९५२ में स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस सभा का कार्य जल यातायात एवं नौवहन सुविधाओं का विकास एवं सुधार करना, पंजीयन एवं अनुज्ञापन सम्बन्धी शासकीय समस्याओं को सुलझाना, यात्रियों एवं माल के भाड़े की दरें निश्चित करना तथा देशी नौकाओं (रस्से से खींचे जाने वाली) के संचालन के लिए प्रमुख योजना (Pilot Project) बनाना है। इसके लिए संयुक्त-राष्ट्र तांत्रिक सहायता प्रशासन से भारत ने सहायता प्राप्त की है।

पंच-वर्षीय योजनाएँ—

यह अनुमान है कि भारत में आधुनिक नावों के योग्य ५,००० मील, मशीन-चालित जहाजों योग्य १,५५७ मील तथा बड़ी देशी नावों के योग्य ३५७ मील के जल मार्ग हैं। इन जल मार्गों को आधुनिक नावों के योग्य बनाने की सम्भावना है। यह नदी की गहराई बढ़ाने, नहर बनाने या मिट्टी साफ करने से सम्भव होगा, परन्तु यह अधिक खर्चीला है, अतः इनमें चलाने योग्य विशेष नावों के निर्माण पर ही विशेष ध्यान दिया जायगा। पहिली योजना में स्थापित गंगा-ब्रह्मपुत्र सभा ने प्रयोगात्मक दृष्टि से तीन कार्यक्रम हाथ में लिए हैं। इनमें से दो ऊपरी तथा असम की सहायक नदियों पर हैं तथा तीसरा असम में ब्रह्मपुत्र नदी पर यात्री एवं माल यातायात योग्य जहाज बनाने का है।

दूसरी योजना में आन्तरिक जल यातायात के विकास पर ३ करोड़ रु० व्यय होगा। इसमें ११५ लाख रु० बकिंघम नहर पर व्यय होंगे, जिसे मद्रास बन्दरगाह से जोड़ा जायगा। ४३ लाख रु० पश्चिमी तट की नहरों पर तथा शेष गङ्गा-ब्रह्मपुत्र सभा के लिए एवं पाडु में आंतरिक बन्दरगाहों के विकास के लिए थे। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के स्टीमर-चालकों ने संयुक्त-रूप से अपने स्टीमरों के आधुनिकीकरण की योजना भी बनाई है। साथ ही माल-जहाजों के आधुनिक डिजाइनों के निर्माण के लिए दूसरी योजना की शेष अवधि में १५ लाख रु० ऋण सहायता के लिए रखे गए हैं।*

तीसरी योजना में आंतरिक जल यातायात के विकास के लिए ६ करोड़ रु० की व्यवस्था है। आंतरिक जल यातायात की समस्याओं का अध्ययन हाल ही में आंतरिक जल यातायात समिति ने किया था, जिसने "देश के प्रमुख जलमार्गों की

* भारतीय समाचार, मई १, १९६०।

सुरक्षा एवं सुधार की जिम्मेवारी केन्द्र सरकार पर हो" यह सिफारिश की। इसके साथ ही जल यातायात के विकास के लिए कुछ योजनाएं भी दी थी। तदनुरूप तीसरी योजना के विस्तृत कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। इनमें से जिन पर अभी विचार हो रहा है वे निम्न हैं :—

महत्वपूर्ण नदियों का हाइड्रोग्राफिक सर्वेक्षण, ब्रह्मपुत्र नदी एवं सुंदरवन क्षेत्र के लिए ड्रेजर (Dredgers), आसाम में जहाज मरम्मत सुविधाएं, कुछ राज्यों की, विशेषतः आसाम और केरल की नौवहन योग्य नदियों का सुधार तथा सुन्दरवन में देशी नौकाओं को बाधने (Towing) की योजना।[1]

नवीन विकास—[2]

(१) भारत की नदियों में जल परिवहन की क्षमता का पता लगाने के लिए केन्द्रीय जल और विद्युत आयोग गंगा, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, गोदावरी और महानदी में गहराई, बहाव आदि सम्बन्धी जाँच करेगा।

(२) अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिए एक केन्द्रीय निगम संगठन की स्थापना सरकार के विचाराधीन है।

(३) इस समय २,६०० मील लम्बी नहरों में नाव या स्टीमर से माल यातायात हो सकता है। इसमें दामोदर घाटी नहर और तुङ्गभद्रा की बाईं नहरों का समावेश है। महानदी के डेल्टा की नहरों के सुधार की योजना बनाई गई है। राजस्थान नहर में भी परिवहन व्यवस्था करने पर विचार हो रहा है।

(४) नर्मदा सोन गंगा, नर्मदा वेन, गंगा गोदावरी, नर्मदा-यमुना गंगा का तटीय जलमार्ग बनाने का कार्यक्रम तैयार हो चुका है। इसके सिवा कुछ और नदियों को एक दूसरे से मिलाने का प्रश्न भी विचाराधीन है।

इससे आशा है कि भारत की पूर्वी और पश्चिमी नदियों में जल-परिवहन का बहुमुखी विकास होगा। इससे शताब्दियों पुरानी जल परिवहन परम्परा का पुनरुद्धार होगा और समुद्र से जल मार्ग द्वारा देश में काफी दूर तक माल का यातायात हो सकेगा।

(२) समुद्री यातायात—

अतीत सामुद्रिक यातायात प्राचीन काल में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जहाजी शक्ति के विकास के कारण ही भारतीय सभ्यता अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी, जिसका प्रभाव विदेशी सभ्यता पर भी अधिकांश में पड़ा।[3] हमारे जहाजी उद्योग की विकसित स्थिति का प्रमाण इतिहास में मिलता है, जहाँ सिकन्दर का भारत से लौटते समय २,००० भारतीय जहाजों के उपयोग का लेख है। मुगल एवं मराठा

1 A Draft Outline—Third Five Year Plan.

२. भारतीय समाचार जुलाई १५ सन् १९६०।

3. History of Indian Shipping—Radhakumud Mukherji

शासन-काल में भी यहाँ की जहाजी शक्ति सुदृढ़ थी एवं जहाजी उद्योग अत्यन्त उन्नति स्थिति पर था। इतना ही नहीं, प्रत्युत इसके बाद "सन् १७८६ में भी भारतीय व्यापारियों के पास इतने जहाज थे, जितने ईस्ट इण्डिया कम्पनी, डच, फ्रांस तथा अमेरिका के पास कुल मिला कर होंगे। १८वीं एवं १९वीं शताब्दी तक भारतीय व्यापारिक जहाजी कला में तथा उसके निर्माण में निपुण थे। इस सम्बन्ध में लॉर्ड वैलेजली ने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को लिखा था:—'हमारा विश्वास है कि कलकत्ता का बन्दरगाह अंग्रेज व्यापारियों की उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, जो लन्दन तक भारतीय माल ढोने के लिए अपेक्षित हैं। बम्बई के बने हुए सागवान के जहाज इङ्गलैंड के ओक लकड़ी के जहाजों से अच्छे हैं।" इस पत्र से वैलेजली चाहता था कि इङ्गलैंड की जहाजी आवश्यकताओं की पूर्ति भारत से हो। परन्तु यह ब्रिटिश शासकों को हानिकर था, इसलिए उन्होंने यहाँ की समुद्री शक्ति एवं जहाज निर्माण कला को समाप्त करने के लिए इङ्गलैंड में भारतीय जहाजों के विरुद्ध नियम बनाए। इसके साथ ही १९वीं शताब्दी में भाप-चालित जहाजों के निर्माण से भारतीय जहाज निर्माण कला को धक्का लगा, जो क्रमशः समाप्त हो गई। इस प्रकार ब्रिटिश कूटनीति से यहाँ का जहाज उद्योग तथा सामुद्रिक यातायात भारतीयों के पास से निकल गया।

इसके अलावा भारत सरकार की कोई भी राष्ट्रीय जहाजी नीति नहीं थी। इस कारण ब्रिटिश जहाजी उद्योगों की प्रगति होती गई तथा भारतीय जहाजी उद्योग की अवनति। फिर भी कुछ भारतीय उद्योगपति भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा बनाने के लिए विपरीत परिस्थिति में भी अथक प्रयत्न करते रहे, परन्तु भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा अल्प रहा, जिसको सन् १९४४ में भारत सरकार ने भी कबूल किया। बंगाल के दुर्भिक्ष में भारत सरकार को व्यापारिक जहाजी बेड़े का महत्व प्रतीत हुआ, जिससे आगे इसके विकास के लिए प्रयत्न किए जाने लगे।

जहाजी उद्योग के विकास की ओर—

भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पूर्व भारतीय जहाजी उद्योग की उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न किये गये थे। सन् १९२३ में भारतीय व्यापारिक सामुद्रिक (Indian Merchantile Marine) समिति ने भारत का समुद्रतटीय व्यापार भारतीयों को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नहीं की गई। यही सन् १९३९ में भी हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध में ब्रिटिश जहाजी बेड़े युद्ध में लगे होने के कारण भारतीय जहाजी उद्योग की दयनीयता का परिचय भारत सरकार को मिला। इस कारण युद्ध समाप्त होने पर सन् १९४५ में जहाजी उद्योग के लिए पुनर्निर्माण नीति उप-समिति भारत सरकार ने नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (सन् १९४७) में—(१) ५ से ७ वर्ष की अवधि में

भारतीय जहाजी उद्योग की क्षमता २० लाख टन करने की सिफारिश की तथा यह बेड़ा सम्पूर्ण रूप से भारतीय स्वामित्व एवं सचालन मे होना चाहिए। (२) भारत के तटीय व्यापार का १००% निकटवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ७५% (जैसे—अफ्रीका, मध्य पूर्वी देश, थाइलैंड, इन्डोचायना, मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह), दूरवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ५०% तथा जर्मनी आदि देशो के शत्रु राष्ट्रो के खोये हुए व्यापार का ३०% भाग भारतीयो के हाथ मे ५ से ७ वर्ष तक आ जाना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध मे भारत सरकार ने कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नही की।

सन् १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के साथ भारत सरकार ने उपरोक्त लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जहाजी कम्पनियों को सहायता देने का निर्णय किया। तदनुसार भारतीय जहाजो के लिए समुद्रतटीय व्यापार सुरक्षित रखने के लिए कदम उठाये गये तथा शिपिंग एक्ट सन् १९४७ से जहाजो का लाइसेंसिंग अनिवार्य किया गया। इसके अलावा भारतीय जहाजी हितो की सुरक्षा के लिये थी भाभा, तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री, के सभापतित्व मे एक जहाजी सम्मेलन हुआ, जिसमे दो अथवा तीन जहाजी *निगमो (Shipping Corporations) की स्थापना का निर्णय लिया गया।* इन निगमों मे सरकार ५१%से अधिक पूँजी नही खरीदेगी तथा शेष कोई जहाजी कम्पनी अथवा कुछ जहाजी कम्पनियाँ तथा जनता खरीदेंगी। इन निगमो का उद्देश्य भारतीय जहाजो की टन क्षमता तथा जहाजी यातायात म वृद्धि करना होगा। ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन अब पूर्ण रूप मे सरकारी स्वामित्व एव नियन्त्रण मे है। इसके पास २,२६३ जी० आर० टी० टन क्षमता के ६ जहाज हैं, जो आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका, मलाया और जापान को नियमित रूप से चलते है। जून सन् १९५६ मे इसी प्रकार वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन (प्राइवेट) लि० की स्थापना १० करोड रुपये की पूँजी से हुई है। इसके जहाज भारत से फारस की *खाडी एव लालसागर के बन्दरगाहो तक पोलैण्ड और रूस तक जाते है। ये मार्ग* व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तीसरे निगम की स्थापना अभी तक नहीं हो सकी है।

इसके अलावा सरकार देशी जहाजी उद्योग के विकास को निम्न रीति से सहायता देती है :—

(१) *सरकारी माल अथवा सरकार के नियन्त्रण में आयात-निर्यात होने* वाले माल के यातायात का समुद्र पार व्यापार मे लगी हुई जहाजी कम्पनियो में बँटवारा करना।

(२) ब्रिटिश जहाजी हितों के साथ वार्तालाप के फलस्वरूप भारतीय जहाजी उद्योग को नया व्यापार मिला है, जैसे—भारत-सिंगापुर व्यापार तथा भारत संयुक्त-राज्य महाद्वीप व्यापार।

(३) विशाखापट्टम में बने हुए जहाजों को भारतीय जहाजी कम्पनियों को किश्तों पर बिक्री करना।

(४) योजना-प्रयोग के अनुसार जहाजी कम्पनियों को अपनी टन-क्षमता बढ़ाने के लिए ऋण देना।

(५) भारत सरकार भारतीय जहाजी कम्पनियों को शिपिंग कांफ्रेन्सों का पूर्ण सभासदत्व दिलाने के लिए भी प्रयत्न कर रही है तथा अपने दूतावासों का उपयोग इस कार्य के लिए कर रही है।

इसी प्रकार सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी भारत-संयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार एवं भारत-उत्तरी अमरीका व्यापार में तथा इण्डिया स्टीमशिप कम्पनी भारत संयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार में भाग ले रही हैं। इसके अलावा ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन और वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-मलाया, पोलैण्ड-भारत, रूस-भारत आदि व्यापार में संलग्न है। यह अल्पकालीन प्रगति इस ओर संकेत करती है कि भारत सरकार इस उद्योग की उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न कर रही है, जिससे इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है।

जहाज-निर्माण—

सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए देश में ही जहाज बनना आवश्यक होता है। इस हेतु सन् १९३१ में विशाखापट्टम में हीराचन्द वालचन्द के अथक प्रयत्नों से एक कारखाना—हिन्दुस्तान शिपयार्ड—खोला गया। इसमें सरकार और सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन का भाग २ : १३ के अनुपात में है, परन्तु सन् १९५२ में यह कारखाना पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्व में लिया गया है, जिससे इसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो सके। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इसी कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता ४ आधुनिक जहाज निर्माण तक बढ़ाने का लक्ष्य है। साथ ही, एक और जहाज निर्माण कारखाने की पूर्ण तैयारी भी इसी योजना में की जावेगी। दूसरे जहाजी कारखाने की स्थापना के हेतु स्थान निर्धारित करने के लिए जुलाई सन् १९५७ में कोलम्बो योजना तथा ब्रिटिश जहाज निर्माण सम्मेलन के संयुक्त तत्त्वाधान में एक तान्त्रिक दल बुलाया गया था। इस दल ने अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत कर दिया। दल ने २९ स्थानों का निरीक्षण कर कोचीन, कांडला, ट्राम्बे, जानखाली और माझगाँव इन पाँच स्थानों को दूसरे जहाजी कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है। इस हेतु नियुक्त अन्तर्विभागीय समिति ने कोचीन को जहाज-निर्माण कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है।

पंच-वर्षीय योजनाओं में—

पहिली योजना में जहाजी उद्योग की टन शक्ति ३,९०,७०७ टन से ६ लाख टन तक बढ़ानी थी। जहाजी कम्पनियों को अपनी टन क्षमता बढ़ाने के हेतु जहाज खरीदने के लिए १९.५ करोड़ रु० की सहायता देने का प्रबन्ध था। कलकत्ता, बम्बई,

मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहों की माल उठाने की क्षमता (२ करोड़ टन) बढ़ाने के लिए १२ करोड की व्यवस्था थी। इसके अलावा बन्दरगाहों के अधिकारियों को निजी साधनों से १५.५ करोड रु० व्यय करने थे। कराची बन्दरगाह की हानि पूर्ति के हेतु काडला बन्दरगाह के विकास के लिए योजना की अवधि में १२.०५ करोड रु० तथा तेल कारखानों को बन्दरगाह सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करने के लिए ८ करोड रुपये व्यय होने थे।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना की पूर्ति से जहाजी उद्योग की टन क्षमता ४,८०,००० टन हो गई। इस हेतु योजना की अवधि में व्यय २६.३ करोड रु० होना था, परन्तु वास्तव में १८ करोड रु० ही खर्च हो सके तथा शेष दूसरी योजना काल में व्यय होंगे। इसके अलावा १,२०,००० टन के जहाज तैयार हो रहे थे,* जो सन् १९५७ तक आ जावेंगे, जिससे ६ लाख टन शक्ति का लक्ष्य पूरा होगा। भारतीय जहाजी कम्पनियों को नए जहाज खरीदकर टन क्षमता बढ़ाने के हेतु २१.७२ करोड रु० के ऋण सुविधाजनक शर्तों पर दिए गए। काडला बन्दरगाह भी तैयार हो गया है, जिससे बन्दरगाहों की माल उठाने की क्षमता २.६ करोड टन हो गई है। समुद्र-तटीय व्यापार अब पूर्ण रूप से भारतीय कम्पनियों के अधिकार में है।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के विस्तृत हेतु निम्न हैं :—

(१) तटीय व्यापार की आवश्यकताओं को पूर्ण करना। इसमें रेल्वे के कुछ ट्रैफिक का तटीय व्यापार में अपवर्तन करने का समावेश भी है।

(२) भारत के समुद्री (Overseas) व्यापार का अधिक भाग भारतीय जहाजी उद्योग को प्राप्त करने योग्य बनाना। वर्तमान अवस्था में यह भाग केवल ६% है। इसी प्रकार पड़ोसी देशों के व्यापार का ४०% भाग भारतीय जहाजी उद्योग को मिलता है। यह अनुपात दूसरी योजना के अन्त तक क्रमशः १२ से १५% और ५०% तक बढ़ाना।

(३) तडाग (Tanker fleet) जहाजी बेड़े के लिए केन्द्र का निर्माण करना।

इसके साथ ही दूसरी योजना में भारत की जहाजी क्षमता में ३,९०,००० टन की वृद्धि करने का लक्ष्य है। इसमें ९०,००० टन के जहाजों के विस्थापन का भी समावेश है। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक भारत के पास ९ लाख टन का जहाजी बेड़ा हो जायगा। इस हेतु योजना में ३७ करोड़ रु० का आयोजन है। इस लक्ष्य के अनुसार तटीय व्यापार की जहाजी क्षमता १ लाख टन में, विदेशी व्यापार के हेतु जहाजी क्षमता १७० हजार टन से तथा तडाग जहाजी बेड़े की शक्ति ३०,००० टन से बढ़ाई जावेगी।

---

* Article by Shri Raj Bahadur, Minister for Shipping, in Amrit Bazar Patrika, Shipping Supplement April. 1958.

टन क्षमता में २ लाख टन की वृद्धि हो सकेगी। यह जहाजी क्षमता के विस्थापन के अतिरिक्त है। जहाजी-विकास कार्यक्रम विदेशी सहायता की राशि पर निर्भर रहेगा। योजना को अन्तिम रूप देने के पूर्व और अधिक राशि के आयोजन के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

दूसरी योजना मे प्रमुख बन्दरगाहो की लदान क्षमता का लक्ष्य २५ मि० टन था। परन्तु कलकत्ता, मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहो की लदान क्षमता मे वृद्धि की जो योजनाएँ दूसरी योजना में कार्यान्वित की गई थी उनकी पूर्ति पर इनकी लदान क्षमता तीसरी योजना में ४१ मि० टन हो जायगी। तीसरी योजना का प्रमुख हेतु लदान क्षमता मे वृद्धि न होते हुये बन्दरगाह सुविधाओ का विकास करना है। इस हेतु कलकत्ता के पास सहायक बन्दरगाह हल्दिया का विकास, बम्बई गोदी का आधुनिकीकरण, मद्रास मे भोगी गोदी की पूर्ति तथा मद्रास वर्कशॉप का सुधार एव पुनर्नियोजन (re-modelling) किया जायगा। साथ ही काडला मे प्रशिक्षण सुविधायें तथा विशाखापट्टम मे अतिरिक्त बर्थ का निर्माण एव खनिज के लदान के लिए यन्त्री-करण करने की योजना है। इस हेतु ८५ करोड रुपए का आयोजन है, जबकि दूसरी योजना मे कुल व्यय ६० करोड रु० हुआ है।[1]

नवीन विकास—

(१) जहाज मरम्मत समिति की नियुक्ति भारत सरकार ने वर्तमान जहाज मरम्मत सुविधाओं की जाच कर उनमे सुधार एवं विस्तार की सिफारिशें करने के लिये की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि सरकार व बन्दरगाह अधिकारियो को यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि जहाज मरम्मत उद्योग की आवश्यकताओ की पूर्ति की जिम्मेवारी लें। क्योकि इस सम्बन्ध मे विदेशो पर निर्भरता सकट के समय खतरनाक सिद्ध हो सकती है। इसलिए समिति ने इस उद्योग के ऐसे पुनर्गठन की सिफारिश की है जिससे कि वह विदेशी स्पर्धा मे टिक सके।[2] इस समिति के अध्यक्ष भूतपूर्व यातायात एव रेल्वे के डिप्टी मन्त्री श्री०वी० अलगासेन थे।

(२) हिन्दुस्थान शिपयार्ड ने पहिला सर्वेक्षण जहाज भारत मे बनाया, जिसको अक्टूबर सन् १९५९ में पानी में उतारा गया। इसका नाम आई० एन० एस० दर्शक है तथा इसकी क्षमता २,७५० टन है। यह पूर्ण होने पर भारतीय नौ सेना का आधुनिकतम जहाज होगा। इसमे समुद्री सर्वेक्षण के लिये ओशनोग्राफिक, थर्मोग्राफिक और हायड्रोग्राफिक आदि सामग्री होगी। इसकी लम्बाई व चौडाई ३२१ फीट और ४४ फीट तथा गति १६ नॉट होगी। साथ ही वायु छाया चित्रण के लिए हेलीकोप्टर, जीप, ट्रैक्टर, क्रेन तथा ६ लौन्चिज (launches) ये विशेष सामग्री होगी। इस पर

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline.
2 Journal of Trade and Industry, Nov. 1959.

२४० अधिकारियों की सुविधा का प्रबन्ध है, जो अभी तक भारतीय नौसेना या व्यापारिक बेड़े के किसी जहाज पर नहीं है।*

(३) जहाज बनाने और उनकी मरम्मत के काम आने वाले पुर्जे बनाने के सहायक उद्योगों की सलाहकार समिति ने अपनी पहिली रिपोर्ट में निम्न मुख्य सिफारिशें की हैं :—

(i) इस्पात के नये कारखानों में सुयोजित कार्यक्रम बनाकर देशी सामान से हो जहाजों के लिए इस्पात की प्लेटें और सेक्शन बनाने को उच्च प्राथमिकता दी जाय।

(ii) यन्त्र आदि बनाने का कार्यक्रम बनाकर प्रत्येक यन्त्र बनाने की प्राथमिकता निश्चित की जाय।

(iii) यन्त्रों की किस्म, मूल्यमान आदि के भारतीय मानक तैयार करने का प्रबन्ध किया जाय। मालवाहू जहाज के डिजाइन के मानक तैयार करने पर भी विचार किया जाय।

(iv) भारतीय मानक संस्था में जहाज सम्बन्धी विशेषज्ञों की अलग समिति बनाई जाय और उसमें जहाजरानी, जहाज-निर्माण उद्योग, जहाज सम्बन्धी यन्त्रों के निर्माता, जहाजरानी से सम्बन्धित संस्थाओं और सम्बन्धित सरकारी विभागों के प्रतिनिधि हों।

(v) निर्माताओं के लिए बम्बई और कलकत्ता में जहाजी-यन्त्रों के प्रदर्शन-कक्ष बनाये जायें। जहाजरानी के महानिदेशक देश में ही यन्त्र आदि बनाने, आयात कम करने और निर्माताओं को तकनीकी सलाह देने की उचित व्यवस्था करें। इस हेतु महानिदेशक को : (अ) जहाजरानी, (आ) जहाज-निर्माण और मरम्मत उद्योग तथा (इ) सहायक उद्योगों के लिए आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का कोटा सौंपा जाय। महानिदेशक ही कोटे के लिए आयात-नियन्त्रण अधिकारियों को सिफारिशें भेजें और उनसे कोटा प्राप्त करें।

(vi) जहाजी सामान बनाने का कार्यक्रम तैयार करने और उसकी पूर्ति में महानिदेशक को सहायता देने के लिए एक सलाहकार समिति का निर्माण हो। इसमें जहाजी कम्पनियों, जहाज मरम्मत उद्योगों, जहाजी सामान निर्माताओं, आयात-नियन्त्रण अधिकारियों, वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय की विकास शाखा, नौसेना तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों के प्रतिनिधि हों।

इसके अलावा समिति ने डीजल इञ्जन, सेंट्रीफ्यूगल पंप, बिजली का सामान,

* Journal of Trade & Industry, Nov. 1959.

तार ने रस्से, आग बुझाने के उपकरण आदि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की हैं।* ये सभी विचाराधीन हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जहाजी उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होकर उसकी नींव सुदृढ़ हो गई है। अतः विश्वास है कि भविष्य में जहाजी व्यवसाय एवं जहाज निर्माण उद्योग गत गौरव को प्राप्त करने में सफल होगा।

अध्याय १७

वायु-यातायात

(Air Transport)

"यह केवल वायु यातायात की ही विशेषता है कि उसके वर्तमान स्तर के विकास का श्रेय दो महायुद्धों को है।"

भारत के विभिन्न यातायात साधनों में हवाई यातायात का विकास नया है, फिर भी इसकी प्रगति नियमितता, समय एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। भारत में हवाई यातायात के पर्याप्त विकास के लिए काफी गुञ्जाइश है, क्योंकि भारत पूर्व-पश्चिम वायु मार्गों का मिलन स्थान होने से पूर्व-पश्चिमी वायु मार्गों में भारत को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। दूसरे, उसकी विस्तृत दूरी तथा सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल जलवायु के कारण वायु मार्गों के विकास के लिए भारत एक आदर्श देश है। साथ ही, व्यापारिक, राजनैतिक एवं सुरक्षा की दृष्टि से नागरिक वायु यातायात का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण आजकल सभी उन्नत देशों में वायु-यातायात की कार्यक्षम व्यवस्था है। यद्यपि हवाई यातायात अन्य यातायात साधनों की तुलना में अधिक खर्चीला है, फिर भी देश एवं समाज के लिए उसकी विशेष उपयोगिता है। वायुयानों के लिए न तो सड़कों और रेल मार्गों की आवश्यकता होती है और उड़ान में उसके मार्ग में मौसम के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की बाधाएँ न होने से वह कहीं भी जा सकता है। अन्य सब यातायात साधनों की अपेक्षा आकाश यातायात में उसकी अधिक गति के कारण किसी भी स्थान पर पहुँचने में कम समय लगता है। परन्तु आकाश यातायात की कुछ सीमाएँ भी हैं :—संचालन व्यय

---

* भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।

की अधिकता, कम माल ढोने की शक्ति तथा इसमें मौसमी बाधाओं का भय बना रहता है। हवाई मार्गों से रात मे सफर नहीं किया जा सकता और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना पड़ता है।

उगम एवं विकास—

भारत मे सबसे पहिली उड़ान सन् १६११ मे हुई, जब भारत के सैनिक अधिकारियों को प्रयोग के लिए भेजा गया ब्रिस्टल एरोप्लेन कम्पनी का वायुयान उड़ाया गया। इस प्रकार भारत में वायु मार्गों का उपयोग सर्व प्रथम सन् १६११ मे हुआ, फिर फरवरी सन् १६११ मे एम-पिकेट नामक फ्रेंच चालक प्रयोग के लिये भारत में शासकीय डाक की पहली थैली प्रयाग से नैनी तक वायुयान मे ले गया। इसी प्रकार सन् १६११ मे ही हवाई जहाज से जाने वाला यात्री सर सेफ्टन ब्रेन्कर था। इसलिए भारत मे हवाई यातायात का आरम्भ सन् १६११ से हुआ, यह कहना अनुचित न होगा।

सन् १६११ के बाद वायु यातायात के संगठन के लिए कोई भी प्रयत्न नही हुए, जिससे वायु यातायात का विकास न हो सका। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध मे यह अनुभव हुआ कि योरोप, सुदूरपूर्वी देश तथा आस्ट्रेलिया मे सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिए भारत में वायु-यातायात का संगठन होना आवश्यक है। फलतः प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ही सन् १६१८ में भारत में नागरिक वायु-यातायात के संगठन एवं प्रगति का इतिहास आरम्भ हुआ। इसी समय भारत मे वायुयानो को उतरने तथा ठहरने के लिए हवाई अड्डों की व्यवस्था की गई। इसके अलावा सन् १६१६ मे भारत ने विश्व के ३० प्रमुख देशों के साथ हवाई यातायात सम्बन्धी समझौते पर पैरिस मे हस्ताक्षर किये। इसका उद्देश्य था कि समझौते के सदस्य देश परस्पर देशों के वायुयानो को अपनी सीमा से न उड़ने देंगे तथा इन सभी देशों मे वायु यातायात के नियन्त्रण-सम्बन्धी नियमों मे समानता रहेगी। यह समझौता होने के बाद यह अपेक्षा थी कि भारत सरकार हवाई यातायात के संगठन के लिए कुछ कार्य करेगी, परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई कार्यवाही नही की गई।

इसके बाद जनवरी सन् १६२० मे बम्बई के गवर्नर लॉर्ड लॉयड के प्रयत्नों से भारत मे पहिली नियमित हवाई डाक का संगठन हुआ। इसके सिवा इस बीच नागरिक यातायात के विकास एवं संगठन के लिए कोई प्रयत्न नही हुए, अपितु केवल उड़ान-क्लबों की व्यवस्था की गई, जहां विदेशी वायुयान ठहर सकते थे।

सन् १६१८ मे कॅप्टन रॉस स्मिथ ने इजिप्त से भारत की पहिली उड़ान ली, परन्तु सन् १६२५ तक भारत में नियमित वायु सेवा के संगठन के लिए कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नहीं की गई। वास्तव में सन् १६२५ मे ब्रिटिश वायु मन्त्रालय ने इम्पीरियल एयरवेज लिमिटेड को इङ्गलैंड से भारत तक को हवाई उड़ान करने का अनुबन्ध दिया। इस कम्पनी का भारत-इङ्गलैंड की उड़ान का पहिला वायुयान क्रॉयडन

से ३० मार्च सन् १६२६ को उड कर ६ अप्रैल सन् १६२६ को करांची पहुँचा। इसी प्रकार करांची से ७ अप्रैल सन् १६२६ को उडा, जो एक सप्ताह मे लॉयडन पहुँचा। यही लन्दन-करांची के ५,००० मील वायु मार्ग पर नागरिक वायु सेवा का पहिला सगठन था, जिसने भारत को सर्व प्रथम विश्व के वायु-नक्शे मे बिठाया।

वायु यातायात परिषद् सन् १६२६ (Air Board)—

इसी समय सन् १६२६ मे वायु यातायात के सगठन एव विकास की दृष्टि से भारत की स्थिति की जाँच करने तथा सरकारी नीति के निर्धारण पर सुझाव देने के लिए एक वायु परिषद् का आयोजन हुआ। इस परिषद् ने भारत की सभी दृष्टि मे वायु यातायात की अनुकूलता तथा आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्वी देश आदि देशो की केन्द्रीय स्थिति को देखते हुए वायु यातायात के विकास एव सगठन पर जोर दिया तथा निम्न सिफारिशें की :—

(१) वायुयानो के ठहरने के लिए हवाई अड्डे बनाना चाहिए तथा उन पर एव उनकी आवश्यक वस्तुओ पर सरकारी अधिकार हो। वायु-मण्डल सम्बन्धी सूचनाओ की सुविधाओ के लिये बेतार के तारो की व्यवस्था भी हो।

(२) इस कार्य के सगठन के लिए नागरिक उडान विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की जाय।

(३) वायु-यातायात के विकास के लिए भारत सरकार नई कम्पनियो को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन दे।

(४) वायु यातायात सम्बन्धी भावी समझौते करते समय भारत सरकार की सम्मति अवश्य ली जाय तथा ऐसे समझौतो में भारत सरकार मध्यस्थ की हैसियत से भाग ले।

विकास की ओर—

इन सिफारिशो को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा सन् १६२७ मे आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवाओ के सगठन के लिए नागरिक वायु-सेवा विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई। इसके साथ ही भारत मे नागरिक हवाई अड्डो एव उडान क्लबो की स्थापना की गई। भारतीय अधिकारियो को विदेशो मे वायु-सेवा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। इन उडान-क्लबो मे वायुयानो को चलाने की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया, जिन्होने नागरिक वायु-सेवाओ के विकास मे तथा जनता को वायु-मार्गों से परिचित कराने में उल्लेखनीय कार्य किया। सन् १६२६ अप्रैल मे, भारत-इङ्गलैंड नियमित साप्ताहिक वायु-सेवा का संगठन हो चुका था। इसी समय भारत के अन्य प्रान्तो में भी युवको को वायुयान सम्बन्धी साधारण शिक्षा देने के लिए उडान क्लबो की स्थापना की गई। इसके बाद भारत सरकार ने इम्पीरियल एयरवेज कम्पनी के साथ समझौता करके सन् १६३० में करांची दिल्ली वायु सेवा का आरम्भ किया। परन्तु एक साल बाद इस कम्पनी का

समझौता समाप्त होने से दिसम्बर सन् १६३२ से यह वायु-सेवा बन्द हो गई। फिर सन् १६३१ के आरम्भ मे दिल्ली उड़ान क्लब ने इस सेवा को १८ मास तक चालू रखा।

वायु यातायात सुविधाएँ देने के उद्देश्य से सबसे पहिला भारतीय सगठन टाटा एग्ररलाइन्स लिमिटेड था, जिसने १५ अक्टूबर सन् १६३२ से करांची, मद्रास, अहमदाबाद, बम्बई तथा बेलरी को वायु सेवाएँ देना आरम्भ किया। इसके साथ ही इस कम्पनी ने कलकत्ता और कोलम्बो के बीच भी वायु सम्बन्ध स्थापित किये। इसकी सफलता से सन् १६३३ में इण्डियन नेशनल एग्ररवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसने कलकत्ता-रगून तथा कलकत्ता-ढाका के बीच वायु-सेवा का आरम्भ किया। इसी कम्पनी ने दिसम्बर सन् १६३४ मे करांची से सक्खर एवं मुलतान होते हुये लाहौर तक हवाई-सेवा प्रारम्भ की। इस प्रकार सन् १६३३ तक भारत में वायु सेवाओं का संगठन सफलता से होने लगा तथा उनका महत्त्व भी बढा। इसी समय सन् १६३३ में ब्रिटिश सरकार ने इम्पीरियल एग्ररवेज से समझौता किया कि वह क्रॉयडन-कराची वायु-सेवा को सिंगापुर तक लागू करे, जिससे इङ्गलैंड और आस्ट्रेलिया के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसी समय इण्डियन ट्रासकॉटिनेन्टल एग्ररवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसमे इम्पीरियल एग्ररवेज लिमिटेड, इण्डियन नेशनल एग्ररवेज लिमिटेड तथा भारत सरकार का हित क्रमशः ५१%, २५% तथा २४% था। यही से भारत सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से वायु-सेवाएँ देने मे हाथ बँटाया। इससे भारत को लाभ हुआ, परन्तु इस कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण इम्पीरियल एग्ररवेज कम्पनी के हाथ मे ही था। इसके बाद सन् १६३७ मे एग्रर सर्विसेस ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिससे बम्बई तथा काठियावाड रियासतो मे वायु सेवाएँ उपलब्ध हो गई।

साम्राज्य वायु-डाक योजना—

नागरिक वायु-सेवाओं के विकास का दूसरा चरण सन् १६३८ मे प्रारम्भ होता है, जब भारत से साम्राज्य हवाई-डाक योजना का प्रारम्भ हुआ। इस योजना से साम्राज्य देशो की पहिली श्रेणी की डाक संयुक्त राज्य आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अफ्रीका के बीच वायु मार्ग से भेजने का प्रबन्ध किया गया। इस योजना को कार्य रूप मे लाने के लिए यात्रियो एवं माल के वायु यातायात मे विकास करने की दृष्टि से बडे वायुयानो का उपयोग किया गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल में—

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होने से सम्पूर्ण नागरिक वायु यातायात संगठन पर सामरिक जिम्मेवारी आ गई तथा टाटा एग्ररलाइन्स और नेशनल एग्ररवेज को वायुसेना यातायात-आदेशक (Airforce Transport Command) के अनुसार कार्य संचालन करना पड़ा। इसकी वायु-यातायात क्षमता बढ़ाने के लिए उधार-पट्टे के आधार पर नये वायुयान भी दिये गये। इस कारण इन

कम्पनियो को जो सेवा शुल्क मिला उससे इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया तथा भारत मे वायु यातायात का विकास भी काफी हुआ। फलस्वरूप भारत मे अनेक स्थानो पर नये हवाई अड्डे बने तथा वायु उडान का नया तन्त्र विकसित हुआ। इसमे वायु मार्गों की सुरक्षा बढी एव जनता को उनकी उपयोगिता का अनुभव मिला। साथ ही, अनेक भारतीयो को हवाई-उडान की यान्त्रिक एव तान्त्रिक शिक्षा तथा अनुभव मिला, जो भारत के भावी वायु मार्गों के विकास के लिए आवश्यक ही था।

युद्ध समाप्त होने पर जनता का वायु मार्गों की सुरक्षा एव उपयोगिता मे विश्वास बढने के साथ साथ यात्रियो एव माल के यातायात का परिमाण बढा। इसके साथ अनेक डाकोटा वायुयान जो अब सैनिक दृष्टि से अनावश्यक थे वे मिट्टी मोल बेचे गये। फलतः भारत मे अनेक नई वायु-सेवा कम्पनियो की स्थापना हुई तथा ऐसी ११ कम्पनियो को लाइसेन्स दिये गये।* यद्यपि यात्रियो एव माल यातायात का परिमाण बढ रहा था, फिर भी बढते हुए सचालन व्यय के कारण अनेक कम्पनियो की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई तथा उन्होने सरकारी सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप १ मार्च सन् १६४९ से वायु यातायात कम्पनियो को सरकारी सहायता मिलने लगी, जिसका संशोधन १ अक्टूबर सन् १६५१ मे किया गया।

वायु यातायात जाँच समिति सन् १६५०—

इसी समय बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में वायु सेवाओ की व्यय प्रणाली की जाँच तथा वायु यातायात उद्योग की सुदृढता के हेतु सिफारिशें करने के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने यह राय दी कि वर्तमान वायु कम्पनियो का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। यात्री एव माल के यातायात को देखत हुये कम्पनियो की संख्या अधिक है। इसलिए समिति ने उनके कार्य *व्यय मे कमी तथा उनका पुनर्गठन कर उनको चालू रखने की सिफारिश की।* इसके साथ ही समिति ने राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। परन्तु राष्ट्रीयकरण के लिए वह समय उपयुक्त न होने से ५ वर्ष के लिए उसे स्थगित किया जाय, यह भी कहा।

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे इस समिति ने निम्न दलीलें दी :—

(१) देश की विभिन्न वायुयान कम्पनियो के नियन्त्रण के लिए एक कॉर्पोरेशन बनाया जाय, जिसमे वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग हो सके। यह कॉर्पोरेशन व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी नीति व्यवहार में लाये, किन्तु प्रमुख नीति पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त हित-कर है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत वायुयानो की सेवाएँ सस्ती दरो पर एव किसी भी समय उपयोग मे ली जा सकती है।

* Hindustan Year Book—1954

(३) सरकारी वायुयान कॉर्पोरेशन की स्थापना होने से उसका हेतु केवल लाभ कमाना नहीं रहेगा, जिससे जनता को सस्ते दरों पर आकाश यातायात की सेवाएँ मिल सकेंगी। कारण, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होने से दुहरी क्रियाएँ नहीं रहेंगी एवं व्यय में मितव्ययिता होगी।

(४) व्यक्तिगत वायु यातायात कम्पनियों की सफलता के लिए सरकारी सहायता देनी होगी (जो उस समय सरकार दे रही थी)। ऐसी दशा में इनका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक वाञ्छनीय होगा।

वायु मार्ग कॉर्पोरेशन योजना (Airways Cooperative Scheme)—

इसके बाद सन् १९५२ में योजना आयोग ने वायु यातायात प्रमण्डलों को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा उनको प्रति वर्ष दी जाने वाली ४० लाख रुपए की अप्रत्यक्ष सहायता, इन दोनों पहलुओं पर विचार कर यह निर्णय लिया कि वायु यातायात कम्पनियों की अधिकता देश के हित में नहीं है। इसलिए आयोग ने एक एअरवेज कॉर्पोरेशन का निर्माण कर उनमें वर्तमान वायु यातायात कम्पनियों के एकीकरण की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार वर्तमान कम्पनियों के अंशधारियों को उनकी पूँजी के बदले नवनिर्मित एअरवेज कॉर्पोरेशन के अंश देने का प्रस्ताव रखा। सरकार इस कॉर्पोरेशन पर अपना प्रबन्ध एवं नियन्त्रण रखने में सफल हो, इसलिए सरकारी अंश सबसे अधिक परिमाण में रहेंगे। इस कार्य के लिए तथा १३ वायुयानों के क्रय के लिए ६·५० करोड़ रुपए का आयोजन भी किया गया।

राष्ट्रीयकरण हो गया—

फलस्वरूप यातायात मन्त्री एवं वर्तमान वायु यातायात प्रमण्डलों के साथ अनेक बार विचार-विनिमय होकर वायु यातायात राष्ट्रीयकरण अधिनियम सन् १९५३ बना। इस अधिनियम से १ अगस्त सन् १९५३ को वायु-यातायात उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो गया। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप १ अगस्त सन् १९५३ में आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए 'इण्डियन एअरलाइन्स कॉर्पोरेशन' तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु सेवाएँ प्रदान करने के लिए 'एअर इण्डिया इन्टरनेशनल कॉर्पोरेशन' का निर्माण हुआ।

इन वैधानिक निगमों के निर्माण से लाभ—

(१) वायु-यातायात सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री, वर्कशॉप क्षमता तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों का देश हित में अधिकतम् उपयोग होगा।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण निश्चित रूप में वाँछनीय ही था, जो अब सरकारी निगमों के निर्माण से पूर्ण हो गया है।

(३) वायु-यातायात जन-उपयोगी साधन होने से उसका विकास देश हित में एवं जन-हित में होगा।

(४) वर्तमान यन्त्र-युग में वायु यातायात क्षेत्र में तीव्र गति से तान्त्रिक

विकास हो रहा है, जिसका पूर्णतम लाभ सरकारी निगम अपने असीमित साधनो के कारण ले सकेगा।

राष्ट्रीयकरण होने से इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने देश के आन्तरिक वायु मार्गो पर सुविधाएँ देने वाली आठ वायु यातायात कम्पनियो को अपने नियन्त्रण एव प्रबन्ध मे ले लिया है। इसी प्रकार एअर इण्डिया इण्टरनैशनल ने तत्कालीन वायु यातायात कम्पनियो को, जो अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों पर सेवाएँ दे रही थी, अधिकार एव नियन्त्रण में लिया है। केन्द्रीय सरकार को देश हित में दोनो ही निगमो को आदेश देने का अधिकार है। ये दोनो निगम केन्द्रीय सरकार को आर्थिक अनुमान के साथ अपनी क्रियाओ की वार्षिक योजनाएँ देंगे तथा इनकी लेखा पुस्तको की जाँच ऑडिटर जनरल एव कन्ट्रोलर करेगा, जिसकी रिपोर्ट ससद मे रखी जायेगी।

इन दोनो निगमो की क्रियाओ से सामजस्य लाने के लिए अप्रैल सन् १६५५ में वायु यातायात परिषद् की स्थापना की गई है, जो भाडे की दरें, किराया, डाक-शुल्क तथा वायु मार्ग सुविधाओ की पूर्णता एव कार्यक्षमता के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देती है। इसके साथ ही दोनो निगमो की पृथक सलाहकार समितियाँ है, जिनमे वायु यातायात के उपभोक्ताओ का प्रतिनिधित्व भी है, जिससे वे प्रबन्धको के सामने दृष्टिकोण रख सकेंगे।

प्रत्येक वायु-यातायात कम्पनी को दी जाने वाली हानि पूर्ति की राशि अधिनियम मे निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार ६'०१ करोड निश्चित की गई है। हानि पूर्ति की राशि का भुगतान ३½% के बाँडो मे किया गया है, जो बेचान साध्य एव ५ वर्ष बाद देय है।

राष्ट्रीयकरण के बाद—

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण की विभिन्न क्षेत्रो से कटु आलोचना की गई थी तथा कहा गया था कि राष्ट्रीयकृत वायु परिवहन मे कार्यक्षमता की हानि के साथ ही आर्थिक हानि भी बढेगी। फलतः रेल परिवहन की भाँति वायु-सेवाओ मे भाडे की वृद्धि होगी, परन्तु कॉर्पोरेशन की गत वर्षों की क्रियाओ से यह स्पष्ट होता है कि इन आलोचनाओ मे कोई तथ्य नही था।

राष्ट्रीयकरण के प्रथम वर्ष मे अवश्य ही यात्रियो की सख्या तथा माल का यातायात कम और डाक अधिक भेजी गई थी, परन्तु इसके बाद के वर्षों मे वायु परिवहन प्रगति कर रहा है :—

वर्ष	मील उड़ान (हज़ार)	यात्री संख्या (हज़ार पौंड)	माल (हज़ार पौंड)	डाक (हज़ार पौंड)
१९५२	१९,५६२	४३४	८६,०३८	८,३७७
१९५३	१९,२०२	४०४	८४,८७०	८,८४६
१९५४	१९,७९८	४३२	८६,४१५	१०,६७३
१९५५	२१,२६७	४९९	९८,२००	११,४७८
१९५६	२३,४८१	५५९	९६,२३१	१२,४८६
१९५७	२३,४९६	६१५	८५,६९१	१३,०८१
१९५८	२४,०८६	६८३	९८,४९४	१३,१८०
१९५९	३०,२००	८१४	१,६७,६०० (अनुमानित)	

इस उन्नति का प्रमुख कारण परस्पर स्पर्धा का अन्त एवं व्यवस्था का केन्द्रीयकरण है, जिससे कॉर्पोरेशनों को अपना संगठन सुदृढ़ आधार पर करना सम्भव हुआ। इसी कारण कॉर्पोरेशनों ने अपने वायुयानों में आधुनिकता लाने के साथ ही सेवाओं में भी पर्याप्त सुधार किया है, जो वायु परिवहन के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत है।

भारतीय वायु परिवहन के इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने सन् १९५७ से वाइकर्स वाइकाउंट विमानों से यात्री सेवाएँ देना आरम्भ किया। दूसरे, १ अगस्त सन् १९५८ से कलकत्ता-असम मणिपुर मार्ग पर विमान-सेवाएँ आरम्भ की गईं तथा अक्टूबर सन् १९५८ से दिल्ली-कलकत्ता के बीच विमानों के रुकने की व्यवस्था की गई।[1] तीसरे, एअर इण्डिया इन्टरनेशनल ने १४ अगस्त सन् १९५८ से भारत रूस यात्रा की साप्ताहिक सेवा का आरम्भ किया।[2]

पंच-वर्षीय योजनाओं में—

पहिली योजना में वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण एवं आधुनिकीकरण के लिए ९·५ करोड़ रु० का आयोजन था, परन्तु वास्तविक व्यय १५·३ करोड़ रुपये के लगभग हुआ। दूसरी योजना में दोनों कॉर्पोरेशनों पर १६ करोड़ (I. A. C.) तथा १४·५ करोड़ रु० (A. I. I.) का आयोजन है, जो निम्न प्रकार से है:—

हानि पूर्ति की राशि का भुगतान	५·१४	करोड़	रुपया
वायुयानों की खरीद	१५·३४	,,	,,
इण्डियन एअर लाइन्स की हानि	७·००	,,	,,
इण्डियन एअर लाइन्स के लिए कार्यालय एवं गृह व्यवस्था	०·५०	,,	,,
एअर इण्डिया इन्टरनेशनल वर्कशॉप का विस्तार	१·९५	,,	,,
इण्डियन एअर लाइन्स के लिए साज सामग्री	०·५१	,,	,,
एअर इण्डिया इन्टरनेशनल के ऋण-पत्रों का भुगतान	०·०९	,,	,,
योग	३०·५३	करोड़	रुपया

१. भारतीय समाचार : १ अगस्त सन् १९५८, १५ अक्टूबर सन् १९५८।
२. भारतीय समाचार : १ सितम्बर सन् १९५८।

इसी राशि मे से इण्डियन एग्रर लाइन्स के लिए ५ वाइकाउन्ट वायुयानों की खरीद का ग्रायोजन था, जिसमे मे ४ दिसम्बर सन् १९५७ तक ग्रा गए हैं। इसी प्रकार एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल की बढ़ते हुए ट्रैफिक की मांग पूरी करने तथा नवीन वायु सेवाम्रो को चालू करने के लिए टर्बोप्रॉप या जेट वायुयानो के क्रय की भी व्यवस्था है। इस योजना के ग्रनुसार ३ बोइङ्ग जेट वायुयानो का ग्रादेश दिया गया है, जो ग्रब (सन् १९६०) ग्रा गए हैं। इनका वेग ६०० मील प्रति घण्टा तथा १२० यात्री ले जाने की क्षमता है।[1]

वायु परिवहन निगम—

इन्डियन एग्रर लाइन्स कार्पोरेशन के पास इस समय (जनवरी सन् १९६०) ५७ डाकोटा, २२ विकिंग्ज, ६ स्काय मास्टर, ८ हेरोन तथा १४ वाइकाउन्ट वायुयान हैं, जो देश के प्रमुख केन्द्रो को १६,८८५ मील वायु मार्गों से सम्बन्धित करते है।

एग्रर इन्डिया इन्टरनेशनल के पास ६ सुपर कॉन्स्टेलेशन, ३ कॉन्स्टेलेशन तथा १ डाकोटा हैं। यह निगम २३,४७३ मील वायु मार्गों द्वारा विश्व के १९ देशो से सम्बन्ध प्रस्थापित करता है। सन् १९५९ की दूसरी छमाही में इण्डियन एग्रर लाइन्स कॉर्पो-रेशन के विमान ग्रनुसूचित मार्गों पर १,३६,३५,११५ किलोमीटर उड़े ग्रौर इनमे ३,१६,६७९ यात्रियो ने यात्रा की। इसके साथ ही इस निगम ने १,४९,६१,७६१ माल तथा २६,८६,७०४ किलोग्राम डाक का परिवहन किया। इसी प्रकार एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल के विमान ग्रनुसूचित मार्गों पर ६०,६३,५२९ मील उड़े, जिनमे ४७,१६३ यात्री, १४,५८,५९९ किलोग्राम माल तथा ४,३५,८०९ किलोग्राम डाक का यातायात हुग्रा।[2] इस प्रकार कार्यशीलता की दृष्टि से दोनों ही निगम प्रगति की ग्रोर ग्रग्रसर हो रहे हैं।

दूसरी योजना मे सान्ताक्रुज, दमदम तथा पालम हवाई ग्रड्डो का विकास जेट वायुयानो की दृष्टि से किया गया तथा इण्डियन एग्रर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने १० वायकाउन्ट वायुयान प्राप्त किए। इसके सिवा ५ फॉक्कर-फ्रेंडशिप वायुयानो के ग्रादेश दिए है। इसी प्रकार एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल ने ५ सुपर कॉन्स्टेलेशन वायुयान तथा ४ बोईङ्ग जेट वायुयान खरीदे। इन वायुयानो से १९ ग्रप्रेल को ब्रिटेन तथा १४ मई को ग्रमेरिका के लिए एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल ने जेट सेवा का उद्घाटन किया।[3]

तीसरी योजना मे नागरिक वायु परिवहन के लिए ५५ करोड रु० का ग्रायोजन है, जिसमें से २२ से २५ करोड रु० हवाई ग्रड्डो के विकास एव ग्राधुनिकीकरण के लिए तथा ३० से ३३ करोड रु० वायु परिवहन निगमो के लिए है।[4]

---

१. भारत म यातायात—पी० एल० मलनलकर।
२. भारतीय समाचार : मई १५, १९६०।
३. भारतीय समाचार जून १, १९६०।
4. Third Five Year Plan—A Draft Outline.

अध्याय १८

भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foriegn Trade)

"बहुत प्राचीन काल से ही भारत एक व्यापारिक देश रहा है। न केवल प्राकृतिक सम्पत्ति और उसके विस्तीर्ण समु तट के कारण बल्कि निवासियों की औद्योगिक कुशलता के कारण इसको एशिया के अन्य देशों से अधिक मान प्राप्त था"—

—विलियम हन्टर

प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला कौशल के लिए संसार में प्रसिद्ध रहे हैं। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ३० शताब्दियों तक भारत पुरानी दुनिया के मध्य में विश्व की प्रमुख सामुद्रिक शक्ति रहा है। इसके व्यापारिक सम्बन्ध न केवल एशियाई देशों से ही थे, किन्तु उस समय की ज्ञात दुनिया के सभी देशों से थे, जिसमें पूर्व और पश्चिम के सभी उन्नत देश सम्मिलित थे। इसी व्यापारिक क्रिया के कारण ही भारत का नाविक शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में महत्व बढ़ा।

भारतीय व्यापार का अध्ययन हम निम्न काल खण्डों में करेंगे :—

(१) मुस्लिम काल (सन् ११००–१७००)।

(२) अंग्रेजी काल का प्रथम युग (सन् १७००–१६००)।

(३) प्रथम महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६००–१६१४)।

(४) प्रथम महायुद्ध काल (सन् १६१४–१८)।

(५) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६१८–२६)।

(६) विश्व व्यापारिक मन्दी का काल (सन् १६२६–३५)।

(७) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६३५–३६)।

(८) द्वितीय महायुद्ध काल (सन् १६३६–४५)।

(९) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६४५–१६६१)।

मुस्लिम काल में भारतीय व्यापार—

मुसलमानी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण विदेशी व्यापार को गहरा धक्का लगा। १३वीं शताब्दी के आरम्भ में अफगानिस्तान, मध्य एशिया तथा ईरान को जाने वाले उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग मंगोलों के आक्रमण से कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गये। किन्तु पुनः व्यापार के लिए संकट

रहित हो गये। इस समय दक्षिणी भारत से मसालों (इलायची, लौंग, काली मिर्च, जावित्री) और कपूर का निर्यात पश्चिमी देशों को बडी मात्रा मे होता था। इसके अतिरिक्त भारत के मोती, अनेक प्रकार के वस्त्र, सिन्ध के बढिया फर्श, गलीचे, हाथी दांत और उसकी बनी चीजें, गैंडे के चमडे व उससे निर्मित वस्तुएँ, नारियल, कस्तूर, नील, काला नमक, अनेक प्रकार की औषधियाँ तथा मेवे ईरान, मिश्र और अरब को भेजे जाते थे। इनके बदले मे अरब से घोडे, लोहा, सोना, चाँदी, मिस्र से पन्ने की अंगूठियाँ, हीरा, मूँगे, और मिश्री शराब तथा ईरान से ऊनी वस्त्र, केवडा और गुलाबजल तथा मिट्टी का तेल आता था।[१] सोलहवीं शताब्दी मे भारत से उत्तर-पश्चिम को जाने वाले मुख्य मार्ग थे—पहला, स्थल मार्ग और दूसरा, जल मार्ग। पहला लाहौर और मुलतान से पेशावर तथा कधार को जाता था। कन्धार से एक मार्ग चीन और दूसरा मध्य एशिया को जाता था। जल मार्ग भी दो थे—एक, फारस की खाडी होकर और दूसरा, लाल सागर होकर। भारत से भेजा जाने वाला माल पहले फारस की खाड़ी पर स्थित हरमुज बन्दरगाह को भेजा जाता था, जहाँ से जहाजों पर माल लाद कर फारस की खाड़ी होकर बसरा पहुँचता था और बसरे से दजला, फरात नदियों के मार्ग से ईराक के उत्तरी भाग मे पहुँचता था। वहाँ से ऊँटों और खच्चरों आदि पर लाद कर पहिले दमिश्क और फिर वहाँ से एशिया माईनर तथा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप को पहुँचाया जाता था।[२]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक एशिया का व्यापार मुख्यतया अरब, आरमेनिया, गुजराती, मलाबारी तथा बङ्गाली व्यापारियों के हाथ मे था। इन सबमें भी अरब वालों का प्राधान्य था। १६वीं और १७वीं शताब्दी मे भारत मे सूरत, कालीकट, मछलीपट्टम, सतगाँव, चिटगाँव आदि निर्यात के मुख्य केन्द्र थे। इन स्थानों से छीट, कीमती सूती वस्त्र, कपास, रेशम, चावल, शक्कर, नील और काली मिर्च आदि का विदेशों को भारी मात्रा मे निर्यात होता था।[३] सूती कपडे पूर्व मे हिन्द चीन, थाईलैंड, मलक्का, जापान, बोर्निओ, सुमात्रा, जावा आदि को जाते थे। पश्चिम मे ये वस्त्र ईरान, अफगानिस्तान, दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, मिस्र तथा पश्चिमी अरब को भेजे जाते थे। टैवर्नियर लिखता है कि टर्की, पोलैंड आदि मे दक्षिण भारत के छपे हुए कपडों की माँग बहुत थी। पश्चिमी यूरोप को गुजरात, कारोमण्डल तथा बगाल की छीट और रेशम का अधिक निर्यात होता था। १७वीं शताब्दी का भारतीय निर्यात यह सूचित करता है कि यहाँ के कारीगर कितनी सफलता के साथ विदेशों के विभिन्न वर्गों के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। एक ओर शासक वर्ग और अमीरों की और दूसरी ओर साधारण निम्न वर्ग के लोगों की रुचि के अनुकूल वस्तुएँ तैयार करने मे वे बडे कुशल थे। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत ससार के व्यापार का केन्द्र

---

१. कृष्णदत्त वाजपेयी - भारतीय व्यापार का इतिहास (१६५२), पृ० २१४-२१५।
2 Moreland - India at the Death of Akbar, p. 299.
3. Petermundy - Traveles in Asia, Vol. II, pp. 154-156.

रहा । वर्रेरी लिखते हैं :—"सारे भारत का सोना, चांदी घूम-फिर कर अन्त में भारत में पहुँचता है।"

श्री विलियम हन्टर के अनुसार पूर्व में मलाया प्रायद्वीप, पश्चिम में अरब प्रायद्वीप अथवा चीन के उपजाऊ राज्य की अपेक्षा भारत का ही व्यापार यूरोपीय देशों से अधिक होता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सोलोमन राजा के जहाज मलाबार तट से ही बहुमूल्य माल भर कर लाते थे। प्राचीन काल के रोम साम्राज्य की आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ भारत से ही प्राप्त होती थी। इसी व्यापार में भाग लेने के उद्देश्य से ही कोलम्बस ने अमेरिका और वास्कोडिगामा ने उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) का चक्कर लगाकर भारत का पता लगाया। भारत के मसाले, दवाइयाँ, रंग, उत्तम लकड़ियाँ, सूती वस्त्र, जवाहरात, सोना, चाँदी और वस्तुओं ने ही यूरोप वासियों को भारत की ओर आकृष्ट किया।*

१५वी शताब्दी के अन्त में सबसे पहले पुर्तगाल वाले भारत में आये। धीरे-धीरे उन्होंने भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर गोआ, डामन, ड्यू आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। १६वी शताब्दी में पुर्तगाल वालों को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त हो गया, परन्तु पुर्तगालियों के अत्याचार के कारण भारत तथा पश्चिमी देशों के मुसलमान उनसे नाराज हो गए ये और उन्हें भारतीय समुद्र तट से निकालने की चेष्टा करने लगे। जनता की सहानुभूति खो देने से उनकी शक्ति बहुत घट गई, जिससे पुर्तगाल के व्यापार को बड़ा धक्का लगा। पुर्तगालियों की शक्ति को तोड़ने में डचों का भी बड़ा हाथ था। १६वी शताब्दी के अन्त तक इनका प्रभुत्व पूर्वी द्वीपों में हो गया। डच लोग मसाले, रेशमी और सूती वस्त्र, चावल, अफीम और शोरा बाहर भेजते थे। डचों की बढ़ती हुई व्यापारिक शक्ति को पुर्तगाली, अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग सहन नहीं कर सके; अतः तीनों में झगड़े होने लगे। अंग्रेज और फ्रांसीसियों के साथ युद्ध होने से डचों ने भारत में काफी हानि उठाई। फ्रांसीसियों और डचों के परस्परिक युद्धों से इङ्गलैंड ने बड़ा लाभ उठाया। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे भारत में अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ किया और ३१ दिसम्बर सन् १६०० को इङ्गलैंड की रानी एलिजाबेथ ने पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए रायल चार्टर दिया। डा० सरकार का अनुमान है कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना के प्रथम ६० वर्षों में भारत से प्रति वर्ष औसतन एक लाख पौंड (लगभग ८० लाख रु०) का माल इङ्गलैंड भेजा गया। सन् १६८१ में २२,३४,५१६ पौंड का माल इङ्गलैंड भेजा गया।

ईस्ट इन्डिया कम्पनी की नीति आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की थी, क्योंकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निर्भर था। किन्तु थोड़े समय बाद ही ब्रिटिश पूँजीपतियों के विरोध के कारण उसे यह नीति छोड़नी। ब्रिटिश पूँजीपति यह चाहते थे कि कम्पनी ब्रिटिश कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत

* W. W. Hunter : The British Empire.

से निर्यात करने पर जोर दे, अतः कम्पनी ने अपनी नीति बदली और भारत से तैयार माल की अपेक्षा अधिक मात्रा मे कच्चा माल निर्यात किया जाने लगा, जिसकी जगह भारत में इङ्गलेंड के कारखानो का बना हुआ तैयार माल आने लगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत औद्योगिक देश से कृषि प्रधान देश बना दिया गया। इसका घातक प्रभाव हमारे व्यवसायो और व्यापार दोनो पर ही पडा। श्रीमती नौल्स के शब्दो में—"भारत अब इङ्गलेंड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उन्नत कारखानो के लिए कच्चा सामान, रुई, चमडा, तिलहन, रंग, जूट आदि निर्यात करने लगा और बदले मे अधिकाधिक मात्रा मे इङ्गलेंड से लोहे और सून का तैयार माल खरीदने लगा, जबकि अन्य यूरोपीय देशो की क्रय शक्ति फ्रांसीसी युद्धो के कारण कमजोर पड चुकी थी।"

सन् १८६६ मे स्वेज नहर मार्ग खुलने से भारत के विदेशी व्यापार में नये युग का प्रारम्भ हुआ। भारत और यूरोप के बीच ५,००० मील की दूरी कम हो गई। अन्य कारणो से हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला :—

(१) भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने से देश को शासन-व्यवस्था के विचार से एक सूत्र मे बांधा गया, जिससे देश के विभिन्न भागो की राजनैतिक अशांति समाप्त हो गई और व्यापारियो को व्यापार करने में बडी सुविधा मिली।

(२) यातायात के साधनो का देश में काफी विकास हुआ। देश के आन्तरिक भागो से बन्दरगाहो तक आना-जाना सुगम हो गया तथा वहाँ से स्वेज नहर द्वारा यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, फारस, इटली, मिस्र, आस्ट्रिया आदि देशो को माल भेजने की सुविधा हो गई। यात्रा मे अब समय कम लगने लगा, जिससे अनाज आदि काफी मात्रा मे निर्यात किये जाने लगे।

(३) बम्बई और स्वेज नहर के बीच मे समुद्री तार से सम्बन्ध स्थापित हो गया और जहाज-निर्माण उद्योग मे काफी प्रगति होने से व्यापारिक जहाजो बेडों का भी इसी समय विकास हुआ।

फलस्वरूप भारत से कम कीमत की, किन्तु भारी वस्तुएं विदेशो को जाने लगी :—गेहूँ, चावल, तिलहन, चमडा, जूट आदि। उसके बदले मे सूती वस्त्र, मशीनें, रेलो का सामान, कांच का सामान आदि पहले इङ्गलेंड से और फिर जर्मनी, संयुक्त राज्य तथा जापान से आने लगा। यद्यपि कहने के लिये भारत से व्यापार करने की सब देशो को स्वतन्त्रता थी, पर वास्तव मे इङ्गलेंड का भारत के विदेशी व्यापार पर बडा प्रभुत्व था। इसके कई कारण थे—(१) भारतीय रेलो मे ब्रिटिश पूंजी लगी थी तथा उन पर अंग्रेजो का ही अधिकार था, जो केवल अंग्रेज व्यापारियो को ही परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप मे उत्साहित करती थी। (२) बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियाँ अंग्रेजों के ही अधिकार मे थी, तथा (३) देश मे अर्थ नीति निर्धारण करने का काम भी इन्ही के हाथ मे था। १९वीं शताब्दी के अन्त तक इङ्गलेंड की यह प्रभुता बनी रही, क्योंकि हमारा ५०% आयात और २५% निर्यात अब भी इङ्गलेंड मे ही था। अमेरिकन गृह युद्ध के समय भारत के रुई निर्यात मे काफी वृद्धि हुई।

ब्रिटेन से आने वाले सूती वस्त्रों के आयात में कमी हो गई। इसके अतिरिक्त भारत में ही १६वीं शताब्दी के अन्त मे अकाल आदि की अधिकता के कारण व्यापार में काफी कमी हुई।

इस काल मे भारत का आयात की अपेक्षा कुल निर्यात अधिक रहा और प्रायः प्रति वर्ष कुछ न कुछ शेष रहता था, जो भारत के नाम इङ्गलैंड मे जमा होता था। इसका अधिकांश भाग इण्डियन ऑफिस के खर्च, इण्डियन सिविल सर्विस के नौकरों की पेन्शनों, ब्रिटेन की ब्याज वाली रकमो, अग्रेज व्यापारियो की जहाजी किरायों और बीमा तथा विनिमय के अनेक प्रकार के खर्चों मे काटा जाता रहा। जो थोड़ी सी रकम बाकी बचती थी उसका भुगतान सरकारी हुँडियो द्वारा किया जाता रहा। नीचे विभिन्न वर्षों मे भारतीय आयात निर्यात तथा व्यापारिक शेष के आँकड़े हैं:—*

(लाख रुपयों मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	बाकी
१८५४-५५ से १८५८-५६	२,६८५	२,५८५	—
१८६६-७० से १८७३-७४	३,३०४	५,६८५	२,३२१
१८८४-८५ से १८८८-८६	७,५१३	६,७२८	१,५१५
१८६६-१६०० से १६०३-०४	८,४६८	१२,४६२	४,०२४

इस काल मे विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं :—

(१) स्वेज नहर के खुल जाने एव देश में यातायात के साधनो तथा सिंचाई क्षेत्रों मे वृद्धि होने से भारत के आयात और निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई।

(२) पहले जहाँ भारत से बहुमूल्य धातुयें तथा हल्के वस्त्र आदि निर्यात किये जाते थे, वहाँ केवल भारी कच्चा माल ही अधिक जाने लगा और पक्का माल आयात होने लगा।

(३) व्यापार की दिशा भारत के अनुकूल रहने लगी।

(४) आयात और निर्यात दोनो में ही ब्रिटेन का भाग अधिक रहने लगा।

(५) इस काल मे निर्यात की मुख्य वस्तुएं—चावल, गेहूँ, चाय, जूट, तिलहन, कपास, चमड़ा आदि थी। आयात की मुख्य वस्तुएं—सूती, ऊनी वस्त्र, मशीनें और लोहे का सामान तथा काँच का सामान था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व—

इस काल मे भारत का विदेशी व्यापार काफी चमका, क्योंकि विश्व मे आर्थिक उन्नति की लहर चल पडी। सोने का उत्पादन और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों मे वृद्धि होने से समस्त विश्व में व्यापारिक कार्यों मे प्रगति हुई। यह प्रगति

* कृष्णदत्त वाजपेयी : Principles of Planning, पृ० ३१२-३१३।

केवल सन् १६०८-६ में कुछ कमजोर पड़ गई, क्योंकि इस समय मानसून फेल हो गये तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में कई बैंकों की स्थिति बिगड़ गई। किन्तु यह परिस्थिति अधिक काल तक न रह सकी और पश्चिमी देशों की आर्थिक स्थिति सुधरने तथा रुपये और पौंड का विनिमय निश्चित हो जाने से भारतीय व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला।*

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	जोड़
१६००-०१	७६·२७	१०४·१६	१८०·४३
१६०७-०८	१०७·५०	१४८·४५	२५५·६५
१६१३-१४	१५०·३५	१६६·६२	३४६·६७

इस काल में भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें निम्न थीं:—

(१) भारत में निर्यातों में कच्चे माल की और आयातों में तैयार माल की अधिकता।

(२) हमारा निर्यात व्यापार आयात व्यापार से मात्रा और मूल्य में अधिक होता था, जिससे व्यापार की बाकी हमारे अनुकूल रहती थी। किन्तु भारत को बहुत बड़ी रकम प्रति वर्ष अदृश्य आयात और गृह व्यय के लिये भी चुकानी पड़ती थी।

(३) भारत के कच्चे माल और अनाज के निर्यात में इङ्गलैंड का हिस्सा सबसे ज्यादा रहता था।

(४) इङ्गलैंड के अतिरिक्त भारत का व्यापारिक सम्बन्ध गैर साम्राज्य के देशों से क्रमशः बढ़ रहा था, जो योरोप महाद्वीप के इटली, जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों से भी होता था।

(५) इङ्गलैंड के प्रभाव से भारत ने भी मुक्त व्यापार नीति को अपनाया, जिससे इङ्गलैंड के तैयार माल को भारत में बेचने के लिए एक बड़ी मन्डी प्राप्त हो सके।

(६) इस काल के पिछले वर्षों में विदेशी व्यापार में कुछ कमी आई। इसके प्रमुख कारण थे—महाद्वीप में औद्योगिक झगड़े, बाल्कन युद्ध के प्रारम्भ होने से भारतीय माल की अमेरिका में माँग न होना, मानसून का अनिश्चित होना और देश में बैंकिंग संकट होना।

(७) इस काल में कच्ची रुई और जूट का निर्यात इङ्गलैण्ड को बढ़ने लगा।

वास्तव में इस काल में जैसा कि वीरा ऐन्स्टी ने लिखा है—बीसवी शताब्दी के पहिले १४ वर्षों में भारतीय व्यापार में बड़ी उन्नति और वृद्धि हुई, किन्तु व्यापार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकांश व्यापार

* Parimal Ray : India's Foreign Trade Since 1870, p. 79.

इङ्गलैंड से होता था, किन्तु जापान और संयुक्त-राज्य अमेरिका का महत्व भी बढ़ता जा रहा था। यही हाल मध्य योरोपीय देशों का था।"[1]

प्रथम महायुद्ध काल (सन् १९१४-१८)—

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही भारत का विदेशी व्यापार कम हो गया। सन् १९१३-१४ के आधार पर आयात में ६७% और निर्यात में ३४% की कमी हो गई। दोनों में ४८% की कमी हुई। जहाँ सन् १९१४ में कुल विदेशी व्यापार ४२७ करोड़ रुपये का था (आयात १८३ करोड़ और निर्यात २४४ करोड़), वहाँ सन् १९१९-२० में कुल व्यापार २२३ करोड़ रुपये का ही रह गया (आयात ६३ करोड़ रुपये और निर्यात १६० करोड़ रुपये[2])। इस काल में कच्चे माल का निर्यात सन् १९१३-१४ में ३६·९% से बढ़कर सन् १९१९-२० में ५१·७% हो गया तथा इसी अवधि में तैयार माल के आयात में ७६·५% से ७०·४% की कमी हो गई। युद्धकाल में व्यापार कम होने के मुख्य कारण ये—

(१) पड़ोसी देशों अथवा महाद्वीप के देशों के यातायात में युद्ध के फलस्वरूप बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई, जिससे भारत का व्यापार इन देशों से कम हो गया।

(२) महायुद्ध के पूर्व भारत का व्यापार जर्मनी के साथ बढ़ गया था, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होने के साथ शत्रु-देश घोषित हो जाने से हमारा व्यापार जर्मनी से प्रायः नष्ट ही हो गया। रूस आदि देशों से यातायात की कठिनाइयों के कारण ही हमारा व्यापार रुक गया।

(३) शत्रु देशों से व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया तथा मध्य यूरोप के देशों से युद्ध के कारण व्यापार कठिन हो गया।

(४) बहुत से देशों ने विदेशों से माल लेना बन्द कर अपने देशों में ही युद्ध सामग्री उत्पादन करना प्रारम्भ किया, जिससे भारतीय माल की माँग इन देशों में कम हो गई।

(५) यद्यपि युद्ध के समय भारतीय कच्चा सामान विदेशों को कम जाने लगा, किन्तु भारत परतन्त्र था और विदेशों से मशीनें आदि मंगवाने की भी सुविधा नहीं थी। अतः भारत इसको तैयार माल में परिणित नहीं कर सकता था।

(६) आयात व्यापार पर पहले से अधिक कर लगा दिया गया था, इससे भी भारतीय व्यापार को धक्का पहुँचा। भारत सरकार ने चाय और जूट पर निर्यात कर भी लगा दिया, जिससे इन वस्तुओं का निर्यात युद्ध काल तक के लिए कम हो गया।

(७) युद्ध-काल में माल ले जाने के लिए जहाजों की भयंकर कमी हो गई। जो जहाज भारतीय समुद्रों में माल ले जाने पर नियुक्त थे अब वे अंग्रेजों के लिए युद्ध

---

1. Vera Anstey : Trade of Indian Ocean.
2. P. C. Jain : Industrial Problems of India. p. 175

सामग्री ले जाने लगे। बाल्टिक तथा काला सागर में मित्र राष्ट्रों के जहाजों का आना जाना बन्द कर दिया गया तथा बहुत से जहाज जर्मन सेनाओं द्वारा नष्ट कर दिए गये। इस प्रकार भारतीय व्यापार का माल ले जाने के लिए जहाजों की नितान्त कमी पड़ गई।

(८) युद्ध-काल में जहाजों की कमी होने तथा सामान भेजने की अधिक माग होने के कारण जहाजी-भाड़े में वृद्धि हो गई तथा समुद्री बीमे का व्यय भी अधिक पड़ने लगा, इससे हमारा विदेशी व्यापार घट गया।

(९) बहुत से देशों में अन्धाधुन्ध कागजी मुद्रा छापी गई। इस मुद्रा स्फीति का परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुएँ वहाँ बहुत मँहगी पड़ने लगी।

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक भारत के व्यापार की दिशा—

पहले महायुद्ध के पूर्व भारत के निर्यात और आयात में ब्रिटेन का बहुत बड़ा भाग था, जिसमें भारत कुल आयात का ४०% ब्रिटेन से मँगवाता था। क्रमशः ब्रिटेन से आने वाले माल का प्रतिशत घटने लगा और सन् १९३९ में वह ३०% ही रह गया। फिर भी ब्रिटेन का हिस्सा अन्य देशों की तुलना में अधिक था। इसका मुख्य कारण ब्रिटेन का भारत पर आधिपत्य था। जहाँ तक भारत के निर्यात का प्रश्न था, सन् १९१४ के पूर्व कुल निर्यात का केवल २५% ब्रिटेन को जाता था। क्रमशः यह प्रतिशत बढ़ता गया और सन् १९३६ में ३४% हो गया। ब्रिटेन ने भारत के उद्योग धन्धों में बहुत अधिक पूँजी लगा रखी थी। ब्रिटेन की जहाजी कम्पनियाँ, बैंक, बीमा कम्पनियाँ भारत की महत्व सेवा करती थीं, अतः ब्रिटेन को प्रति वर्ष अपनी पूँजी पर लाभ तथा अपनी महत्व सेवाओं का मूल्य मिलता था। इसी कारण ब्रिटेन को भारत से अधिक निर्यात होता गया। सन् १९१४ के पूर्व जर्मनी का भारत के आयात व्यापार में २·४%, संयुक्त राज्य अमेरिका का १·७%, जापान का ०·६% भाग था, किन्तु सन् १९१४ में बड़ा परिवर्तन हुआ। न केवल ब्रिटेन के भाग में ही कमी हो गई, बल्कि जर्मनी के व्यापार में ६·९% वृद्धि और जापान तथा संयुक्त राज्य के प्रत्येक के साथ व्यापार में २·६% की वृद्धि हुई। बेल्जियम का व्यापार ३·६% से २·३% रह गया।

निर्यात व्यापार की दशा में भी इसी प्रकार से परिवर्तन हुआ। इस शताब्दी के आरम्भ में इङ्गलैंड का भाग २९%, योरोपीय देशों का २५%, पूर्वी देशों का २४% और संयुक्त राज्य का ७% था, किन्तु सन् १९१३-१४ में यह भाग क्रमशः १४%, २९%, १७% और ९% ही रह गया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक इङ्गलैंड का भाग क्रमशः घटता गया, किन्तु अन्य देशों के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ते गये। सुदूर पूर्व के देशों के साथ व्यापार में हुई कमी छोटे-छोटे देशों के साथ व्यापार बढ़ाकर दूर की गई। वैयक्तिक देशों के साथ भारत के व्यापार में वृद्धि हुई। फलस्वरूप जर्मनी, जो सन् १९०० में भारत का तीसरा बड़ा खरीददार था, सन् १९१४

में उसका स्थान दूसरा हो गया। जापान की स्थिति भी छठे से तीसरी हो गई और चीन का स्थान दूसरे से हट कर छठा हो गया।*

सन् १६१४-१८ की अवधि मे इङ्गलेंड का व्यापार भारत के साथ कम होता गया। इसका मुख्य कारण उसका युद्ध मे व्यस्त रहना तथा अंग्रेज सरकार द्वारा निर्यात व्यापार पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना था। इसीलिए आयात व्यापार मे उसका भाग सन् १६१३-१४ मे ६४·१% से घटकर सन् १६१८-१६ मे ४५·५% रह गया। सम्पूर्ण युद्ध काल का विचार करें तो कहा जा सकता है कि युद्ध पूर्व काल के औसत ६२·८% से युद्ध-काल का औसत ५६·५% ही रह गया। इसी समय भारत के बाजार से हट जाने के कारण जापान और सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ होने वाले व्यापार मे वृद्धि हुई। पहले लोहे की मशीनें जो इङ्गलैण्ड से आती थी वे इन दोनों देशो से आयात होने लगी। इसके अतिरिक्त जापान से कांच का सामान, कागज और सूती वस्त्र तथा अमेरिका से रंग आदि भी मँगवाया जाने लगा। इन दोनो देशो ने अपने व्यापारिक संगठन स्थापित करने के भरसक प्रयत्न किये।

निर्यात व्यापार मे इङ्गलेंड और अंग्रेजी साम्राज्य के देशो के साथ वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध-काल में अधिकाधिक माल भारत से खरीदा गया। इस कारण हमारे निर्यात व्यापार मे इङ्गलेंड का भाग सन् १६१३-१४ में २३·४% से बढ़कर सन् १६१८-१६ मे २६·२% हो गया। इङ्गलेंड और ब्रिटिश साम्राज्य दोनों को मिलाकर युद्ध पूर्व के १५·१% और ४१·१% औसत से युद्धकाल का औसत ३१·१% और ५१·७% होगया। भारत से जर्मनी का व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः टूट सा गया। जर्मनी का फ्रान्स तथा बेल्जियम के कई भागो पर अधिकार होने से इन दोनों देशो से भी हमारा व्यापार कम हो गया। किन्तु जापान और संयुक्त राज्य से निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई, जो क्रमशः ६·२% से १२·१% और ८·६% से १३·८% हुई। इसका मुख्य कारण था कि ये देश युद्ध की विभीषिका से दूर थे तथा मित्र राष्ट्र होने के नाते वे भारत की वस्तुयें खरीदने मे समर्थ थे। इस प्रकार युद्ध काल मे भारत का विदेशी व्यापार बहुत ही थोड़े देशो के साथ सीमित था। यद्यपि निर्यात व्यापार से अधिक प्राप्ति होती थी, किन्तु आयात की कीमतें बढ़ जाने से हमें चुकाना भी अधिक पड़ता था।

सन् १६१६ से सन् १६२६ के वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार मे अनेक उतार-चढ़ाव आये। प्रथम वर्ष में भारत का व्यापारिक शेष अनुकूल रहा, किन्तु सन् १६२०-२१ और सन् १६२१-२२ मे यह प्रतिकूल हो गया। युद्ध के तुरन्त बाद ही युद्ध-कालीन प्रतिबन्ध हटने से जहाजो का किराया कम होने और युद्ध के समय जिन राष्ट्रो से व्यापार बन्द हो गया था वह फिर से चालू होने से यद्यपि व्यापार बढ़ा, पर

* R M. Joshi: India's Export Trade, p. 159-160,

यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। देश के निर्यात व्यापार में निम्न कारणों से कमी आ गई :—

(१) क्रय-शक्ति के अभाव में योरोपीय देश विशेष मात्रा में भारतीय माल नहीं खरीदते थे।

(२) ब्रिटेन, अमेरिका और जापान ने भी पहले से ही इतना भारतीय माल खरीद लिया गया था कि उनके पास अधिक माल खरीदने की गुञ्जाइश नहीं थी, क्योंकि इन देशों के बाजार भारतीय माल से पटे पड़े थे।

(३) भारत में लगातार वर्षा की कमी होने (सन् १६१८-२१) से अनाज की कमी हो गई और अनाज के भाव चढ़ गये। अतः अनाज का निर्यात रोकना पड़ा।

(४) जापान भी आर्थिक संकट में फँस जाने से अधिक माल नहीं मंगा सकता था।

(५) भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ा देने (१ शि० ६ पेंस से बढ़ा कर २ शि० कर दिया गया) से भारतीय निर्यात पर बुरा असर पड़ा।

(६) स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ होने से विदेशी माल का बहिष्कार होने लगा, जिससे इङ्गलैंड से आने वाले माल में कमी हो गई और भारतीय उद्योगों की प्रगति हुई।

इस प्रकार हमारा निर्यात व्यापार कम हुआ, किन्तु उधर आयात व्यापार में वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण जो आयात रुका हुआ था, वह अब सुगमता से होने लगा। रुपये का विदेशी विनिमय बढ़ जाने से भी आयात को प्रोत्साहन मिला और विदेशों से तैयार माल अधिकाधिक मात्रा में आयात होने लगा। सन् १६२०-२१ में भारत के निर्यात से आयात ७६·८ करोड़ रुपये का अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदली और सन् १६२२-२३ तक निर्यात आयात अपनी सामान्य स्थिति में पहुँच गये। योरोपीय मुद्राओं में अब स्थिरता आ गई थी और योरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो गया था, जो कि सन् १६२६ तक सन्तोषजनक रही।

विश्व मन्दी का काल सन् १६२६-३५—

सन् १६२६ में विश्व-व्यापी मन्दी आरम्भ हो गई। विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से विदेशी व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध (निर्यात प्रतिबन्ध, ऊँची दरें तथा कोटा पद्धति) लगाना शुरू कर दिये। दुनियाँ के विदेशी व्यापार की मात्रा घटने लगी। भारत कृषि प्रधान देश था और कृषि पदार्थों का मूल्य अधिक गिरा था, अतः भारत के विदेशी व्यापार को विशेष हानि हुई। सन् १६२६-३० में हमारा कुल निर्यात ३१८ करोड़ रुपए का ही हुआ, पिछले वर्ष के निर्यात से यह २० करोड़ रुपए से कम था। जब इसी काल में आयात २५० करोड़ रुपे का था। यह आयात पिछले वर्ष के आयात से १५ करोड़ रुपये कम का था। सन् १६३१-३२ में जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ा तब सारा सोना अमेरिका,

फ्रान्स आदि देशों को जाने लगा। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। भारत से सोना अत्यधिक मात्रा में (चूँकि उसकी कीमत में वृद्धि हो गई थी) विदेशों को जाने लगा, किन्तु फिर भी हमारे निर्यात-आयात व्यापार में कोई लाभ नहीं हुआ। पिछले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष निर्यात-व्यापार में ६५ करोड़ रुपये की कमी हुई। इसी प्रकार आयात व्यापार में भी ४३ करोड़ रुपए की कमी हुई। इस काल में विदेशी व्यापार की बाकी ३०'५६ करोड़ रुपए से भारत के पक्ष में रही। निर्यात व्यापार के मूल्य में कमी होने का मुख्य कारण कृषि वस्तुओं की कीमतों में कमी होना था। सन् १९३२-३३ में जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्णमान पद्धति को छोड़ा तो विश्व के देशों में आर्थिक सुरक्षा आन्दोलन की एक लहर सी चल पड़ी, जिसका असर भारत पर भी पड़ा। विश्व के प्रमुख देशों ने मिलकर अपने आपको कई व्यापारिक सङ्गठनों में बाँटा, किन्तु भारत अपनी पराधीनता के कारण किसी भी सङ्गठन में सम्मिलित होने में असमर्थ रहा। फिर भी इस वर्ष भारत के आयात २५ करोड़ रुपए से बढ़े और निर्यात २५ करोड़ रुपए से कम हुए और व्यापारिक शेष १'०६ करोड़ रुपये रहा। आयात में वृद्धि होने का एक मात्र कारण देश में राजनैतिक स्थिति में सुधार तथा भारत का ब्रिटेन के साथ पहिला व्यापारिक (ओटावा) समझौता होना था। इस वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका से हमारा व्यापार कम हुआ, किन्तु इङ्गलैंड के साथ हमारे व्यापार में वृद्धि हुई।

सन् १९३३-३४ में हमारे व्यापार में कुछ प्रगति हुई। निर्यात १३६'०७ करोड़ से १५०'२३ करोड़ रुपये तक पहुँच गया और आयात में १७ करोड़ रुपये की कमी हो गई। विश्व-मन्दी का प्रभाव सन् १९३२-३३ तक रहा। सन् १९३३-३४ से स्थिति में सुधार होने लगा। इसका मुख्य कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों ने अपनी आर्थिक मन्दी का सुधार करने की योजनायें कार्यान्वित की। भिन्न-भिन्न देशों में कच्चे माल की उत्पत्ति पर नियन्त्रण लगाये गये, युद्ध के भय के कारण शस्त्रों पर अन्धाधुन्ध व्यय होने लगा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने जो ओटावा पैक्ट किया, उससे भारत के विदेशी व्यापार को थोड़ा लाभ हुआ। सन् १९३४ में भारत-जापानी व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गये।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व विदेशी व्यापार की विशेषतायें—

(१) भारत विदेशों से मुख्यतः पक्का माल मँगवाता था, जिसमें वस्त्र, लोहे का सामान, यन्त्र, घड़ियाँ, चमड़े का सामान, शीशे का सामान, मोटरें, साइकिल, कपड़ा, सीने की मशीनें, बिसात-खाने का सामान, तेल, साबुन, दवाइयाँ, कागज, शक्कर, दियासलाई मुख्य था। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, भारत में कारखाने स्थापित होते गये, जिससे पक्के माल का आयात कम होता गया। सन् १९२० तक भारत अपने कुल आयात का ८४% पक्का माल विदेशों से मँगवाता था। इसके उपरान्त सरकार ने धन्धों को संरक्षण देने की नीति स्वीकार की। फलस्वरूप वस्त्रों के

उद्योग, दियासलाई, शक्कर तथा लोहे के धन्धे को संरक्षण प्राप्त हुआ। परन्तु जब ये धन्धे देश में स्थापित हो गये तो विदेशों से पक्के माल का आयात कम हो गया।

(२) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता यह थी कि भारत मुख्यतः खेती की पैदावार तथा औद्योगिक कच्चा माल विदेशों को निर्यात करता था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत अपने निर्यात का ७०% भोज्य पदार्थ और कच्चे माल के रूप में भेजता था। प्रथम युद्ध के बाद पक्के माल के प्रतिशत में थोड़ी सी वृद्धि हुई, फिर भी ६४% निर्यात भोज्य पदार्थों और कच्चे माल के रूप में ही होता था। यह स्थिति महायुद्ध आरम्भ होने तक रही। इससे स्पष्ट है कि भारत अपने कच्चे माल का उचित उपभोग नहीं करता था।

(३) जहाँ भारत विदेशों से बहुत प्रकार की तैयार वस्तुएं मंगवाता था वहाँ भारत के निर्यात कुछ ही मालों तक सीमित थे, जैसे—जूट, कपास, अनाज, तिलहन, खालें और चाय आदि।

(४) भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहता था, क्योंकि भारत अधिकतर जितने रुपये का माल विदेशों को भेजता था उससे कम रुपयों का माल विदेशों से मँगवाता था।

द्वितीय महायुद्ध काल में (सन् १६३६-४५)—

सन् १६३६ में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो हमारे विदेशी व्यापार पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण कीमतें बढ़ने लगीं और भारतीय कच्चे माल की विदेशों में माँग बढ़ने लगी। इससे हमारा निर्यात बढ़ गया। जहाँ सन् १६३८-३६ में केवल १६३ करोड़ रुपये का माल निर्यात किया गया वहाँ सन् १६३६-४० में २४० करोड़ रुपए का निर्यात हुआ। इसी प्रकार युद्ध काल में माल की कीमतों में वृद्धि होने के डर से व्यापारियों की अधिक मात्रा में माल खरीदकर एकत्र करने की प्रवृत्ति से आयात में वृद्धि हुई। जहाँ सन् १६३८-३६ में १५२ करोड़ रुपयों का आयात हुआ वहाँ सन् १६३६-४० में यह मात्रा १६५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। इस प्रकार इस वर्ष भारत की व्यापार की बाकी ३८·६३ करोड़ रुपये रही, किन्तु सन् १६४०-४१ में यह पुनः ३० करोड़ रुपये ही रह गई। इसका कारण यह था :—

(१) शत्रु राष्ट्रों के साथ हमारा व्यापार बन्द हो गया तथा निर्यात और आयात पर राज्य का नियन्त्रण हो गया। किसी भी प्राइवेट व्यापार को सरकार द्वारा विदेश को आयात या निर्यात करने के लिए आज्ञा-पत्र देने की पद्धति समाप्त की गई।
(२) जहाजों की कमी तथा किराये में वृद्धि होने से हमारे आयात निर्यात पर काफी प्रभाव पड़ा। जर्मनी की यू-बोटों ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों को डुबा कर बहुत अधिक हानि की। बहुत से जहाज केवल सेना-सम्बन्धी सामान ढोने के ही काम में लाये जाते थे, अतः नागरिक व्यापार के लिये जहाजों की कमी होना स्वाभाविक था। इटली से युद्ध छिड़ जाने के कारण भूमध्यसागर व्यापार के लिए सुरक्षित नहीं रहा। इस वर्ष युद्ध के कारण फ्रांस की स्थिति भी बहुत कमजोर हो गई। उनके जो जहाज व्यापार

(२) युद्ध काल मे भारत का व्यापार ब्रिटिश साम्राज्य से तथा मध्य-पूर्वी देशो से ही अधिक रहा। आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिस्र, ईराक तथा मध्य-पूर्व के देशो से भारत का व्यापार बहुत बढ गया। सन् १६४३ और सन् १६४४ ४५ में ईरान और बहरीन टापू से हमारे यहाँ ३१ करोड और ५३ करोड रुपये का मिट्टी का तेल आया। सन् १६४४-४५ मे संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का व्यापार ६५ करोड़ रुपए का था, जबकि ब्रिटेन के साथ केवल १०५ करोड रुपए का व्यापार हुआ।

(३) युद्ध काल मे भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहा, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :—

करोड रुपयो मे

	व्यापारिक शेष		व्यापारिक शेष
१६३८–३६	+१७·५	१६४२–४३	+८४
१६४०–४१	+४२·०	१६४३–४४	+६२
१६४१–४२	+८०·०	१६४४–४५	+४२

निर्यात नियन्त्रण—

युद्ध काल मे आयात और निर्यात पर सरकार का नियन्त्रण था, जो अब तक चला आ रहा है। जब तक युद्ध चलता रहा, विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का उद्देश्य यही रहा कि युद्ध संचालन में सरकार को अधिकतम सहायता मिले। यातायात और निर्यात दोनो पर नियन्त्रण लगाए गये। निर्यात पर जो नियन्त्रण थे उनका उद्देश्य:—(i) शत्रु राष्ट्रों को माल भेजने पर रोक लगाना, (ii) कुछ चीजो को जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको भी भेजने से मना करना, (iii) कुछ चीजें जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको लाइसेन्स द्वारा ही माल भेजने की स्वीकृति देना और कुछ देशों को कुछ चीजें बिना लाइसेन्स या मुक्त लाइसेन्स (O. G. L.) के अन्तर्गत भेजने की स्वीकृति देना। मार्च सन् १६४० से विदेशी विनिमय पर सरकार का नियन्त्रण होने से निर्यात पर भी नियन्त्रण हो गया। जब तक निर्यात से मिलने वाले विदेशी विनिमय का सरकार के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमो के अनुसार उपयोग करने का प्रमाण-पत्र पेश नही किया जाता था तब तक निर्यात करने की स्वीकृति नही दी जाती थी। इसका प्रयोजन यही था कि निर्यात के कारण जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उस पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रह कर वह युद्ध कार्य में उपयोगी हो सके।

आयात नियन्त्रण—

युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् आयात पर नियन्त्रण किया गया। शुरू-शुरू में मित्र राष्ट्रों को छोड कर किसी भी देश से माल मँगाने की पूरी स्वतन्त्रता नही थी। पहले ऐसी वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये गये, जिनका उपभोग बिना कठिनाई के कम किया जा सकता था अथवा जिनका प्रयोग देश में निर्मित वस्तुओ द्वारा ही किया जा सकता था अथवा ऐसे देशो से आयात किया जाता था,

जहाँ विदेशी विनिमय की समस्या इतनी विकट नहीं थी। आयात नियन्त्रणों का मुख्य उद्देश्य यह था:—(१) विदेशों से आयात में दी जाने वाली रकम का अभाव किया जा सके। (२) जहाजों को संख्या में किफायत की जा सके, जिससे युद्ध सामग्री अधिक ले जाई जा सके और (३) अधिक से अधिक युद्ध सामग्री का उत्पादन करने में मित्र राष्ट्र समर्थ हों। मई सन् १६४० में विदेशी विनिमय और खास तौर से दुर्लभ मुद्रा के संचय की दृष्टि से आयात के लाइसेन्स देने की व्यवस्था चालू की गई। आयात लाइसेंस प्राप्त किए बिना विदेशों को माल का भुगतान करने पर रिजर्व बैंक ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। मई सन् १६४० में ६८ वस्तुओं के आयात पर नियन्त्रण लगाया गया। बाद में यह संख्या बराबर बढ़ती गई। जनवरी सन् १६४२ तक लगभग आयात की सब वस्तुओं पर नियन्त्रण लगाया गया।

इस प्रकार युद्ध काल मे कन्ट्रोलरों की आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी व्यापारी न तो कोई वस्तु विदेशों को भेज सकता था और न मँगवा ही सकता था। व्यक्तिगत व्यापारियों को जाँच-पड़ताल के बाद ही लाइसेंस दिया जाता था। तटस्थ राष्ट्रों मे बहुत सी फर्मों का नाम काली सूची मे रख दिया गया, जिन पर यह सन्देह था कि उनके द्वारा वस्तुयें शत्रुओं को पहुँच सकती थी, उन फर्मों से व्यापार करने को मनाई थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, ये नियन्त्रण तथा बन्धन और भी कठोर होते गये, अस्तु सरकारी नियन्त्रण की कड़ाई अथवा ढिलाई का सीधा प्रभाव हमारे आयात-निर्यात पर पड़ता था। जब नियन्त्रण ढीला होता था तो विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ जाती थी और अगर नियन्त्रण कठोर होता तो मात्रा कम हो जाती थी।

युद्धोत्तर काल (सन् १६४५-६१)—

भारत के युद्धोत्तर विदेशी व्यापार की विशेषता थी कि हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे विपक्ष मे रहा। इसका प्रमुख कारण खाद्यान्नों की कमी होने से खाद्यान्न का अधिक मात्रा मे आयात होना था। साथ ही, युद्ध काल मे उपभोक्ता वस्तुओं का देश में अकाल होने से सरकारी आयात नीति मे उदारता आते ही उनका सुलभ मुद्रा वाले देशों से भारी मात्रा मे आयात होने लगा। फलस्वरूप सन् १६४४-४५ से सन् १६४६-४७ के तीन वर्षों में हमारा व्यापारिक सन्तुलन क्रमशः २·६६, २४·७१ तथा ५१·२ करोड़ रुपए से हमारे विपक्ष मे था। यही स्थिति सन् १६४७ और सन् १६४८ में थी, जिन वर्षों में हमारा व्यापारिक शेष क्रमशः ५१·२ करोड़ तथा १०२·७ करोड़ रुपए से भारत के प्रतिकूल रहा। परन्तु सन् १६४६-४७ मे विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन के कारण हमारे सामने कोई गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई। क्योंकि हमारे पौंड पावने को दूसरे देशों की मुद्रा में बदलने पर कोई प्रतिबन्ध न होने से उसका उपयोग इस विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन को ठीक करने मे कर सकते थे। परन्तु सन् १६४८ के प्रारम्भ मे ही स्टर्लिंग प्रदेश के केन्द्रीय कोष मे कमी आ जाने के कारण यह प्रतिबन्ध लग गया। सन् १६४६ के मई के महीने तक हमारी स्थिति और भी

बिगड़ गई। विदेशी व्यापार सम्बन्धी इस बिगड़ती हुई स्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान गया। उसने सन् १९४९ में आयात के बारे में जुलाई सन् १९४८ में जो उदार नीति स्वीकार की थी उसे रद्द करके अब कड़ी नीति बरतने का निर्णय किया मई सन् १९४९ में ४०० वस्तुओं के खुले साधारण लाइसेंस के बजाय थोड़ी वस्तुओं को खुले साधारण लाइसेंस की श्रेणी में मन्जूर किया। जून सन् १९४९ में दुर्लभ मुद्रा प्रदेश में आयात की स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। जुलाई सन् १९४९ में लन्दन में कामनवैल्थ के वित्त मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ, उसमें दुर्लभ मुद्रा प्रदेशों से सन् १९४८ के मुकाबले में २५% आयात में कमी करने का निश्चय किया गया और भारत ने इस निश्चय को मन्जूर किया। भारत-इङ्गलैंड के बीच आर्थिक समझौते पर जब अगस्त सन् १९४९ में विचार किया गया तब फिर आयात पर और अधिक नियन्त्रण करने का निश्चय किया गया।

एक तरफ तो आयात को कम करने के प्रयत्न किये गये तो दूसरी ओर निर्यात को बढ़ाने का भी सरकार ने प्रयत्न किया। सन् १९४९ की जुलाई में निर्यात प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की गई, जिसने देश के निर्यात बढ़ाने सम्बन्धी कई सिफ़ारिशें कीं। जैसे—(१) निर्यात कर हटायें जायें, (२) निर्यात माल सम्बन्धी अत्यधिक सट्टे पर नियन्त्रण किया जाय, (३) निर्यात होने वाले माल का देश में उत्पादन बढ़ाया जाय। सरकार ने कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप आयात पर रोक लग गई और निर्यात में थोड़ा सुधार हुआ, पर सन् १९४९ में फिर भी विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष में हो रहा। इसके बाद हमारी स्थिति सुधरने लगी और सन् १९५० में कई वर्षों के बाद पहली बार विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा। इस सुधरती हुई स्थिति के मुख्य कारण रुपये का अवमूल्यन, निर्यात को प्रोत्साहन, निर्यात की वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमतें तथा कोरिया युद्ध के कारण उत्पन्न हमारे माल की युद्ध की तैयारी की दृष्टि से बढ़ती हुई माँग है। नीचे की तालिका में युद्ध के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति बताई गई है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	व्यापार का सन्तुलन
१९४६	३१६·३८	३०५·७१	६६२·०९	— १०·६७
१९४७	४४५·८१	४०८·२४	८५४·०५	— ३७·५८
१९४८	५४२·९१	४२३·३८	९६६·२३	—११९·५३
१९४९	५६०·५१	४८५·८०	१,०४६·३१	— ७४·७१
१९५०	५६५·४६	५८५·८८	१,१५१·३४	+ २०·४२
१९५१	३८४·००	४०८·००	८०२·००	+ ३४·००
१९५२	८६२·२५	७१५·५५	१,५७७·८०	—१४६·७०
१९५३	६३२·९५	५५६·७८	१,१८९·७३	— ७६·१७

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सन् १९४६ और सन् १९४७ के पहले सात महिनों में भारत सरकार ने नरम नीति का पालन किया। दुर्लभ मुद्रा के बारे में भी सरकार की नीति नरम ही रही, लेकिन अगस्त सन् १९४७ के बाद सरकारी नीति में कड़ाई हो गई, यहाँ तक कि भारत व इङ्गलैंड के बीच हुए समझौते (जनवरी-जून सन् १९४८) के अनुसार हमारे पौंड पावने के कोष में से जो पौंड पावने की रकम खर्च करने के लिए हमें मिली थी वह भी हम खर्च न कर सके। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से आने वाले माल के बारे में विशेष कड़ी नीति बरती गई। डालर क्षेत्र से कुछ माल के आयात को बिल्कुल ही रोक दिया गया। उन पूँजी पदार्थों के आयात को भी स्वीकृति नहीं दी जाती थी, जो इङ्गलैंड में उपलब्ध थे। परिणामस्वरूप देश में माल की तङ्गी आ गई और आयात बहुत गिर गये। आयात सम्बन्धी इस कड़ी नीति का कारण डालर की कठिनाई को हल करना था, पर उसका प्रभाव मँहगाई बढ़ने में हुआ। यह वह समय था जब देश के विभाजन के फलस्वरूप देश में बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी। यातायात की कठिनाई के कारण उत्पादन घट रहा था और नियन्त्रण हटाने की नीति का प्रयोग किया जा रहा था। इन सब बातों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि देश में माल की हर तरह से कमी हो गई और थोक कीमतों का मूल्यांकन जो नवम्बर सन् १९४७ में ३०२ था वह सन् १९४८ की जुलाई में ३८९.६ हो गया।

आयात में नरम नीति बरतने का यह उपयुक्त समय था। इस विपरीत अनुभव के कारण जुलाई सन् १९४८ में भारत सरकार की आयात नीति में फिर से नर्मी आई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत आने वाली चीजों की संख्या में काफी वृद्धि की गई और वह ४०० के लगभग पहुँच गई। कई चीजें जिनका आयात बिल्कुल बन्द था उनको उस श्रेणी से हटा लिया गया। इस नीति से हमारा आयात बहुत बढ़ गया और व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष में जाने लगा। यद्यपि मँहगाई पर इसका अच्छा असर हुआ, पर विदेशी विनिमय की कठिनाई हमारे सामने उपस्थित हुई। जो पौंड पावना हम पहले खर्च नहीं कर पाते थे वह सब खर्च हो गया और इसके अलावा जितना हमने कमाया था उससे कहीं अधिक स्टर्लिङ्ग और डालर हमने खर्च किये। फलतः फरवरी सन् १९४९ में भारत सरकार की आयात-निर्यात नीति में फिर कठोरता आ गई। डालर प्रदेश से आयात कम करने की कोशिश की गई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत आने वाली चीजों की संख्या बहुत कम कर दी गई। एक अगस्त सन् १९४९ से भारत इङ्गलैंड के बीच में फिर आर्थिक समझौते में संशोधन हुआ और इङ्गलैंड ने भारत को जो डालर का घाटा हो रहा था उसे पूरा करने का वचन दिया। इसके बदले में भारत राजाज्य डालर निधि का सदस्य बन गया। सरकार ने अपनी आयात नीति को फिर कड़ा करने का निश्चय किया। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत वस्तुओं की संख्या अब केवल २० ही रह गई। सितम्बर सन् १९४९ में जो आयात नीति सरकार ने घोषित की, उसके अनुसार आयात को तीन श्रेणियों में बाँटा गया:—

(१) वे चीजें जिनके लिए साधारण लाइसेंस नहीं दिये जावेंगे।

(२) वे चीजें जिनके लिए एक निश्चित परिमाण के आधार पर लाइसेंस दिए जायेंगे।

(३) वे चीजें जिनका समय-समय पर लाइसेंस दिया जा सकेगा, बशर्ते कि उनके आयात का हर समय उचित कारण बताया जा सके। दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात करने की स्वीकृति तभी दी जाती थी जबकि स्टर्लिङ्ग प्रदेश में वह या उसकी जगह काम में आने वाला दूसरा माल न मिले। अगर किसी चीज की आयात की व्यवस्था किसी द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते में की जा चुकी है तो उसको दूसरी जगहों से आयात करने की स्वीकृति दी जा सकती थी।

रिजर्व बैंक ने जनवरी सन् १९४८ से अनाधिकृत आयात का भुगतान करने के लिए विदेश को रुपया भेजने की जो सुविधा दे रखी थी वह भी अब वापस ले ली गई। इसके बाद भी जैसी-जैसी आवश्यकता पड़ी, अलग अलग चीजों के आयात के बारे में कुछ फेर फार होता रहा, पर मूल नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस बीच रुपये का भी सितम्बर सन् १९४९ में अवमूल्यन हो चुका था और इसका हमारे विदेशी व्यापार के सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ रहा था।

भारत सरकार की निर्यात नीति पहले तो प्रतिबन्धात्मक थी, परन्तु जब विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगड़ने लगा और विदेशी विनिमय की तङ्गी आ गई तो भारत सरकार की नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की हो गई। बढ़ी हुई कीमतें, बढ़ी हुई देश के अन्दर की मांग और देश का विभाजन हमारे निर्यात व्यापार में बाधक हुए, परन्तु भारत सरकार ने इन सब बाधाओं के बावजूद भी सन् १९४८-४९ में निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति जारी रखी। कई चीजों को नियन्त्रण से मुक्त किया गया और बहुतों को आसानी से लाइसेंस मिलने वाली श्रेणी में ले लिया गया। इन सबके बावजूद भी सन् १९४९ के पहले ६ महीनों में हमारे निर्यात व्यापार की स्थिति पहले से भी गिर गई। जुलाई सन् १९४९ में भारत सरकार ने निर्यात व्यापार प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की।

सन् १९५०-५१ में आयात नीति में फिर परिवर्तन हुआ। सामान्य लाइसेंस प्रणाली (O. G. L. X.) जिसके अनुसार पाकिस्तान से आयात की अनुमति दी गई था, सितम्बर सन् १९४९ में रद्द कर दी गई, परन्तु अब पाकिस्तान से पुनः व्यापार लागू किया गया। उद्योगों को कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करने के लिए बहुत सी वस्तुओं के लिए दीर्घकालीन आयात नीति बनाई गई। खाद्यान्न और कच्चे माल इत्यादि के लिए सामान्य लाइसेंस २० और २१ लागू किये गये, क्योंकि प्रतिबन्धित आयात नीति से देश को हानि पहुंच रही थी। इसलिए उनमें संशोधन किया गया और आयात के प्रति उदार नीति अपनाई गई। सामान्य लाइसेंस २३ में लोहा तथा इस्पात, तारों के रस्से, पीतल के सामान, तांबे का तार, बोतल, लिखने का कागज इत्यादि शामिल करके फ्री लाइसेंस देने का क्षेत्र बढ़ गया।

आयात नियन्त्रण जाँच समिति] की सिफारिशों के अनुसार आयात नियन्त्रण में काफी सुधार किया गया है। जाँच समिति का मत है कि आयात नियन्त्रण का आधारभूत उद्देश्य हो कि उतना ही आयात किया जाय जितनी विदेशी मुद्रा है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों का कृषि तथा उद्योग के लिए और उपभोक्ताओं की आवश्यकता को पूरी करने के लिए आवश्यक वस्तुओं में समान रूप से वितरण हो। विशेष वस्तुओं की कीमतों के उतार-चढ़ाव पर नियन्त्रण रखा जाय। समिति ने सुझाव दिया है कि व्यावसायिक वस्तुओं का ४०० करोड़ रुपए तक आयात किया जाना चाहिए, जो शान्ति काल का निम्नतम स्तर है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों की दृष्टि से समिति ने आयात को ६ भागों में विभाजित किया है।

सरकार ने समिति की आम सिफारिशों को मान लिया है, परन्तु ४०० करोड़ रुपए की सीमा को स्वीकार नहीं किया है। साथ ही, सरकार ने अपनी आयात नीति के आधारस्वरूप आयात के ६ नहीं, किन्तु सुविधा की दृष्टि से कम भाग किये हैं। समिति की सिफारिशों के आधार पर आयात लाइसेंस प्रणाली को सरल बनाया गया है और व्यर्थ समय नष्ट होने से बचने के लिए यह व्यवस्था की गई कि—(अ) पहले जितने लाइसेंस दिये गये थे अब उसके कई गुने लाइसेंस दिये जायेंगे। (ब) लाइसेंस ...यों का विकेन्द्रीयकरण किया गया है। अब बन्दरगाह वाले शहरों से आयात लाइसेंस ...प्त किया जा सकता है। चुङ्गी अधिकारियों को व्यापक अधिकार दिये गये हैं। (स) चुङ्गी अधिकारियों तथा आयात नियन्त्रण अधिकारियों के कार्यों में सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अतीत में चुङ्गी अधिकारी आयात लाइसेंस देने वाले अधिकारियों द्वारा किये गये सामान के वर्गीकरण को सदैव स्वीकार नहीं करते थे। इसमें इस कार्य में काफी देर लग जाती थी और व्यापारियों को हानि होती थी। परन्तु वित्त और वाणिज्य मन्त्रालय के बीच उचित सम्बन्ध करने से और चुङ्गी अधिकारियों की सहायता के लिए बन्दरगाह सलाहकार समिति नियुक्त करने से स्थिति काफी सुधर गई है। इससे व्यापारियों का कार्य बहुत कुछ आसान हो गया है।

आयात नीति की आलोचना—

(१) सरकार की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं है। वस्तुओं के वर्गीकरण, आयात नियन्त्रण अनुसूची और अनेक सामान्य लाइसेंसों के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं में बार-बार परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन करते समय व्यापारियों के हित का ध्यान नहीं रखा जाता। परिवर्तनशील विश्व में समय के अनुसार सरकार को भी अपनी आयात नीति बदलनी चाहिए, परन्तु इस कारण सरकार की आयात-नीति में किसी प्रकार की अनिश्चितता और दुर्बलता नहीं आनी चाहिए। सरकार ने लाइसेंस की अवधि ६ महीने से बढ़ाकर एक वर्ष कर दी है। साथ ही, सरकार ने कुछ आयात-कर्ताओं के लाइसेंस की निर्धारित अवधि को बढ़ाया है, परन्तु इससे स्थायी आयात नीति का जन्म न हो सका। वास्तव में उपभोक्ताओं और उत्पादकों के हितों की तभी रक्षा की जा सकती है जब आयात नीति स्थायी हो।

(२) आयात नीति देश के उपलब्ध विनिमय साधनो के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसके निर्धारण मे देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के आधार पर विचार नहीं किया जाता। आय और भुगतान में सन्तुलन स्थापित करने की नकारात्मक नीति उपयुक्त नही है। वास्तव में ऐसी ठोस नीति की आवश्यकता है जो उद्योग की आवश्यकताओ का विदेशो से प्राप्त होने वाली मशीनो इत्यादि से उचित सम्बन्ध स्थापित करे और जिसका उद्देश्य भारतीय उद्योग के लिए अधिक मशीनें और कच्चा माल प्राप्त करना हो।

(३) आवेदन पत्रो पर शीघ्र कार्यवाही करने के लिए, कार्य की विधि को अधिक सरल बनाने के लिए और आयात नियन्त्रण अनुसूची का अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से वर्गीकरण करने के लिए अभी काफी सम्भावना है। जो आयात लाइसेंस आयातकर्त्ता द्वारा स्वयं माल खर्च मे लाने के लिए दिये जाते हैं, उनका दुरुपयोग किया जाता है। आयातकर्त्ता सामान को स्वयं खर्च मे नही लाता, परन्तु बाजार में बेच देता है। नये आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिये जाते हैं, उनका उचित उपयोग नही होता। यद्यपि इन तीन प्रकार के आयातकर्त्ताओं के हितो की रक्षा करने के निमित्त लाइसेंस प्रणाली में सुधार किया गया है, परन्तु इस दिशा मे अभी बहुत सुधार करने की आवश्यकता है।

(४) कच्चे माल का आयात कर सकने वाले वास्तविक आयातकर्त्ताओ का कार्य सरल करने के लिए इन्हे लाइसेंस देने की आवश्यकता है और आयात व्यापार मे प्रतियोगिता की भावना बनाये रखने के लिए नये आयातकर्त्ताओ के लिए विदेशी माल का कोटा निश्चित कर देना चाहिए। वास्तव मे पुराने आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिया जाना चाहिए, क्योंकि उनको इसका अनुभव है और इस कार्य को करने के लिए उपयुक्त सङ्गठन भी है, परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तीनो प्रकार के आयातकर्त्ताओ के हित परस्पर न टकराएँ और उनमे उचित सन्तुलन स्थापित हो।

निर्यात नीति—

कमेटी की सिफारिशो के अनुसार कई चीजें जिनका निर्यात मना था, लाइसेन्स के बाद निर्यात होने वाली वस्तुओ की श्रेणी में आ गई। खुले साधारण लाइसेन्स के अन्तर्गत, जो बिना लाइसेन्स के सब देशो को निर्यात की सुविधा देता है, चीजो की संख्या बढ गई। लाइसेंस देने की पद्धति को पहले से सरल बनाने का प्रयत्न किया गया और व्यापार मन्त्रालय से ही निर्यात लाइसेन्स मिलने की व्यवस्था की गई। पहले जो खाद्य पदार्थ के लाइसेंस खाद्य मन्त्रालय से मिलते थे वे अब व्यापार मन्त्रालय से मिलने लगे। जो कर निर्यात मे बाधक थे उन्हे कम किया गया या हटाया गया। कोरिया के युद्ध के कारण आगामी युद्ध की तैयारी की दृष्टि से दुनियाँ के देशो ने कच्चे माल का सचय करना शुरू किया, उसका भी निर्यात पर असर पडा। इन सब कारणो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि हमारे निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई और सन् १९५०-५१ मे गत महायुद्ध के बाद पहली बार व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में हुआ, किन्तु सन् १९५१-५२ में यह फिर उल्टा हो गया। इस वर्ष हमने ७६३ करोड़ रुपए का माल

निर्यात किया और ८५० करोड़ रुपये का आयात किया, इस वर्ष हमें ८७ करोड़ रु० का घाटा रहा।

सन् १९५२ में देश से अधिक निर्यात व्यापार हो सके, इसके लिए निर्यात कर में कमी कर दी गई। टाट पर प्रति टन निर्यात कर घटाकर २७५ रुपये और बोरों पर केवल १७५ रु० कर दिया गया। इसी प्रकार मूंगफली के तेल, जीरा, कच्चे ऊन पर से तो निर्यात कर बिल्कुल ही हटा दिया गया तथा अलसी के तेल और तम्बाकू पर निर्यात कर में यह कमी की गई। बंगाली देशी कपास पर यह कर ४०० रु० प्रति गाँठ से घटाकर २०० रु० कर दिया गया और अन्त में यह कमी १२५ रु० तक हो गई। तैयार कपड़े पर १ जनवरी सन् १९५३ से मूल्य के अनुसार यह कर २५% से घटाकर १०% कर दिया गया।

निर्यात व्यापार की वृद्धि के लिए लाइसेन्स प्रणाली में ढिलाई बरतना प्रारम्भ किया गया। पहले जिन वस्तुओं के निर्यात के लिए विशेष प्रमाण नियत था अब अधिकतर खुले लाइसेन्स में आ गई। अस्तु सूती वस्त्र, जूट के वस्त्र, सूती सूत और कच्चा ऊन आदि अपरिमित मात्रा में निर्यात किये जाने लगे। इस प्रकार अब ९०% वस्तुओं के निर्यात पर ढीलापन हो गया।

इसके अतिरिक्त इस बात की भी कोशिश होने लगी कि देशी निर्मित माल भी अधिक मात्रा में निर्यात किया जावे। बिजली के पंखे, मीनाकारी के सामान, अल्यूमीनियम के बर्तन, दवाइयाँ, साबुन, कपड़े धोने का सोडा, हाथ का बना कागज, प्लाइवुड की पेटियाँ, फर्नीचर, घड़ियों आदि के निर्यात पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। ऐसी वस्तुओं का निर्यात भी किया जा सकता था जिसमें विदेशी आयात की हुई मशीनें लगाई गई हैं। टायर व ट्यूब के अलावा अन्य प्रकार के रबड़ के सामान पर भी छूट दी गई।

भारत सरकार ने सन् १९४९ में गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की और उसकी निम्न सिफारिशों को कार्यान्वित किया :—

(१) जूट तथा अन्य वस्तुओं के सट्टे को रोक दिया, जिसकी प्रवृत्ति जुए में गतिशील होती थी।

(२) निर्यात नियन्त्रणों में, विशेषकर निर्मित वस्तुओं से सम्बन्धित उदारता कर दी गई और लाइसेन्सों का तरीका सरल कर दिया गया। कोटे की समाप्ति तक नियत कोटे के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओं का निर्यात होता था।

(३) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के निर्माण के लिए नियन्त्रित कच्चा माल, पैकिंग का सामान और यातायात की सुविधाएं दी गई थी।

(४) इस बात का विश्वास दिलाने के लिए प्रबन्ध किए गये थे कि भारतीय वस्तुओं में कोई शिकायत न हो और यदि कोई हुई तो उस पर तत्काल कार्यवाही की जायगी।

(५) यदि आवश्यकता हुई तो सरकार निर्यात [illegible] ओ के आधार [illegible] करेगी। निर्यात होने वाली वस्तुओं पर प्रान्तीय 'विक्री टैक्स भी नहीं [illegible]

सरकार ने निर्यात नियन्त्रण नीति के विषय में राय देने के लिए परामर्शदात्री कौंसिल की स्थापना की। प्रत्येक ६ मास के बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओं के अनुसार वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। घरेलू खपत के लिए आवश्यक कच्चे मालों के निर्यात पर रोक लगा दी गई है।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार काफी प्रयत्नशील है। इस हेतु विदेशों को व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजना और निर्यात बढ़ाने वाली योजनाओं को कार्यान्वित करना, ये विशेष है। साथ ही, निर्यात व्यापार बढ़ाने के लिए स्टेट ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना भी की है और विदेशी जहाजी कम्पनियों की विवेकात्मक भाड़ा नीति की कठिनाइयों दूर करने के लिए भी प्रयत्न किए गए हैं।

पंच-वर्षीय योजना में—

पिछले कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति पर विचार करके उपयुक्त व्यापार नीति निर्धारित करने के लिए पहिली योजना में पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :—(१) योजना से निर्धारित उत्पादन उपभोग के लक्ष्यों को पूरा किया जाय। (२) निर्यात का उच्च स्तर रखा जाय। (३) निर्यात व्यापार को जो घाटा हो उसको देश के विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों से पूरा किया जा सके। (४) निर्यात और आयात को सरकार की वित्त तथा मूल्य सम्बन्धी नीति के अनुकूल किया जाय। और (५) निश्चित व्यापार की नीति निर्धारित की जाय। पंच-वर्षीय योजना की अवधि में भारत के व्यापार पर दो बातों का प्रभाव पड़ेगा :—(अ) कृषि सम्बन्धी कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि और (ब) उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए बड़ी-बड़ी मशीनों और घोषित कच्चे माल की आवश्यकता।

विदेशी व्यापार की वर्तमान दशा—

आजकल भारत का व्यापार विशेष रूप से सीलोन, इटली, नीदरलैंड, कनाडा, मिस्र, पाकिस्तान, जापान, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी, बर्मा, अमेरिका तथा ब्रिटेन इन बारह देशों के साथ है। यह इस बात को संकेत करता है कि विभाजन के पश्चात् हमारे विदेशी व्यापार का ढांचा काफी बदल गया है। फिर भी हमारे विदेशी व्यापार के परिमाण में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है, तथापि हमारे विदेशी व्यापार के मूल्य, स्वरूप एवं दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

सन् १९५८-५९ के बाद भारत का व्यापार संतुलन

(करोड़ रुपये)

वर्ष	आयात (कुल)	कुल निर्यात	व्यापारिक सन्तुलन
१९४८-४९	६४३·८५	४५८·७२	— १८५·१३
१९४९-५०	६४७·६५	५०६·०२	— १४१·६३
१९५०-५१	६५०	६०१	— ४९
१९५१-५२	९७०	७३३	— २३७
१९५२-५३	६६७	५७७	— ९०
१९५३-५४	५६७	५३१	— ३६
१९५४-५५	६५६	५४८	— ६३
१९५५-५६	७०५	६०९	— ९६
१९५६-५७	८३२	६१३·५२	— २१९·९३
१९५७-५८	९९३	६२१·३१	— ३७२·२७
१९५८-५९	८५६·१८	५८०·३०	— २७५·८८
जनवरी जुलाई १९६०	५३०·८९	३५३·०४	— १७७·८५*

भारत के सामने एक भयङ्कर समस्या यह रही है कि भारत में खाद्यान्न की कमी हो गई, जिसको पूरा करने के लिए भारत सरकार को प्रति वर्ष विदेशों से अधिकाधिक मात्रा में अनाज मँगवाना पड़ता है।

युद्ध के पश्चात् से भारत में व्यापारिक सम्बन्धों में क्रमशः बहुत ही परिवर्तन होता जा रहा है। यद्यपि ब्रिटेन का स्थान अब भी बहुत ऊँचा है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इसके बराबर पहुँच गया है। आस्ट्रेलिया, बर्मा, पाकिस्तान, कनाडा और मिस्र का भी हमारे विदेशी व्यापार में अच्छा स्थान बन गया है। युद्ध-काल में भारत का मध्य पूर्व के देशों से जो नया व्यापारिक सम्बन्ध हुआ है उसमें उन्नति की अधिक सम्भावना है। सुदूर-पूर्व से भारत के व्यापार का भविष्य भी उज्ज्वल है। युद्ध के उपरांत हमारे विदेशी व्यापार में एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ कि जहां पहले भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों का भाग अधिक रहता था वहां यह अन्य देशों के लगभग बराबर पहुँच गया है।

भारत के विदेशी वर्तमान व्यापार की विशेषताएँ—

(१) अधिकांश भारतीय व्यापार समुद्र के द्वारा होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत के पड़ोसी देश अफ़ग़ानिस्तान, तिब्बत, मध्य-एशिया बहुत पिछड़े हुए हैं। कलकत्ता, मद्रास, विजगापट्टम, कोचीन, काण्डला और बम्बई भारत के मुख्य व्यापारिक प्रवेश द्वार हैं।

* Commerce—17 Sept. 1960.

(२) हमारे निर्यात व्यापार मे तैयार माल का स्थान बढ़ता जा रहा है। देश के विभाजन से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। इसका मुख्य कारण देश में औद्योगिक उन्नति होना है।

(३) हमारे विदेशी व्यापार मे युद्ध के बाद के वर्षों में जहाँ तक आयात का सम्बन्ध है, कामनवैल्थ राष्ट्रों और इङ्गलैंड का भी अनुपातिक भाग कम हुआ है तथा कामनवैल्थ के बाहर के देशो में, विशेषकर अमेरिका का महत्त्व बढ़ रहा है। इसी प्रकार निर्यात के सम्बन्ध मे भी कामनवैल्थ राष्ट्रों का महत्त्व घट रहा है।

(४) भारत के विदेशी व्यापार का संतुलन बहुत समय तक भारत के पक्ष मे था, किन्तु गत वर्षों से वह भारत के विपक्ष मे है। इसका प्रमुख कारण देश मे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री का आयात अधिक मात्रा में होना है, जैसे—लोहा एवं इस्पात, यन्त्र सामग्री आदि।

इस स्थिति के कारण देश की आयात नीति को गत कुछ वर्षों मे एक विशेष रूप दिया गया है, जिसमे देशी वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। गत वर्षों के आयात के विश्लेषण से स्पष्ट होगा कि ऐसी वस्तुओं के आयात मे कटौती की गई या रुकावट लगाई गई है जिन्हे तैयार करने मे देशी कृषि एवं उद्योग उत्तरोत्तर समर्थ होते जा रहे है। साथ ही, यह प्रयत्न भी किया गया है कि उद्योगो में यथा-सम्भव विदेश से आयात किए गए कच्चे माल की जगह देशी कच्चे माल का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार हमारे आन्तरिक और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओं मे सन्तुलन कायम रखने के लिए देश मे सन् १६५७ के आरम्भ मे पंचसूत्री आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया है।

पंचसूत्री आन्दोलन—*

(१) आयात मे अधिकतम कटौती—आयात मे यथासम्भव अधिकतम कटौती की जा रही है, इससे अल्पावधि मे कुछ कठिनाइयाँ निश्चय ही उपस्थित होगी और कहीं-कहीं आयातो के मूल्य मे वृद्धि होगी। सरकार इस दिशा मे काफी सतर्क है और व्यापक रूप से मूल्य स्तर को यथासम्भव स्थिर रखने के लिए प्रयत्नशील है। आयात नियन्त्रणो मे देशी उत्पादन के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। इञ्जीनियरिंग वस्तुओं, रसायन, दवाइयो, उपभोक्ता एवं उत्पादक वस्तुओं और मध्यम तथा भारी मशीनो के उत्पादन के सम्बन्ध मे इस बात का विशेष ध्यान रखा जायगा।

(२) देशी उत्पादन को प्रोत्साहन देकर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना—इस हेतु यथासम्भव (अ) अधिक पालियो मे काम करने पर, (आ) उपकरणो की वर्तमान क्षमता तक उत्पादन करने मे बढ़ावा देने पर, (इ) वर्तमान उपकरणों को आधुनिकतम अवस्था मे लाने के प्रयत्न पर, (ई) देशी और विदेशी कच्चे मालो,

* आर्थिक समीक्षा - नवम्बर ५, १६५७ पृष्ठ ७, श्री मनुभाई शाह के 'विदेशी व्यापार' पर आधारित।

उपकरणों, पूँजीगत और उत्पादक वस्तुओं का अधिकतम उपयोग करने पर देशी उत्पादन बढ़ाने को प्रेरणा दी जा रही है। उद्यमी ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं जिनका उत्पादन पहिले कभी नहीं हुआ था। उद्योग, व्यापार, उपभोक्ता और सरकार के सहयोग तथा निरन्तर सावधानी के कारण ऐसी वस्तुओं की किस्म में भी सुधार हो रहा है। अनेक विकास समितियाँ, भारतीय प्रमाप संस्था, किस्म निर्माण योजना, निर्यात प्रोत्साहन समिति और उत्पादन से सम्बन्धित सभी संस्थाएँ वस्तुओं के गुणों पर अधिक ध्यान दे रही हैं और उनके प्रमाप निर्धारित किए जा रहे हैं।

(३) निर्यातों का प्रोत्साहन—यह एक प्रत्यक्ष कदम है, क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। इसके विपरीत अन्य चार उपायों से विदेशी विनिमय की बचत होती है। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश में १४ निर्यात प्रोत्साहन समितियाँ काम कर रही हैं। ये समितियाँ अपने प्रतिनिधि मण्डल विदेशों में भेजती हैं तथा विदेशी बाजारों का सर्वेक्षण कर नए बाजारों की खोज करती हैं। निर्यात प्रोत्साहन के लिए सन् १९५७ में एक विदेशी व्यापार बोर्ड की स्थापना भी की गई है, जो निर्यात को प्रोत्साहन देने वाले उपायों पर अपना प्रयत्न केन्द्रित करता है तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही करता है। इसके साथ ही निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए राजकोषीय उपाय भी अपनाये जा रहे हैं, जैसे—निर्मित वस्तुओं के आयात किए गये हिस्सों पर ली गई चुङ्गी की वापिसी। ऐसी चुङ्गियों का सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं से है जिन्हें मँगाने के बाद पुनः निर्यात करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पादन कर वापिस करने की व्यवस्था की गई है, यदि इन वस्तुओं का निर्यात हो। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए एक निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना की गई है तथा विदेशों से व्यापारिक समझौते भी किए जा रहे हैं।

(४) मशीनों और उपकरणों के आयात के सम्बन्ध में स्थगित भुगतान का आधार—इसका सम्बन्ध मशीनों के पुर्जे और मंहगे कच्चे मालों के आयात से भी है। यह योजना अब काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी है और सन् १९५७ के आरम्भ से ही ५ से ७ वर्ष की अवधि के स्थगित भुगतान समझौते लागू हो चुके हैं। इसके अन्तर्गत ३१ अगस्त सन् १९५७ तक ५९·२७ करोड़ रु० की १३७ स्थगित भुगतान योजनाओं पर स्वीकृति दी गई है।

(५) आवश्यक विदेशी ऋण की व्यवस्था—अभी तक भारत में ऋण के साधन निम्न रीति से प्राप्त किए जा रहे हैं—

(अ) योजना बनाम योजना के आधार पर लिखा-पढ़ी द्वारा,

(आ) *द्विपक्षीय समझौतों द्वारा,*

(इ) विभिन्न देशों से राज्य व्यापार निगम के माध्यम से पारस्परिक लाभ समझौतों द्वारा,

(ई) विभिन्न विदेशी नौकरी और साख संस्थाओं द्वारा दिए गए ऋण।

भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक करने के लिए यह पंच-सूत्री कार्यक्रम बहुत ही व्यापक, सामंजस्यपूर्ण एवं एकीकृत नीति के परिचायक हैं, जो निश्चय ही भारत के विदेशी व्यापार की नींव को सुदृढ़ करेंगे।

राजकीय व्यापार निगम—

देश के विदेशी व्यापार मे राज्य द्वारा हिस्सा लेने के लिए मई सन् १९५६ में राज्य व्यापार निगम की स्थापना एक निजी लिमिटेड कम्पनी के रूप मे की गई है। इसका प्रमुख उद्देश्य ऐसी वस्तुओ के भारत से निर्यात और भारत मे आयात को सगठित करना है जिनके सम्बन्ध मे समय समय पर निगम निश्चित करे और इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अन्य सभी कार्य करना है, किन्तु निगम का प्रमुख कार्य व्यापार सम्बन्धी कठिनाइयो और समस्याओ को सुलझाना है, जिससे अनिवार्य आयात की वस्तुएँ मितव्ययिता के साथ मिल सकें और भारत के निर्यातो का क्षेत्र बढ सके। इस निगम के प्रादेशिक कार्यालय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कालीमादा, मछलीपट्टम, विशाखापट्टम, काडला, भावनगर तथा नागपुर मे हैं। इस निगम की निर्यात की प्रमुख वस्तुओ मे कास्टिक सोडा, सोडा एश, जिप्सम, अमोनियम सल्फेट, कच्चा रेशम, मशीन, चावल, सीमेंट, कॉफी, चाय, तम्बाकू, चटाई, हाथ करघा एव हाथ के बने सामान, जूते, पटसन, लोहा और मैगनीज की धातुएँ हैं। अधिकाश निर्यात व्यवसाय रूस, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, अमरीका, इङ्गलैंड, चीन और जापान के साथ तथा आयातो के क्षेत्र मे इङ्गलैंड, अमरीका, युगोस्लाविया, जापान और पाकिस्तान से सौदे किए हैं। निगम को सन् १९५८-५९ मे २ ३९ करोड रु० का लाभ हुआ, जो इसकी सफलता का परिचायक है।[1]

निर्यात जोखिम बीमा निगम—

इस निगम की स्थापना जुलाई सन् १९५७ मे पूर्णतः सरकारी स्वामित्व मे की गई तथा इसने अपना कार्य अक्टूबर सन् १९५७ में आरम्भ किया। यह निगम उस माल का बीमा करता है जो माल भारत से विदेशो को उधार भेजा जाता है और अन्य बीमा कम्पनियाँ जिसका बीमा नही करती। इस निगम ने अपने दूसरे वर्ष मे ६·८७ करोड रु० देनदारी के ३०२ बीमे जारी किए, जबकि पहिले वर्ष में ७·५२ करोड रु० के १४६ बीमे दिए थे। बीमित निर्यातको ने इसी वर्ष १३·७९ करोड रु० के निर्यात घोषित किए, जहाँ गत वर्ष मे २·२१ करोड रु० के घोषित किए थे। इन निर्यातो मे "साख-आधार पर" ७·३५ करोड रु० के निर्यात है, जबकि पिछले वर्ष केवल १·३० करोड़ रु० के ही थे। बीमित निर्यातो में ९७ वस्तुयें ६४ देशो को निर्यात की गई।[2]

निर्यात प्रोत्साहन समिति—[3]

निर्यात प्रोत्साहन के सभी विषयो का विस्तृत अध्ययन करने के लिए फरवरी सन् १९५७ में एक निर्यात प्रोत्साहन समिति नियुक्त की गई थी, जिसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १९५७ में प्रस्तुत हुई। इसमे नीति विषयक निम्न बातो की सिफारिश की गई :—

(१) सभी क्षेत्रो में उत्पादन (विशेषतः कृषि) मे निरन्तर वृद्धि होनी चाहिए।

(२) मूल्यो को प्रतिस्पर्धात्मक स्तरो पर कायम रखा जाय।

(३) घरेलू उपभोग रोक कर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय।

---

1 सम्पदा, मई सन् १९६०।

2 Journal of Trade & Industry, March 1960

3. India 1958, p 356-357.

(४) निर्यात एवं निर्यात बाजारों में विविधता लाई जाय।

(५) निर्यात किये जाने वाले पदार्थों के नये उपयोग पता लगाना और इन नये उपयोगों के अनुकूल ही आन्तरिक उत्पादन का संगठन करना।

उपरोक्त उपायों के द्वारा, कमेटी का यह मत है कि भारत के निर्यात काफी बढ़ जायेंगे और द्वितीय योजना की समाप्ति पर ६१५ करोड़ रु० का जो लक्ष्य रखा गया है उसकी पूर्ति तो होगी ही, लेकिन निर्यात इससे भी अधिक ७०० ७५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो सकते हैं। निर्यात को प्रेरणा देने के लिए कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि निर्यात कर न केवल कम किये जायें, अपितु उनमें बार-बार परिवर्तन भी नहीं होना चाहिए। अन्य सिफारिशें निम्न थीं:—

(१) एकाकी एजेन्सी प्राइवेट या पब्लिक के द्वारा निर्यातों को संगठित किया जाय।

(२) भारत का 'बन्दरगाह से बन्दरगाह का व्यापार' (Entrepot Trade) प्रोत्साहित करना चाहिए।

(३) रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक व्यापारिक बैंकों के द्वारा निर्यात साख सम्बन्धी अधिक सुविधायें प्रदान करें।

(४) विदेशों से व्यापार समझौते किये जायें और ऐसी व्यवस्था कराई जाय कि कुछ में भुगतान रुपयों में भी सम्भव हो।

(५) भारतीय व्यापार कमिश्नरों और अन्य व्यापार अधिकारियों के लिए, जिनकी नियुक्ति विदेशों में की जाय, व्यापार सम्बन्धी विशेष प्रशिक्षा दी जाय।

(६) विदेशों में भारतीय माल का अधिक अच्छा विज्ञापन और प्रचार करना चाहिए। सरकार विदेशी व्यापार की साप्ताहिक पत्रिका निकाले और कोई प्राइवेट संस्था भारतीय आयातकों एवं निर्यातकों की विस्तृत एवं तिथि तक पूर्ण डाइरेक्टरी का प्रकाशन करे।

(७) भारतीय व्यापार में भारतीय जहाजी कम्पनियाँ अधिकाधिक भाग लें, ताकि अप्रत्यक्ष निर्यातों में वृद्धि हो।

(८) निर्यात वस्तुओं की किस्म का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण हो।

(९) निर्यातकों के लिए अनिवार्य रजिस्ट्री की व्यवस्था की जाय, ताकि उनकी अहितकारी प्रवृत्तियाँ बन्द हो जायें।

इन सिफारिशों के अनुसार जून सन् १९५७ में विदेशी व्यापार-सभा का निर्माण हुआ। इसकी शासकीय अभिकर्त्ता के रूप में निर्यातक सम्वर्द्धक निदेशालय की स्थापना भी जून सन् १९५७ में की गई। इसके कार्यालय मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई में हैं। इनके प्रमुख कार्य निम्न हैं :—

(१) अपने-अपने कार्यक्षेत्र में निर्यात-सम्वर्द्धक परिषदों की निर्यात-सम्वर्द्धन क्रियाओं में प्रशासकीय सहायता देना एवं उनमें सामञ्जस्य लाना,

(२) विशेष वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने के लिए ठोस कदम उठाना तथा निर्यातकों का उनके लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता देना, तथा

(३) विदेशी व्यापार की प्रशासकीय एवं कार्य-पद्धति सम्बन्धी कठिनाइयों में सहायता देना।

इसके अलावा निर्यात सम्वर्द्धन के विभिन्न उद्योगो के लिए निर्यात सम्वर्द्धन परिषदो की स्थापना की गई है। ऐसी ११ परिषदें देश मे कार्य कर रही है। ये क्रमशः वस्त्र उद्योग, स्पोर्ट उद्योग, सिल्क एव रेयन वस्त्र, प्लास्टिक एवं लायनोलियम, कैश्यू एवं काली मिर्च, तम्बाकू, रसायन एव रसायनिक द्रव्य, लाख, चमडा, इञ्जीनियरी सामान तथा अभ्रक उद्योग के लिए है।

अगस्त सन् १९५९ मे निर्यात सवर्द्धक सलाहकार सभा का पुनर्गठन किया गया है, जिसमे व्यापार एवं सम्बन्धित हितो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसकी स्थायी सभा का निर्माण २६ अगस्त सन् १९५९ को किया गया, जो भारत सरकार को निर्यात सम्बन्धी समस्याओ पर सलाह देती है। इन परिषदो को चालू वित्तीय वर्ष में १३·६७ लाख रु० सहायता की व्यवस्था है।[1]

प्रदर्शन निदेशालय भारतीय वस्तुओ का दृश्य (Visual) प्रचार करता है। इसने सन् १९५९ मे इटली, टोकियो अन्तर्राष्ट्रीय मेला, कैनाडा के राष्ट्रीय प्रदर्शनो आदि मे भाग लिया। इसके सिवा सेगॉन, बुडापेस्ट, बगदाद आदि विदेशी शहरो में भारतीय प्रदर्शनो का आयोजन किया। साथ ही, भारतीय वस्तुओ के प्रचार द्वारा निर्यात बढाने के लिए भारत सरकार के प्रदर्शन कक्ष फ्रैंकफर्ट, न्यूयार्क, काहिरा, बगदाद, कोलम्बो, जद्दा, बैंकाक, जकार्ता और तेहरान मे है तथा रगून मे भी खोला गया है।[2] इस वर्ष २८ अगस्त से २ सितम्बर सन् १९६० तक फ्रैंकफर्ट (जर्मनी) के अन्तर्राष्ट्रीय मेले में भाग लेने का निश्चय किया गया है।

भारत सरकार विदेशो मे व्यापारिक शिष्ट मण्डल भी भेजती है। इस प्रकार का एक शिष्ट मण्डल सितम्बर अक्टूबर सन् १९५९ मे इटली, फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड, बेल्जियम और प० जर्मनी को गया था। इसकी रिपोर्ट से स्पष्ट है कि गत कुछ वर्षो में भारत मे पश्चिम यूरोपीय देशो (इङ्गलैंड छोड कर) से आयात मे वृद्धि हुई है, परन्तु निर्यात मे कोई विशेष कमी या अधिकता नहीं। उनका कथन है कि पश्चिम यूरोप मे बहुत से कच्चे माल की खपत है, जो भारत से निर्यात हो सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे ठोस प्रगति तभी हो सकती है जबकि उन देशो के और भारत के व्यापारियो के आपसी सम्बन्ध दृढ हो। साथ ही, यदि पश्चिमी यूरोप के उपभोक्ताओ की आवश्यकतानुसार माल बने और उन्हे उपयुक्त दामो पर दिया जाय। अतः शिष्ट मण्डल का मत है कि भारतीय माल की किस्म पर नियन्त्रण रखा जावे, पैकिङ्ग अच्छा हो तथा व्यापारिक झगडो के सन्तोषजनक हल की व्यवस्था हो।[3]

इन विविध प्रयत्नो के कारण हमारे निर्यात स्तर मे सुधार हुआ है। फलस्वरूप सन् १९५९ मे कुल निर्यात ६२६ करोड रु० के हुए, जो सन् १९५८ की अपेक्षा १०% अधिक है।[4] आयात मे विकासशील उद्योग तथा निर्यातक उद्योगो को कच्चे माल आदि के आयातो मे अधिक सुविधा दी जा रही है, जो वास्तव में विकासशील एवं नियोजित आर्थिक नीति के अनुरूप है। इससे निश्चय ही हमारे भुगतान संगठन की स्थिति मे सुधार होगा।

---

१ उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।
२ भारतीय समाचार—जुलाई १५, १९६०।
३ भारतीय समाचार—मई १५, १९६०।
४. उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।